आधुनिक साहित्य

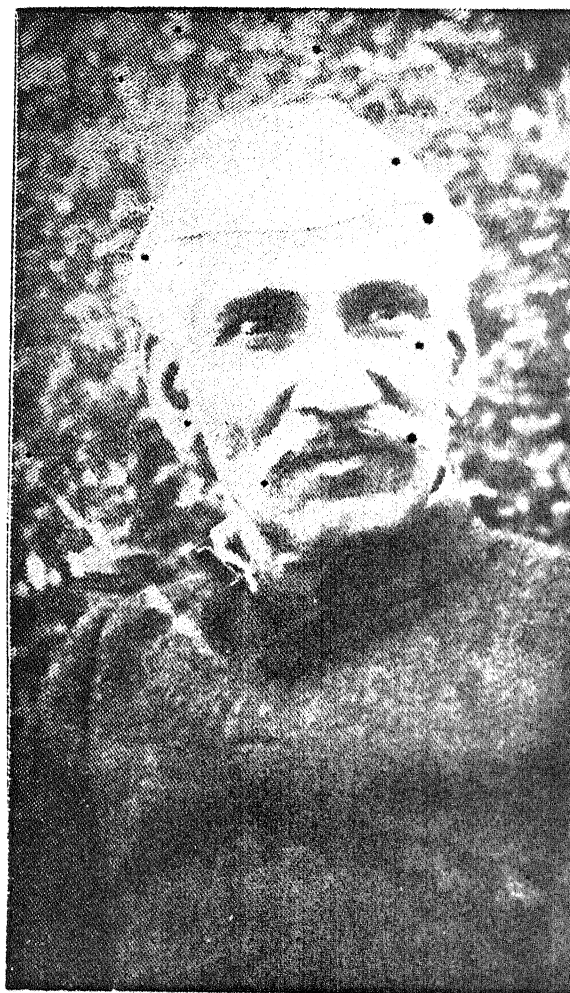
नन्ददुलारे वाजपेयी

ग्रंथ-संख्या—१४८

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार,
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
सं० २००७ वि०
मूल्य ७)

मुद्रक—
महादेव एन० जोशी
लीडर प्रेस, इलाहाबाद



आचार्य नरेन्द्रदेव जी

आचार्य नरेन्द्रदेव जी को
जिनके व्यक्तित्व, चरित्र
और पांडित्य के प्रति
मेरे मन में सदैव
श्रद्धा रही है

आधुनिक साहित्य

विषय-क्रम



लेखक

भूमिका

आधुनिक साहित्य

'आधुनिक साहित्य' मेरे समीक्षात्मक निबन्धों की नई संग्रह-पुस्तक है। इसमें सन् '३० से '४२ तक के हिंदी साहित्य की कतिपय मुख्य कृतियों और प्रवृत्तियों का विवेचन किया गया है। विषय पर भिन्न दिशा और भूमि से प्रकाश डालने के लिये कुछ प्रासंगिक निबन्ध भी जोड़ दिये गए हैं। संख्या ८,९,१६,१७,१८, के ('पश्चिमी उपन्यास', 'प्रेमचन्द के पूर्व', 'नाटक की उत्पत्ति, 'पूर्वी और पश्चिमी नाट्यतत्त्व' और 'भारतीय नाटक') निबन्ध ऐसे ही हैं। पुस्तक के अन्तिम ९ निबन्ध ('भारतीय काव्यमत' से लेकर 'साहित्य का प्रयोजन: आत्मानुभूति' तक) भी नई रचना से सम्बन्ध नहीं रखते, वे हिंदी क्षेत्र के नये साहित्यिक विचारों का परिचय कराते हैं। किसी भी जीवित और जागृत साहित्य की रचना और विचारणा, उसके निर्माण और चिन्तन, अटूट हुआ करते हैं; वे एक दूसरे से नितान्त दूर रखकर नहीं देखे जा सकते। वे प्रकृति से ही सहजात और समीपी होते हैं, दोनों ही दोनों को प्रेरित और प्रभावित करते हैं। कदाचित् इसीलिये वे मेरी इस पुस्तक में अनायास एक साथ स्थान पा गए हैं। परन्तु पुस्तक में इस सारी सामग्री के रहते हुए भी उसे इस समय का साहित्यिक इतिहास नहीं कहा जा सकता। इसका निर्माण इतिहास से भिन्न प्रणाली और प्रेरणा से किया गया है। इसमें न तो इन वर्षों के सभी प्रमुख साहित्यिकों और उनकी कृतियों का क्रमबद्ध उल्लेख है, न इस समय के साहित्य के सम्पूर्ण विकास-क्रम और उसकी सारी प्रवृत्तियों का परिदर्शन किया गया है। रचनाकारों का धारावाहिक, संतुलित और समग्र विवेचन और मूल्यांकन भी इसमें नहीं है। किसी एक व्यक्ति, कृति या प्रवृत्ति को लेकर लिखे गए ये निबन्ध प्रायः एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। विवेचना का आधार भी सामान्य और एकरस नहीं है। दृष्टि कभी एक तथ्य पर और कभी दूसरे तथ्य पर जा पहुँची है। हिंदी में साहित्यिक विवेचन की कमी के कारण, इन निबन्धों में नई उद्भावना के लिये पूरा स्थान रहा है. पर उद्भावना करना इतिहासकार का काम नहीं है। इतिहासकार निर्माण नहीं करता, वह निष्कर्ष निकालता है। वह समीक्षा नहीं करता, समीक्षाओं का संग्रयन करता, विधान और परिपाटी बनाता है। वह उद्भावना नहीं करता, उद्भावनाओं से काम लेता और उन

पर काम करता है। मेरी ये समीक्षायें और निबन्ध निर्माण की पगडंडियां हैं; इतिहास वह 'रोलर' है जो इन अथवा इन जैसी अन्य पगडंडियों को समतल कर प्रशस्त पथ बनाता है। यदि प्रारम्भिक पदचिह्न और पगडंडियां न हों, तो इतिहास का रोलर किस भूमि पर काम करे ? समीक्षा और साहित्यिक विचारणा की भूमि अधिक उर्वर न होने के कारण, हिंदी में अब तक नए साहित्य का इतिहास-ग्रंथ लिखा ही नहीं जा सका। जब तक विविध दृष्टियों और उपादानों को लेकर अच्छे परिमाण में साहित्यिक समीक्षायें नहीं प्रस्तुत की जातीं, तब तक इतिहास-लेखन का कार्य वस्तुतः सम्भव ही नहीं। 'हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के साथ 'आधुनिक साहित्य' के मेरे ये पूरक निबन्ध यदि नई साहित्यिक रुचि और दृष्टि के निर्माण में कुछ भी योग दे सकें, तो यह इनकी आत्यंतिक सफलता होगी। यदि नए साहित्य के किसी मर्मज्ञ और युगद्रष्टा इतिहास-लेखक के हाथों से नए इतिहास की रचना करने में ये रंचमात्र भी सहायक हो सकें, तो यह इनका चरम लाभ होगा। परन्तु यदि इनमें से किसी भी उद्देश्य की पूर्ति ये न कर सकें, तो भी कोई हानि नहीं; क्योंकि साहित्यिक लेखन का कार्य स्वतः एक उद्देश्य भी है। उसका एक अपना सुख और परितोष भी होता है। ऐसी स्थिति में उसे किसी अन्य उद्देश्य का परतंत्र मानना आवश्यक या अनिवार्य नहीं।

जब हम १९५० के इस छोर पर खड़े होकर पिछली अर्द्ध शताब्दि के हिंदी साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं और सारे दृश्य को एक निबन्ध की परिधि में समेट कर आंकने की चेष्टा करते हैं, तब हमारी पहली प्रतिक्रिया एक अनुपम हर्षोद्रेक की होती है। वे हमारी पिछली पीढ़ी के पूर्वज थे, जिन्हें हम अच्छी तरह जानते और पहचानते हैं। उनमें अधिकतर साधारण श्रेणी के लोग थे जो गांवों से अभी-अभी आकर शहरों में रहने लगे थे। शहर भी कैसे, जो नए पैमाने से बड़ी बस्ती या कस्बे ही कहे जा सकते हैं। इन नए शहरातियों को नागरिक कहना भी भूल होगी। ये शहर में रहते थे, पर इनके घरवाले गांवों में ही रहा करते थे और इनका मन भी अक्सर वहीं चला जाया करता था। इनपर अपने परिवार के भरण-पोषण का भार था जिसे ये किसी तरह अपने नौकरी-धंधे से पूरा करते थे। ये किसान भी थे, श्रमिक भी और बाबू या संपादक जी भी। इनमें से कुछ थोड़े-अधिक सम्पन्न भी थे, या आगे चलकर सम्पन्न हो गए; पर ऐसों की संख्या कम ही थी। ऐसे ही लोगों ने हमारी इस शताब्दी का साहित्यिक कार्य आरम्भ किया था।

शताब्दी का आरंभ

उनकी शिक्षा-दीक्षा सीमित थी, किन्तु उनके संस्कार विकासोन्मुख थे। उनके पास ज्ञान की कोई बहुमूल्य धरोहर न थी, अर्थ की कोई अर्जित-अनर्जित राशि न थी। इसीलिये वे अध्ययनशील, अध्यवसायी और कर्मठ थे। उनके पास महान प्रतिभा या पांडित्य की विरासत न थी; इसीलिए वे स्वानुभवी, बुद्धि-व्यवसायी और आत्मनिर्भर थे। नई साधना और नए निर्माण में उनकी रुचि थी। उनकी रहन-सहन और उनके आचार-व्यवहार में कोई असाधारण शालीनता या सभ्यता न थी; पर वे सीधे-सादे, निष्कपट और आचारवान व्यक्ति थे। वे स्वयं अधिक पढ़े-लिखे न थे, पर अपनी संतति को पढ़ा-लिखाकर आदमी बनाना जानते थे।

हमारे पास वह नई नाप-जोख नहीं है जिसे लेकर हम उनकी मानसिक वृत्तियों का—उनकी चेतना और अंतश्चेतना का—विश्लेषण करें और यह बतायें कि उनके व्यक्तित्व में और उनके साहित्यिक निर्माण में किस वृत्ति का कितना प्रतिशत योग था—न हम इस 'वैज्ञानिक' विवाद में ही उतरना चाहते हैं कि कौन-सी दमित वासना या वासनाएं उनके साथ लगी रहती थीं या वे किन मानसिक रोगों के शिकार थे (नया मत कदाचित् यह है कि बिना किसी मानसिक विकार के साहित्य की सृष्टि होती ही नहीं)। हमें इस जानकारी से भी कोई लाभ नहीं दिखाई देता कि वे महानुभाव किस 'वर्ग' का तमगा अपने सीने या माथे पर लगाए रहते थे, अथवा उनकी रचना में वर्ग-संघर्ष की किस अवस्था-विशेष की मुहर लगी हुई है। हमारे लिए इतना ही जानना पर्याप्त है कि हमारे वे पूर्वज काफी हट्टे-कट्टे और मनस्वी व्यक्ति थे। रोग तो उन्हें कदाचित् कोई नहीं था (यदि मनुष्य रूप में दिखाई देना ही कोई रोग न हो!), और वर्ग की दृष्टि से भी उन्हें किसी कठघरे में बंद रखना ठीक नहीं। वे मनुष्य थे, नई चेतना और नए राष्ट्र के निर्माण के लिए मर-खप कर उद्योग करनेवाले मनुष्य! स्वतः कठिनाइयां झेलकर आदर्शों में जीने और आदर्शों पर मरनेवाले मनुष्य! ऐसे भले-चंगे आदमियों की 'पोस्ट मार्टम' परीक्षा करने की बुद्धिमानी हममें नहीं है।

वे सभी सामाजिक दृष्टि से सुधारवादी थे। समाज के प्रत्येक क्षेत्र में वे सुधार करना चाहते थे—नैतिक और भौतिक दोनों। इस कार्य के लिए उनमें पूरा आत्मविश्वास और लगन थी। समाज के प्रत्येक दोष का निवारण करने में वे व्यक्ति के सामर्थ्य को मुख्य मानते थे। उन्हें एक ओर विदेशी राजसत्ता

से और दूसरी ओर अशिक्षित और पिछड़ी हुई जनता से सहयोग की अधिक आशा न थी। यही उनकी आदर्शवादी और चारित्रिक नीति का आधार था। उनके सामने समाज की कोई सबल व्यवस्था न थी, कोई अनुकरणीय आदर्श या विधान न था; इसीलिए उन्होंने अपनी व्यावहारिक दृष्टि और चारित्रिक सत्ता का सहारा लिया और नव-निर्माण के कार्य में लग गए।

उनके संमुख कोई बने-बनाये आदर्श या नपे-तुले प्रतिमान न थे। इसलिए जो कुछ भी उन्हें प्राचीन उदाहरणों में अच्छा और उपयोगी दिखाई दिया, उसी को वे नए सांचे में ढालने लगे। राम और कृष्ण उनके सर्वाधिक समीपी और परिचित नाम थे, अतएव इन्हीं चरित्रों को उन्होंने अपने नए सामाजिक आदर्शों की अनुरूपता देने की ठानी। यदि वाल्मीकि के राम वीर क्षत्रिय और आदर्श सम्राट् थे और यदि मध्यकालीन तुलसी के राम 'कर्तुम्-अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्' के प्रतीक महामानव थे, तो हमारी इस पिछली पीढ़ी के कवियों के लिए वे एक अच्छे-भले, सुसभ्य, चरित्रवान नेता और व्यवहारकुशल नागरिक बन गए थे। इन कवियों ने पुराने जीवन-सांचे में नए राम-कृष्ण को नहीं, नए जीवन-सांचे में पुराने राम-कृष्ण को ढालना चाहा और ढाल भी लिया। यही उनकी नई कर्मण्यता और नया आदर्शवाद था; यद्यपि इस नव-निर्माण में कोई विशद रूप-योजना या कोई परिपुष्ट साहित्यिक तथ्य नहीं आ सकते थे। उनमें की गयी जीवन-योजना भी नई और आरम्भिक थी। नया जीवन-विकास अपनी शैशवावस्था में था।

राजनीतिक भूमिका भी नई हलचलों का आभास दे रही थी, यद्यपि यहां भी गति कुछ मन्द थी। नए सामाजिक निर्माण और नए समाज की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील रहने के कारण हमारे ये पूर्वज राजनीति में अधिक कुछ कर भी नहीं सकते थे। राजनीतिक आन्दोलन और जागृति के लिए सामाजिक आधार की पुष्टि कदाचित् पहली शर्त होती है। यही कारण है कि प्रारम्भिक कुछ वर्षों तक हम अपने राजनीतिक उद्देश्यों को 'हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी' की वाक्यावली में ही व्यक्त करते या छिपाते रहे। इस समय की हमारी राजनीतिक आकांक्षाएं कई प्रकार के आवरणों में से व्यक्त होने के कारण अनेक अस्पष्टताओं और सन्देहों का आधार बनी हुई हैं। कुछ ने इन्हें इस्लाम के विरुद्ध हिंदू जातीयता या हिंदू राष्ट्रीयता का नाम दिया है। पर कदाचित् ऐसी कोई जातीयता या राष्ट्रीयता हमारे इन पूर्वजों के ध्यान में न थी। वे देश के प्राचीन वीरों और विशेषकर क्षत्रिय या राजपूत राजाओं का उल्लेख

और वर्णन इसलिए करते थे कि उनके चारित्रिक गुणों, त्याग, वीरत्व, देशप्रेम और रण-कौशल आदि से प्रभावित होकर नई नैतिक प्रेरणा और उत्साह संचय करना चाहते थे। इस्लाम या मुसलमानों के प्रति कोई बद्धमूल वैमनस्य हमारे कवियों और लेखकों में न था, पर वे भारतीय जल-वायु और भारतीय आदर्शों (या संस्कृति) से अनुप्रेरित अवश्य थे। आगे चलकर सन् '२० के आसपास यह स्पष्ट हुआ कि हमारे प्रयत्न और हमारी पुकार सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक स्वतंत्रता के लिए ही थी।

विचारों के क्षेत्र में नई और बहुमुखी सामग्री एकत्र करने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को है, जिन्होंने हिंदी के लिये भाषा-सम्बन्धी एक नया प्रतिमान भी प्रस्तुत किया है। नए विचार और नई भाषा— नया शरीर और नई पोशाक——दोनों ही नई हिंदी को द्विवेदीजी की देन हैं। इसी कारण वे नई हिंदी के प्रथम और युगप्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं। द्विवेदीजी और उनके साथियों का महत्व नए निर्माण के लिए प्रचुर और अनेकमुख सामग्री भेंट करने में है। साहित्य के क्षेत्र में किसी एक व्यक्ति पर इतना बड़ा उत्तरदायित्व इतिहास की शक्तियों ने कदाचित् पहली बार रक्खा था और पहली ही बार द्विवेदीजी ने इस उत्तरदायित्व के सफल निर्वाह का अनुपम निदर्शन प्रस्तुत किया। उनकी 'सरस्वती' उस युग के समस्त उपयोगी ज्ञान की प्रतीक और उसके प्रचार-प्रसार का माध्यम थी। अपने समय की ऐसी प्रतिनिधि पत्रिका दूसरी नहीं देखी गयी।

'सरस्वती' की किसी एक वर्ष की या छमाही संख्या भी देख लेने पर उसके स्वरूप और उद्देश्यों का पूरा आभास मिल जाता है। किसी प्राचीन संस्कृति या हिंदी कवि की चर्चा और उसकी रचनाओं के उद्धरण; हिंदी-भिन्न किसी भाषा के सामयिक कवि या लेखक का विवरण; इतिहास के किसी समुन्नत काल का उल्लेख और तत्कालीन किसी समृद्ध राजवंश का परिचय; प्राचीन कला-संपत्ति का चित्रों-सहित प्रदर्शन; भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति का सुदूर देशों पर प्रभाव; भारतीय या विदेशी किसी दार्शनिक वाद की रूपरेखा; नए विज्ञान की कोई खोज; कुछ नई समस्याएं जिनका सम्बन्ध देश के हित या उन्नति से है; कुछ प्राकृतिक सौंदर्यस्थलों और नई-पुरानी यात्राओं का वर्णन; कुछ राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों और समस्याओं पर सरकार से अपील; हिंदी के प्रसार के लिये कोई टिप्पणी, कुछ पुस्तक-समीक्षाएं, सामयिक गति-विधि पर प्रासंगिक दृष्टिपात; कुछ उत्थानमूलक किंतु साहित्यिक दृष्टि से साधारण कविताएं और कुछ सरल-सुन्दर सुधारात्मक कहानियां, यही सन् '१ से

'२० तक की 'सरस्वती' की प्रमुख रूप-रेखा या साज-सज्जा थी।

प्रथम बीस वर्ष

ऊपर चित्रित की गई पार्श्वभूमि के बीच जब हम इस युग के रचनात्मक साहित्य को रखकर देखते हैं, तब मैथिलीशरणजी की 'उर्मिला', उनकी 'यशोधरा' तथा 'हरिऔध' जी की 'राधा' जैसे नारी-पात्र प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। इसी समय से साहित्यिक कृतियां नायिका-प्रधान होने लगी थीं जो कदाचित् पुरानी साहित्यिक परम्परा के विरुद्ध नयी बात थी। नए समाज में नारी के जिस नवीन पद का निर्माण हो रहा था, कवि-कल्पना में उसी का प्राथमिक चित्र आया था। इन चरित्रों के निर्माण में नए युग की वास्तविक कला के दर्शन होते हैं, परन्तु इन चरित्रों के साथ एक अतिरिक्त भावनामयता लगी हुई है, जो इन्हें पूरी तरह निखरने नहीं देती। इसका कारण युग की नई चेतना की आरम्भिक स्थिति थी। गुप्तजी की उर्मिला का वियोग-वर्णन 'साकेत' में अनावश्यक विस्तार पा गया है और यही स्थिति 'प्रियप्रवास' की राधा की भी है। 'यशोधरा' के चित्रण में नारी-चरित्र की गरिमा कदाचित् 'साकेत' की उर्मिला से कम नहीं, यद्यपि वह चित्र खंड-काव्य की सीमा में ही व्यक्त हुआ है। 'साकेत' को महाकाव्य का स्वरूप देने की आकांक्षा भी किसी अंश तक उर्मिला के स्वरूप-निर्माण को आवश्यकता से अधिक भावना-प्रधान बना देती है। फिर भी इन चित्रों में नए युग के सामाजिक या सांस्कृतिक विकास का पूरा प्रभाव लक्षित होता है।

ये सभी चित्र आदर्शवादी कला के उदाहरण हैं, यद्यपि यह स्पष्ट है कि इनमें आदर्शवाद की आरम्भिक प्रतिष्ठा ही हो सकी है। इस युग के काव्य में दिखाई देनेवाली अतिरिक्त भावना का उल्लेख किया गया है। यह अतिरंजना काव्य के चित्रित पात्रों को अनावश्यक रूप से भावुक अथवा इतिवृत्तात्मक चर्चा में लगाती है। कभी उन्हें आवश्यकता से अधिक संयमी बना देती है और इसीके प्रतिक्रिया-स्वरूप दूसरे स्थलों में उन्हें अति-शृंगारी भी बन जाना पड़ता है——जैसा कि उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन के अवसर पर 'साकेत' में। परन्तु चित्रण और भावना-सम्बन्धी इन विक्षेपों के रहते हुए भी नए युग का जीवन और उसकी कला इन रचनाओं में अभिव्यक्त हुई है।

इस नारी-प्रधान चरित्र-सृष्टि की समकक्षता में पुरुष-चरित्रों का निर्माण हमें इस युग के काव्यों में उतना नहीं मिलता, जितना नए उपन्यासों में मिलता है, मुख्यतः इसका श्रेय प्रेमचन्दजी की पुरुष-सृष्टि को है। प्रेमचन्दजी के

उपन्यासों में नारी और पुरुष-सृष्टि के बीच संतुलन है। प्रेमचन्दजी के उपन्यास समाज की वास्तविक गति-विधि से इतना सीधा संबंध रखते हैं कि उनकी कला अत्यधिक यथार्थ भूमि पर काम करती प्रतीत होती है। परन्तु यथार्थ के इस आवरण में काम करती हुई प्रेमचन्द की कला वस्तुतः आदर्श-प्रधान है। वे सुधारवादी लेखक और निर्माता हैं। सामाजिक गति-विधि का इतना समीपी चित्र प्रस्तुत करनेवाला लेखक कलाकार की अपेक्षा सामाजिक इतिहास-लेखक-सा जान पड़ता है——परन्तु पहली ही दृष्टि में। जब हम उनकी रचनाओं के साथ आगे बढ़ते हैं, और उसके स्वरूप और प्रभाव के संपर्क में आते हैं, तब प्रेमचन्दजी की आदर्श-प्रधान कला प्रत्यक्ष हो जाती है। अधिक-से-अधिक हमें यह शिकायत होती है कि प्रेमचन्द के उपन्यास सामाजिक हैं, सांस्कृतिक नहीं। उनमें पात्रों का जीवन अत्यधिक प्रत्यक्ष और ऊपरी स्तर का है। और जो कलाकार समाज की इतनी ऊपरी भूमिका पर निर्माण-कार्य करता है, उसका आदर्शवाद भी कदाचित् उतना ही छिछला और हलका होगा। पर बात यह नहीं है। वास्तव में प्रेमचन्द के प्रमुख पात्र और चरित्र उसी धातु के गढ़े हुए हैं, जिसके वे स्वयं थे। उनमें जीवन की परिपूर्ण निष्ठा है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द जी का कला-निर्माण दो विरोधी तत्वों का संमिलन है। उनके उपन्यासों का वस्तु-चयन और घटना-विकास अत्यधिक प्रत्यक्ष भूमि पर किया गया है, परन्तु उनके चरित्र प्रमुख रूप से आदर्शवादी हैं। कदाचित् इसीलिए प्रेमचन्द के उपन्यासों में लोग आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों ढूंढ़ते और दोनों पाते हैं; पर वास्तव में प्रेमचंद का साहित्यिक निर्माण आदर्श-प्रधान है, इसमें संदेह नहीं। उनकी कला में पौरुष की प्रमुखता है और पुरुष का ऊबड़-खाबड़पन है। रेखाएं काफी मोटी और बेडौल हैं। पर उनका प्रभाव असंदिग्ध है। प्रेम-चंद की कला में उपर्युक्त विरोधाभास (फोटोग्राफी की सी वस्तुमुखी कला में आदर्शों की स्थापना) के कारण उसका वास्तविक मूल्यांकन करने में कठिनाई होती है। कहा जाता है कि प्रेमचन्दजी का साहित्य ऊपर कहे विरोधी उपकरणों का पूरी तरह सामंजस्य नहीं कर सका है। उनकी रचनाओं में शरच्चन्द की-सी परिष्कृति और गहराई और रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों का-सा सौष्ठव नहीं आ सका। टाल्स्टाय या गोर्की का-सा परिपुष्ट निर्माण और संतुलन भी उनमें नहीं है। परन्तु इस प्रकार का आरोप करनेवाले यह नहीं देखते कि प्रेमचन्द हिन्दी के सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र की अत्यन्त आरंभिक विकासावस्था में काम कर रहे थे। तुलना में इन महान

लेखकों को लाना भी प्रेमचन्द के महत्व की ही सूचना देना है। साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि किन्हीं भी बड़े लेखकों की प्रतिभा एक-सी नहीं होती। उनकी भिन्नता में ही उनकी मौलिकता और महत्व रहा करता है।

यहां हमने दो-तीन ही प्रतिनिधि लेखकों का उल्लेख किया है और उनके साहित्यिक निर्माण के केवल एक ही अंग—नई चरित्रसृष्टि—की चर्चा की है। इसका यह अर्थ नहीं कि इस युग का (सन् १९०१ से '२० तक का) साहित्य इन्हीं तक सीमित है, और न यही समझना चाहिए कि नए चरित्र की सृष्टि ही कलाकार का मुख्य या एकमात्र उत्तरदायित्व होता है। यहां तो मैंने केवल बानगी लेकर देखी है। वास्तव में इस युग के इतिहास-लेखक को इससे कहीं अधिक विस्तृत भूमि और भिन्नताओं में जाना पड़ेगा। अनेकानेक लेखकों की वैयक्तिक कला-विशेषताओं और उनके साहित्यिक निर्माण की समंतात् छान-बीन करनी होगी और निष्कर्ष निकालने होंगे। यहां तो केवल एक इंगित दिया जा सका है, एक खाका जिसमें रंग नहीं भरा गया, एक निदर्शन जिससे विषय का कुछ आभास मिल सके।

प्राचीन और नवीन कला

कला की पुरानी परिपाटियाँ बदल रही थीं। नई कला नया इतिहास बना रही थी। प्राचीन परिपाटी के अनुसार चरित्र की एक विशेष रूप-रेखा होती है। कुछ सर्वमान्य गुणों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। रामायण का धीरोद्धत चरित्र रावण सीता के साथ शारीरिक अनाचार नहीं कर सकता, क्योंकि वह 'उद्धत' के साथ 'धीर' भी है। कला की यह मर्यादा सर्वमान्य थी और प्राचीन काव्य के पाठक को इस संबंध में कोई शंका नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार प्राचीन कला-परिपाटी में रावण के घर रही सीता की अग्नि-परीक्षा भी किसी प्रकार का विस्मय या तर्क नहीं उत्पन्न कर सकती। परन्तु आज का पाठक न तो रावण के व्यवहार को ही स्वतः-स्वीकृत मान पाता है और न अग्नि-परीक्षा की निर्ममता को ही सहन कर सकता है। इसी कारण कला के प्राचीन बंधन टूटने लगे और नई वास्तविकता प्रतिष्ठित होने लगी। नई कला इस दृष्टि से अधिक कल्पना-प्रवण, अधिक संवेदनाशील और अधिक मानवीय हो चली। वह जीवन-व्यवहारों में वैयक्तिक स्वातंत्र्य और तज्जनित अनुभूति का आदर करने लगी। इसी प्रकार मध्यकालीन काव्य या कला-पद्धति में धार्मिक प्रभाव से कतिपय

रूढ़ियां बन गई थीं। कृष्ण और गोपियों के चरित्रों की अलौकिकता की आड़ में घोर शृंगारिकता पनप रही थी, समाज के धार्मिक वातावरण में इसे पूर्ण स्वीकृति भी मिल गई थी। फलतः भक्ति-काव्य के पिछले खेवे में शृंगारिकता की भरमार हो गई। दूसरी ओर राम के चरित्र का अलौकिक पहलू भी सीमा पार कर अतिशय अतिरंजित और सौंदर्य-हीन हो गया। भक्ति की ये दोनों ह्रासोन्मुखी काव्य-धाराएं आगे चलकर रीतिकाव्य में परिणत हो गईं और तब काव्य के विषय, वर्णनशैली और अन्य उपादान एक घेरे में बंध गए। कविता जीवन से अत्यन्त दूर जा पड़ी—केवल काव्य-रसिकों को उसमें 'अलौकिक' रस मिलता रहा! नए युग में आकर ये सारी रूढ़ियां टूटने लगीं।

नए युग का काव्य-साहित्य यद्यपि नए निर्माण में लगा था, पर वह पुरानी व्यवस्था को पूरी तरह बदल न पाया। कविगण प्राचीन घटनाओं और चरित्रों से प्रभावित हों, अथवा पुराने आख्यानों या प्रसंगों से प्रेरणा ग्रहण करें, यह तो स्वाभाविक है; परन्तु काव्य-साहित्य में पुरानी रूढ़ियों को अपनाना कवि-कल्पना के स्वातंत्र्य का बाधक ही कहा जायगा। हमारा नया साहित्य संक्रान्तिकाल से पार हो रहा था। धार्मिक भावना का रूढ़िगत प्रभाव छूट नहीं पाया था। चरित्रों की अलौकिकता का रूढ़ स्वरूप अब भी शेष था। परन्तु नई दिशा में भी नए सिरे से कार्य हो रहा था। नई कविता प्राचीन और मध्य-कालीन चरित्रों और कथाओं के प्रभावपूर्ण अंशों को चित्रित करने लगी थी। स्वतंत्र जीवन-चित्रण की अपेक्षा घटना के चमत्कार और उसके नाटकीय या भावात्मक वैचित्र्य का लाभ उठाया जा रहा था। इस युग की हिन्दी-कविता कला की दृष्टि से प्रयोगात्मक ही कही जा सकेगी। कतिपय छोटे आख्यानों का कविता में वर्णन कर देना अथवा कोई उत्साहवर्द्धक सीख दे देना ही इस समय के काव्य का आरंभिक रूप था। कविता कथात्मक या निबंधात्मक आकार में ही व्यक्त हो सकी।

आगे चलकर कुछ खंड-काव्य और दो-चार बड़े प्रबंध भी तैयार किये गए। उनके निर्माण में प्रौढ़ता भी आई, परन्तु अतिरिक्त भावनामयता का प्रभाव बना ही रहा। 'यशोधरा' के चित्रण में गृहिणी के आदर्श का सुन्दर निरूपण है, परन्तु न तो इसका काव्य-विधान ही व्यवस्थित है—कहीं गीत, कहीं नाट्य कहीं गद्य जुड़े हुए हैं—और न चरित्र-निर्देश की रेखाएँ ही पुष्ट हैं। सारा आख्यान एक करुण, सात्विक और सजीव भावना का निर्देश मात्र करता है। नारी के व्यक्तित्व-निर्माण की अपेक्षा करुणा का प्रभाव ही प्रमुख बन गया है। इसी

प्रकार उर्मिला की चरित्रसृष्टि और 'साकेत' के आख्यान में भी वस्तु-विन्यास समरस नहीं है। उर्मिला नवम सर्ग से काव्य के नायिका-पद पर आती है और अंत (१२वें सर्ग) तक रहती है। इसके पूर्व के आठ सर्गों का आख्यान राम के नायकत्व को लेकर ही चला है। इस प्रकार 'साकेत' में दो खंड-काव्यों का संग्रथन-सा कर दिया गया है। 'प्रिय-प्रवास' का वस्तुविन्यास अधिक संघटित है; परन्तु भाव, भाषा और रूप-विन्यास में वह पुरानी पद्धति का अधिक अनुसरण करता है।

ये सभी काव्य चरित्र की गरिमा प्रदर्शित करने का उद्देश्य रखते हैं। इसलिये इनकी पद्धति आदर्शवादी है। परन्तु यह चारित्रिक गरिमा प्राचीन धीरोदात्त चरित्र-प्रणाली की अपेक्षा बहुत कुछ स्वतंत्र है। इसमें पात्रों की भावना और उनका व्यक्तित्व अधिक मुखर है। परन्तु यह नया आदर्शवाद सक्रिय और वास्तविक चरित्र-निर्देश के रूप में व्यक्त न होकर भावनात्मक पद्धति पर व्यक्त हुआ है। यह इस युग की कला की आरम्भिक स्थिति और अपूर्णता का द्योतक है। पुरानी रूढ़ियां भी नयी कला के साथ संलग्न थीं। इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। करुणा की अतिशयता से ये रचनाएं दुर्वह हो गयी हैं। शान्त, वीर और शृंगार रसों के भी उदाहरण मिलते हैं, पर कविता में कम। ऐसा प्रतीत होता है, कवियों की भावना अतीत के सौंदर्य-लोक की तुलना में नई जीवन-परिस्थिति से सन्तोष नहीं पा सकी थी। परम्परा का असर अब भी अधिक था।

उपन्यासों के प्रतिनिधि-लेखक प्रेमचन्दजी के साहित्यिक निर्माण की कुछ चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उनके साहित्य में भी देश के ग्रामीण जीवन की विषमता का ही चित्रण अधिक है; प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में करुणा है, पर निराशा नहीं। वे आस्थावान और प्रगतिशील लेखक हैं। कुछ कहानियां सामयिक जीवन की सुधारात्मक प्रवृत्तियों को अंकित करती हैं। वास्तव में इन छोटी कहानियों में ही सामाजिक प्रगति का रचनात्मक पक्ष अधिक पूर्णता से अंकित हो सका है। कुछ हास्य और विनोदप्रधान रचनाएं भी इस युग के साहित्य को अलंकृत करती हैं। कुछ नए निबन्ध भी लिखे गये।

साहित्य के ऊँचे उत्कर्ष की भूमिका पर इस युग का साहित्य कम ही पहुँचा। इसका कारण सामाजिक स्थिति के साथ साहित्य की अपनी परिस्थितियां भी हैं। नए लेखकों के संमुख हिंदी साहित्य की कोई क्रमागत परम्परा न थी। उन्हें नई स्लेट पर लिखना पड़ रहा था। ऐसी अवस्था में जो कुछ काम वे कर

सके, वह सर्वथा प्रशंसनीय ही कहा जायगा। नए सामाजिक जीवन के स्वरूप, उसकी रुचि-प्रवृत्ति और आदर्शों-आकांक्षाओं का साधारणतः अच्छा अंकन उसमें मिल जाता है ।

इस युग की साहित्य-समीक्षा का कार्य मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा और स्वयं द्विवेदीजी ने आरम्भ किया, परन्तु उसमें प्रौढ़ता आई आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के व्यवस्थित साहित्यिक आकलन और सिद्धान्त-निरूपण से। मिश्रबन्धुओं ने साहित्यिक समीक्षा का पहला रेखा-चित्र हिंदी को प्रदान किया। यद्यपि इस रेखा-चित्र में अनेक नवीनताएं थीं, पर साहित्य का साधार और पुष्ट विवेचन कम ही था। रीतिकाल के साहित्यिक निर्देशों से वे पूरी तरह निकल नहीं सके थे, फिर भी उन्होंने साहित्यकार की जीवनी, उसके विचारों और उसकी रचनाओं का एक संबंध-सूत्र अवश्य उपस्थित किया जो आधुनिक समीक्षा का महत्वपूर्ण अंग है। पद्मसिंह शर्मा जी ने साहित्य के शब्द और अर्थ-चमत्कार के साथ-साथ मुक्तक कवियों की तुलनात्मक समीक्षा का नया मार्ग प्रदर्शित किया। इससे काव्य-कौशल की ओर रुचि गई। द्विवेदीजी की समीक्षाएं परिचयात्मक और विवरण-प्रधान रही हैं। इन लेखकों की बदौलत एक नवीन साहित्य-चेतना तो उत्पन्न हुई, पर साहित्यिक मार्गदर्शन ठीक तरह से न हो सका।

यह कार्य आचार्य शुक्लजी की समीक्षाओं ने किया। शुक्लजी प्राचीन साहित्य के अध्येता और मर्मज्ञ थे। साथ ही वे एक सामाजिक द्रष्टा और विचारक भी थे। काव्य के स्वरूप की भी उनकी पैठ गहरी थी। इन तीनों विशेषताओं के संयोग से शुक्लजी ने जो समीक्षा-मार्ग प्रस्तुत किया, वह संक्षेप में साहित्य की गम्भीर विवेचना का मार्ग कहा जा सकता है। गोस्वामी तुलसीदास के सामाजिक मर्यादावादी काव्यादर्श को स्वीकार कर उन्होंने उसमें कुछ अन्य तथ्य भी जोड़े। उदाहरण के लिये प्रकृति के सुन्दर, मार्मिक और बिम्बात्मक वर्णनों के लिए उन्होंने प्राचीन संस्कृत कवियों का आदर्श उपस्थित किया। इन सुन्दर प्रतिमानों को लेकर शुक्लजी ने काव्य-समीक्षा की एक परिपाटी बना ली जिसके कारण भिन्न रुचि और शैलियों पर लिखा गया साहित्य शुक्लजी की स्वीकृति न प्राप्त कर सका। गोस्वामी तुलसीदास के सामाजिक और साहित्यिक आदर्शों के साथ आज की नवीन सामाजिक परिस्थिति और प्रेरणा और उसमें विकास पानेवाली नई काव्य-धारा का मेल मिलाने में भी शुक्लजी को असुविधा ही रही। परन्तु इससे उनके वास्तविक कार्य का महत्व कम नहीं होता। मानवीय मनोभावों का सुन्दर और स्पष्ट अध्ययन लेकर

शुक्लजी ने उसके आधार पर भारतीय काव्य-सिद्धान्त की जो मनोरम व्याख्या की है, उसका ऐतिहासिक महत्व है। इस नई व्याख्या के द्वारा उन्होंने देश की एक प्राचीन, किन्तु विस्मृत-प्राय समीक्षा-प्रणाली को नई दीप्ति और नया जीवन दिया। उनकी ये व्याख्याएं और निर्देश परम्परा का अनुसरण नहीं करते, उनमें नये युग का नया विधान और नई दृष्टि है। तभी उनकी यह उद्-भावना नए साहित्य को स्वीकार और मान्य हो सकी। शुक्लजी का यह कार्य राष्ट्रीय सांस्कृतिक विकास में स्मरणीय रहेगा। शुक्लजी की साहित्यिक पैठ गहरी थी और वे श्रेष्ठ रचना की मार्मिक पहचान रखते थे। साथ ही उन्हें साहित्य को असाहित्यिक वस्तुओं और प्रवृत्तियों से एकदम दूर रखने का अनुपम विवेक था। शुक्लजी के इस विवेक का मूल्य और महत्व हम आज अच्छी तरह समझ पाते हैं, जब कि कोरे दार्शनिक या साम्प्रदायिक ग्रंथों की बहुत-सी बेकार चर्चा साहित्यिक अनुशीलन के नाम पर हमारे ऊपर लादी जा रही है।

संक्षेप में यही इस शताब्दी के आरम्भिक बीस वर्षों के साहित्य की साधारण रूप-रेखा है। एक पीढ़ी समाप्त हो रही थी और दूसरी का उदय हो रहा था। नए के आगमन का पूर्वाभास और पुराने की विदाई की विलम्बित छाया कभी-कभी कुछ वर्षों का समय घेर लेती है, इस कारण हमें नए युग के आगमन और पुराने युग के अवसान की ठीक तिथि निर्धारित करने में कुछ कठिनाई भी हो जाती है। परन्तु सन् १८-१९ में समाप्त होनेवाला प्रथम महायुद्ध और सन् बीस के आसपास भारतीय राजनीति में गांधीजी का प्रवेश, दो ऐसे स्मारक हैं जिनके आधार पर इन्हीं वर्षों को नए साहित्यिक उन्मेष की प्रवर्तक तिथि मान लेने में किसी प्रकार की शंका नहीं होती।

नव्यतर प्रगति

जिस समय यह नई संतति क्षेत्र में आई, समाज की सामान्य स्थिति सुधर रही थी। पिछली पीढ़ी के परिश्रम और साधना के फलस्वरूप हमारे घरों में थोड़ी-सी सभ्यता आ गई थी। हम पढ़-लिखकर तैयार हो रहे थे और हमारी गृहिणियां भी निरी अपढ़ नहीं रह गयी थीं। हमारे घरों में सौ-पचास पुस्तकें और दो-चार चित्र भी दिखाई देने लगे थे। स्थिति ऐसी थी कि हम अपने उद्यमी पूर्वजों से कुछ आगे ही बढ़ने की धुन में थे। आलसी और अकर्मण्य बनानेवाली अतिशयता तो हमारे पास न थी, पर हम अपनी गृहस्थी पर थोड़ा-बहुत नाज कर सकते थे। हममें अपनी पिछली पीढ़ी के सभी प्रगतिशील संस्कार

मौजूद थे, पर अपने पूर्वजों की अपेक्षा हम कुछ अधिक ऊँची आकांक्षा रखने लगे थे। तुलनात्मक दृष्टि से हम अधिक साधन-संपन्न थे, यद्यपि वह स्वतंत्रता हमें सामाजिक उत्थान की पहली सीढ़ी तक ही पहुँचा सकी थी। हम अब आगे की सीढ़ियों की ओर पैर बढ़ाना चाहते थे।

प्रथम विश्व-महायुद्ध ने हमें पश्चिमी समाज के हल्के से संपर्क में ला रक्खा और हम साहित्य तथा अन्य साधनों से पश्चिम की अधिकाधिक जानकारी करने लगे। महायुद्ध की परिस्थितियों ने हमारी जातीयता की कट्टर भावना को बहुत कुछ शिथिल कर दिया और अब हम उस भूमिका पर आ गये जब जातीय और प्रादेशिक सीमाओं से ऊपर उठकर विश्व की प्रगति को एक निगाह देख सकें। भारतीय और विदेशी जीवन-पद्धति और राष्ट्रीय गुणों को भी जानने-समझने और तुलना करने का अवसर हमें मिलने लगा था। हमारी दृष्टि पुरानी धार्मिक रीतियों से हटकर जीवन के दार्शनिक आधारों पर जाने लगी थी। हम मोटे तथ्यों से ध्यान हटाकर उनके प्रेरक सूक्ष्म उपकरणों को देखना चाहते थे। संक्षेप में नई संस्कृति और नवीन जीवन-दृष्टि के निर्माण की दिशा में हम अग्रसर हो रहे थे।

इसी अवसर पर गांधीजी के रूप में एक महान् व्यक्तित्व भारतीय रंगमंच पर अवतरित हुआ और देश में राजनीतिक चेतना की एक अभूतपूर्व लहर दौड़ गई। जलियांनवाला बाग की दुर्घटना हुई और एक विराट जन-आंदोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक उभर उठा। आहुतियां पड़ती गईं और आग भड़कती गई। गांधीजी और उनके सहकारियों के निरीक्षण में स्वतंत्रता का यह महायज्ञ निरंतर चलता रहा। बीच-बीच में व्यवधान आए, राजनीति की धारा नए तोड़ लेती रही, वह गुमसुम होकर चुपचाप भी बही। निराशा की रेखाएं भी भारतीय क्षितिज पर दिखाई दीं, पर राजनीतिक उतार-चढ़ावों के होते हुए भी हमारी राष्ट्रीय चेतना अव्याहत ही रही। इस सर्वतोव्यापी सक्रिय राष्ट्रीयता का प्रभाव हमारे इस समय के साहित्य पर अनेक रूपों में अनेक प्रकार से पड़ा। हम तो यहां तक कहना चाहेंगे कि इस व्यापक राष्ट्रीय जागृति की हलचल में ही हमारा यह साहित्य पनपा और फूला-फला है। इस अभूतपूर्व जागृति-केंद्र से पृथक् रख कर हम अपने इस साहित्य को परख ही नहीं सकेंगे।

खेद और आश्चर्य की बात है कि हमारे कतिपय समीक्षकों ने इस अत्यंत सीधी और सच्ची बात को भी समझने की चेष्टा नहीं की कि हमारे इस

युग के साहित्य की मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है, तथा इससे भिन्न वह कुछ और हो भी नहीं सकती थी। राष्ट्रीयता ने हमारे समस्त सामाजिक जीवन को अनेक रूपों में आंदोलित कर रक्खा था और हमारे कवि और लेखक भी इस दुर्दमनीय प्रभाव से बच नहीं सकते थे। विशेषकर जिन्हें हम इस समय का प्रतिनिधि-लेखक और कवि मानते हैं, उनपर इसका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव तो पड़ना ही था। यह सोचना भी असंभव है कि जिस समय हमारे देश में राष्ट्रीय मुक्ति का जीवन-मरण संग्राम चल रहा हो, उस समय हमारे कल्पनाशील कवि और लेखक उससे कुछ भी प्रेरणा न ग्रहण करें, बल्कि उसके प्रति विमुख और अन्यमनस्क होकर रहें।

फिर भी हमारे कतिपय समीक्षकों ने उन्हें इसी रूप में चित्रित करने की चेष्टा की है। कुछ ने उन्हें व्यक्तिवादी और अन्तर्मुख कलाकार कहकर समाज की प्रगतिशील चेतना से दूर ठहराया है; कुछ ने उन्हें पलायनवादी संज्ञा देकर जीवन से उनकी विमुखता सिद्ध करनी चाही है, कुछ ने उनकी तुलना वाई० बी० ईट्स और टी० एस० इलियट जैसे कवियों की भाव-धारा से की है, जो भारतीय परिस्थिति से नितान्त भिन्न स्थितियों में रचना कर रहे थे और जिनके सामने राष्ट्रीय संघर्ष का ऐसा सजीव और सक्रिय वातावरण न था, जैसा हमारे देश में आद्यंत रहा है। शेष कुछ समीक्षकों ने उन्हें 'मधुचर्या का प्रेमी' 'स्वप्नद्रष्टा' या 'अनंत का उपासक' बताकर उनकी असामाजिकता का विज्ञापन किया है। सच तो यह है कि अपने-अपने वादों-प्रवादों को लेकर जिसने जैसा चाहा और जिसे जिस बात में अपने मत की पुष्टि दीखी, उसने वैसा ही बयान दे दिया है। समीक्षा में मतवादों का प्राधान्य हो जाने पर साहित्यिक रचनाओं की वास्तविक परख और मूल्यांकन में कैसी कठिनाइयां आ जाती हैं, यह इन समीक्षकों के उदाहरणों से समझा जा सकता है।

वस्तुतः हम देखते यह हैं कि इस युग के आरंभ से ही एक नई चेतना साहित्य में प्रवेश कर रही थी। नवजागृत राष्ट्रीयता की प्रेरणा से कितने ही नए कवि और लेखक नया साहित्यिक निर्माण करने लगे थे। असहयोग आंदोलन से उतना सीधा संबंध मैथिलीशरणजी का नहीं था, जितना उनके छोटे भाई सियारामशरण का था। गांधीजी द्वारा प्रवर्तित राजनीतिक और सामाजिक आंदोलन की पहली ही हलचल में सियारामशरणजी के भावुकता-

पूर्ण आख्यान-गीत और श्री रामनरेश त्रिपाठी की 'सुमन', 'पथिक' और 'मिलन' जैसी रचनाएं प्रकाशित हुईं। ठाकुर गोपालशरण सिंह की रचनाओं में भी एक नया प्रभाव देखा गया और श्री गयाप्रसाद 'सनेही' जी तो अत्यंत सीधी और प्रभावपूर्ण 'राजनीतिक कविता' करने लगे। राष्ट्रीय आंदोलन की इस पहली बहार में ही हिन्दी साहित्य को इन नये कवियों और लेखकों का उपहार मिला।

परन्तु ये कवि और लेखक राष्ट्रीय आंदोलन के इतने सीधे प्रभाव में थे कि उन्होंने अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को 'राजनीतिक या सामाजिक आख्यानों' की सीमा में ही बांध दिया। किन्तु इतनी सीधी और तात्कालिक प्रेरणा से की गई रचनाओं में कदाचित् उतनी काव्यात्मक व्यापकता नहीं आती, जितनी श्रेष्ठ काव्य के लिये अपेक्षित होती है। किसी भी राष्ट्रीय आंदोलन के कतिपय पहलुओं को ज्यों-का-त्यों चित्रित कर देना, अथवा उस आंदोलन की तात्कालिक प्रतिक्रिया में कोई रचना प्रस्तुत कर देना कवि की भावना और कल्पना का अधूरा ही आयास कहा जायगा। इतनी 'प्रत्यक्षता' काव्य-साहित्य के लिये लाभकर नहीं होती। इस प्रक्रिया में न तो कवि-कल्पना का पूरा पाचन हो पाता है, न रचयिता के भावों के साथ उसके सांस्कृतिक और साहित्यिक सामर्थ्य का पूरा योग हो पाता है। साहित्य कोरी राजनीति नहीं है, न वह राजनीतिक भावना का उच्छ्वास-मात्र है। साहित्य वास्तव में कवि की भाव-सत्ता के साथ उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का समाहार है।

नवीन प्रगीत-रूप

ये रचनाएं नई थीं और सुन्दर भी, किन्तु इनमें रचनाकारों के व्यक्तित्व का उतना अंतरंग योग न हो पाया, जितना अपेक्षित था। इस दृष्टि से कवियों और लेखकों का एक दूसरा वर्ग अधिक प्रशस्त साहित्यिक आधार लेकर आया। इन रचयिताओं ने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये 'सीधे राजनीतिक आख्यानों' का सहारा नहीं लिया, वे मुक्तकों और भावगीतों में अपनी भावना का प्रकाशन करने लगे। यद्यपि उनकी भावना भी राष्ट्रीयता से पूरी तरह अनुप्रेरित थी, परन्तु उसके प्रकाशन का माध्यम उतना समीपी या संनिकट न था। इस दूरवर्ती माध्यम को अपना लेने से दो लाभ हुए। एक तो कवियों की भावना में व्यापकता आई और उन्हें 'सीधी राजनीतिक प्रेरणा' से छुटकारा मिला और दूसरे उन्हें प्रगीत-मुक्तक के

रूप में एक नई काव्यशैली का निर्माण करने का अवसर प्राप्त हुआ।

पुराने विवेचकों ने हमें यह समझाया है कि आख्यानक या कथात्मक काव्य मुक्तक या प्रगीत की अपेक्षा काव्यदृष्टि से अधिक प्रशस्त या समुन्नत होता है और इसके कई कारण भी उन्होंने बताए हैं। प्रबंध काव्य या सर्गबद्ध रचना लंबी होती है और उसमें जीवन के अनेकानेक रूपों और मानव-संबंधों का चित्रण और व्याख्या की जा सकती है। यह बात अंशतः ठीक हो सकती है, पर दूसरी दृष्टि से देखने पर प्रगीत की विशेषताएं भी स्पष्ट हो जाती हैं। प्रगीत-काव्य में कवि की भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, उसमें किसी प्रकार के विजातीय द्रव्य के लिये स्थान नहीं रहता। प्रगीतों में ही कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह प्रतिबिंबित होता है। वह कवि की सच्ची आत्माभिव्यंजना होती है। कथानक काव्यों में जीवन के भावात्मक संघर्ष और चरित्रों की रूप-रेखा रहा करती हैं, पर कवि के अंतस्तल का उद्घाटन प्रगीत में ही संभव है। प्रबंध-काव्य में दृश्यचित्रण और वस्तु-चित्रण के साथ बहुत-सा इतिवृत्त भी लगा रहता है, परन्तु प्रगीत-रचना में कविता इन समस्त उपचारों से विरत होकर केवल कविता या भावप्रतिमा बनकर आती है। संगीत के स्वरों की भांति प्रगीत के शब्द ही अपनी भावना-इकाइयों से कविता का निर्माण करते हैं; उनमें शब्द और अर्थ, लय और छंद अथवा रूप और निरूप्य की अभिन्नता हो जाती है। प्रबंध-काव्य कविता का आवृत और आच्छादित रूप है। प्रगीत काव्य उसका निर्व्याज निखरा हुआ स्वरूप है। प्रबंध-काव्य यदि कोई रसीला फल है, जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बिए आदि निकालने पर ही किया जा सकता है, तो प्रगीत-रचना उसी फल का द्रव-रस है, जिसे हम तत्काल घूंट-घूंट पी सकते हैं।

ऊपर जिस नई प्रगीत-सृष्टि की चर्चा की गई है, उसके आरंभिक स्रष्टा कानपुर की 'प्रभा' के कवि थे। इनमें श्री माखनलाल चतुर्वेदी और श्री बालकृष्ण शर्मा के नाम मुख्य रूप से लिये जा सकते हैं। एक नए काव्य-स्वरूप का नव-निर्माण बड़े भावुक हाथों से हो रहा था। राजनैतिक और राष्ट्रीय भावना से अनुप्रेरित ये प्रगीत स्वरूप में अति लघु और संख्या में अति स्वल्प थे, जिससे यह सूचित होता है कि प्रगीत की कला हिन्दी में अभी-अभी अवतरित हो रही थी। परंतु नई कविता का यह नया वाहन इन राष्ट्रीय कवियों द्वारा भी पूरी तरह तैयार

न किया जा सका। अभी इसका परिपूर्ण विकास शेष था। कवि प्रसाद, मुकुटधर पांडेय और रूपनारायण आदि स्वतंत्र रीति से इस नए भाजन (प्रगीत) का निर्माण करने में लगे हुए थे। ये कवि केवल 'राष्ट्रीय' न थे, ये नवजीवन की अधिक व्यापक भावना-भूमि पर काम कर रहे थे। प्रसाद का 'झरना' नए जीवन-स्रोत से समन्वित था। रूपनारायण के 'वन-वैभव' में नई स्वच्छंद भावना का अच्छा योग था। 'हे मेरे जीवन की सरिता आंखों के आंसू में ढल जा', 'हे अनजान विदेशी आज' जैसी रचनाओं में नए युग की भावना और कवि की वैयक्तिक चेतना या संवेदना समस्त साहित्यिक-सामाजिक रूढ़ियों और पूर्व संस्कारों का बोझ त्याग कर निरावरण हो रही थी; और उसी मात्रा में नए प्रगीत-स्वरूप का भी निर्माण और निखार हो रहा था।

इस निर्माण की रही-सही कमी पूरी की पंत और निराला ने, जिन्होंने नए प्रगीत का नितान्त नई कल्पना से अभिषेक किया, भाषा की नई वेश-भूषा दी, अभिव्यंजना की नूतन मुद्राएं और भंगिमाएं भेंट कीं। कविता-कामिनी अब नए स्वरूप में सजकर प्रस्तुत हो गई। इसे नया रूप और नई कान्ति, नया कलेवर और नई लय-गति इन दोनों कवियों ने प्रदान की। प्रगीत नए युग का काव्य-प्रतीक बना। इसके निर्माण में किसी ओर से (नई भावना, नई अभिव्यंजना अथवा नए काव्य-सांचे की दृष्टि से) कोई कमी तो नहीं रह गई है, इसीकी परीक्षा के लिए निराला ने इस नए काव्य-पात्र (प्रगीत) को ठोक-बजा कर देखा, मुक्त छंद के द्वारा इसे बलपूर्वक झकझोर कर देखा और जब किसी ओर से कोर-कसर नहीं दीखी, तब इसे नए युग के प्रतिनिधि काव्य-भाजन की प्रतिष्ठा दी गई।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रगीत-काव्य में शब्द और अर्थ, लय और छंद, तथा रूप और वस्तु एक-दूसरे के समीप आकर अभिन्न हो जाते हैं। इसी के साथ यह भी जान लेना चाहिए कि प्रगीत में कवि की भावना-कल्पना, उसकी अभिव्यंजना और उसके द्वारा निर्मित प्रगीत के रूप में भी एकता या तादात्म्य स्थापित हो जाता है और उसी अवस्था में प्रगीत अपने वास्तविक काव्योत्कर्ष को प्राप्त करता है। इन द्विविध तत्त्वों के एकदम समीप आ जाने और अन्तर खो देने में ही प्रगीत का प्रगीतत्व है। इस दृष्टि से हम यह भी कह सकते हैं कि प्रगीत-काव्य की निर्मात्री भावना में और उस भावना द्वारा निर्मित प्रगीत-भाजन में तात्त्विक एकता होती है। एक विशेष प्रकार (या अवसर) की भावना या अनुभूति जिसमें कवि का व्यक्तित्व पूरी तरह खो गया

हो और साथ ही जिसमें किसी रूढ़ भावना या संस्कार का योग न हो, प्रगीत का निर्माण करती है। अतएव इस काव्य-रूप (प्रगीत) के निर्माण में इस युग की काव्य-भावना का इतिहास भी संलग्न है, यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। दूसरे काव्य-रूपों या काव्य-भाजनों का विकास भी युगों की काव्य-साधना का परिणाम होता है, परन्तु प्रगीत का कवि के व्यक्तित्व और उसकी निजी भावना से एक मात्र सम्बन्ध होने के कारण (संक्षेप में प्रगीत के 'सब्जेक्टिव आर्ट' होने की विशेषता के कारण) नए युग के इस काव्य-रूप के विकास में नवीन कवियों की भावना-धारा का विकास भी छिपा हुआ है।

नए युग में प्रगीत के इस काव्य-रूप के विकास का अध्ययन इसीलिये अत्यन्त मनोरंजक है। हम मैथिलीशरणजी को वह केन्द्र-बिन्दु मान सकते हैं जहां से नवीन आख्यानक काव्य और साथ ही नवीन प्रगीत की एक साथ उद्‌भावना होती है। गुप्तजी की आरम्भिक काव्य-रचनाएँ जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, निबन्धात्मक होती थीं। इन निबन्धों में कभी किसी आख्यान का माध्यम रहा करता था और कभी बिना आख्यान के ही कोई बात कही जाती थी—जैसे 'नर हो न निराश करो मन को'। गुप्तजी के इन दोनों आरम्भिक काव्य-प्रकारों में निर्माण की दृष्टि से अधिक अन्तर नहीं था—थोड़ा-बहुत अन्तर था तो आकार का। आख्यान कुछ लम्बे होते थे और निराख्यान रचनाएं कुछ छोटी होती थीं (यद्यपि इसके अपवाद भी मौजूद हैं और मिल जाते हैं)। गुप्तजी के इन्हीं प्रारम्भिक प्रयोगों से नवीन कथानक-काव्य की और नवीन प्रगीत-काव्य की भी सृष्टि माननी चाहिए। कथानक-काव्य तो स्वयं गुप्तजी के खंड-काव्यों, भक्तजी के 'नूरजहां' काव्य और 'हल्दीघाटी' जैसे वीराख्यानों को पार करता हुआ 'कामायनी' की प्रतिनिधि काव्यसृष्टि में परिणत हुआ और इस परिणति के बाद भी 'कुरुक्षेत्र' और 'कैकयी' जैसी नवीन कृतियां प्रस्तुत की गईं, परन्तु प्रगीत-काव्य के विकास की मंजिलें और भी स्पष्ट हैं। मैथिलीशरणजी के प्रौढ़ काल के भाव-गीत, हरिऔधजी तथा उनके सम-सामयिकों की 'चतुर्दशपदियां' आदि नवीन प्रगीत के आरम्भिक प्रयोग हैं। इनमें कवि के व्यक्तित्व का योग आंशिक है। वे विषय-प्रधान और वस्तून्मुखी कृतियां हैं। दूसरे चरण में माखनलालजी के वे स्फुट मुक्तक-गीत आते हैं जो आकार में प्रायः छोटे और अभिव्यंजना में प्रायः थोड़ी-सी जटिलता लिए होते हैं। इनके आकार में ज्यों ही कुछ वृद्धि होती है, जटिलता और भी बढ़ने लगती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की भावना अधिक विस्तार सहन नहीं करती। कदाचित्

इसीलिये 'चाह नहीं है सुरबाला के गहनों में गूंथा जाऊँ' जैसी छोटी रचनाएँ अधिक निर्दोष हैं और प्रगीत का पूरा आभास लिए हुए हैं। निश्चय ही वे गुप्तजी के वस्तुप्रधान भावना-गीतों से एक श्रेणी आगे की कला-सृष्टि हैं। तीसरा महत्वपूर्ण योग स्वयं प्रसादजी का है जिनके 'आंसू' के पहले के प्रगीतों में भी नई कल्पना का योग हो चुका था। 'आंसू' पर पहुँचते-पहुँचते हिंदी प्रगीत अपनी पंखुड़ियां खोलने लगा था, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि प्रगीत का परिपूर्ण विकास निराला और पंत की रचनाओं में ही दिखाई दिया। निराला में प्रयोगों का बाहुल्य है जो उनके काव्याधिकार का परिचायक है। उन्होंने प्रगीत की अनेक शैलियों का आविष्कार किया। पंतजी की प्रगीत-सृष्टि में कल्पना और सौन्दर्य-अनुभूति चरम सीमा पर पहुँची हुई है।

प्रगीत रचनाएं

अब हम नवीन प्रगीत-काव्य के तीन प्रतिनिधि कवियों—प्रसाद, निराला और पंत को लेकर उनके काव्य-विकास की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। यह उल्लेख किया जा चुका है कि 'प्रभा' के कवियों ने किस प्रकार राष्ट्रीय भावना को 'पथिक' और 'सुमन' जैसे आख्यानों और सनेही के स्फुट 'राजनीतिक' पद्यों की सीमा से अलग निकालकर मुक्तक गीतों का स्वरूप दिया। परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, केवल राष्ट्रीयता की भावना देश और समाज के सांस्कृतिक जीवन के बहुमुखी पहलुओं का स्पर्श नहीं करती और एक बड़ी सीमा तक एकांगी बनी रहती है। कदाचित् इसीलिये बहुत समय तक और बहुत दूर तक 'राष्ट्रीय' कविता नहीं की जा सकती। विश्व-साहित्य में भी श्रेष्ठ, किन्तु कोरी 'राष्ट्रीय' कविताओं की संख्या थोड़ी ही है। नवयुग के कवियों ने इस तथ्य को स्वभावतः समझ लिया था और इसीलिये उनकी रचनाएं 'राष्ट्रीय' न रहकर अधिक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भूमियों पर पहुँची थीं।

(प्रसाद के प्रगीत अतीत की सुखद स्मृतियों के एक हल्के विषाद से भरी प्रतिक्रिया लेकर आए थे। साथ ही उनकी आरम्भिक रचनाओं में यौवन और श्रृंगार की अतृप्त अतिशयता भी लगी हुई थी। 'चित्राधार' और 'काननकुसुम' के छायी-संकेतों में इन्हीं दबी भावनाओं का आभास मिलता है और 'झरना' की 'छेड़ो मत यह सुख का कण है', 'उत्तेजित कर मत दौड़ाओ, यह करुणा का थका चरण है' आदि पंक्तियों में इसी की गूंज है। 'आंसू' में प्रसाद के कवि का यह वैयक्तिक पक्ष पूरी तरह उभर आया है। परन्तु इसीके साथ कवि की एक अभिनव दार्शनिकता उतनी ही प्रभावशालिता के साथ काव्य का अंग बन

गई है। उद्दाम शृंगारिक स्मृतियों के साथ संपूर्ण समाधानकारक दार्शनिक अनुभूति 'आंसू' की विशेषता है। भावनाओं के असाधारण उद्वेग के साथ उतनी ही प्रगाढ़ दार्शनिक अनुभूति का योग रचना में एक अपूर्व मार्मिकता और संतुलन ले आता है। और यह दर्शन-शासित मार्मिक प्रेम-गीति नई कल्पना तथा नए काव्याभरण का योग पाकर युग की एक प्रतिनिधि कृति हो गई है। अनेक कवियों ने इस छंद और इसी भाव-धारा की अनुकृति करनी चाही। इससे केवल इतना ही लक्षित होता है कि इस रचना के प्रति साहित्य-क्षेत्र में असाधारण आकर्षण रहा है। 'आंसू' के अनन्तर प्रसादजी के प्रगीतों में वह उद्वेग नहीं मिलता। 'लहर' में अधिक परिष्कृत सौंदर्य-चित्रण और संयमित भावना-धारा है। दो-चार गीतों में अतीत की मनोरम स्मृतियां भी आई हैं, पर उनमें 'आंसू' की-सी अभाव या शून्यता की व्यंजना नहीं है। अब तो वे मनोरम क्षण जगत में नया सौंदर्य लाने की आशा रखते हैं। 'ओ सागर संगम अरुण नील' जैसे कुछ गीत प्रसादजी की पुरी-यात्रा के स्मारक हैं, और प्राकृतिक सौंदर्य की अनोखी झांकी से समन्वित हैं। प्रेम और करुणा की तात्विक भावना का चित्रण 'लहर' में महात्मा बुद्ध के जीवन-प्रसंग और उनकी दार्शनिकता की पार्श्व-भूमि पर किया गया है। 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' और 'प्रलय की छाया' के रूप में दो नाटकीय आख्यानक-गीतियां भी 'लहर' में हैं जिनमें क्रमशः 'पराजित वीरत्व' और 'सौंदर्य-गर्व' का विवरणपूर्ण चित्रण है। प्रसादजी की रेखाएं इन चित्रणों में पर्याप्त पुष्ट हैं जो उनकी मनोवैज्ञानिक और कलात्मक समृद्धि का परिणाम कही जा सकती हैं। इसी 'लहर' में 'बीती विभावरी जाग री' शीर्षक वह जागरण-गीत है जो कदाचित् प्रसादजी के संपूर्ण काव्य-प्रयास के साथ उनकी युग-चेतना का परिचायक प्रतिनिधि गीत कहा जा सकता है।

मुक्त छंद और निराला

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के आगमन से क्रान्ति की धारा और आगे बढ़ी। उनके आरम्भिक प्रयोग छंद-सम्बन्धी थे। हिंदी काव्य इसके पूर्व छंदों के बाहर कभी नहीं गया था। काव्य में छंदों के रहने से यह भावना घर कर लेती है कि काव्य और छंद दो पृथक् तत्व हैं और दोनों की स्वतंत्र सत्ता है। भाव-पक्ष और शैली-पक्ष के नाम से इनका विभाजन और विवेचन होने लगता है। नई काव्य-रूढ़ियां उत्पन्न होती हैं और क्रमशः छंद वह कठघरा बन जाता है, जिसमें कविता-कामिनी वंदिनी हो जाती है। कठघरा न कहिए, उसे कविता-रानी का रनिवास या अंतःपुर कह लीजिए। अंतःपुर की सारी परतंत्रता उसे

सहन करनी पड़ती है। निराला अन्तःपुर के समस्त वैभव और उसकी सारी परतंत्रता से मुक्त कर कविता-देवी को खुली हवा में लाए। उन्होंने कविता-नारी के बुरके या परदे को दूर कर दिया। परदा-प्रथा के समर्थकों के लिये यह एक अनहोनी और असह्य बात थी। इसीलिए निरालाजी के विरुद्ध उस समय बड़ा आन्दोलन चला था। परन्तु कविता-कामिनी को खुली हवा में ले आने के बाद नए युगोपयोगी परिधान भी उसे पहनाये गए। नए कवियों के साथ निरालाजी ने इस कार्य में पूरा योग दिया। स्वयं मुक्त-छंद में लय की ऐसी सुघरता ला दी कि कविता नग्न न रही। आगे चलकर निराला जी ने स्वतः उसे अनेक नए छंदों से सजाया। पूछा जा सकता है कि जब नए छंद प्रयोग में आये ही, तब पुराने छंदों ने ही क्या बिगाड़ा था—और इतने से ही क्या छंद की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती? इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पुरानी कोठियों और महलों से (जो दूसरे वातावरण में बने थे) बाहर निकल आना भी कभी क्रांति कहला सकता है, और नए आवास बना कर रहना भी नए वातावरण का निर्माण करना कहा जा सकता है। ठीक यही बात निरालाजी के मुक्त-छंद और उनकी छंदात्मक रचनाओं के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

मुक्त-छंद के कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है कि उसकी कविता में सुकुमार प्रसाधन, कल्पना की बारीकी और अनावश्यक आभरण या अलंकार न हों। कहीं लटें बिखरी हों, कहीं खुली धूप में मुँह तमतमाया हो। स्वच्छंदता का जो अबाध स्वरूप निरालाजी की रचनाओं में देखा जाता है, उसकी तुलना इस युग के किसी दूसरे कवि से नहीं हो सकती। भाषा-प्रयोग में भी जितनी स्वतंत्रता वे बरतते हैं—सामयिक और दुरूह संस्कृत से लेकर अप्रयुक्त उर्दू तक—उतनी कोई दूसरा कवि नहीं बरतता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि भावना और शब्द-विन्यास की विशृंखलता उनके काव्य का कोई लक्षण है। स्वच्छता, प्रवाह और गांभीर्य उनकी कविता के मुख्य गुण हैं।

'पंचवटी-प्रसंग' से निरालाजी का काव्य आरम्भ होता है। राम और सीता की परम्परागत गरिमा को छोड़कर लक्ष्मण के स्वतंत्र प्रकृति-विहार और रूपगर्विता शूर्पणखा की रूपवर्णना के साथ कविता आगे बढ़ती है। पहली बार शूर्पणखा को राक्षसी-भयंकरता न देकर नारी-रूप में नारी की मनोभावनाओं के साथ चित्रित किया गया है। 'शिवाजी का पत्र' दूसरी लम्बी कविता है, पर 'परिमल' की अधिकांश रचनाएं स्फुट भावना या तत्कालिक वस्तु या

दृश्य से सम्बन्ध रखती हैं। इनमें से कुछ जैसे 'विधवा', भिक्षुक', 'बहू', 'संध्या-सुन्दरी', 'शरत्पूर्णिमा की बिदाई' में वस्तु-अंकन की हल्की रेखाओं के साथ प्रभाव-अंकन की ही विशेषता है। शेष कुछ रचनाएं विशुद्ध भावात्मक हैं—कल्पना के सामर्थ्य से सजी हुई, जैसे 'तुम और मैं', 'जुही की कली'। कुछ अन्य रचनाएं भावात्मक होती हुई भी चमत्कारप्रधान हैं, जैसे 'युक्ति', 'बदला' आदि। कुछ अत्यन्त छोटे गेय पद हैं और कुछ थोड़ी-सी कल्पना-विशिष्ट लम्बी रचनाएं भी हैं, जैसे 'यमुना के प्रति' और 'स्मृति' आदि। ये सभी हिन्दी प्रगीत के नए उदाहरणों में से हैं। 'परिमल' के पश्चात् 'गीतिका' का प्रकाशन हुआ, जिसमें हल्की सौन्दर्य-रेखाओं से सजाई शृंगारिकता ही प्रमुख होकर आई है। संयोग-शृंगार की विनोदात्मक, किन्तु सजीव और वास्तविक भावना एक ओर पन्तजी की काल्पनिक सौन्दर्य-प्रसाधना की वायवीयता से अन्तर रखती है और दूसरी ओर यह नए कवियों की आवेशपूर्ण मिलनाकांक्षाओं से एकदम पृथक् है। यदि कहीं इन गीतों की भाषा थोड़ी और सरल होती, तो ये जनसमाज के काम के गीत हो जाते। पर जैसे भी हैं, इनका हिन्दी काव्य में स्पृहणीय स्थान है।

इसके आगे निरालाजी के वृहत्तर प्रयोग आते हैं जिन्हें हम 'तुलसीदास', 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज-स्मृति' जैसी लम्बी रचनाओं में देखते हैं। 'सरोज-स्मृति' पूर्णतः संतुलित भावात्मक कृति है। 'तुलसीदास' और 'शक्ति पूजा' में मनोवैज्ञानिक चित्रण के साथ भाषा का गांभीर्य दर्शनीय हुआ है, यद्यपि इस पिछली विशेषता के कारण रचना में आवश्यक गति और सरलता की कमी भी आ गई है। फिर भी ये हिन्दी में अपने ढंग के अकेले उदाहरण हैं। इसीके पीछे दो और बड़े काव्य 'कुकुरमुत्ता' और 'खजोहरा' भी प्रकाशित हुए। 'कुकुरमुत्ता' में विनोद की सृष्टि अतिरंजित वर्णनों द्वारा की गई है। यत्र-तत्र 'यथार्थवादी' चित्रण की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है—जैसे सोना मालिन और उसकी लड़की के वर्णन में। 'खजोहरा' में यथार्थवादी प्रवृत्ति और आगे बढ़ गई है जिससे रचना में एक अनाकांक्षित मानसिक बोझ आ बैठा है। रवीन्द्रनाथ की 'विजयिनी' के विरोधी दृष्टिकोण को वर्जित करने के लिए इतनी अधिक दूर तक जाना आवश्यक न था।

परन्तु इन नवीन प्रयोगों के साथ निरालाजी अपनी पुरानी भूमिका पर भी काम करते गए हैं जिसके परिणाम-स्वरूप 'अणिमा' और 'अर्चना' के गीत और 'सेवा-प्रारम्भ' जैसी दो-एक लम्बी कृतियां भी मिलती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये ही निरालाजी की मूल और वास्तविक प्रवृत्तियों की

परिचायक रचनाएं हैं। 'बेला' और 'नए पत्ते' भी उनके प्रासंगिक प्रयोग ही हैं। हाल में प्रकाशित 'अर्चना' के कुछ गीतों में भाषा अत्यन्त सरल रूप ग्रहण कर चुकी है और भावना में प्राचीन भक्त कवियों की सी तन्मयता है। फिर भी यह कहना होगा कि निरालाजी की सुन्दरतम रचनाएं वे हैं जिनमें उन्हें भाव-व्यंजना के लिए वस्तु-चित्रण का स्वल्प अवकाश मिला है—जैसे 'जुही की कली', 'संध्यासुन्दरी', 'भिक्षुक' आदि। लम्बे चित्रणों में 'सरोज-स्मृति' जैसी रचना में ही प्रगीत का पूरा सौन्दर्य निखरा है। इसके बाद ही सौन्दर्य की दृष्टि से दूसरा स्थान निराला के गीतों का आता है। तीसरे प्रकार की सुन्दर रचनाएं 'बादल राग', 'जागो फिर एक बार', 'तुम और मैं' जैसे स्फुट प्रगीत हैं। उनकी प्रयोगात्मक कृतियों में 'कुकुरमुत्ता' कदाचित् सब से सुन्दर है।

पंत का प्रवेश

श्री सुमित्रानन्दन पन्त जब अपनी नवीन 'वीणा' लेकर हिन्दी में आए, तब हिन्दी प्रगीत की परमोच्च सम्भावना उनमें केन्द्रित हो गई। कुछ वर्षों तक उन्होंने हमारी इस आशा को पल्लवित भी किया। उनके आरम्भिक प्रगीतों में भावना की जो स्वच्छता, कोमलता और रमणीयता पाई गई और भाषा की जो अनुपम मिठास और परिष्कृति देखी गई, वह कदाचित् विश्व के थोड़े कवियों की आरम्भिक रचनाओं में देखी और पाई गई होगी। इसलिए 'वीणा', 'ग्रंथि', 'उच्छ्वास' और 'पल्लव' के कवि में यदि हिन्दी काव्य अपनी उच्चतम पहुँच और उज्वलतम भविष्य का आभास पाने लगा, तो यह अनुचित या असंगत न था। 'वीणा' की पहली मीठी झंकार से लेकर 'पल्लव' में 'परिवर्तन' के मंद्र-गम्भीर संगीत तक पन्तजी का विकासक्रम अत्यन्त स्वाभाविक और उपयुक्त रीति से परिस्फुट होता गया है। 'वीणा' की अभिनव कोमल आदर्शवादिता और तरल बालभावना से आरम्भ कर 'उच्छ्वास' की ईषत् वैयक्तिक प्रेम-चर्चा में किशोरवय की सुन्दर झांकी देखते हुए हम 'ग्रंथि' में वियोग या विच्छेद की एक मर्मपूर्ण अनुभूति तक पहुंचते हैं। 'पल्लव' की रचना इस वैयक्तिक अनुभूति के अवसाद से दूर होकर अतिशय सजीव कल्पना-सृष्टि का रूप ग्रहण करती दिखाई देती है। 'परिवर्तन' में आकर हम जगत और जीवन के सम्बन्ध में कवि की मनस्वी धारणाएं अत्यन्त सुन्दर रूपकों के आवरण में देख पाते हैं। ये रूपक उन सुन्दर प्रस्तर-खंडों के सदृश हैं, जिनकी सहायता से कवि अपने आगामी विशाल-निर्माण की भूमिका बांधता जान पड़ता है। इसी समय हम हिन्दी प्रगीत की उच्चतम परिणति की कल्पना करने लगे

थे। सन् २५ से ३५ तक हमें मिलना था शेली का वह विद्रोही स्वर, उसकी वह दिगंतगामिनी पुकार, जो युग को नहीं, युगों को अपने नैसर्गिक आह्वान से चकित और विस्मित कर देती है। हमें मिलना था गांधीजी की ज्वलन्त दार्शनिकता, प्रखर सत्यवाणी और अबाध क्रियाशीलता का तेजस्वी काव्य प्रतिरूप। परन्तु खेदपूर्वक कहना पड़ता है कि हमें मिले 'ज्योत्स्ना' और 'गुंजन', 'गीतिका' और 'कुकुरमुत्ता' तथा कुछ अन्य भली और मीठी रचनाएं, किन्तु ओजस्विता और महान निर्माण की प्रेरणा से बहुत कुछ रिक्त।

अपने मंतव्य को स्पष्ट करने के लिए हम यह कहना चाहते हैं कि हम हिन्दी प्रगीत से गांधीवाद या गांधी-नीति का खाका नहीं चाहते थे, न गांधीजी के आदर्शों अथवा उनकी जीवनी का चित्रण या स्तवन ही हमें अभीष्ट था। हम तो प्रतीक्षा करते थे उस उदात्त और तेजस्वी स्वर की, उस सरल निष्कपट और अडिग वाणी की जो हमारी राष्ट्रीय क्रियाशीलता का सच्चा काव्य-प्रतिबिम्ब होती, जो वर्गों की विडम्बना से हीन, विश्व को सर्वयुगीन साम्य का संदेश दे सकती। संक्षेप में हम गांधीजी के सजीव व्यक्तित्व का काव्य-स्मारक चाहते थे; पर ऐसा जान पड़ता है कि किसी महान् व्यक्तित्व अथवा महती क्रियाशीलता को काव्य में मूर्तिमान करने के लिए कुछ समय का अन्तर आवश्यक होता है! कदाचित् प्रगीत-काव्य इसके लिये अच्छा माध्यम भी न माना जाय।

'ज्योत्स्ना' और 'गुंजन' तक हम किसी प्रकार धैर्य धारण कर सकते थे, पर इसके पश्चात् नहीं! पर इसके पश्चात् ही पन्तजी ऐसे बिछले कि हमारी सारी आशाओं पर पानी फिर गया। वे प्रगीत के भावना-क्षेत्र से बाहर निकलकर ऐसी सृष्टियां करने लगे जिन्हें साहित्य में 'प्रगीत' की संज्ञा तो नहीं ही दी जा सकती। पर आश्चर्य तो यह है कि अपने इस अकाव्यत्व का ज्ञान स्वयं पन्तजी को तो था, पर उनके किसी भी प्रशंसक या समीक्षक को नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर प्रकाशचन्द्र गुप्त और शिवदानसिंह चौहान सभी इस भयंकर दुर्घटना में ग्रस्त हो गए और हिन्दी साहित्य को भी इसी दुर्घटना का शिकार बना गए। आगे चलकर जब पन्तजी ने एक दूसरा मोड़ लिया और मार्क्स-दर्शन से अरविन्द-दर्शन की ओर आए, तब सहसा हमारे प्रवीण साहित्यिक मित्र रामविलास शर्मा ने यह पहचाना कि पन्तजी अपने 'पल्लव' वाले काव्य-स्तर से कितनी दूर चले गए हैं। 'हंस' में प्रकाशित उनकी 'उत्तरा' की आलोचना उनकी असंदिग्ध साहित्य-मर्मज्ञता का प्रमाण है। ऐसी मार्मिक समी-

क्षाएं आज के जमाने में कम ही देखने को मिलती हैं। पर पता नहीं रामविलासजी ने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' आदि पर इसी प्रकार कृपा-दृष्टि क्यों नहीं की!

इस प्रसंग को अधिक विस्तार न देकर यहां इतना ही कहना है कि सन् '३२ या उसके आसपास से पन्तजी कवि के बदले कलाकार अधिक हो गए और काव्य-रचना के स्थान पर कुछ ऐसी कृतियां करने लगे जो ललित की अपेक्षा उपयोगी अधिक थीं; अथवा जो, सीधे ही क्यों न कहें, काव्य की अपेक्षा काव्याभास अधिक थीं। साहित्य और कविता की शैलियां बदलती हैं, पैमाने बदलते हैं, पर इतना नहीं कि कविता और साहित्य बेपहचान हो जायँ। हम यह भी मानते हैं कि पन्तजी-सरीखे प्रतिभावान कवि फिसलते-फिसलते भी कहां तक फिसलेंगे। अब भी उनकी समस्त कृतियों में सुन्दर कला-कौशल है, यत्र-तत्र मार्मिक रूपयोजना और सूक्ष्म वस्तु-चित्रण है, पर जहां तक प्रगीत-काव्य का सम्बन्ध है, हिन्दी का शेली हिन्दी में आता-आता ही रह गया!

सन् ३५ या उसके कुछ पूर्व-पश्चात् हिन्दी प्रगीतों का एक अन्य युग आरम्भ होता है जिसके दो प्रमुख प्रतिनिधि महादेवी वर्मा और बच्चन हैं। यद्यपि महादेवीजी छायावादी परम्परा को ही लेकर आगे बढ़ीं, पर वे क्रमशः प्रसाद, निराला और पन्त की सामाजिक पृष्ठभूमि पर की गई लोक-रचनाओं से दूर होती गईं, और अन्त में अब वे अपने काव्य को अत्यन्त वैयक्तिक सीमा-भूमि पर ले जाने में समर्थ हुई हैं। प्रश्न किया जाता है कि ऐसे कवि और उसकी रचना का साहित्यिक महत्त्व क्या है जो समाज की वास्तविक और प्रगतिशील चेतना से इतनी दूर चली गई हो: महादेवीजी के काव्य की इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप जो रचनाएं प्रस्तुत की जा रही हैं, उनके साहित्यिक मूल्य के सम्बन्ध में वादी प्रवृत्तियां न रखनेवाले समीक्षकों के बीच भी बड़ा मतभेद दिखाई देता है। यह समस्या हिन्दी साहित्य के नये इतिहास-लेखक के संमुख आती है। हम यहां इस साहित्यिक प्रश्न की ओर विचारशील पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर ही संतोष करेंगे। संक्षेप में प्रश्न यह है कि साहित्यिक रचना का एकदम स्वतंत्र मूल्य है अथवा उसका मूल्य उसके सामाजिक सम्पर्क और प्रभाव में है; और यदि साहित्य सामाजिक और वास्तविक जीवन-स्रोत से अपना रस-ग्रहण छोड़ देता है, तब केवल कल्पना या वैयक्तिक संवेदना की भूमि पर की गई रचना का साहित्यिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक मूल्य किस प्रकार आंका जाय?

हम यह स्वीकार करते हैं कि महादेवीजी के प्रगीतों ने साहित्यिक मूल्यां-

कन की नई समस्या उत्पन्न की है। कदाचित् उन्हींकी रचनाओं में पहले-पहल वैयक्तिक भावना का इतना गहरा पुट पाया गया। वाह्य जीवन-व्यापारों, प्रकृति के व्यक्त स्वरूपों और सौन्दर्य-दृश्यों का महादेवी जी के काव्य में स्वतंत्र अंकन नहीं है। वे प्रतीक रूप में ही इनका उल्लेख करती हैं। 'रजनी ओढ़े जाती थी झिलमिल तारों की जाली, उसके बीते वैभव पर तब रोती थी उजियाली' में 'रजनी', 'तारे' और 'उजियाली' यथार्थ नहीं हैं, वे महादेवीजी किसी कल्पित नारी के रूप को प्रत्यक्ष करने के लिए प्रतीक का ही काम देते हैं। यह अन्तर्मुखी कल्पना और उसमें प्रतीकों की योजना का यह स्वरूप महादेवीजी की वह विशेषता है जो उन्हें पूर्ववर्ती प्रगीतकारों की प्रकृति-प्रेमी स्वच्छन्द धारा से एक भिन्न श्रेणी में ले जाती है। इस नई शैली और श्रेणी के काव्य के मूल्यांकन की समस्या हिन्दी काव्य-समीक्षा के प्रमुख उपस्थित है।

बच्चनजी की आरम्भिक रचनाओं में भी वैयक्तिक अनुभूति की तीव्रता थी, जो उन्हें 'हालावाद' की ओर ले गई थी। इस प्रकार की अनुभूतियां हिन्दी के लिए अपरिचित थीं और हिन्दी काव्य की किसी गृहीत परम्परा में नहीं आती थीं। साथ ही इनका सामयिक जीवन-प्रगति में भी कोई सुस्पष्ट योग न था। निराशावादी प्रतिक्रिया के रूप में ही इनकी परख हुई थी। परन्तु बच्चन के इन प्रगीतों में नए काव्यसाधनों का प्रयोग हुआ था—नई सामान्य भाषा और नया सरल भावविन्यास—जो इन्हें एक स्वतंत्र काव्यस्वरूप और रचनात्मक विशेषता देते थे।

आगे चल कर हालावाद या मादक उत्तेजना का प्रभाव कम हुआ और बच्चनजी ने 'एकान्त संगीत', 'निशानिमंत्रण' जैसी रचनाएं प्रस्तुत कीं जिनमें वस्तुचित्रण और रूपनिर्माण की उच्चतर प्रवृत्तियां भी दिखाई पड़ती हैं। यद्यपि इन चित्रणों में भी कवि की अनुभूति सुसंयत नहीं है, किन्तु कला की एक स्वस्थ-तर उद्भावना इन रचनाओं में देखी जाती है। इन रचनाओं में भावना की अनोखी एकाग्रता है और प्रगीत की लड़ियां खूब सजी हुई हैं।

बच्चनजी की यह विशेषता है कि वे क्रमशः भावना की मादक गहराइयों से ऊपर उठकर प्रेम की निखरी रागिनी का भी आलाप कर सके हैं और निकट वर्तमान में उनकी कृतियां सार्वजनिक भावना को अपनाती जा रही हैं।

परवर्ती प्रगीत

बच्चनजी के बाद प्रगीत-काव्य किसी दिशा में उल्लेखनीय प्रगति नहीं कर पाया है। छायावाद-युग में काव्य की जो समवेत धारा थी और भिन्न-भिन्न

कवि जिस धारा में अपनी अनुभूतियों का जल मिला रहे थे, वह धारा टूटकर आज तीन प्रणालियों में बह रही है। महादेवी और बच्चन की ऐकान्तिक रचनाएं और वैयक्तिक भावना अधिक नए कवियों में पहुंचकर राष्ट्र और समाज के लिए पूरी तरह अनुत्तरदायी हो गई है। उनमें कहीं 'मृत्यु-आवाहन' और कहीं 'कामिनी का आमंत्रण' तथा दूसरे प्रकार के नग्न चित्रणों की प्रवृत्ति बढ़ रही है। प्रगीत-भावना की स्वच्छन्दता के नाम पर सारी सभ्यता ताख पर रक्खी जा रही है और समाज के सम्मुख मृत्यु-अभिलाषा, तथा विभिन्न प्रकार के रति-संकेत प्रस्तुत किए जा रहे हैं। यह अति-यथार्थवाद हिन्दी में प्रचलित होने लगा है। केवल मनोविज्ञान की दृष्टि से इसका विश्लेषण ही नहीं किया जाता, इसके सम्बन्ध में सैद्धान्तिक व्याख्याएं भी की जाने लगी हैं। समझ में नहीं आता कि कोई भी सैद्धान्तिक व्याख्या इन निकम्मी कृतियों की निर्माण-भूमिका में जाकर क्या लाभ उठायगी ?

दूसरी प्रणाली प्रयोगवादियों की है जो प्रायः बौद्धिक व्यक्तियों द्वारा रची जा रही है। वास्तव में ये निबन्ध-लेखक और उपन्यासकार हैं जो कविता की भूमि में अनायास आ गए हैं। परन्तु इन भले आदमियों को इतना तो समझना ही चाहिये कि कविता के क्षेत्र में कोरा बुद्धिवाद अधिक दूर तक नहीं चल सकता। कहा जाता है कि हिन्दी कविता को भावना की निरर्थक और असामाजिक गहराइयों से ऊपर उठाकर स्वस्थ भूमि में रखने में इन बुद्धिवादियों ने अच्छा योग दिया है, और अब भी दे रहे हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि इस योगदान में वास्तविक कविता कितनी है ?

तीसरी प्रणाली सामाजिक प्रगतिवादियों की है। इनके द्वारा एक नए प्रकार की व्यंग्यात्मक रचना का आरम्भ हो रहा है, जो हिन्दी के साथ स्थानिक बोलियों का पुट मिलाकर नया प्रभाव उत्पन्न करती है। जहां कहीं इन रचनाओं में मतविशेष के प्रचार का पक्ष प्रबल नहीं हो गया है, वहां इनमें एक अच्छी सजीवता दिखाई देती है। परन्तु ऐसी रचनाओं की संख्या कम है, इनका अभी-अभी उद्भव हो रहा है। ऊपर की इस त्रिधारा की पूरी परख हिन्दी के नए इतिहास-लेखक को करनी होगी।

पुरानी प्रशस्त धारा के कविगण भी काम करते जा रहे हैं। दिनकर, भगवतीचरण, उदयशंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र, सोहनलाल द्विवेदी, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', अंचल, जानकी वल्लभ शास्त्री, द्विज, मनोरंजन, आरसी, सुधीन्द्र, नीलकंठ तिवारी, नेपाली आदि की रचनाएं अब भी प्रकाशित

हो रही हैं। इसी धारा में नई स्फूर्ति से काम करनेवाली नई प्रतिभाएं भी हैं। सुमन, रसिक, रामअधार सिंह, ठाकुरप्रसाद, भवानीप्रसाद मिश्र, सुमित्रा कुमारी आदि ऐसे ही नए रचनाकार हैं। इन सबका विवेचन भी नए इतिहास-लेखक को करना होगा।

आख्यानक काव्य

प्रियप्रवास, साकेत, नूरजहां, हल्दीघाटी, कुरुक्षेत्र, कैकेयी और कामायनी पिछली अर्द्धशताब्दी के कुछ प्रमुख काव्य-प्रबन्ध हैं। इनमें से कुछ महाकाव्य भी कहे जाते हैं। प्रियप्रवास में कृष्ण और राधा के वियोग का कथानक है, वह घटना जिसे लेकर हिंदी के प्राचीन कवि सूरदास ने गीतों की रचना की थी। यह प्रसंग प्रबन्ध-काव्य की अपेक्षा गीतों के अधिक उपयुक्त भी है। कदाचित् इसीलिए 'प्रियप्रवास' में राधा के जीवन का एक ही पक्ष, और वह भी किसी महत्वपूर्ण घटना से रहित, अंकित किया जा सका है। 'साकेत' में भी नायिका उर्मिला का चरित्र मुख्यतः वियोगिनी का ही चरित्र है। पूरे जीवन-व्यापार के स्थान पर विरह की सीमित परिस्थिति का ही चित्रण किया जा सका है, यद्यपि पुराने लक्षणों की पूर्ति के लिए 'साकेत' में युद्ध आदि के दृश्य भी आ ही गए हैं, और राम-वनगमन का आरम्भिक अंश भी जोड़ दिया गया है। 'नूरजहां' में ऐतिहासिक इतिवृत्ति को ले लेने के कारण नायक और नायिका का चित्रण अधिक विस्तार के साथ हो सका है, परन्तु इतिहास के ही आधार के कारण रचना में नवीन युग की परिस्थितियों और भावनाओं-आदर्शों आदि का दिग्दर्शन नहीं किया जा सका। यही बात 'हल्दीघाटी' के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इन दोनों प्रबन्धों में मध्ययुग की घटना-विशेष को लेकर ही पात्रों का चित्रण किया गया है, अतएव इनका वातावरण भी पुराना ही है। 'कुरुक्षेत्र' और 'कैकेयी' की रचना 'कामायनी' के पीछे की है, परन्तु 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध के प्रश्न को लेकर ही अधिकतर चर्चा हुई है—जीवन के अन्य व्यापक प्रश्नों को कम ही उठाया गया है और इसमें कथानक, आख्यान और चरित्र-चित्रण भी नहीं के बराबर हैं। 'कैकेयी' एक नया आख्यान है जिसमें इसी नाम की प्राचीन भारतीय राजमहिषी को नए स्वरूप में अंकित किया गया है नई व्याख्या देकर। 'कृष्णायन' में प्राचीन शैली का अनुवर्तन अधिक है। ये सभी काव्य अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं, पर इनमें से किसी में भी 'कामायनी' का-सा सर्वांगपूर्ण जीवन-दर्शन, नारी और पुरुष का संपूर्ण चित्रण और नई परिस्थिति का व्यापक निरूपण नहीं दिखाई देता। नए ज्ञान का

इतना विस्तृत उपयोग भी कदाचित् किसी नवीन काव्य में नहीं किया गया।

'कामायनी' में कवि प्रसाद ने आदि मानव का आख्यान लिया है और उसे प्राचीन कथातंतु का सहारा लेकर नए उपकरणों से सज्जित किया है। कथा-क्रम में मनोविज्ञान के साथ मानव-सभ्यता के विकास का वैज्ञानिक चित्र भी दिखाया गया है। इस प्रकार काव्य का कथानक या शरीर तो नए विज्ञान का उपयोग करता है, उसे गति और विस्तार देता है, और इस विज्ञान-संमत जीवन-विकास को सार्थकता और आलोक देने के लिए कवि ने भारतीय दर्शन का भी सुन्दर प्रयोग किया है। 'कामायनी' के कथानक या वस्तु-संघटन में जिस प्रकार पश्चिम की नई वैज्ञानिक सम्पत्ति के साथ भारतीय दर्शनों की प्राचीन निधि का उपयोग किया गया है, उसी के अनुरूप कामायनी में दो नारी-चरित्र भी हैं—एक भारतीय भावना और दर्शन की प्रतिनिधि और दूसरी नए वैज्ञानिक विकास की प्रतीक। इन दोनों का संतुलन और समन्वय 'कामायनी' के कवि की नई देन है भारतीय जन-समाज को, और यदि धृष्ठता न हो तो, समस्त विश्व-समाज को।

तरुणावस्था के पूर्व एक महान् प्रलय झेलकर मनु नवीन जीवन-विकास की तैयारी करता है। सृष्टि भी अपनी बर्बर स्थिति से निकलकर हिमालय की उपत्यका में नई सभ्यता का निर्माण करने लगी है। समाज में वैयक्तिक प्रेम और परिणय के दृश्य दिखाई देने लगे हैं। यह आदि-मानवता सभ्य है, किन्तु सभ्यता के दूषणों से रहित। यह शालीनता और संयम रखती है। किन्तु नैसर्गिक प्रेरणाओं का हनन करके नहीं। निसर्ग की गोद में ही मानव-प्रेम का संयत किन्तु परिपूर्ण विकास होता है, यह कामायनी के आरम्भिक सर्गों में प्रदर्शित है। प्रेम ही कर्त्तव्य की प्रेरणा उत्पन्न करता है और 'यह विश्व-कर्म रंग-स्थल है' की धारणा बँधाता है। 'शक्तिशाली हो विजयी बनो' के विश्व में गूंजते हुए जयगान को कवि ने बड़ी तन्मयता से सुना और तत्परता से सुनाया है। काव्य का नायक मनु कर्मक्षेत्र में प्रवेश करता है। समाज में नया याज्ञिक जीवन आरम्भ होता है। इस ओर नारी अपने गृहशिल्प द्वारा घर सजाने और सँवारने में लगी रहती है। यही मनु और कामायनी के जीवन की सुखपूर्ण घड़ियां हैं, परन्तु यहीं से विकार भी उत्पन्न होता है। वासना और महत्वाकांक्षा की वृद्धि होती है। हिंसक कर्म प्रधानता पा जाते हैं। यज्ञों में अपवित्रता बढ़ने लगती है। अतृप्ति और अभाव से उद्विग्न होकर मनु कामायनी को छोड़ नए बुद्धिक्षेत्र में प्रवेश करते हैं। नई सभ्यता का यह रौद्र चित्र भी कामायनी में अंकित किया

गया है। ऐतिहासिक आधार पर इसे प्रसादजी ने आर्यों की वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रतिरूप माना है। इस व्यवस्था में बुद्धिवादी विभाजन और वर्गीकरण की प्रधानता थी। मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न होते थे, समता नष्ट होती थी। यहीं हमें नए वर्ग-संघर्ष की भूमिका भी मिलती है। प्रसाद ने इसे बुद्धिवादी एकांगिता का परिणाम बताया है और इस बुद्धिवादी समाज-क्षेत्र में प्रेम की नवीन प्रतिष्ठा का महान् सन्देश दिया है। आज के समस्त सामाजिक रोगों का निदान 'प्रेम की कमी' बताकर प्रसादजी ने हमारे संमुख एक अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक दृष्टिकोण रक्खा है। प्रेम और कर्मकांड को पार करती हुई 'कामायनी' यहीं से ज्ञानकांड में प्रवेश करती है। यहीं कवि ने भावना, इच्छा और ज्ञान के संतुलन या समन्वय से नई मानवता का निर्माण करने का पथ-संकेत किया है। हिमालय की ऊँची उपत्यका और मानसरोवर के स्वच्छ प्रांजल वातावरण से आई हुई यह सुहावनी वाणी ही हमारे नए युग के प्रतिनिधि काव्य में प्रतिफलित हुई है। नवीन जीवन-परिस्थितियों के भीतर नए मानव-व्यवहार के चित्र के साथ पूर्व और पश्चिम की आध्यात्मिक और बुद्धिवादी संस्कृतियों के समन्वय की जो उदात्त कल्पना, महान् संकल्प और विस्तृत प्रयास कामायनी में दिखाई देता है, वह इसे युग का प्रतिनिधि काव्य बना देने के लिए पर्याप्त है।

'कामायनी' अपने युग की सर्वसुन्दर काव्यकृति है, किन्तु अपूर्णता इसमें भी कुछ-न-कुछ है ही। कोई भी कृति किसी एक दृष्टि से ही पूर्ण होती है, सारी दृष्टियों से नहीं। किसी एक दृष्टि से भी पूर्णता प्राप्त कर लेना असाधारण महत्व का परिचायक है और यह महत्व 'कामायनी' की काव्यकृति को उपलब्ध है। परन्तु 'कामायनी' की उक्ति के अनुसार यह रचना 'कोमलता में बल खाती' हुई है। यद्यपि यह बल खाना बल-संचय के लिए ही है, फिर भी इससे रचना की किशोर तन्वंगिता भुलाई नहीं जा सकती। इसमें कोलाहल और कर्कशता नहीं, किन्तु महाकाव्य का गम्भीर स्वर भी इसमें पूरे वेग से नहीं उतरा। युग की नवोन्मेषशाली और नूतन समन्वयकारिणी वाणी तो कामायनी में है, पर युग की प्रौढ़ता और परिपक्वता कदाचित् इसमें नहीं है—और न हो ही सकती थी। महान् से महान् कृतियां भी युग-विकास की सीमाओं से परिचालित होने को बाध्य होती हैं और कामायनी में भी यह सीमा है। कामायनी नई संस्कृति के नव-निर्माण और उसकी नव-चेतना का परिचायक महाकाव्य है। वह पूर्ण प्रफुल्ल सांस्कृतिक विकास का प्रतिनिधि महाकाव्य नहीं है। इसीलिए हम दिनकर

के 'कुरुक्षेत्र', प्रभात की 'कैकेयी' और वियोगी के 'आर्यावर्त' में आख्यान-काव्य की परम्परा का आगामी विकास देखते हैं। इससे हमें यह भी आशा होती है कि कोई श्रेष्ठतर महाकाव्य हिंदी में अभी आने वाला है।

यह प्रतिनिधि महाकाव्य क्या और कैसा होगा, इसका आभास ऊपर लिखी तीन कृतियों से (जिन्हें मैं बिहार की वृहत्त्रयी कह सकता हूँ) और रांगेय राघव के 'अजेय खंडहर' तथा 'अशोक', 'कुणाल' आदि अन्य खंड-काव्यों में मिल सकता है। मुझे तो आशा है कि वह आगामी महाकाव्य महात्मा गांधी के भारतीय रंग-मंच पर किए गए महान् सांस्कृतिक प्रवर्तन का ही काव्य-प्रतिरूप होगा।

नाट्य-साहित्य

यहां अब हम हिंदी के नवीन नाटक-साहित्य पर एक चलती नजर डाल लेना चाहते हैं। यहां भी हमें प्रधान व्यक्तित्व प्रसाद का ही दिखाई देता है। भारतेन्दु के नाटक व्यापार-प्रधान न होकर भावना-प्रधान और काव्यात्मक रहे हैं। उनमें चरित्र की रूप-रेखा स्वतंत्र नहीं, रस की अनुवर्तिनी रही है। इस विशेष अर्थ में भारतेन्दु के नाटक 'रसात्मक' या प्रभावाभिव्यंजक ही कहे जायंगे। फिर भी उनमें उच्च कोटि की नाटकीय प्रतिभा और क्षमता थी जिसके कारण वे प्रभावशालिनी वस्तु-योजना और आकर्षक परिस्थिति-निर्माण भी कर सके हैं। इस कारण उनके नाटकों में आज भी अभिनेयता का सामर्थ्य बना हुआ है। उनके पश्चात् द्विवेदी-युग के नाटककारों में प्रेम-कथानक को लेकर नाट्य-रचना चलने लगी। नाटक दो पात्रों की प्रेम-लीला का रंगीन, किन्तु गतिहीन आख्यान बन गया। दूसरी ओर व्यापारी कम्पनियां असाहित्यिक और असांस्कृतिक नाटकों का निर्माण और अभिनय करने में लगी हुई थीं। इस छाए हुए सन्नाटे को दूर कर पहले-पहल कुछ घटना-प्रधान ऐतिहासिक नाटक हिंदी में लिखे गए। ये नाटक प्राचीन युग के उत्कर्ष-व्यंजक होने के कारण भाव-प्रधान भी थे। चरित्र न सही, कुछ साकार और सजीव व्यक्तियों का आगमन नाटक-साहित्य में होने लगा। कुछ अन्तर्द्वन्द्व या भावुकता-प्रधान बंगला नाटकों का भी हिंदी अनुवाद हुआ। इसी समय प्रसादजी ने नाट्य-क्षेत्र में प्रवेश कर नाटक को नए चरित्र , नई घटनाएं, नया ऐतिहासिक देशकाल, नया आलाप-संलाप --संक्षेप में संपूर्ण नया समारंभ दिया। हिंदी नाटकों में नया युग-प्रवर्तन होने लगा।

प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक हैं, इसलिए घटना और चरित्र का स्वतंत्र निर्माण और जीवन-समस्याओं या संघर्षों की योजना उनमें इतिहास की पाबन्दी

के भीतर हुई है, पूर्ण स्वतंत्रता के साथ नहीं। इस दृष्टि से प्रसाद के नाटक उनके 'कामायनी' काव्य की भांति पूर्ण निर्माणात्मक मौलिकता लेकर नहीं आए हैं। पर ऐतिहासिक नाटक के इस प्रारम्भिक प्रतिबन्ध को स्वीकार कर लेने पर, इतिहास की पाबन्दी के भीतर, घटनाओं की नाट्योपयोगी योजना, चरित्रों और परिस्थितियों का संघर्ष और द्वंद्व और नाटक में ऐतिहासिक देश-काल के समुचित प्रसार के साथ शिष्ट और सौम्य भाषा में कहीं कुछ काव्यात्मकता लिए हुए और कहीं विनोद के हल्के पुट से अनुरंजित संवादों की सृष्टि प्रसादजी ने की है। उनके नाटकों में भी कई लोगों को कई प्रकार की शिकायतें हैं और हो सकती हैं, पर हिंदी नाटकों को नया स्वरूप और जीवन देने में प्रसाद जी का कार्य ही सर्वोपरि है। इतिहास की घटनाओं को नाटकीय वस्तु के रूप में ढालकर सजीव पात्रों की सृष्टि करना और अतीत के उन व्यक्तियों और परिस्थितियों के प्रति आज के पाठक और नाट्यदर्शक का मन रमा लेना प्रसादजी की विशेषता है। उनके नाटकों में घटनाओं के आकर्षण की अपेक्षा चरित्रों की विविधता और उनकी मनोभावनाओं का उन्मेष और प्रदर्शन अधिक है। प्रसाद के नाटक इतिहास के रूखे अस्तित्व को नाटकीय कौतूहल, प्रभावशाली दृश्यविधान और कला की परिपूर्णता देने में समर्थ हुए हैं।

नए नाट्य-लेखकों पर प्रसादजी का प्रभाव है और जहां कहीं नई नाट्य-शैली के निर्माण की चेष्टा की गई है, वहां प्रसाद के नाटकों की-सी व्यापक प्रभाव-शालिता अब तक नहीं लाई जा सकी है। प्रायः नाटकों में प्रेम-कथा और तत्संबंधी भावनाओं का चित्रण ही भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में किया जा रहा है। इधर कुछ प्राक्ऐतिहासिक जीवन का निरूपण करनेवाले नाटक भी लिखे गए हैं। कुछ नाटकों का निर्माण नई सामाजिक स्थितियों और समस्याओं के आधार पर भी हुआ है। पर कुल मिलाकर प्रसादजी की नाट्य-कृतियों की समकक्षता पर हिन्दी के नए नाटक नहीं आ सके हैं। श्री हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, गोविन्द वल्लभ आदि के नाटक प्रसाद-शैली के ही रूपान्तर हैं। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददास के नाटकों में नवीनता है, पर अब तक ये नाटक कदाचित् प्रयोग-दशा में ही हैं, किसी निर्णायक कला-स्थिति तक नहीं पहुंच सके हैं।

उपन्यास और कहानी

उपन्यासों के क्षेत्र में अधिक अच्छा काम हुआ है। प्रेमचन्दजी के आरम्भिक उपन्यासों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। सन् १९२० के पश्चात्

प्रेमचन्द की रचनाओं में और भी प्रौढ़ता आई और भारतीय जीवन के विस्तृत पक्षों का चित्रण उनमें किया गया। अत्यन्त प्रत्यक्ष विषय-वस्तु के साथ अत्यन्त उदात्त चरित्रों और पात्रों की सृष्टि करना कला की दृष्टि से एक असाध्य-सा प्रयास है, परन्तु इस कठिनाई के रहते हुए भी प्रेमचन्दजी ने भारतीय समाज का जो व्यापक और जीता-जागता विवरण दिया है, वह उनके उपन्यासों को महत्वपूर्ण बना देता है। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्दजी की आदर्शवादी कला अपनी सीमा पर पहुंच गई है, परन्तु प्रेमचन्दजी के उपन्यासों का विकास रुका नहीं। 'गबन' में सामाजिक भूमि पर मनोवैज्ञानिक चित्रण अधिक परिपुष्ट होकर आया है और उपन्यास का घटना-विन्यास भी अधिक व्यवस्थित और संयत है। 'गोदान' में प्रेमचन्दजी ने ग्रामीण जीवन का पूरा चित्र उसकी सम्पूर्ण वेदना के साथ ला उपस्थित किया है। उपन्यास का प्रधान पात्र होरी अनेक संकटों को झेलता हुआ आगे बढ़ता है, उसे जीवन में असफलता ही हाथ लगती है, फिर भी प्रेमचन्दजी की लेखनी ने उसे असफलताओं के बीच एक गौरव और दृढ़ता दे रक्खी है। प्रसादजी के उपन्यास मध्यवर्गीय सामाजिक समस्याओं, व्यवहारों और परिस्थितियों को लेकर आरम्भ हुए थे। 'कंकाल', उनका प्रथम उपन्यास, विचार-प्रधान है। उसमें प्रसादजी ने हमारी उच्च जातीयता और आभिजात्य की भावनाओं पर एक बड़ा प्रश्न-चिह्न लगाया है। हमारे "आदर्शवादी' चरित्र को भी वास्तविक परिस्थितियों में परख कर उसे कच्चा सिद्ध किया है। कंकाल की अपेक्षा 'तितली' उनकी अधिक कलात्मक कृति है। इसमें प्रसादजी ने किसानों और मजदूरों के जीवन-चित्र उपस्थित किए हैं। किसान-बालिका तितली उपन्यास की प्रमुख पात्र है। वह स्वल्प शिक्षित, किन्तु महान् अध्यवसायी लड़की है। उसके चित्रण द्वारा प्रसादजी ने ग्रामीण परि-स्थिति में नया उत्साह भरने की चेष्टा की है। उन्होंने ग्रामीण नव-निर्माण-सम्बन्धी अपने सुझाव रक्खे हैं, जो सहयोगिता और सम्मिलित खेती के आदर्श पर आधारित हैं। प्रसाद का तीसरा उपन्यास ऐतिहासिक था, किन्तु वह उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अधूरा ही रह गया। तीसरे मुख्य उपन्यास-लेखक श्री वृन्दावनलाल वर्मा हैं जिन्होंने अब तक ऐतिहासिक उपन्यास ही लिखे हैं। इनके उपन्यासों में विवरणों की इतनी प्रचुरता होती है कि उपन्यास घटना-वर्णन से भरे-पूरे लगते हैं। इतिहास की दूरी से घटना-विवरणों का आकर्षण बढ़ जाता है और स्वच्छन्दता के वातावरण में घटनेवाले वीरतापूर्ण दृश्य, वन्य-व्यवहार तथा प्रेम-चर्या आदि एक अनोखी सबल सभ्यता का हवाला देती

है। आदर्शवादी पद्धति पर जीवन नुभव से पूर्ण वर्णन-प्रधान कृतियां प्रस्तुत करने वाले ये उपन्यास-लेखक हमारी नई बृहत्रयी में आते हैं।

इनके पश्चात् हिन्दी के उपन्यासों की एक नव तर धारा चली जिसमें भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्रकुमार की कृतियाँ आती हैं। भगवतीप्रसादजी आरम्भ में प्रेमचन्दजी का आंशिक प्रभाव लेकर चले थे, पर शीघ्र ही उनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक दृश्य-चित्रों की प्रमुखता होने लगी और पात्रों और परिस्थितियों का अन्तर्द्वन्द्व दिखाया जाने लगा। यह एक नया उपक्रम था जो हिन्दी उपन्यास को वैयक्तिक चरित्र-सृष्टि और मनोवैज्ञानिक भूमिका पर ले आया। यह एक दृष्टि से पुरानी विवरणपूर्ण सामाजिक उपन्यासों की पद्धति से आगे बढ़ा हुआ प्रयास है, पर दूसरी दृष्टि से इसमें एक अनिवार्य दुर्बलता भी है। जब कभी ये उपन्यास सामाजिक प्रगति की भूमि को छोड़कर ऐकान्तिक मनोवैज्ञानिक ऊहापोह में लग जाते हैं, तब न तो सच्चे अर्थ में नया चरित्र-निर्माण ही हो पाता है, और न उपन्यासों की सामाजिक उपादेयता ही रह जाती है। जो पात्र और परिस्थितियां इन उपन्यासों में चित्रित होती हैं, वे कभी-कभी दर्शन और मनोविज्ञान के नाम पर निरुद्देश्य भावुकता या चारित्रिक दुर्बलता को ही अंकित करती हैं। ये उपन्यास सामाजिक प्रगति की प्रेमचन्दजी की परम्परा को पकड़कर चलते और साथ ही उनमें वैयक्तिक चरित्रांकण और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण परिस्थितियों के निर्माण का सामर्थ्य भी होता, तब ये उपन्यास प्रेमचन्द की परम्परा से आगे बढ़े हुए कहे जाते। जैसे ये हैं, इन्हें हम अब तक एक नया प्रवर्तन ही मान पाए हैं। भगवतीचरणजी की 'चित्रलेखा' मनोवैज्ञानिक आधार पर एक नैतिक प्रश्न उठाती है। पश्चिमी उपन्यास 'थाया' की भी यही भूमिका है, परन्तु भगवतीचरणजी की 'चित्रलेखा' दो पुरुष-पात्रों के बीच घूमती हुई केवल कौतूहल की सृष्टि कर पाती है। वे नैतिकता को नया मनोवैज्ञानिक आधार देना चाहते हैं, अथवा यह कहें कि नए मनोविज्ञान पर नई नैतिकता का निर्माण करना चाहते हैं। पर इतने बड़े प्रश्नों को इतनी हल्की कलम से सँभाल पाना संभव नहीं है। कदाचित् इसीलिए 'चित्रलेखा' एक प्रश्न बनकर ही रह गई है। जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक और चारित्रिक विशेषताओं को चित्रित करने का बड़ा स्वाभाविक और मार्मिक प्रयास उनकी आरम्भिक कृतियों में किया गया था। परन्तु जैनेन्द्रजी मनोवैज्ञानिक निर्माण के साथ जब से दर्शन का पुट अधिक मिलाने लगे, तब से उनकी रचनाओं का प्रभाव और उत्कर्ष

संदिग्ध हो गया है। कदाचित् मनोवैज्ञानिक चित्रण और परिस्थिति-निर्देश को प्रमुखता रखनेवाले उपन्यासों को दार्शनिक तत्वज्ञान के सम्पर्क में लाना ही खतरनाक है। आज के मनोविज्ञान-विशेषज्ञ भी अपने को तत्वदर्शन की भूमि से अलग ही रखना अच्छा समझते हैं। हिन्दी उपन्यासों की इस मध्य-त्रयी का अधिक उपयोगी कार्य शायद भविष्य में संपन्न हो।

एक और त्रयी हिन्दी के नवीनतम उपन्यास-क्षेत्र में काम करने लगी है। यह है यशपाल, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी की त्रयी। चौथा नाम उपेन्द्र-नाथ अश्क का भी इसी के साथ लिया जा सकता है। यशपालजी अपने आरम्भिक उपन्यासों में केवल साम्यवादी सिद्धान्त का ही उद्‌घाटन कर सके थे, पर क्रमशः उनकी कृतियों में स्वाभाविकता का सौन्दर्य निखरने लगा है। यशपाल जी का अनुभव-क्षेत्र बड़ा है और वे विशाल और निर्वाध जीवन-परिस्थितियों का चित्रण करने की क्षमता रखते हैं। फिर पता नहीं क्यों वे इस शक्ति का परिपूर्ण उपयोग न कर एक सिद्धान्त-विशेष की छाया में ही साहित्य के पौधे को पनपाना चाहते हैं। क्या यह अधिक अच्छा न हो कि वे जीवन की खुली धूप, हवा और मिट्टी से उसे यथेष्ट खाद्य लेने दें। सिद्धान्त के गमले में रक्खे, चौबीस घंटे की छाया में पले, ये पौधे कहां तक बढ़ पाएंगे? यशपाल जी इस बात को क्यों भूल जाते हैं कि उनकी शक्तियों का कहीं अच्छा उपयोग मतवाद के घेरे से बाहर निकल जाने पर ही हो सकेगा। वे इतिहास के आलोक में साहित्य की परम्परा को देखें और पहचानें—कहीं भी दार्शनिक या बौद्धिक कठघरे के भीतर महान साहित्य की सृष्टि नहीं हुई। यशपाल जैसे अनुभवी लेखक भी इससे सीख नहीं ले सकते, यह आश्चर्य की बात है। किसी राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक सिद्धान्त का लोहा मानकर उसकी चौहद्दी में बन्द हो जाना न केवल साहित्य के लिए एक बड़ी कुंठा है, मनुष्यता के लिए एक पंगुकारी रोग है। इस सीधी-सी बात के औचित्य को समझना यशपालजी के लिए कुछ भी कठिन नहीं, पर क्या वे इसे समझने की चेष्टा करेंगे?

इसी प्रकार इलाचन्द्रजी भी क्रमशः समाज की व्यापक स्थितियों के चित्रण से अलग होकर अधिकाधिक सीमित भूमि पर आते जा रहे हैं, और आश्चर्य तो यह है कि यह सब यथार्थवाद, और वैज्ञानिक सत्य के नाम पर किया जा रहा है। हम मानते हैं कि विज्ञान के क्षेत्र में विशेषज्ञता बढ़ रही है और उस विशेषज्ञता का साहित्यिक उपयोग भी होना ही चाहिये। पर प्रश्न यह है कि कुछ चुने हुए

वैज्ञानिक क्षेत्रों से सामग्री लेकर क्या वास्तविक मानव-चरित्र और उसके सामाजिक विकास-क्रम का पूरा परिदर्शन किया जा सकता है? कहा जा सकता है कि अब हिन्दी उपन्यास एक अनिर्दिष्ट सामाजिक विकास और चरित्र-निर्देश की भूमि से आगे बढ़कर विशेषज्ञता के क्षेत्र में आ रहा है और हमें अधिक वैज्ञानिक और 'यथार्थ' कला-सृष्टियां मिलने वाली हैं। संभव है इस कथन में कुछ सत्य भी हो, पर इसे मान लेने में हमारी प्रमुख आपत्ति यह है कि यह उपन्यास के लेखक के लिये कतिपय बौद्धिक तथ्यों और निर्णयों के आधार पर एक आख्यान बना देने के अतिरिक्त कोई काम ही नहीं रख छोड़ता। लेखक के निजी जीवन के विस्तृत अनुभवों के लिये अवकाश नहीं रह जाता। समाज की सजीव गति-विधियों को देखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर तो हम विभिन्न विज्ञानों की पुस्तकों को सामने रखकर ही साहित्य-रचना करते रहेंगे। और यह भी संभावना है कि साहित्यिक मूल्यों को छोड़ कर वैज्ञानिक मूल्यों को प्रधानता देने लगेंगे। विज्ञान के नाम पर हीन और रुग्ण भावनाओं का चित्रण भी श्रेष्ठ साहित्य के नाम पर खपने लगेगा। क्या इस प्रक्रिया के द्वारा श्रेष्ठ साहित्यिक निर्माण की संभावना रह जायगी?

अज्ञेयजी की स्थिति बहुत कुछ इन दोनों की मध्यवर्तिनी है, इसलिए वे 'शेखर एक जीवनी' के रूप में कदाचित इन दोनों से अधिक साहित्यिक तथ्यपूर्ण कृति प्रस्तुत कर सके हैं। फिर भी 'शेखर: एक जीवनी' को पढ़ने पर कम-से-कम दो स्थानों पर अति चिन्तनीय समस्यायें उपस्थित होती हैं। एक तो पुस्तक के वे 'प्रयोगात्मक' स्थल जिनमें किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के उद्घाटन के लिए कथा-क्रम की स्वाभाविकता बिगाड़ दी गई है, जिनमें बौद्धिक निर्देश प्रमुख होकर कला के स्वाभाविक प्रवाह में बाधक बन गए हैं और दूसरे वे स्थल जिनमें लेखक की भावुक और 'अवैज्ञानिक' प्रेम-प्रतिक्रिया स्वस्थ और संतुलित चरित्र-धारणा नहीं बना पाई है। स्पष्ट है कि एक स्थान पर अतिरिक्त बौद्धिकता कला-निर्माण में विक्षेप उत्पन्न करती है और दूसरे स्थान पर अतिरिक्त भावुकता और अन्तर्मुखता चरित्रांकण में अवरोध डालती है। इस प्रकार के विक्षेप क्यों संभव हुए? मेरा उत्तर यह है कि इनका कारण है स्वस्थ सामाजिक चेतना की कमी और कला के क्षेत्र में अतिरिक्त बौद्धिकता और 'विज्ञान' का आगमन। इन कमियों और ज्यादतियों को दूर करना ही होगा, तभी हम हिन्दी उपन्यासों को प्रेमचन्द की गौरवपूर्ण परंपरा का सच्चा उत्तराधिकारी बना सकेंगे।

अश्कजी के उपन्यासों में 'यथार्थ' की प्रवृत्ति वैज्ञानिक सीमा पर नहीं पहुँची

है, परन्तु उनके उपन्यास भी मध्यवर्गीय समाज की गति-विधि को एक विशेष दृष्टि से ही चित्रित करते हैं। उनके उपन्यासों में उक्त समाज के ऐसे ही पहलू आए हैं जिनमें निष्क्रियता, उद्देश्यहीनता और हल्के विषाद की छाया पड़ी हुई है। इन रचनाओं को पढ़ने पर हमें समाज के ऐसे चित्र मिलते हैं जिनमें 'यथार्थता' हो सकती है, परन्तु इनके पढ़ने पर हमारे मन में ऐसी भावनायें उत्पन्न नहीं होतीं जैसी प्रेमचन्द के उपन्यासों को पढ़ कर होती हैं, स्वस्थ, उल्लासपूर्ण और विकासोन्मुख।

और भी उपन्यास-लेखक हैं जो इनमें से एक या दूसरी पगडंडी पर चल रहे हैं। उन सबका हवाला इस छोटे दायरे में नहीं दिया जा सकता। पर यह तो कहना ही होगा कि नए साहित्य में प्रेमचन्द की श्रेणी का उपन्यासकार अब तक उत्पन्न नहीं हुआ।

अन्य कला-प्रकार

कहानी और एकांकी नाटक दो अन्य साहित्य-रूपों का विकास भी इस नए युग में हुआ। कहानी तो द्विवेदी-युग में ही आरंभ हो चुकी थी, पर एकांकी नाटक तो वर्त्तमान युग की ही देन है। द्विवेदी-युग की कहानियां मृदुल और शीलवती होती थीं। उनके पात्र और पात्रियां स्वच्छंद प्रेम-लीला या उद्दण्ड आचरण करते नहीं देख पड़तीं। उनमें शालीनता और संयम है। लेखकों में सामाजिक सुधार की आकांक्षा है और समाज के सामने सभ्य रूप में आने की अभिलाषा है। जीवन की उष्णता और उद्वेग उनमें चित्रित नहीं। मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता और परिस्थितियों की प्रभावपूर्ण योजना भी कम ही है। वे मुख्यतः घटना-प्रधान कहानियां ही ठहरती हैं। प्रेमचन्दजी के आगमन से हिन्दी कहानियों में नई जान आई, नई प्रौढ़ता उत्पन्न हुई। प्रेमचन्दजी हिन्दी कहानी को वर्णनात्मक वस्त्र पहनाकर सीधे सामाजिक रंगमंच पर ले आए। उन्होंने चारित्रिक मनो-विज्ञान की भी सृष्टि की, पर वह मनोविज्ञान अधिकतर आदर्शात्मक है—चरित्र-विकास के उन अवयवों से संबंध रखता है जो मनुष्य को ऊंचा ही उठाती हैं, नीचे नहीं गिरातीं। इस मनोविज्ञान को लोग एकांगी समझ सकते हैं, पर इस कारण इसे अमनोवैज्ञानिक नहीं कह सकते। प्रसादजी की कहानियां कल्पना-प्रधान हैं और प्राकृतिक वातावरण का बड़ा सुन्दर चित्रण करती हैं। प्रसादजी की अधिकांश कहानियों की रंगभूमि प्रकृति के खुले प्रसार में है। उन्मुक्त वायु-मंडल में विस्मयकारक और साहसिक घटनावली के बीच मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक चित्रण प्रसाद की कहानियों की विशेषता है। उनके प्रेमकथानकों

में भी मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक पार्श्वभूमियां रहा करती हैं और प्रसंगानुरूप देशप्रेम या कोई दूसरी सांस्कृतिक भावना या आदर्श जुड़ा रहता है। जैनेन्द्र-कुमार की कहानियां व्यापार-विकास की दृष्टि से गतिशील और नाटकीय सौंदर्य से संपन्न होती हैं, किन्तु इस बीच उनकी कहानियों में दार्शनिकता का बोझ बढ़ गया है। भगवतीप्रसाद की कहानियों में भी कला की सुघरता और प्रभावशाली परिस्थितियों की योजना रहा करती है। यशपाल, अज्ञेय, विष्णु प्रभाकर आदि हमारे नए कहानी-लेखक हैं। इधर यथार्थवाद का प्रभाव हिन्दी कहानियों पर भी बढ़ रहा है और 'वैज्ञानिक' चित्रण की प्रवृत्ति आती जा रही है। मैं तो इसका इतना ही अर्थ समझता हूं कि हिन्दी कहानियों में वास्तविक जीवनानुभव कम और पुस्तकीय ज्ञान अधिक होता जा रहा है।

'एकांकी नाटक' अभी कल की वस्तु है, परन्तु प्रतीत होता है कि पश्चिम के बने-बनाये कथानकों को हिन्दी रूप देने की जादूगरी यहां भी चलने लगी है! ऐसे दृश्य और ऐसी घटनायें दिखाई जा रही हैं जो हमारे सामाजिक जीवन में विरल हैं, और केवल कौतूहल उत्पन्न कर सकती हैं। एक दूसरी कठिनाई यह है कि इसके अभिनय का क्षेत्र बड़े शिक्षा-केंद्र या विश्वविद्यालय आदि हैं जिससे इनकी भाषा और इनका वस्तु-निर्देश एक सीमित समाज की रुचि का ही परिचायक बन जाता है। नए और मौलिक एकांकी नाटक भी लिखे जा रहे हैं, पर उनका निर्माण इस दृष्टि से होना चाहिये कि उनमें हमारे देश की तात्कालिक और वास्तविक स्थितियों का उल्लेख हो और वे व्यापक समाज की वस्तु बन सकें।

निबंधों के क्षेत्र में भी उन्नति हो रही थी, पर सहसा विचार-क्लिष्ट सिद्धांतों के लौह आवरण में पड़कर उनकी भी दुर्दशा होने लगी है। निबंध विचार-प्रधान कला नहीं है, उसमें वैयक्तिक मनोभावना और अनुभवों के लिए पूरा अवकाश रहना चाहिए। पर हमारे नए सिद्धांत यह अवकाश दें तब तो। इस दृष्टि से 'आंसुओं का देश', 'सच-झूठ' आदि निबंध-पुस्तकें ही गनीमत कही जायँगी।

हास्य रस की सृष्टियों के लिए भी अवकाश कम ही रहा है, फिर भी कुछ वस्तुयें आई हैं। नए लेखकों में बेढबजी की व्यंग्यात्मक और 'बनानेवाली' चर्चायें अधिक प्रसिद्ध हुई हैं। कुछ पद्यात्मक विनोद भी होता रहा है। पढ़ीस जी की रचनायें तो स्फुट ही रहीं, इधर 'बौछार' नामक एक अच्छी विनोदपूर्ण पुस्तक अवधी भाषा में प्रकाशित हुई है। इसमें समाज की नई किन्तु अनोखी प्रवृत्तियों की खिल्ली ली गई है। गद्य-काव्य के निर्माण में राय कृष्णदास से

लेकर बेनीपुरी जी तक अनेक प्रयोग हुए हैं। नए युग की साहित्यिक पत्रिकाओं में माधुरी, वीणा, सुधा, विशाल भारत, हंस, और साहित्य संदेश आदि अधिक समय तक टिकी हैं। 'त्यागभूमि' और 'भारती' जैसी पत्रिकाएं उदय होकर अस्त हो गईं। कुछ नए पत्र निकलने लगे हैं और कुछ पुराने पत्रों ने नया चोला ग्रहण कर लिया है।

समीक्षा, साहित्यिक इतिहास-लेखन और अनुसंधान के क्षेत्रों में भी संतोषजनक कार्य हो रहा है। हमने जिस हर्षोद्रेक के साथ इस शताब्दी में आरंभ होने वाले साहित्यिक कार्य का सूत्रपात देखा था, अर्द्धशताब्दी के अन्त में हमें उस हर्षोल्लास को वापस लेने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। हमें अपने किए पर पछतावा नहीं है, पर पूर्ण संतोष या परितृप्ति के लिए भी गुंजाइश नहीं। विशेषकर दो बातें हम अपने वर्त्तमान और आगे आने वाले साहित्यिकों से कहना चाहेंगे—वे दो बातें हैं नये पश्चिमी यथार्थवाद और नयी पश्चिमी समीक्षा के संबंध में।

पश्चिमी यथार्थवाद और पश्चिमी समीक्षा

आज का 'यथार्थवाद' एक नई साहित्यिक समस्या को जन्म दे रहा है, जिसकी ओर हमारी दृष्टि बिना गए नहीं रहती। वह समस्या यह है कि साहित्य किसी भी प्रकार के भले या बुरे प्रभाव की सृष्टि कर सकता है, या उसे सदैव अच्छे प्रभाव की सृष्टि ही करनी है। एक तीसरा विकल्प यह है कि साहित्य के लिए किसी प्रकार का भला या बुरा प्रभाव डालना आवश्यक नहीं, न यह उसका उद्देश्य होता है : वह केवल समाज या जीवन के किसी मार्मिक स्वरूप या स्थिति-विशेष की जानकारी-मात्र करा देता है।

इस नए यथार्थवाद के जन्म लेने के पहले हमारे साहित्य के सम्मुख केवल दूसरा लक्ष्य था—सद्भावना या रस की सृष्टि का। वह मार्ग उत्साह और प्रगति का था। परन्तु आज हमारे संमुख साहित्य की पहली और तीसरी स्थितियां भी उत्पन्न हो गई हैं। साहित्य से भले प्रभाव की ही नहीं, बुरे मानसिक प्रभाव की भी सृष्टि होने लगी है। यहां बुरे प्रभाव से मेरा मतलब किसी नग्न चित्रण या अश्लीलता से ही नहीं है, मेरा मतलब आज के साहित्य में फैलनेवाले निराशा और निष्क्रियता के प्रभाव से भी है। यह आवश्यक नहीं कि सामाजिक दुःख या करुणा का चित्रण सदैव निराशा ही फैलाए। पुराने साहित्य में शोक और करुणा के चित्रण मिलते हैं, पर वे चित्रण आह्लादक होते हैं और करुण रस की सृष्टि द्वारा उदार संवेदना उत्पन्न करते हैं। पर

हमारा आज का यह 'वान्दी' साहित्य वैसी कोई संवेदना उत्पन्न नहीं करता। वह समाज के लक्ष्यहीन स्वरूपों को अंकित कर लक्ष्यहीनता की ही सृष्टि करता है।

इसीके साथ नए साहित्य का वह तीसरा मार्ग भी चलने लगा है जो साहित्य को विज्ञान की श्रेणी में रखने का हिमायती है। इसका कहना है कि सत्य का उद्घाटन विज्ञान का लक्ष्य है और साहित्य का भी। आज वैज्ञानिक दृष्टि से ही साहित्य का निर्माण होता है और होना चाहिये। आज का पाठक भी साहित्य से जानकारी और केवल जानकारी की अपेक्षा रखता है। वह कल्पना, भावना और आदर्श नहीं चाहता है, चाहता है वास्तविक और वैज्ञानिक सत्य। परन्तु सवाल तो यह है कि वह अपने उस ठोस वैज्ञानिक 'सत्य' के लिए साहित्य के पास आता ही क्यों है? स्पष्ट है कि वैज्ञानिक सत्य ही उसके लिए पर्याप्त नहीं, वह कुछ और भी चाहता है, और वह कुछ और उसे साहित्य में ही मिलता है या मिल सकता है। वह कुछ और क्या है, इसे वह नहीं समझता या समझना चाहता।

यह 'कुछ और' ही साहित्य का सब कुछ है और यह मानव-जीवन का भी बहुत कुछ है। हम किसी साहित्यिक रचना के पास इसलिए नहीं जाते कि उससे निराशा और लक्ष्यहीनता लेकर लौटें। न हम उस रचना की उन बारीकियों से ही सन्तुष्ट होते हैं जिनके द्वारा उस निराशामूलक प्रभाव की सृष्टि होती है। कोई भला-चंगा आदमी न तो बीमारी मोल लेना चाहेगा और न बीमारी बुलाने की कला जानने की ही चेष्टा करेगा। बीमार आदमी भी बीमारी से प्रेम नहीं रखता, फिर स्वस्थ समाज क्यों रक्खेगा? साहित्य केवल वैज्ञानिक जानकारी भी नहीं, क्योंकि यह जानकारी स्वतः अपने में एक अधूरी वस्तु है। कोरा वैज्ञानिक बहुत कुछ जानता है, पर उस जानकारी को क्या वह सदैव जीवन में बरत पाता है—जीवन का अंग बना पाता है? स्पष्ट ही यह विज्ञान या वैज्ञानिक जानकारी का अधूरापन और असमर्थता है जिसकी पूर्ति साहित्य द्वारा होती है। साहित्य केवल किसी मतवाद के प्रचार का माध्यम भी नहीं बना करता, और न प्रत्यक्ष और प्रति दिन बदलने वाले किसी 'राष्ट्रीय कार्यक्रम' का संगी ही बन सकता है। यह 'वालेंटियरी वृत्ति' उसे शोभा नहीं देती। उसका लक्ष्य और स्वरूप आज की इन सब 'यथार्थवादी' सीमाओं को पार करने पर ही दिखाई देगा। समाज और जीवन के रचनात्मक पक्षों और अनुभूतियों को लेकर ही श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि हो सकती है—और वह भी ऐसे व्यक्तियों द्वारा जो स्वतः रचनात्मक लक्ष्य रखते हों और साथ ही जिन्हें

विज्ञान की नहीं, जीवन की जानकारी हो, जीवन के प्रति ज्वलन्त आस्था हो। क्या हमारे 'यथार्थवादी' मित्र इन साहित्यिक तथ्यों से इन्कार कर सकते हैं? यदि नहीं, तो उन्हें अपने 'यथार्थवाद' की अधूरी और अधकचरी धारणाओं को दूर करना होगा।

यहीं यह महत्वपूर्ण प्रश्न भी उपस्थित होता है कि क्या हमारे समाज में ऐसी परिस्थितियां हैं जो स्वस्थ और प्रगतिशील साहित्य के निर्माण के उपयुक्त ही न रह गई हों? क्या हमारी ज़मीन इतनी अनुर्वर हो गई है कि इसमें अच्छी फसल पैदा करने की शक्ति ही नहीं रही? कोई भी इतिहासवेत्ता या समाजशास्त्री इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट नकार में ही देगा, और स्पष्ट बात तो यह है कि इस प्रश्न का उठना ही हमारी राष्ट्रीय गैरजिम्मेदारी का सबूत है जिसके कारणों की तलाश हमें करनी चाहिए और आत्मनिरीक्षण द्वारा अपना घर संभालना चाहिये। कुछ लोग यह कहने लगे हैं कि भारतीय समाज में मध्यवर्ग की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, और आज उसके अस्तित्व का कोई मूल्य या महत्त्व नहीं है। इसीलिए हमारा नया साहित्य जो मध्यमवर्गीय लेखकों की कलम से लिखा जा रहा है, आज इस अधोगति पर पहुंच रहा है। इस आरोप के किसी पहलू को स्वीकार करने को हम तैयार नहीं हैं। पहले तो भारतीय समाज को वर्गों में विभाजित करने की पद्धति ही गलत और निराधार है जब कि हमारा राष्ट्र पूर्ण मानव-साम्य और प्रजातंत्रात्मक नीति की घोषणा कर चुका है, और उसे ही बरत रहा है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि भारतीय समाज में कोई मध्यवर्ग भी है, तो प्रश्न यह होता है कि क्या वह मध्य-वर्ग अपना स्वतंत्र अस्तित्व और अपनी स्वतंत्र चेतना रखता है? यदि नहीं, तो इस मध्यवर्ग की सामाजिक उपयोगिता के समाप्त होने का अर्थ क्या है? इसका तो अर्थ तब यही हुआ कि भारतीय राष्ट्र की ही जीवन-चेतना समाप्त हो गई है, जो एक निरी निरर्थक बात है। यदि हम यह भी मान लें कि हमारे राष्ट्र में मध्यवर्ग की कोई स्वतंत्र सत्ता और स्थिति है, जो हमारी राष्ट्रीय स्थिति और सत्ता से अपनी अलग सत्ता रखती है, तो ऐसे मध्यवर्ग का अस्तित्व ही राष्ट्रीय स्थिति के लिए घातक हो जाता है, और उसे हमारे राष्ट्र में कोई स्थान नहीं मिल सकता। फिर प्रश्न यह भी है कि हिन्दी के लेखक किसी विशेष वर्ग के ही लेखक हैं, इसका प्रमाण क्या है? जिस राष्ट्रीय जागृति का दीपक लेकर हिन्दी साहित्य युग के आरम्भ से आज तक चलता आया, क्या वह दीपक किसी वर्ग-विशेष के हाथ में था, या वह पूरी राष्ट्रीय चेतना का

ह। दीपक था ? जिस दीपक को हमारे राष्ट्रीय साहित्यिकों ने अपने रक्त और पसीने से संजोया, क्या वह आज किसी वर्ग की संपत्ति समझा जाता है ? हमारी समझ में वह दिन हिन्दी साहित्य के लिए अत्यन्त दुर्भाग्य का होगा जब हम अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक दुर्बलता को 'वर्गों' की आड़ में छिपाना चाहेंगे। हिन्दी साहित्य सदैव जन-समाज का साहित्य बन कर ही अपनी समृद्धि करता आया है, और अपने इन्हीं गुणों के कारण हिन्दी भाषा राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व करती आई है। आज जब वह राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन हो चुकी है और जब हमारे साहित्य पर राष्ट्रीय साहित्य कहलाने की महान जिम्मेदारी आ गई है, तब वर्गों, फिर्कों या संप्रदायों में विभक्त कर हिन्दी साहित्य को परखने की पद्धति हमारे लिए अत्यन्त आत्मघातक होगी। यदि हमारे लेखक राष्ट्रीय साहित्य की जिम्मेदारियों को नहीं समझते, तो वे किसी भी वर्ग के हों—अथवा किसी भी वर्ग के न हों—तत्काल हमारी साहित्यिक परम्परा से अलग कर दिए जाने चाहिए। हमारे राष्ट्र को और उसके राष्ट्रीय साहित्य को ऐसे लोगों की आवश्यकता नहीं है जो किसी भी रूप में हमारी राष्ट्रीय शक्ति और संघटन का विनाश करने पर तुले हों।

हमें इस विषय पर अपनी बात कुछ आवेश के साथ इसलिए कहनी पड़ी है कि हिन्दी में इस समय, मुख्यतः विदेशी प्रभावों से, विभेदक प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं—सामूहिकता और एकता घट रही है। नए युग का हिन्दी साहित्य जिस सौम्य और सुदृढ़ राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण और विकास में लगा रहा है, उसका कुछ आभास इस निबन्ध में दिया जा चुका है। आज यदि विघटनकारी शक्तियां हमारे साहित्य में आती हैं, तो उन्हें सहन करना और प्रश्रय देना हमारी कमजोरी होगी और अपने पूर्वज साहित्यिकों के प्रति अन्याय और अपराध होगा। पिछले पचास वर्षों से हिन्दी साहित्य की जो मर्यादा बन चुकी है, उसे हम किसी भी स्थिति में टूटने न देंगे।

विचारों के क्षेत्र में साहित्य-निर्माण-सम्बन्धी जो चर्चा पश्चिम में हो रही है, सब-की-सब वह हमारे लिये हितकारक नहीं है। हमें वहां भी चुनाव करना होगा। और पश्चिम की नई साहित्यिक कृतियां और प्रणालियां भी हमारे लिए नमूने का काम नहीं दे सकतीं। इसका सीधा और एकमात्र कारण यह है कि पश्चिमी राष्ट्र विकास के प्रफुल्ल दिवस देख चुके हैं, उनका साहित्य भी पूर्ण समृद्धि पर पहुंच चुकने के बाद आज नए-नए प्रयोगों और रचना प्रणालियों के चक्कर में पड़ रहा है। इतने से उसकी शताब्दियों से चली आती

हुई सांस्कृतिक गरिमा को कोई चोट नहीं लगती, बल्कि ये नई साहित्यिक चेष्टाएं उसे शोभा भी दे सकती हैं। हमारी नवीन राष्ट्रीय चेतना और संस्कृति अभी अपनी निर्माणावस्था में है; इसे नए प्रतिभा-जल से निरन्तर सींचते रहना और सम्पूर्ण राष्ट्रीय एकाग्रता और अध्यवसाय से इसकी रक्षा और संवर्द्धन करना हमारे लिए आवश्यक है।

पश्चिमी समीक्षा के क्षेत्र में फैली हुई परस्पर असंबद्ध और विरोधिनी पद्धतियों को देख कर हम सहम उठते हैं, और सहसा समझ नहीं पाते कि साहित्य के क्षेत्र में इतनी 'वैज्ञानिक' विभीषिका क्यों उत्पन्न हो गई है, और उसका कब और कैसे समाधान होगा। विज्ञान भी खंडशः होकर क्या परस्पर विरोधी धारणाओं की सृष्टि कर सकता है? ज्ञान तो अखंड माना गया है, फिर विज्ञान के नाम पर यह वितंडावाद क्यों किया जाता है? जान पड़ता है कि यह पश्चिम के सभ्यता-शिखर पर पहुंचे हुए समाज के ज्ञानातिरेक की उपज है। इसे बुद्धि का अजीर्ण भी कहने का जी होता है। किसी स्वस्थ और विकासोन्मुख समाज के लिए बुद्धि का इतना विराट परिचालन न तो संभव है, न आवश्यक या उपयोगी ही। इसलिए पश्चिम के अस्ताचलगामी सूर्य से प्रकाश लाने की साधना हमें छोड़ ही देनी चाहिए।

कितना आश्चर्य है कि साहित्य के सरल विकास-क्रम को समझाने के लिए कितने अनोखे और परस्पर-विरोधी 'तत्वज्ञानों' का उद्भव और प्रयोग किया जा रहा है। रचयिता के वैयक्तिक मनोविज्ञान को लेकर फ्रायड, जुंग और एडलर के मत काफी प्रचलित हो गए हैं। वे साहित्य का आधार अन्तश्चेतना को बताते हैं। अन्तश्चेतना की विधि-व्यवस्था के सम्बन्ध में इन लोगों में भी मतैक्य नहीं है और नए-नए संशोधन होते जा रहे हैं। इनकी अन्तश्चेतना पद्धति ने साहित्य को क्या दिया यह तो ज्ञात नहीं, पर एक नए प्रकार की साहित्यिक धारणा अवश्य चल पड़ी है जिसका आशय यह है कि साहित्य की सृष्टि अक्सर भले आदमी नहीं करते, कुछ विशेष प्रकार के स्वप्नद्रष्टा ही किया करते हैं—और इस पद्धति के अनुसार साहित्य की श्रेष्ठतम रचनाएं वे हैं जिनमें स्वप्न-प्रतीक ही काव्य-प्रतीक के रूप में परिणत हो जाते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में देखे गए दृश्यों का अर्थ और भाव समझना किसी 'वैज्ञानिक' का ही काम है, वैसे ही इन काव्य-प्रतीकों का अर्थ और भाव समझना साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं। दूसरे शब्दों में साहित्य अपनी सार्वजनिकता को खो कर कुछ 'मानस-मनीषियों' के लिए अनुसंधान का

विषय बन जाता है। यदि यह स्वप्न-ज्ञान पश्चिम से न आया होता, तो हम कदाचित् इसे एक सातवां अचम्भा समझते; पर चूंकि यह ज्ञानविदग्ध राष्ट्रों की उत्पत्ति है, अतएव हम इसे बड़े ध्यान से अपनाया करते हैं।

और दूसरी ओर हमें एक दूसरा तत्त्वज्ञान और मिल रहा है जिसके अनुसार यह पहला तत्त्वज्ञान अत्यन्त विकृत सामाजिक स्थितियों का परिणाम बताया जाता है---ऐसे राष्ट्रों की संपत्ति जिनके संमुख कोई रचनात्मक कार्यक्रम नहीं है। स्वप्न-सिद्धांत के स्रष्टा भी स्वतः जागते हुए सोते बताए गए हैं। पता नहीं सोता कौन है और जागता कौन? इस दूसरे मत को उपस्थित करनेवाले (मार्क्सवादी) भी आपस में कुछ कम मतभेद नहीं रखते। उनके यहां भी काफी चख-चख चला करती है। संक्षेप में यह नया मतवाद आज इस स्थिति पर आ गया है कि वह साहित्य की अपनी मान्यताओं और मूल्यों पर किसी प्रकार की आपत्ति या संशोधन नहीं करता। बस वह अपने उसूलों को उनके आसपास गूंथा हुआ देखना चाहता है। वाल्मीकि बड़े कवि थे और शेक्सपियर बड़े नाटककार थे, यह मार्क्सवादी बड़े चाव से स्वीकार करते हैं, पर इसके बदले में वे चाहते हैं कि हम वाल्मीकि और शेक्सपियर को वर्ग-संघर्ष के इतिहास की किसी ऐसी स्थिति की उपज मान लें, जो उनके (मार्क्सवादियों के) 'तत्त्वज्ञान' के अनुरूप पड़ती है। कोई भी साहित्यिक इसके उत्तर में यही कहेगा 'ठीक है, हमें कोई आपत्ति नहीं जब तक तुम्हें हमारे साहित्यिक मूल्य मान्य हैं; इससे हमारा बनता कुछ नहीं तो बिगड़ता भी कुछ नहीं।'

ऊपरी दृष्टि से यह बात ठीक मालूम देगी, पर इससे दो बातें बिगड़ती हैं। एक तो यह कि प्रत्येक साहित्यिक यह मानने को बाध्य हो जाता है कि १--वर्ग-संघर्ष समाज का नियम है और २--वर्ग-संघर्ष की किसी एक घड़ी में ही वाल्मीकि और शेक्सपियर उत्पन्न हो सकते थे, अन्य में नहीं। ये मान्यतायें साहित्यिक दृष्टि से भले ही भली या बुरी न हों, पर ये साहित्यिक विवेचन में कठिनाई उपस्थित कर सकती हैं।

मुझे तो वह समय दूर नहीं दिखाई देता जब फ्रायड और उनके मनोविश्लेषणवादी साथी भी यह स्वीकार करने लगेंगे कि उन्हें भी, मार्क्सवादियों की ही भांति, साहित्यिक मूल्यों को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है, बस उनका मनोविश्लेषण मत साहित्यिक लोग स्वीकार कर लें। सारांश यह कि ये आपस में झगड़ने और मतभेद रखनेवाले मत अन्त में इस बात पर समझौता कर रहे हैं कि हम साहित्यिक मूल्यों में दस्तंदाजी न कर अपने-अपने 'विज्ञान' का प्रचार करते रहें।

ये 'विज्ञान' अपनी-अपनी जगह काम करें, साहित्य की निर्माण-प्रक्रिया को समझाने की चेष्टा करें, पर साहित्य की गति-विधि को अपने मतवाद का शिकार न बनायें, उसे स्वतंत्र रूप से फूलने-फलने का अवसर दें। इन मतवादों के साथ ही साहित्य के ऊपर जो राजनैतिक शक्तियां और दबाव काम करते हैं, उनका भी आज के सभ्य संसार से दूर हो जाना अत्यावश्यक है।

पश्चिमी देशों में इन दोनों के अतिरिक्त दो और विचार-धाराएं काम कर रहीं हैं जो साहित्य के मूल्यांकन से संबंध रखती हैं। उनमें से एक तो कला-विज्ञान (Aesthetic) के नाम से प्रचलित है और काफी पुरानी परंपरा रखती है और दूसरी है कला और साहित्य की उपयोगितावादी दृष्टि जो आजकल मनोविज्ञान का सहारा लेकर चल रही है। इनमें से दूसरी धारा साहित्य से मिलने वाले मूल्य, लाभ या हित का मनोविज्ञान की भूमिका पर उद्घाटन करती है और कदाचित् साहित्य की उपयोगितावादी या नीतिवादी परंपरा को आगे बढ़ाती है। इसके नवीन उद्घाटनकर्त्ता इंगलैण्ड में श्री आइ० ए० रिचर्ड्स हैं जिन्होंने अपने वक्तव्य में यह कहा है कि श्रेष्ठ साहित्य का लक्ष्य मानव-मन की अधिक-से-अधिक वृत्तियों का परितोष और समाधान करना है। वही साहित्य श्रेष्ठ कहा जायगा जो मन की अधिक-से-अधिक भावना-पंखड़ियों को खिला देता है और उपयोगी मनोवृत्तियों का कम-से-कम दमन करता है। ऐसा साहित्य ही मानव-व्यक्तित्व के निर्माण में पूरा योग दे सकता है, अतएव वही मूल्यवान साहित्य है। यह कसौटी सामान्यतः ठीक जान पड़ती है, पर इसमें साहित्य और समाज की विविध ऐतिहासिक स्थितियों और कवियों की रुचि और परिस्थिति से बननेवाले काव्य-व्यक्तित्वों का आकलन नहीं किया जा सकता। मानसिक वृत्तियों की अधिक-से-अधिक स्वच्छंदता और स्वस्थ परितृप्ति न केवल श्रेष्ठ साहित्य वरन् विकासोन्मुख समाज का भी गुण कहा जा सकता है, पर राष्ट्रों और जातियों के इतिहास में श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण की घड़ियां वे ही नहीं हैं जिनमें मनोवृत्तियों की यह स्वच्छंदता रही हो और न श्रेष्ठ साहित्य के उदाहरणों में सर्वत्र इस व्यापक 'परितृप्ति' का तत्व ही रहता है। कहीं-कहीं अत्यन्त सीमित वृत्तियों का ऐसा तीव्र परितोषण भी काव्य में पाया जाता है कि उसे भी श्रेष्ठ काव्य कहना पड़ता है, और वह श्रेष्ठ काव्य कहा भी गया है, परन्तु रिचर्ड्स की यह मनोवैज्ञानिक शर्त ऐसी है जो समस्त परिस्थितियों में उत्पन्न हुए सभी श्रेष्ठ काव्यों की मापरेखा नहीं बन सकती। देश, काल और व्यक्तित्व की भिन्नता का आकलन इस व्याख्या में नहीं किया गया। यह सारा निरूपण प्रभावमूलक

है, इसमें रचयिता और उसकी रचना-प्रक्रिया का विवेचन नहीं है।

वास्तव में काव्य-वस्तु और उसकी निर्माणात्मक समस्त प्रक्रिया का जैसा सुन्दर और प्रशस्त विवेचन पश्चिमी कला-विज्ञानियों (Aestheticians) ने किया है, वह विश्व भर में इस विषय के ज्ञान की सर्वोत्तम निधि है। काव्य तथा कलाओं की मूल प्रेरणा और उसके स्वरूपगत तत्वों का इतना परिपूर्ण विवेचन कहीं अन्यत्र नहीं मिलता। यूरोप में यह विवेचन दर्शन-शास्त्र का एक अंग ही बन गया है और यह अंग निरंतर विकसित होता रहा है। पर हमें यह न भूलना चाहिये कि यह सारा ज्ञान सैद्धांतिक है और इससे किसी रचना-विशेष के गुणों की मीमांसा नहीं हो सकती। कदाचित् इसीलिये इन कला-विज्ञानियों के साथ व्यावहारिक और साहित्यिक समीक्षकों की अलग परंपरा भी चली आई है। और उसका चलना आवश्यक भी था। बिना इस व्यावहारिक परंपरा के साहित्य का वास्तविक विवेचन न हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमी साहित्य-विवेचन के क्षेत्र में कला-विज्ञान का दार्शनिक मत, रिचर्ड्स का मनोवैज्ञानिक उपयोगितावादी मत और साहित्य-समीक्षकों का व्यावहारिक मत स्वतंत्र धाराओं में चल रहे हैं।

अन्त में हमें निवेदन करना है कि न तो वादों के क्षेत्र से, न साहित्यिक रचना या समीक्षा की भूमियों से ही हमें पश्चिमी कलम अपने देश में लगानी है। हम देख चुके हैं कि वादों के प्रभाव से कितनी अनर्गल और प्रभावहीन रचनाएं साहित्य में आती हैं---आ रही हैं। रचना और समीक्षा की भूमियां भी स्वतंत्र ही रहनी चाहिये। पश्चिम की नई रचनाओं में नई बारीकियां हैं, शैली का अनोखापन और सौंदर्य है, किन्तु गरिमा के बदले एक उच्छृंखलता भी है जो पश्चिमी जीवन-प्रवाह की गति-विधि का परिणाम है; और समीक्षा के क्षेत्र में यद्यपि पश्चिम से हमें बहुत कुछ सीखना है, पर अपना बहुत कुछ खोकर नहीं। भारतीय समीक्षा-शास्त्र और समीक्षा-विधियों का नया अनुशीलन और अन्वेषण अपेक्षित है। हमें अपनी पुरानी पूंजी से काम लेना ही होगा, यद्यपि हम उसे नए और चालू सिक्कों के रूप में परिवर्तित कर आधुनिक विनिमय के योग्य बनाना चाहेंगे। इस क्षेत्र में अब तक बहुत थोड़ा काम---नहीं के बराबर--हुआ है। अन्य क्षेत्रों में हिन्दी समीक्षा की गति संतोषजनक है। हमें क्रमशः आगे बढ़ना है, अतीत की सामग्री का उपयोग करते हुए, साथ ही नए प्रकाश को अपनाते हुए।

खंड १

काव्य

नई कविता

हिन्दी कविता पिछले दस बर्षों से (सन् '३५ के आसपास से) एक नवीन आरोह की ओर बढ़ रही है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर इसकी गति-विधि का ठीक पता नहीं लगता। हम समझ नहीं पाते कि नई कविता का स्वर-ताल क्या है, उसका 'सम' कहाँ है? इतने विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ सुन पड़ रही हैं कि मध्यवर्ती रागिनी या रागिनियों का परिचय पाना कठिन हो गया है। कभी हम पुरानी शैली के किसी प्रख्यात कवि को नया अभ्यास करते देखकर उसे ही नये काव्य का प्रतिनिधि मान लेते हैं और कभी नई शैली की किसी उत्तम रचना की भी उपेक्षा कर जाते हैं। जो वास्तव में कविता ही नहीं है उसे भी कविता मान कर तूल देने लगते हैं और जो वास्तविक और प्रतिनिधि कविता है उसकी ओर दृष्टि ही नहीं डालते। नई कविता का कोई विशिष्ट प्रतिनिधि न होने के कारण इस क्षेत्र में काफी गड़बड़ी फैली हुई है।

थोड़ी सी पैठ रखने वाले व्यक्ति भी यह जानते हैं कि वर्तमान युग की कविता, शैली की दृष्टि से, तीन श्रेणियों में विभाजित है। द्विवेदी-काव्य-शैली, छायावादी शैली और आज की नवीन शैली। शब्द-प्रयोगों की दृष्टि से, भाषा परिपाटी की दृष्टि से, चित्रण-क्रम, काव्य-स्वरूप तथा अनुभूति-प्रकार की दृष्टि से, द्विवेदी युग की कविता छायावाद काव्य से अपना पृथक् अस्तित्व रखती है। कुछ लोगों ने यह समझ रक्खा है कि द्विवेदी युग के कुछ कवि छायावाद शैली की रचना भी कर चुके हैं। उदाहरण के लिए मैथिलीशरण जी की मुक्तक रचनाएँ अथवा उनके 'साकेत' के गीत कुछ लोगों की राय में छायावादी हैं। किन्तु काव्य-शैलियों की परख रखने वाले सभी साहित्यिक यह बता सकते हैं कि गुप्त जी की इन रचनाओं का छायावादी काव्य-शैली से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। छायावाद का आरम्भ मध्यकालीन रीति काव्य के आत्यंतिक विरोध में हुआ था। न केवल रचना शैली में, वरन् नवीन जीवन-दृष्टि और उसकी भावना-कल्पना में छायावाद के कवियों ने वैयक्तिक अनुभूति को मुख्य साधन माना था, जब कि गुप्त जी के पदों में पौराणिक भावना और संस्कार तथा रीतिबद्ध वर्णन-शैली का प्रभाव विद्यमान है। यह बात दूसरी है कि दो काव्य-धाराओं के बीच

में कुछ ऐसे भी कवि हों जिनका झुकाव दोनों ओर दिखाई पड़े, पर जब युग की काव्य-पद्धति का प्रश्न उठेगा तब ऐसे कवियों की गणना उनके उपयुक्त स्थान पर ही होगी। उन्हें युगधारा का प्रतिनिधि कवि नहीं कहा जायगा।

द्विवेदी-शैली को हम खड़ी बोली की आरम्भिक प्रयोगात्मक शैली कह सकते हैं। उस युग का काव्य किसी व्यवस्थित काव्य स्वरूप के अन्तर्गत नहीं आता। वह एक प्रकार से विशुद्ध काव्य है भी नहीं। उसे हम पद्य-बद्ध रचना भी कह सकते हैं। उसमें काव्य-भावना या वस्तु-चित्रण से पृथक् उपदेश का पुट है। मुक्तक पदों में भी निबंधों के ढंग का सा वस्तु-विन्यास पाया जाता है। अनावश्यक इतिवृत्त और काव्य-बाह्य भावना का विक्षेप स्थान-स्थान पर मिलता है। द्विवेदी जी ने काव्य की भाषा पर अपना वक्तव्य देते हुए यह कहा है कि गद्य और पद्य में एक ही भाषा, एक ही सी शब्दावली होनी चाहिए। इस वक्तव्य से लक्षित होता है कि काव्य का स्वरूप उस समय इतना अविकसित था कि कविता और गद्य के भाषा-प्रयोग सम्बन्धी अन्तर की ओर भी दृष्टि नहीं जा सकी।

उस युग के श्रेष्ठ कवियों की रचना-शैली पर भी विशुद्ध काव्य-पद्धति के स्थान पर भाषण-पद्धति की छाप देखी जाती है। भावना का अभिव्यंजना या रचना से अभिन्न सम्बन्ध न स्थापित होने के कारण उक्तियों का चमत्कार और मुक्तक प्रणाली की अन्य विशेषताएँ इस युग की कविता शैली के साथ लगी रह गई हैं। छंदों के व्यवहार में या तो संस्कृत छंदों का प्राधान्य है या हिन्दी के पुराने छंदों का। अलंकार-योजना में भी प्राचीन क्रमागत पद्धति का प्रभाव स्पष्ट है। नई कल्पना का सम्बन्ध नए वस्तु-जगत् और कवि की नवीन जीवन-दृष्टि से होता है, पर उसका सम्पूर्ण विकास द्विवेदी-युग के काव्य में नहीं हो पाया। पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय जैसे कवि भी अपने 'प्रिय-प्रवास' में पवनदूत की योजना करते हैं जो मेघदून की छाया लिए हुए है, और मैथिलीशरण जी साकेत के नवम सर्ग में भी ऋतु-वर्णन की पुरानी परिपाटी और पुराने भाव-संकेतों को नहीं छोड़ पाए हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्य-समाज की बौद्धिकता की छाप इस युग के सभी कवियों पर किसी न किसी रूप में पड़ी है। उपाध्याय जी के प्रियप्रवास में राधा और कृष्ण का जो स्वरूप अंकित किया गया है वह

आर्यसमाज द्वारा किए गए पौराणिक और मध्यकालीन कवियों के विवेचन से पूरी तरह प्रभावित है। उक्त दोनों चरित्रों में एक आदर्शवादी कृत्रिमता स्वाभाविक काव्य-चित्रण में विक्षेप उत्पन्न किए बिना नहीं रही, यद्यपि भावना तथा अभिव्यंजना की सरलता उनके काव्य में अपना सुन्दर आकर्षण भी रखती है।

बौद्धिक धारणाओं और तर्कवाद की प्रधानता के कारण हार्दिक अनुभूतियों का मार्ग अवरुद्ध हो रहा था। द्विवेदी कालीन इस अवरोध के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई वह छायावादी कविता की काव्य-शैली और भावना-धारा में स्पष्ट दिखाई दी। भाषा में नई लाक्षणिकता का आविर्भाव हुआ जो द्विवेदी-युग के स्थूल प्रयोगों से बिलकुल भिन्न थी। कुछ समीक्षकों ने इस शब्दावली को ही नऐ काव्य की विशेषता मान लिया है, किन्तु नवीन काव्य-स्वरूप का निर्माण केवल शब्दावली के परिवर्तन से ही नहीं हो जाता। वह तो काव्यानुभूति और जीवन-दृष्टि के परिवर्तन का एक उपलक्षण-मात्र है। केवल शैली-प्रसाधन और लाक्षणिकता के लिए लाक्षणिकता का यह युग नहीं था। वैसे काव्य-युग जिनमें केवल शैली का आग्रह रहता है, रीतिवादी होते हैं। अनुभूति और अभिव्यंजना का युगपत विन्यास ही वास्तविक काव्य-विकास का द्योतक होता है। द्विवेदी युग की बौद्धिकता, नीतिमत्ता और उपदेशात्मकता की प्रतिक्रिया एक अपूर्व कल्पना-प्रवणता, वैयक्तिक वेदना तथा सौंदर्य-दृष्टि के रूपों में हुई। प्रकृति और मानव-जीवन का सम्बन्ध तथा प्रेम-कल्पना आध्यात्मिक भूमि पर पहुँचा दी गई। उदात्त दार्शनिक और रहस्यात्मक अनुभूति की प्रमुखता हो गई। इस स्वच्छंदतावादी काव्य-शैली में भाषा का परिष्कार तथा उसकी संगीतात्मकता इतनी ऊँची उठी कि बोलचाल के प्रयोगों से वह बहुत दूर चली गई।

कौन कौन तुम परिहत-वसना
म्लान-मना भू-पतिता सी!
वातहता विच्छिन्न लता सी।
रतिश्रान्ता व्रज-वनिता सी!

यह छायावाद युग की भाषा का एक प्रतिनिधि उदाहरण है। इसका यह अर्थ नहीं कि सभी कवियों ने समस्त रचनाओं में इसी असाधारण भाषा का प्रयोग किया है, पर जिन स्थलों पर भाषा में बोलचाल के

प्रयोगों का अधिक सन्निवेश है, वहाँ भी एक दूसरे प्रकार की असाधारणता अवश्य है—

जागो फिर एक बार।

प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें,
अरुण-बिंब तरुण किरण खड़ी खोल रही द्वार।

इस पद्य में भाषा बोलचाल के अधिक निकट है, किन्तु अनुप्रासों की योजना से इसमें भी असाधारणता आ गई है। समस्त छायावादी काव्य इसी असाधारण सौंदर्य-भूमि पर स्थित है। प्रकृति और मानव जीवन के आध्यात्मिक स्वरूप तथा सौन्दर्य की झांकी इस युग की कविता को कल्पना विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है। नारी-भावना का विकास इस युग में द्रुतगति से हुआ और नारी के क्रमागत स्वरूप में आमूल परिवर्तन होग या। कल्पना-प्रधान कवियों ने समाज के इस तिरस्कृत अंग के प्रति हृदय की समस्त सहानुभूति बिखेर दी और नारीत्व को पुरुषत्व से भी ऊँचा स्थान प्रदान किया। काव्य में सामयिक स्थितियों की प्रतिक्रिया किस रूप में प्रकट हुआ करती है यह प्रायः कम ही समझा जाता है। दयानन्द-युग की बौद्धिकता की छाप तत्कालीन काव्य की चरित्रसृष्टि पर किस प्रकार पड़ी, यह हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इस युग की विचारधारा के परिणाम-स्वरूप कलात्मक चरित्र-सृष्टि में कैसी बाधाएँ पड़ीं, यह संकेत भी किया जा चुका है। छायावाद युग में देश की तत्कालीन स्वातंत्र्य-चेतना का पूरा प्रभाव देखा जाता है। प्राचीन गौरव की अभिव्यक्ति तथा रहस्यात्मक दार्शनिकता इसी स्वातंत्र्य और सांस्कृतिक चेतना का परिणाम है।

काव्यस्वरूप की दृष्टि से प्रगीत-पद्धति का विकास इस युग की विशेषता है। आत्माभिव्यंजना का माध्यम प्रगीत कविता ही होती है और इस युग की सांस्कृतिक भावव्यंजना इसी माध्यम से हो सकी। नवीन चेतना का इतना प्रसार न था कि नवीन काव्य वस्तून्मुखी रूप ग्रहण कर पाता, फिर भी 'कामायनी' काव्य में नवीन वस्तुमत्ता का भी सन्निवेश किया गया है। जिस मात्रा में नवीन संस्कृति का निर्माण हो चुका था, उस मात्रा में कामायनी काव्य भी नवीन वस्तु-व्यंजना कर सका है; किन्तु उपादान की कमी के कारण इस काव्य में पर्याप्त वस्तु-विस्तार और ओजस्विता नहीं आ पाई।

राष्ट्रीय जागृति का वह प्रथम प्रहर था। नव-जागरण के सभी उपादान

इस काव्य में पाए जाते हैं, किन्तु भाषा और साहित्य का परिपूर्ण विकास इस काव्य में भी नहीं हो पाया। सामूहिक चेतना के अभाव में कवियों को अपनी व्यक्तिगत साधना का आधार लेना पड़ा और यही साधना प्रगीतात्मक काव्य-स्वरूप द्वारा व्यक्त हुई। प्राचीन रीति के त्याग की सूचना, नवीन युग के निर्माण की लगन तथा नवीन संस्कृति के जन्म का संकेत सौन्दर्य-भावना से ओतप्रोत इन मनोरम प्रगीतों से अवश्य प्राप्त होता है।

द्विवेदी-युग तथा छायावादी युग की काव्य-शैलियों का एक सामान्य परिचय ऊपर दिया गया। दोनों का अन्तर भी दिखाने की चेष्टा की गई। जिस प्रकार कुछ समीक्षक इन युगों की काव्य-प्रेरणाओं तथा काव्य-स्वरूपों का स्पष्ट अन्तर नहीं देख पाते, उसी प्रकार कुछ अन्य समीक्षक छायावादी काव्य-शैली तथा आज की नवीन काव्य-शैली का अन्तर भी नहीं परख पाते। किन्तु हम इतना निर्देश कर देना चाहते हैं कि वर्तमान कविता नवीन शैली को अपना चुकी है, जो छायावादी शैली से भिन्न है।

आज जब नवीन शैली का पूरा विकास नहीं हो पाया है, और नवीन काव्य-धारा अपना निर्माण नहीं कर पाई है, तब नवीन काव्य-स्वरूप का परिचय देना कुछ कठिन अवश्य है, फिर भी उपलब्ध सामग्री को देखते हुए उसका आभास दिया जा सकता है।

सब से पहले हम यह देखें कि छायावादी काव्य-शैली से भिन्न नई काव्य शैली की बहिरंग विशेषताएँ क्या हैं? दोनों का एक अच्छा अंतर श्री सुमित्रानंदन पंत की भाषा की 'बच्चन' की भाषा से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है। किसी साधारण काव्य-पारखी के कानों में पड़ने पर भी दोनों की भाषा तथा शब्द-प्रयोगों का अन्तर साफ़ हो जाता है। पंत की भाषा में जो असाधारणता तथा जो 'साहित्यिकता' है, बच्चनजी की भाषा में उसका अभाव है। काव्यात्मक पदावली का चयन करने में पंत जी प्रचलित भाषा से बहुत दूर चले गए हैं किन्तु बच्चन की भाषा में लोक-व्यवहार की पूरी छाप है। किन्तु इसका आशय यह नहीं कि बच्चन की भाषा फिर एक बार द्विवेदी-युग की गद्यभाषा के समीप पहुंच गई है। ऐसी बात नहीं है। न बच्चन की कविता में द्विवदी युग के काव्य की निर्वैयक्तिकता है, और न इनकी भाषा में द्विवेदी युग की भाषा का सा अनगढ़ स्वरूप।

ऊपर के उल्लेख से यह बात स्पष्ट हुई कि हिन्दी काव्य में बच्चन

के आगमन से एक नई काव्य-शैली की प्रतिष्ठा होने लगी जिसकी एक विशेषता यह थी कि उसकी भाषा अधिक व्यावहारिक, अधिक लोक-प्रचलित और सुगम-सुलभ थी। पीछे से कुछ छायावादी कवियों ने भाषा के इसी व्यावहारिक स्वरूप को अपनाने की चेष्टा की, जैसे निराला जी ने 'कुकुरमुत्ता' में—

एक थे नवाब,
फारस से मँगाये थे गुलाब;
बड़ी बाड़ी में लगाये,
देशी पौधे भी उगाये;
गजनवी महमूद का सा
बाग मनहर लग रहा था,
एक सपना जग रहा था—
साँस ले तहज़ीब की
गोद में तदबीर की।

परन्तु यह कविता व्यंग्यात्मक है, और इस कारण इसकी पदावली उपयुक्त विनोद की सृष्टि करती है। सामान्य काव्य-भाषा से यह भिन्न है और विशेष प्रयोजन से लिखी गई है। दूसरे, इस भाषा में वह स्वाभाविकता और अधिकार नहीं जो बच्चन की भाषा में है अथवा जो स्वयं निराला जी की कुछ प्राथमिक रचनाओं में देखा जाता है—

रोक टोक से कभी नहीं रुकती है—
यौवन मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है?
सुना उसे रोकने कभी कुंजर आया था,
फल क्या पाया था?
तिनका जैसा मारा मारा
फिरा तरंगों में बेचारा
गर्व गँवाया, हारा—
यदि भ्रमवश आओगे,
दुर्दशा कराओगे;
बह जाओगे।

निराला जी के इन दोनों उद्धरणों को देखने से यह स्पष्ट होता है

कि उनकी प्राथमिक रचनाओं में भाषा की जो स्वाभाविकता है वह पिछली रचनाओं में नहीं है । 'कुकुरमुत्ता' की भाषा निराला जी की भाषा का प्रतिनिधि स्वरूप नहीं है। ऐसी अवस्था में निराला जी की अपेक्षा बच्चन को नवीनतम कविता-शैली के अधिक निकट कहा जा सकता है। पंत जी की भाषा में प्रचलित भाषा का स्वाभाविक राग नहीं निखरा। उनकी पदावली सदैव सुसंस्कृत ही रही ।

वर्णन-शैली की ओर ध्यान देने पर प्रकट होता है कि विवरण और वस्तुमत्ता की ओर झुकाव नए युग के काव्य में छायावाद की अपेक्षा कहीं अधिक है । यह यथार्थवादी प्रवृत्ति नए काव्य की विशेषता है । पंत जी के काव्य में चित्रण की यथार्थता उनकी 'नौका-विहार' अथवा 'एक तारा' जैसी रचनाओं में देखी जाती है, किन्तु उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वस्तुमत्ता और 'यथार्थ' नवीन काव्य में संनिविष्ट हो चुका है।

सौन्दर्य की ओर अधिक झुकाव छायावाद युग के काव्य की एक विशेषता रही है । असुन्दर, भयानक और विस्मय-कारक अथवा अरोचक का चित्रण नए युग के काव्य की एक अन्य विशेषता है । यह भी यथार्थवाद की दिशा में बढ़ाया गया एक कदम है । सामान्य वस्तु के चित्रण की अभिरुचि भी देखी जाती ह । जीवन के दैनिक और गोचर पहलू को लेकर नई कविता अपना विकास कर रही है । भाषा के क्षेत्र में जिस व्यावहारिकता का हम उल्लेख कर चुके हैं चित्रण के क्षेत्र में वही विवरण पूर्ण वास्तविकता—वही यथार्थवाद-नवीन काव्य में देखा जाता है।

बच्चन और अंचल जैसे कवि मूलतः प्रकृतिवादी (Naturalists) हैं । प्रकृतिवाद का सम्बन्ध वैयक्तिक इंद्रियानुभूति से हुआ करता है । स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा के बीच यत्र-तत्र यह प्रकृतिवादी ध्वनि सुनाई पड़ती रही है। स्वयं प्रसाद जी की रचनाओं में प्रकृतिवादी प्रभाव देखा जाता है । परन्तु प्रसाद में जो प्रकृतिवाद आंशिक और विरल है, वह बच्चन और अंचल में व्यापक और स्पष्ट है। कुछ समय पश्चात् बच्चन और अंचल की प्रगाढ़ वैयक्तिकता और प्रकृतिवादी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया भी हुई, और हिन्दी कविता में कुछ नवीन प्रयोग आरम्भ हुए, जिनमें व्यक्तिवाद से ऊपर उठने का लक्ष्य दिखाई दिया । इन प्रयोगों में हल्की व्यंग्यात्मकता, उपहास की वृत्ति, तटस्थ और मार्मिक वस्तु-चित्रण तथा छन्द-रहित और लय-रहित गद्यात्मक भाषा-योजना की विशेषताएँ हैं ।

'तार-सप्तक' नामक संग्रह-पुस्तक में इन समस्त प्रवृत्तियों के एक साथ दर्शन होते हैं। स्वभावतः इन प्रयोगों में वास्तविक भाव-योजना के स्थान पर शैली सम्बन्धी विलक्षणता अधिक दिखाई दी। निश्चय ही यह प्रयोगावस्था की रचना है और इसमें किसी सुनिश्चित काव्यादर्श अथवा भाव-धारा की सृष्टि नहीं हो पाई।

इस नवीन प्रगति का प्रतिनिधि कोई प्रथम श्रेणी का कवि अब तक हिन्दी क्षेत्र में नहीं आया। फिर भी हिन्दी कविता में एक नवीन सामाजिक और वस्तुन्मुखी चेतना का प्रवेश अवश्य हो गया है।

उधर प्रसाद और निराला की स्वच्छंदतावादी भावधारा महादेवीजी की रहस्यात्मक गीति-सृष्टि में जाकर विलीन हुई। महादेवीजी के संमुख रहस्यात्मक विरह-अनुभूति को कल्पना की पूरी साज-सज्जा के साथ उपस्थित करने की समस्या थी। इस निमित्त देवीजी को विवरण-पूर्ण रूपचित्रण और प्रतीक-योजना का आधार लेना पड़ा है। रहस्यभूमि में रहते हुए भी महादेवी जी के काव्य में चित्रण की वस्तुमता स्वच्छन्दतावादियों की अपेक्षा कहीं अधिक है। काव्य-विषय के विस्तार और व्यापकता की क्षतिपूर्ति उन्हें इसी उपाय से करनी पड़ी है।

आज समाजवादी वस्तुवाद के प्रयोगकर्त्ता कवियों के साथ महादेवी जी के रहस्यवादी 'यथार्थ' की रागिनी अलग ही सुन पड़ती है। और दूसरी ओर इन दोनों से भिन्न और पृथक् व्यक्तिवादी भावधारा अपनी सम्पूर्ण गहराई में जाकर अन्तश्चेतना के 'यथार्थ' को प्रतिफलित करने लगी है। वह हमारे निगूढ़ मर्म को खोलकर सामने रखने का उपक्रम करती है। वस्तु-जगत् या वाह्य जीवन-व्यापार से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रह जाता, क्योंकि यह अत्यन्त अन्तर्मुख भाव-संवेदनों को ही रूप प्रदान करती है। निश्चय ही समाजवादी यथार्थवाद, महादेवी जी का रहस्यवादी वस्तुचित्रण और नवीनतम अन्तश्चेतनावादी यथार्थवाद अत्यन्त भिन्न जीवन-दृष्टियों के परिणाम हैं, परन्तु एक अर्थ में ये एक-दूसरे के निकट भी हैं। निकटता इस अर्थ में है कि ये तीनों ही काव्य-शैलियां भाव-प्रवेग पर अवलंबित न होकर वस्तून्मुखी विवरण और चित्रण का आधार लिए हुए हैं।

जिस प्रकार निराला और पंत के नवीन प्रयोग उन्हें नई धारा का प्रतिनिधि नहीं बना सके, उसी प्रकार अज्ञेय और माचवे की कृतियां भी

प्रयोग की सीमा में ही रह गई हैं। नई धारा का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रसाद और निराला की कोटि के कवि की अब भी प्रतीक्षा है।

ऊपर के विवरण से नवीन कविता की परिवर्तित परिस्थिति का परिचय मिलता है। कुछ कवि ऐसे भी हैं जो इनमें से एक या दूसरी धारा की ओर अधिक झुके हुए हैं। अर्थात् उनमें से कुछ में वैयक्तिक अनुभूति का प्राधान्य है और कुछ अन्यों में सामाजिक प्रेरणा का। कुछ शेष रहस्यवादी धारा का अनुगमन कर रहे हैं, फिर भी इन सब के मूल में यथार्थवादी काव्य-शैली की स्थिति है।

वर्तमान काव्य का भविष्य बहुत कुछ देश के राजनीतिक भविष्य पर अवलम्बित है। यदि देश में राजनीतिक क्रांति सफल हो गई, तो वर्तमान काव्य का बहुत कुछ कायाकल्प हो जायगा। हिन्दी कविता में प्रगतिवादी पक्ष का प्राबल्य होगा और नवीन कविता वीर गीतों तथा वीर-प्रबंधों की ओर अग्रसर होगी। जिस प्रकार छायावादी काव्य कल्पना-प्रधान सांस्कृतिक प्रबंध-रचना और गीतों का आश्रय लेकर चला था, उसी प्रकार नवीन काव्य यथार्थवादी वीर-काव्य की परम्परा को पुष्ट करेगा और सम्भव है उसका परिपाक किसी महाकाव्य के रूप में भी हो। हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों को आत्मसात करने वाला महाकाव्य ही नवयुग का प्रतिनिधि काव्य होगा।

बहुधा हिन्दी कविता की तुलना पाश्चात्य कविता से की जाती है, और पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन के आधार पर हिन्दी काव्य पर भी सम्मतियां दी जाती हैं। किन्तु योरप की परिस्थिति और भारतीय परिस्थिति में अन्तर है। योरपीय समाज, प्रगतिशील रूस को छोड़ कर, प्रायः साम्राज्य-वादी और शोषक राष्ट्रों का समाज रहा है। उन देशों की राष्ट्रीय शक्ति क्षीण हो गई है और उन्हें नवीन रूप में उज्जीवित होने की आव-श्यकता है। वहां का काव्य इसी कारण बहुत कुछ उद्देश्यहीन और कला-वादी रहा है। भारतीय काव्य और विशेषतः हिन्दी कविता परतंत्र देश की स्वतंत्रताकांक्षिणी भावना की प्रतिनिधि है। अवश्य कुछ कवियों ने व्यक्तिगत असामर्थ्य के कारण आत्म-हीनता-द्योतक भावनाओं की सृष्टि की है, किन्तु सामूहिक रूप में हिन्दी कविता भारतीय राष्ट्र के नवजीवन की प्रतिनिधि है। विदेशी कविता के प्रतिमानों को हिन्दी में चरितार्थ करना ठीक न होगा। रूस की ही भांति यहां का कविवर्ग भी क्रांति का आकांक्षी है।

उद्देश्य की स्पष्टता भी नवीन कवियों में पर्याप्त मात्रा में है। विभिन्न साहित्यिक वादों और दार्शनिक उपक्रमों के मूल में राष्ट्रीय जागृति की भावना सर्वत्र दीख रही है।

पिछले तीन उत्थानों की काव्य-शैलियों की परख के लिए अब हम यहाँ कुछ उदाहरण भी लेकर देखें। द्विवेदी काव्य-शैली की एक प्रतिनिधि रचना से किसी छायावादी प्रगीत की तुलना करें। 'साकेत' नवम सर्ग में गुप्त जी का यह गीत आया है--

दोनों ओर प्रेम पलता है
सखि पतंग भी जलता है, हा! दीपक भी जलता है।

यहां पूरा गीत देने की आवश्यकता नहीं है। पतंग और दीपक के जलने की कल्पना को ही लीजिए। पतंग का 'जलना' तो वास्तविक काव्य-संवेदन का विषय है (यद्यपि इसमें भी कवि-परम्परा का इतना अधिक योग रहा है कि रीति की छाप मिट नहीं पाई है) किन्तु दीपक का 'जलना' केवल औपचारिक और लाक्षणिक है, वास्तविक और भावात्मक नहीं। ऐसी आलंकारिक और 'अवास्तविक' कल्पना अच्छा छायावादी कवि नहीं करेगा (उसका ध्यान ही इस ओर न जायगा)। ऐसी मूर्ति योजना करने वाला व्यक्ति किसी अनुभूति-प्रधान काव्य-युग का प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

फिर इस पद्य की शब्द-योजना और शाब्दिक ध्वनियों में छायावादी संगीत की कहीं झलक नहीं है। स्थूल अर्थ-निष्पत्ति के लिए ही शब्द रखे गए हैं, उनकी कोई स्वतंत्र संगीतात्मक सत्ता नहीं है।

काव्य-कल्पना और शब्द-संकेतों में वास्तविक अनुभूति का योग छायावाद की विशेषता है। इसीलिए छायावाद काव्य की शब्द-योजना, कल्पना तथा भावधारा में एक सुन्दर, सजीव और अविच्छेद्य सामंजस्य रहा करता है।

इसी प्रकार निराला और बच्चन या पंत और बच्चन की शब्दयोजना की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि निराला या पंत का ध्यान शाब्दिक लय की ओर जितना अधिक है, बच्चन का उतना नहीं। किन्तु बच्चन की पदावली अधिक व्यावहारिक, सार्थक और सरल है। उदाहरण देखिए:—

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि,
कैसे तूने पहिचाना!

कहाँ-कहाँ हे बाल विहंगिनि,
पाया यह स्वर्गिक गाना ?
सोई थी तू स्वप्न नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर;
ऊँघ रहे थे घूम द्वार पर
जुगनू से प्रहरी नाना

× × × —पंत

आज ही आना तुम्हें था !
आज मैं पहले पहल कुछ
घूंट मधु पीने चला था,
पास मेरे आज ही क्यों
विश्व आ जाना तुम्हें था
एक युग से पी रहा था
रक्त मैं अपने हृदय का;
किन्तु मद्यप रूप में ही
क्यों मुझे पाना तुम्हें था ?
आज ही आना तुम्हें था। —बच्चन

अनुभूति के क्षेत्र में बच्चन की सी गहराई छायावादी कवियों में कम मिलेगी, यद्यपि बच्चन की यह गहराई अत्यधिक वैयक्तिक है। इस दृष्टि से बच्चन की वास्तविक कविता 'एकांत-संगीत' और 'निशा-निमंत्रण' में ही मिलती है, उनकी 'आकुल अंतर' और 'व्याकुल विश्व' कृतियों में वह संतुलित आत्मिक संवेदन नहीं दीखता। व्यक्तित्व का पर्यवसान यदि काव्य की कसौटी माना जाय तो 'निशा निमंत्रण' ही उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना ठहरेगी।

यह तो कहना ही होगा कि नवीनतम काव्य-शैली का प्रतिनिधि-कवि अभी क्षेत्र में नहीं आया। नवीन संस्कारों को लेकर ही वह आवेगा। किन्तु वह पंत के 'प्रगतिवादी' काव्य अथवा कुकुरमुत्ता' की 'हिन्दुस्तानी' की अपेक्षा बच्चन के चित्रण और भाषा-शैली से अधिक प्रेरणा ग्रहण करेगा। रांगेय राघव, 'सुमन,' 'रसिक' और गिरजाकुमार जैसे कवियों की रचनाएं इसका थोड़ा-बहुत आभास देती हैं।

नई कविता अभी अपनी निर्माणावस्था में है। एक आवर्त उठ चुका है, जो निश्चय ही छायावादी आवर्त से प्रकृत्या भिन्न है। इसके निर्माण के

लिए छायावादी काव्य-परंपरा का त्याग आवश्यक होगा। बच्चन के काव्य में वह त्याग मौजूद है, किन्तु बच्चन की कविता नवीन आवर्त की अवरोह-स्थिति की सूचक है। शैली की दृष्टि से नवीन काव्य का जन्म बच्चन से ही आरंभ हो जाता है किन्तु इस नवीन काव्य-शैली का आरोह-काल अब आया है और निकट भविष्य में इसके परिपाक की संभावना की जा सकती है।

आज की अव्यवस्था में जब काव्य के वास्तविक प्रतिमान उपेक्षित हो रहे हैं, यदि हम भाषा और शैली की विशेषताओं को (काव्य शरीर की परख को) ही आधार बना कर चलें, तो भी अनुचित न होगा। क्रमशः व्यवस्था आने पर हम दूसरे प्रतिमानों की ओर दृष्टिपात कर सकते हैं।

एक ओर कुछ समीक्षक यह भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं कि काव्य का युग बीत गया। अब गद्य का युग है। वे नवीन कविता के नीरस अंशों को उदाहरण-स्वरूप उपस्थित करते हैं। कुछ अन्य समीक्षक काव्य में विषय और वक्तव्य-वस्तु को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि काव्य की अपनी सत्ता का तिरस्कार ही हो जाता है। काव्य-संस्कृति के लोप होने की नौबत आ जाती है। दैनिक पत्रों की चलती संपादकीय टिप्पणी तथा उत्कृष्ट कविता में कोई अंतर नहीं रह जाता। प्रश्न यह है कि इन दृष्टि दोषों से हमारे काव्य की रक्षा किस प्रकार होगी?

नवीन कविता छायावादी कल्पना-प्रवणता के स्थान पर यथार्थवादी पद्धति को अपना रही है। काव्य में यथार्थवाद अथवा बाह्यार्थवाद की योजना एक शैली के रूप में स्वागत-योग्य है। हमारा काव्य इस नवीन शैली को अपना कर विकास की नई दिशा में चल रहा है। यह समझना कि वह अकाव्यत्व की ओर बढ़ रहा है, अथवा काव्य-संस्कृति का परित्याग कर रहा है, अनुचित होगा। काव्य में यथार्थवाद का अर्थ अकाव्यत्व नहीं है, न उसका अर्थ काव्य के स्थायी प्रतिमानों का त्याग ही है। यदि हम इन अधूरे, एकांगी और भ्रामक निरूपणों से बचना चाहते हैं, तो नवीन काव्य-शैली का अधिक अंतरंग अध्ययन ही हमारा काम दे सकता है।

प्रयोगवादी रचनाएँ

पिछले कुछ समय से हिन्दी काव्य-क्षेत्र में कुछ ऐसी रचनाएं हो रही हैं, जिन्हें किसी सुलभ शब्द के अभाव में, प्रयोगवादी रचना कहा जा सकता है। इन रचनाओं को यह नाम स्वयं इनके रचयिताओं ने दिया है, अतएव इनके लिए किसी दूसरे नाम की खोज करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। इन रचनाओं पर, इनके प्रयोगवादी नाम और गुणों पर, इनके रचयिताओं को बहुत काफ़ी गर्व है, और वे समय-समय पर अपने इन प्रयोगों के पक्ष में अनेक तर्क और दलीलें देते रहते हैं। जहां तक नाम का सम्बन्ध है, 'प्रयोगवाद' नाम पर वे जितना चाहें गर्व कर सकते हैं (कोई भी किसी नाम पर गर्व कर सकता है)। इस सम्बन्ध में हमें उनसे कुछ नहीं कहना। किन्तु प्रयोगवादी काव्य के स्वरूप पर, कविता में प्रयोगों की स्थिति, आवश्यकता और उपयोगिता पर हम प्रयोगवादियों के तर्कों को अवश्य समझना चाहेंगे। साथ ही प्रयोगवादी रचनाओं के कुछ नमूने लेकर हम यह भी देखना चाहेंगे कि उन रचनाओं में और उनके लिए दी गई दलीलों में किस सीमा तक समता या समकक्षता है। और अन्त में हम हिन्दी कविता पर पड़ने वाले प्रयोगवादियों और उनकी रचनाओं के प्रभाव और परिणाम की भी जांच करेंगे, जिससे प्रयोगवादी काव्य-सृष्टि और उससे होने वाली लाभ-हानि का पूरी तरह आकलन हो सके।

यहां आरम्भ में यह कह देना भी आवश्यक है कि हिन्दी काव्य-परम्परा में प्रयोगवादी शैली कभी भी अधिक सम्मान-सूचक नहीं रही। प्रयोग शब्द से प्रायः नए अभ्यास, नवीन प्रयास या नई निर्माण-चेष्टा का अर्थ लिया जाता है। प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रमविकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो। वास्तविक सृजन और क्रान्तदर्शिता के बदले सामान्य मनोरंजन और शैली-प्रसाधन ही उसकी विशेषता होती है। अधिकार और उत्तरदायित्व की अपेक्षा अनिश्चय और उद्देश्यहीनता की भावना ही वह उत्पन्न करता है। स्रष्टा और सन्देशवाहक न होकर वह प्रणेता और प्रवक्ता-मात्र होता है।

सच्चे साहित्यकार और प्रयोगी साहित्यिक के इस अन्तर को आज के प्रयोगवादी या तो जानते ही नहीं, या जानकर भी उसकी उपेक्षा करना चाहते हैं ! तभी तो अपने प्रयोगों के पक्ष में वे जायज़-नाजायज़ हर तरह के विज्ञापन करते रहते हैं। यह भी नहीं कि इन प्रयोगों को वे अपने आगामी काव्य-विकास का साधन-मात्र मानते हों—ऐसी सीढ़ी जिस पर चढ़ कर वे कहीं आगे जाएंगे। वे तो इन प्रयोगों में ही पूरी तरह रम गए हैं और उन्हें ही काव्य का चरम लक्ष्य मानने लगे हैं। उनकी इस रुचि और प्रवृत्ति का परिचय 'तारसप्तक' नामक संग्रह पुस्तक में दिए गए वक्तव्यों से प्राप्त होता है। 'तारसप्तक' नए प्रयोगवादियों की प्रतिनिधि कृति कही जा सकती है, जिसमें उनकी रचनाएं और उनके वक्तव्य एक साथ संग्रहीत हैं। हम सुविधा के लिए 'तारसप्तक' पुस्तक को ही प्रयोगवादी रचनाओं के विवेचन का मुख्य आधार मान कर चलेंगे।

१

'तारसप्तक' के संग्रहकर्ता श्री 'अज्ञेय' पुस्तक की 'विवृत्ति' में लिखते हैं :—'उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंज़िल पर पहुंचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी।' वे आगे लिखते हैं, 'काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है।' 'दावा केवल इतना है कि वे सातो अन्वेषी हैं।' कहीं यह भ्रम न हो जाय कि ऊपर की पंक्तियों में किसी स्कूल के कुछ राह भूले हुए विद्यार्थियों का जिक्र किया गया है, यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहां अज्ञेय जी राह भूले हुए विद्यार्थियों की नहीं, विशुद्ध प्रयोगवादी कवियों की चर्चा कर रहे हैं !

ये प्रयोगवादी कवि किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, राही या राह पर चलने वाले भी नहीं, ये हैं केवल राहों के अन्वेषी ! अब तक हमने 'पहुँचे हुए' कवियों का नाम सुना था, 'लीक छोड़ कर चलने वाले शायरों और सपूतों' की चर्चा सुनी थी पर अब अज्ञेय जी से ऐसे कवियों का हाल भी सुनने को मिला जो न तो पहुँचे हुए हैं (अर्थात् जो राह पार कर चुके हैं) और न राही हैं (अर्थात् जो राह-बेराह किसी ओर चलते ही नहीं) परन्तु जो एकाग्र होकर राहों का अन्वेषण करते हैं। (अर्थात् जो चलने के अर्थ में बिल्कुल ठप हैं)। फिर अन्वेषण के लिए इनके पास अन्वेषी की दृष्टि भी नहीं, केवल 'दृष्टिकोण' है। कदाचित् कहीं

न चलने के कारण ही ये 'प्रगतिशील' कहे जाते हैं, और दृष्टि के बदले 'दृष्टिकोण' रखने के कारण ही अन्वेषी या प्रयोगवादी कहलाते हैं !

इस नई कवि-श्रेणी का स्वरूप-परिचय कराने के लिए हम अज्ञेय जी के कृतज्ञ हैं, पर हम और अधिक आभारी हैं अज्ञेय जी की आगे की व्याख्याओं और विवरणों के लिए। प्रयोगवादी कवियों की प्रकृति-प्रवृत्ति का परिचय देते हुए वे लिखते हैं :—'उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्वपूर्ण विषयों में उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में, काव्य-वस्तु और शैली के, छंद और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है। यहां तक कि हमारे जगत के ऐसे सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते, जैसे लोकतंत्र की आवश्यकता, उद्योगों का सामाजीकरण, यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता, इत्यादि। वे सब एक दूसरे की रुचियों-कृतियों और आशाओं-विश्वासों पर, एक दूसरे की जीवन-परिपाटी पर और यहां तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं।'

अपने युग की दुनियाँ से नितान्त भिन्न और स्वतंत्र दृष्टि रखने वाले विक्टर ह्यूगो या बर्नार्ड शा जैसे व्यक्ति कभी-कभी विश्व के साहित्यिक रंगमंच पर आते हैं, उनके आने पर संसार में विचारों की नई परम्परा स्थापित होती है। ऐसे व्यक्ति अपनी अदम्य प्रतिभा के बल पर युग को नए चिन्तन का मार्ग सुझाते हैं, फिर भी युग-चेतना ऐसे व्यक्तियों का पूरी तरह अनुगमन नहीं कर पाती, और वे व्यक्ति अपनी लम्बी छाया ही विचारों की रंगभूमि पर छोड़ जाते हैं। ऐसे व्यक्ति प्रायः विचारक ही होते हैं, कवि नहीं होते, जैसे शा या गांधी या मार्क्स। कवियों की दुनियाँ म इतनी बड़ी, इतनी निस्संग और क़दाचित् इतनी निष्ठुर व्यक्तिवादिता पनप नहीं सकती। कवि की भावना और कल्पना उसे मनुष्यों की सामान्य अनुभूति के अधिक समीप बना रहने देती है। युग-चेतना के नियामक और प्रतिनिधि कवि जनसमाज के लिए इतने दुरूह नहीं होते, जितने वे विचारक हुआ करते हैं। महान विचारकों और महान कवियों में यह नैसर्गिक अंतर आरंभ से ही चला आ रहा है।

पर कल्पना कीजिए आपके सामने सात ऐसे महामानव लाकर खड़े कर

दिए जाते ह जो एक से एक बढ़कर कृतविद्य विचारक भी हैं और बड़े लासानी कवि भी। विचारक वे ऐसे हैं कि 'सभी महत्वपूर्ण विषयों में उनकी राय अलग अलग है।' 'हमारे जगत के सर्वमान्य और स्वयंसिद्ध मौलिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते।' और कवि इतने स्वाधीन हैं कि 'काव्य-वस्तु और शैली, छंद और तुक, कवि के दायित्व—प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है'। कवि और विचारक दोनों का संगम हो जाने पर वे सातो एक दूसरे की रुचियों, कृतियों, आशाओं, विश्वासों...और यहां तक कि एक दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं ! ऐसी स्थिति में आप उन्हें क्या कहेंगे (कवि बड़ा, या विचारक बड़ा, या दोनों) यह तो आप जानें, पर अज्ञेयजी उन्हींको 'प्रयोगवादी कवि' कहते हैं !

ऊपर यह जिक्र किया जा चुका है कि प्रयोगवादी कवि अन्वेषी होता है, या अन्वेषी होने के कारण ही वह प्रयोगवादी होता है; परन्तु अबतक यह नहीं बताया जा सका कि वह अन्वेषी किस वस्तु का होता है ? अज्ञेय जी की 'विवृत्ति' में इस विषय की विवृति नहीं मिलती, पर आगे चलकर (तारसप्तक पृष्ठ ७४-७५ में) जब वे काव्य-संबंधी अपने व्यक्तिगत अनुभव लिखते हैं, तब इस विषय पर पूरा प्रकाश डालते हैं। उनके हिसाब से 'प्रयोग (या अन्वेषण) सभी कालों के कवियों ने किया है।... किन्तु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे आगे बढ़ कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी नहीं छुआ गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।'

इससे इतना तो स्पष्ट हुआ कि कवि नित्य नए 'अन्वेषण' किया करता है और इस सिलसिले में प्रायः अछूते और अभेद्य क्षेत्रों में भी पहुँच जाता है, पर यह बात फिर भी जानी न जा सकी कि आजकल वह किस अभेद्य क्षेत्र में काम कर रहा है ! इस प्रश्न पर अज्ञेय जी किसी प्रकार की शंका के लिए स्थान नहीं रखते—आजकल भाषा के क्षेत्र में विशेष रूप से 'अन्वेषण' का काम हो रहा है। वे लिखते हैं, 'भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों से, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उलटे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से—सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।'

यहां थोड़ी सी उलझन हमें भी पैदा होती है। एक ओर तो अज्ञेय जी कहते हैं कि सभी कालों के कवियों ने प्रयोग या अन्वेषण किए हैं, और वह स्वभावतः नए और अभेद्य क्षेत्रों में अन्वेषण करता हुआ आज-कल 'सीधी-तिरछी लकीरों' और 'सीधे या उलटे अक्षरों' के क्षेत्र में आ गया है! पर दूसरी ओर वे यह भी संकेत करते हैं कि 'अपनी उलझी हुई संवेदना की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचाने की नीयत से वह ये प्रयोग करता है। उलझन यह है कि दोनों में कौन सी वस्तु उन प्रयोगों की प्रेरक है—अभेद्य क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक आकांक्षा या उलझी हुई संवेदना को पाठकों तक पहुँचाने की उद्विग्नता? यह भी समझ में नहीं आया कि 'उलझी हुई' संवेदना क्या वस्तु है? क्या कवियों की संवेदना उलझी हुई भी होती है?

पर यह उलझन केवल हमारे लिए है, अज्ञेय जी के लिए नहीं। प्रयोग करने या अन्वेषी होने की प्रेरणा स्वभावसिद्ध है या उलझी संवेदना को सुलझाने के फलस्वरूप है—इस प्रश्न का महत्व अज्ञेय जी के लिए तबतक नहीं है जबतक प्रयोग या अन्वेषण का काम चलता रहे। प्रयोग किस उद्देश्य से किए जा रहे हैं, इस संबंध में आसान उत्तर यही है कि लक्ष्य तो प्रयोग ही है। उसके प्रयोजन की खोज व्यर्थ है।

किन्तु उलझी या सुलझी संवेदना के प्रश्न को अज्ञेय जी आसानी से टाल नहीं सके हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि आज के कवि की संवेदना उलझी हुई है। इस उलझी संवेदना के दो कारण हैं—आन्तरिक संघर्ष और बाह्य संघर्ष। आन्तरिक संघर्ष के फलस्वरूप 'आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है, और वे कल्पनाएं सब दमित और कुंठित हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं।'....'और इस आन्तरिक संघर्ष के ऊपर जैसे काठी कस कर एक बाह्य-संघर्ष भी बैठा है, जो व्यक्ति और व्यक्ति का नहीं, व्यक्ति-समूह का, वर्गों और श्रेणियों का संघर्ष है। व्यक्तिगत चेतना के ऊपर एक वर्गगत चेतना भी लदी हुई है और उचितानुचित की भावनाओं का अनुशासन करती है, जिससे एक दूसरे प्रकार की वर्जनाओं का पुंज खड़ा होता है।'

कदाचित् इस उलझी हुई संवेदना के परिणामस्वरूप ही कवि 'स्वान्तः सुखाय' नहीं लिखता-वह अनुभूति की उस भूमि पर पहुँच नहीं पाता

जो वास्तविक कविता की भूमि है और जिस पर पहुँच कर ही स्वान्तः सुखाय लिखा जा सकता है। अज्ञेय जी लिखते हैं कि वे स्वान्तः सुखाय नहीं लिखते। उनकी दृष्टि में कोई भी कवि केवल स्वान्तःसुखाय नहीं लिखता। उनका कहना है कि 'आत्माभिव्यक्ति अपने आप में संपूर्ण नहीं है। अपनी अभिव्यक्ति, किन्तु किस पर अभिव्यक्ति ?' यहां आकर अज्ञेय जी ने न केवल तुलसीदास जी के 'स्वान्तःसुखाय' लिखने पर शंका प्रकट की है, उन्होंने काव्यशास्त्र संबंधी पूरे आधुनिक विवेचन पर—कोलरिज से लेकर क्रोचे तक की सारी निष्पत्तियों पर एक प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। विशेषकर आत्माभिव्यक्ति को ही काव्य मानने वाले 'सब्जेक्टिव आइडियलिस्ट' (व्यक्ति-तत्त्ववादी) विचारकों के सामने एक समस्या खड़ी कर दी है।

यहां पहला प्रश्न यह है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'स्वान्तःसुखाय' राम की गाथा लिखने की बात क्या झूठ कही है? वैसा कहने में उनका प्रयोजन क्या हो सकता है? यह मानने का कोई कारण नहीं दीखता कि गोस्वामीजी ने स्वान्तःसुखाय नहीं लिखा अथवा आत्माभिव्यक्ति को काव्य मानने वालों का पक्ष गलत है। फिर अज्ञेय जी के इस कथन में क्या तथ्य है कि 'कोई भी कवि केवल स्वान्तः सुखाय नहीं लिखता ?' मेरे विचार से 'उलझी हुई संवेदना' ही उनके इस वक्तव्य के मूल में है। उनका यह कथन सार्थक अवश्य है कि 'अभिव्यक्ति' में एक ग्राहक या पाठक या श्रोता अनिवार्य होता है। पर श्रोता के अनिवार्य होने और स्वान्तः सुखाय या आत्माभिव्यक्ति के लिए काव्य लिखने में कोई मौलिक विरोध नहीं है। उलझी हुई संवेदना की भूमि को पार कर काव्य के स्तर पर कवि जो भी रचना करता है, वह आत्माभिव्यक्ति ही होती है। आत्माभिव्यक्ति होने पर ही वह काव्य कही जाती है और तभी वह श्रोता या ग्राहक को सुलभ-सुखद होती है।

किन्तु 'उलझी हुई संवेदना' के कारण प्रयोगवादी कवि बुद्धि और भावना के ऐसे संघर्षों में पड़ा रहता है कि वह अपने और श्रोता के बीच के द्वंद्व को मिटा ही नहीं पाता। इस बौद्धिक और शंकालु प्रवृत्ति के कारण प्रयोगवादी कवि अन्वेषी हो जाता है और वास्तविक काव्यभूमि पर कभी पहुँचता ही नहीं। ऐसे कवि-व्यक्तियों की जीवन-सम्बन्धी धारणाएं इतनी 'बुद्धिग्रस्त' हो जाती हैं कि कभी-कभी

तो उनका अर्थ समझना भी आसान नहीं होता। उदाहरण के लिए 'तारसप्तक' में की गई अज्ञेय जी की 'प्रेम' की यह व्याख्या—'निराशा और कुंठा से धैर्यपूर्वक लड़ता हुआ, किन्तु विश्वास की निष्कम्प अवस्था से कुछ नीचे—आज के प्रेम का सर्वोत्तम सम्भव रूप यही है' (पृष्ठ ७६)। 'आज के प्रेम के सर्वोत्तम सम्भव रूप' का निरूपण! कितना उलझा हुआ बुद्धि-विभ्रान्त प्रयास! एक अन्य स्थान पर 'व्यक्ति-सत्य' (कवि की अनुभूति) और 'व्यापक सत्य' (सार्वजनिक अनुभूति) के अन्तर को प्रदर्शित करते हुए ऐसी ही बुद्धिविजड़ित व्याख्या अज्ञेय जी ने की है, "यदि हम यह मान लेते हैं (यह कि व्यक्तिबद्ध सत्य जितना ही व्यापक होगा उतना ही काव्योत्कर्ष-कारी) तब हम 'व्यक्ति सत्य' और 'व्यापक सत्य' की दो पराकाष्ठाओं के बीच में उसके कई स्तरों की उद्भावना करते हैं, और कवि इन स्तरों में से किसी एक पर भी हो सकता है।" यहां स्पष्ट है कि 'व्यक्ति सत्य' और 'व्यापक सत्य' की भूमियों को कोरी बौद्धिक दृष्टि से देखा गया है, तभी उसमें अनन्त स्तरों और भेदों की सम्भावना पाई गई है। अज्ञेय जी 'उलझी हुई संवेदना' की भूमि से ही यह सारी नाप-जोख करते हैं, अन्यथा प्रेम और सत्य (व्यक्तिगत या समूहगत) के सम्बन्ध में किसी कवि को इतनी परेशानी उठाने की आवश्यकता ही क्या पड़ती! 'प्रेम' और 'सत्य'—कवियों की अपनी वस्तुएं, उनका चिर-कालिक उत्तराधिकार!

परन्तु अज्ञेयजी के इस प्रयास से (वह कितना ही थका देने वाला क्यों न हो) यह लाभ तो हुआ ही कि आधुनिक हिन्दी कविता में 'प्रयोगवाद' की स्थिति और स्वरूप का हमें कुछ आभास और परिचय मिल सका और अब हम उन व्याख्याओं की सहायता से प्रयोगवादी काव्य की एक सामान्य परिभाषा करने की स्थिति में आ गए हैं। वह परिभाषा कुछ इस प्रकार होगी—'उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए अथवा अभेद्य क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक प्रेरणावश सीधी-तिरछी लकीरों, सीधे या उलटे अक्षरों आदि का उपयोग करते हुए कभी किसी विषय पर सहमत न होने वाले अन्वेषियों की रचना।' इनमें से एक एक वाक्यखंड को लेकर उसकी थोड़ी सी छान-बीन करते ही हम प्रयोगवादी कविता के सम्बन्ध में नीचे लिखे निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

'उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति' से यह जाहिर है कि कवि पर

एक अतिरिक्त बुद्धिवादिता का शासन है । वह अनिश्चित मानसिक स्थिति का व्यक्ति है और काव्य की वास्तविक भावभूमि पर पहुँचने में अक्षम है। हम यह मान लेते हैं कि आज कवि पर अनेक प्रकार के मानसिक दबाव और दुश्चिन्ताएं रहती हैं । उसका व्यक्तित्व किसी हद तक जटिल मानसिक उपकरणों से बना होता है । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपनी संवेदनाओं को—वे जैसी भी हैं—सुलझा न सके और उनकी काव्यात्मक (या भावात्मक) अभिव्यक्ति न कर सके । 'उलझी हुई संवेदना की अभिव्यक्ति से तो मूलवर्ती कविकर्म के ही अभाव की सूचना मिलती है—ऐसी कमी जो कवित्व की सत्ता पर ही आघात करती है ।

एक उदाहरण लेकर यह बात और स्पष्ट की जा सकती है । हिन्दी में कवि 'बच्चन' की रचनाएं मनोवैज्ञानिक कुंठा या दबाव का परिणाम कही जाती हैं, परंतु उनमें उलझी संवेदना की अभिव्यक्ति नहीं है। उनकी रचनाओं में आप विक्षत, आहत या पराजित अनुभूति पाएं यह सम्भव है, और यह भी सम्भव है कि आप उनके काव्य को कुंठापूर्ण या ह्रासोन्मुख काव्य कहें, पर वह काव्य अवश्य है । उसे आप उलझी संवेदना की अभिव्यक्ति का बौद्धिक याअसाहित्यिक प्रयास नहीं कह सकते । काव्य सम्बन्धी उत्तरदायित्व बच्चन जी ने पूरा किया है, और अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के प्रति न्याय किया है । भले ही वह उत्तरदायित्व सामाजिक जीवन-विकास के अनुकूल न हो । पर प्रयोगवादी रचनाकारों में क्या यह मूलवर्ती साहित्यिक उत्तरदायित्व भी है ?

अब दूसरा वाक्यांश 'अभेद्य क्षेत्रों में जाने की स्वाभाविक प्रेरणा' लेकर देखिए। यही वह वैचित्र्यवाद है जिसके मूल में कोई गम्भीर भावना काम करती नहीं जान पड़ती । पुराने कवियों में यह प्रवृत्ति केशवदास में थी जो अलंकारों के क्षेत्र में नए अन्वेषण करने के आदी थे और इसीलिए जिनके अलंकार कृत्रिम और अकाव्योपयोगी हुए हैं । वे केवल चमत्कार की सृष्टि करते हैं । यही स्थिति नए प्रयोगवादियों की है जिन्होंने वैचित्र्य के लिए सीधी-टेढ़ी लकीरों और सीधे या उलटे अक्षरों को चुना है । यह तो विना कहे ही जाहिर है कि इस प्रकार की काव्य-प्रवृत्ति कलाहीन और असाहित्यिक है, यद्यपि अज्ञेय जी की यह धारणा है कि इस प्रकार का अन्वेषण भाषा-सम्बन्धी किसी आवश्यक अभाव की पूर्ति में सहायक होता है । अधिक से अधिक ऐसे प्रयासों को हम नवीनता का अनोखा तकाजा कह सकते हैं ।

कभी-कभी प्रयोगवादी प्रवृत्ति काव्य के विषयों और वर्णनों में भी नवीनता का संचार करती देखी जाती है। उदाहरण के लिए आज के कवि और लेखक मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, समाजविज्ञान तथा अन्य विषयों की पुस्तकों को पढ़ कर उसमें पाए जाने वाले नवीन तथ्यों का उपयोग अपनी साहित्यिक रचनाओं में करते हैं। जहाँ तक इनसे लेखक की बहुज्ञता का परिचय मिलता है, यह उपक्रम प्रशंसनीय है। कभी किसी चरित्र-विश्लेषण या स्वभाव-वर्णन के प्रसंग में ये प्रयोग और दृष्टान्त अत्यन्त सजीव और आकर्षक भी बन जाते हैं जिससे रचना का महत्त्व बढ़ता है। परन्तु किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सृजन का स्थान नहीं ले सकता।

प्रयोग में और काव्यात्मक निर्माण या सृजन में जो मौलिक अन्तर है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेष कर काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की दुनियाँ से बहुत दूर है। कवि सब से पहले अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी है। वह उनके साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। उसका दूसरा उत्तरदायित्व काव्य-परंपरा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है। वह किसी भी अवस्था में ऐसे प्रयोगों का पल्ला नहीं पकड़ सकता जिनका उस काव्य के भावगत और भाषागत संस्कारों से तथा उन दोनों के स्वाभाविक विकास-क्रम से सहज संबंध नहीं है। हमारे कवि हमारे काव्य-क्षेत्र में अजनबी बन कर आएं और रहें यह उनके लिए ही नहीं हमारे लिए भी एक ओछी बात होगी। हम अपने काव्योद्यान में ऐसे फूल लगाना नहीं चाहेंगे जो हमारी धरती से रस खींचना अस्वीकार करें और जिन्हें प्रयोगों का इंजेक्शन देकर ही जिलाया जा सके।

तीसरे वाक्यांश 'कभी किसी विषय में सहमत न होने वाले अन्वेषियों' का अर्थ भी स्पष्ट ही है। मित्रों और कुत्तों पर हँसने में एक साधारण विनोद-वृत्ति भले ही लक्षित होती हो, पर 'समाज के सर्वमान्य मौलिक सत्यों को अस्वीकार' करने में व्यंग्य और विद्रोह की भावना व्यंजित होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे व्यक्ति व्यापक समाज के प्रति गहन आत्मीय संबंध से बँधे हुए नहीं हैं, केवल उसकी तार्किक भूमियों में विचरण करना ही जानते हैं। विद्वानों का आपस में मतभेद रखना और बात-बात में एक दूसरे से असहमत होना उन विद्वानों के लिए भी खतरे का काम है! सक्रिय सामाजिक सहयोग के बदले एक सर्वदिक्

उपेक्षा-वृत्ति का प्रदर्शन समाज के लिए आशा का नहीं अनिष्ट का ही परिचायक है।

और इन व्याख्याओं और निर्देशों को जब हम अज्ञेय जी के मुख्य वक्तव्य में कही गई इस बात के साथ जोड़ कर देखते हैं कि ये प्रयोगवादी कवि मज़िल पर पहुंचे हुए नहीं है, राही भी नहीं हैं, केवल राहों का अन्वेषण कर रहे हैं तब प्रयोगवाद के स्वरूप और स्थिति के संबंध में हमारे ये निष्कर्ष और भी सहज अनुमेय हो जाते हैं। संक्षेप में हम अपने निष्कर्षों को इस प्रकार रख सकते हैं :—

१. प्रयोगवादी रचनाएं पूरी तरह काव्य की चौहद्दी में नहीं आतीं। वे अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं।
२. प्रयोगवादी रचनाएं वैचित्र्य-प्रिय हैं, वृत्ति का सहज अभिनिवेश उनमें नहीं।
३. प्रयोगवादी रचनाएं वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नहीं हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करतीं।

ऊपर हमने देखा कि कवि का उत्तरदायित्व मुख्यतः तीन वस्तुओं के प्रति होता है—, १ व्यक्तिगत अनुभूति के प्रति, २ काव्य-सत्ता के प्रति और ३ सामाजिक जीवन के प्रति। हमारे प्रयोगवादी कवियों में उनमें से एक भी पक्ष परिपुष्ट नहीं है।

२

ऐसी अवस्था में प्रश्न यह होता है कि हिन्दी काव्य में प्रयोगवादी रचनाओं की आवश्यकता या उपयोगिता ही क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर 'तारसप्तक' में संग्रहीत कुछ अन्य कवियों ने देने की चेष्टा की है। श्री० प्रभाकर माचवे इसकी उपयोगिता छायावाद और प्रगतिवाद के दोनों छोरों को मिलाने की दृष्टि से मानते हैं। वे लिखते हैं —छायावाद हिस्टीरिया की भांति हिन्दी कविता का एक मानसिक रोग है। दोनों में स्मृतियों की प्रच्छन्न और अज्ञात पुनरावृत्ति तथा तज्जन्य अहेतुक त्रास दिखाई देते हैं।' ....'पेंडुलम प्रतिक्रिया से जिस प्रकार दूसरा छोर पकड़ लेता है, ऐतिहासिक जड़वाद के अध्ययन से और भारतीय राजनैतिक क्षितिज के धूम-संकुल हो जाने से नये कवियों ने छायावाद तज प्रगतिवाद को अपनाया। अपनी प्रारंभिक अवस्था में यह अभी अपरिपक्व और नाम का ही प्रगतिवाद है।'

और इसी कारण माचवे जी यह समझते हैं कि हिन्दी में 'प्रयोगशील

अभिव्यंजना' (या प्रयोगवादी कविता) के मध्यमार्ग पर चलने की आवश्यकता और गुंजायश है। आप लिखते हैं कि 'हिन्दी कविता में विषयों की विविधता, व्यंग्य का तीक्ष्ण और सुरुचिपूर्ण प्रयोग, प्रकृति के संबंध में अधिक वैज्ञानिक दृष्टि, आदि का विकास होना चाहिए। उनकी राय में 'हमारी कविता में पाए जाने वाले अधिकांश कल्पना-चित्र या बिंब बच्चों के से निरे शाब्दिक, सहस्मृत या परंपरागत होते हैं। इनके बजाय हमें राग और ज्ञान से पूरित ऐन्द्रयिक, आवेगाश्रित और अभिजात मूर्त-विधान करना है।'

यह सब तो ठीक है पर हमारा कहना यह है कि जब छायावाद "हिस्टीरिया' है और प्रगतिवाद 'दमित इच्छाओं से निर्मित होने वाला औद्धत्य की सीमा पर पहुँचा हुआ परपीड़न-प्रेम है' तब इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुई प्रयोगवादी संतति सर्वगुण-संपन्न होगी कैसे ? इस प्रकार की बेमेल और संकर सृष्टि पर हमारा विश्वास नहीं है। हिन्दी में समन्वय-भावना या समझौते के मार्ग का विज्ञापन करने वाले यदि यह जान लेते तो अच्छा होता कि समझौता सदैव एक हार या पराजय का भी परिचायक होता है। विचारों और विश्वासों की निर्बलता प्रायः समस्त समझौतों के मूल में रहा करती है। इसलिए यदि इन नवीन प्रयोगों को समन्वयात्मक प्रयास न कह कर परिवर्तन की एक चेष्टा कहा जाय और यदि यह मान लिया जाय कि प्रयोगवाद कोई काव्यपद्धति नहीं है, वरन् वह पिछले खेवे के छायावादी साहित्य और विशेष कर महादेवी जी की गहन ऐकान्तिकता और बच्चन की उच्छ्वासपूर्ण नैराश्य-भावना की प्रतिक्रिया में किया गया व्यंग्य-विनोद पूर्ण हल्का काव्य-प्रयत्न है, तो हम कदाचित् प्रयोगवाद की ऐतिहासिक वस्तुस्थिति के अधिक समीप कहे जाएंगे। पर यहां भी यह प्रश्न रह जाता है कि क्या प्रयोगवादी कविता में भी उन्हीं भावनाओं का संचार नहीं होने लगा है जिनके निषेध का श्रेय हम उसे दे रहे हैं। क्या इन नवीन प्रयोगों में भी निराशा और विषाद का प्रभाव व्याप्त नही है ? और इतना होते हुए भी क्या काव्यदृष्टि से ये उन मूल रचनाओं की बराबरी पर रक्खे जा सकते हैं ?

हमें मानना पड़ेगा कि प्रयोगवाद की किसी सुनिश्चित आवश्यकता या वैशिष्ट्य पर हम आग्रहपूर्वक कुछ नहीं कह सकते, सिवा इसके कि युग और समाज की स्थितियों और प्रवृत्तियो ने इसे भी जन्म दिया है और हिन्दी के विशाल कव्योद्यान में प्रयोगवादियों के लिये भी स्थान मिल गया है। एक दूसरे अर्थ में यह भी कहा जा सकता है कि काव्य-समृद्धि

के युगों में ही कोई साहित्य ऐसे प्रयोगों के लिए अवकाश पा सकता है और हिन्दी में इतनी पर्याप्त समृद्धि है कि वह इन संशयालु और संस्कार शिथिल कवियों के अनगढ़ प्रयोगों की कुरूपता को भी सहन कर लेती है ।

३

अब प्रयोगवादी रचनाओं के कुछ नमूने लेकर देखना चाहिए । पर इसके पहले यह आरंभिक निवेदन कर देना आवश्यक है कि भाषा, पद-प्रयोग, छंद, तुक आकि के संबंध में प्रयोगवादियों ने जिन नई खोजों का दावा अपनी व्याख्याओं और विवेचनों में किया है, उनसे संभ्रम में पड़ कर यह न समझ लेना चाहिए कि उन समस्त खोजों या उनमें से अधिकांश का भी उपयोग वास्तविक रचनाओं में किया गया है । एक तो शैली और रचना-संबंधी इस ऊहापोह या आडंबर से ही यह प्रतीत होता है कि प्रयोक्ताओं ने काव्य-कामिनी का सौन्दर्य उसके ऊपरी संभार और प्रसाधनों में ही समझ लिया है—एक ऐसी अभिरुचि जिसका सामाजिक प्रतिरूप आजकल के सौन्दर्य-द्रव्यों की बाढ़ में देखा जाता है । यह अभिरुचि आधुनिक भले ही हो, अभिनंदनीय नहीं है—स्वस्थ सौन्दर्य-दृष्टि की परिचायक नहीं है । रुग्ण नारी को वेश-भूषा से सज्जित करने का सा प्रयास है । फिर, जिन सौन्दर्य-चमत्कारों की खोज का वे विज्ञापन करते हैं, उनका व्यवहार वे अपनी कृतियों में कर सके हैं या नहीं, यह भी देखना होगा । शैली-संबंधी वे सौन्दर्य-प्रयोग हमारी भाषा की प्रकृति और हमारी रचनात्मक परंपरा के मेल में हैं या नहीं यह भी जानना होगा, क्योंकि निरे विदेशी सौन्दर्योपचारों को आँख मूंद कर अपनाने में हम कोई विशेषता नहीं देखते ।

एक छोटी सी पृष्ठभूमि बनाकर और उसमें खड़ी-बोली कविता के क्रम-विकास की एक हल्की झांकी दिखाते हुए इस वस्तु को प्रस्तुत करना अधिक उपयोगी होगा । नई खड़ी-बोली कविता की शैशवावस्था में (आज से ४०-५० वर्ष पूर्व) एक नई सामाजिक जागृति के साथ एक संयत आदर्शवादी विचार धारा का पहला आलोक फैलने लगा था । उस प्रातःकालीन वातावरण में एक सरल सुन्दर दीप्ति थी । मन पर किसी प्रकार के अन्यथा आवरण न थे । आशा का हल्का उत्साह था, विश्वास की प्रचंड गरिमा न थी । इस काल के कवियों की भावना में एक सरल सौम्यता खेल रही थी । कल्पना की आकाशीय उड़ानों का नाम न था । कवियों ने अधिकतर पुराने आख्यान लेकर उन्हें अपनी नई भावना से सज्जित किया । चित्रित चरित्रों और वर्णन

किए गए विषयों में कोई बड़ी व्यापकता या प्रसार न था। मनोवैज्ञानिक संघर्षों की भरमार न थी। अभिव्यंजना में भी सरलता थी, सजावट न थी। अलंकारों और अप्रस्तुतों की योजाना चकाचौंध करने वाली नहीं थी। भाषा का आच्छद कलात्मक न था (रचना में भाषा की पूरी शक्ति का उपयोग नहीं किया गया था) किन्तु, क्लिष्टता और बेढंगापन भी उसमें नहीं था। इन समस्त विशेषताओं का सूचक एक उदाहरण देखा जा सकता है —

प्रिय पति वह मेरा प्राणप्यारा कहां है?
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहां है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है? (हरिऔध)

यद्यपि कविता में खड़ी-बोली का व्यवस्थित प्रयोग इसी समय से आरंभ होता है, पर स्मरण रखना चाहिए कि व्रजभाषा की एक मँजी हुई और शिष्ट परंपरा उस समय भी कार्य कर रही थी। श्रीधर पाठक और 'रत्नाकर' जैसे कवि उसकी साजसज्जा में लगे हुए थे। कदाचित् इस पार्श्ववर्ती प्रगति के कारण ही खड़ी-बोली कविता में भी कहीं-कहीं भाषा को सजाने की प्रवृत्ति दिखाई देती हैं। परंतु व्रजभाषा कवियों के लिए स्थिति नई नहीं थी। व्रजभाषा का विशाल काव्य-भंडार उनके पास था। खड़ी-बोली के कवियों के लिए वह वस्तु नए प्रयोग के रूप में ही आई। उन्हें (खड़ी-बोली के कवियों को) संस्कृत शब्दावली के अनभ्यस्त चयन का नया कार्य करना पड़ा। परंतु इस प्रकार के प्रयोगों का बाहुल्य कभी नहीं हो पाया और न वे हिन्दी की प्रतिनिधि काव्य-शैली के रूप में परिगणित हो सके। ऐसे उदाहरणों में नीचे की पंक्तियां बहुत प्रसिद्ध हैं:—

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना,
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली,
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीला मयी
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधूर्य सन्मूर्ति थीं। (हरिऔध)

इसी युग के दूसरे प्रतिनिधि कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं जिनकी रचनाएं प्रायः पचास वर्षों के लंबे समय तक फैली होने के कारण कई नए प्रभावों को भी ग्रहण करती गई हैं। विशेषकर 'द्वापर' के मनोवैज्ञानिक चित्रणों और 'साकेत', 'कुणाल गीत' और 'झंकार' की गीतात्मक रचनाओं में गुप्त जी के एक नए काव्य-स्वरूप का आभास

पाया जाता है। यह ठीक है कि गुप्त जी के लंबे काव्य-विकास में किसी एक युग की अकेली छाप नहीं रही, पर उनके मुख्य और मूलवर्ती काव्याधार को परख सकना फिर भी कठिन काम नहीं है। अपने भाषा-प्रयोग में (शब्द संगीत और शब्द-शक्तियों के उपयोग में) पीछे आने वाली छायावादी काव्यधारा से अपनी दूरी की सूचना वे पुकार कर देते हैं। छायावादी कल्पना-प्रवणता और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रणों से भी वे अधिक संबंध नहीं रखते। 'अज्ञात की अभिलाषा' और अन्य स्वच्छंद प्रवृत्तियां भी उनमें नहीं हैं। गुप्त जी की प्रतिनिधि रचनाओं के दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

जो कोकिला नन्दन-विपिन में हर्ष से गाती रही।
दावाग्नि दग्धारण्य में रोने चली है अब वही।

(भारत भारती)

मुझे फूल मत मारो।
मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो।
रूप दर्प कंदर्प तुम्हें यदि मेरे पति पर वारो।
लो यह मेरी चरण धूलि उस रति के सिर पर धारो।

(साकेत)

स्पष्ट है कि ये रचनाएं अपने भाषा-परिधान में किसी ऊँची कलात्मकता, चयन या सौष्ठव का दावा नहीं करतीं और न इनके भाव या रूप-चित्रण में किसी प्रकार का असाधारण उत्कर्ष या मनोवैज्ञानिक बारीकी है। न ये रचनाएं कल्पना के प्रचुर और अबाध सामर्थ्य की परिचायक हैं। इन विशेषताओं से संपन्न साहित्य का आगमन कुछ समय पश्चात् छायावादी काव्ययुग में हुआ।

छायावादी काव्ययुग हिन्दी कविता के नवीन विकास का स्वर्णयुग रहा है। प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी इस युग के प्रमुख रचनाकार हैं, जिनकी समता का कवि पाकर कोई भी साहित्य गौरवान्वित हो सकता है। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ काव्ययुग भी अपने समय पर विकसित होत हैं और उस समय के बीत जाने पर नई काव्य-शैलियां प्रवर्तित होती हैं। इसलिए यह कहने का कोई अर्थ नहीं होता कि छायावादी काव्यधारा इतना शीघ्र समाप्त क्यों हो गई। कुछ लोगों ने छायावाद के पतन का कारण भी बताना चाहा है, पर वह ऐसा ही है जैसे कोई

वसंत ऋतु के पतन (!) का कारण बताने बैठे । कुछ अन्य लोगों ने मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञता के नाम पर छायावादी काव्य-सृष्टियों को रुग्ण और अस्वस्थ बताने की चेष्टा की है पर वह चेष्टा 'अंगूर खट्टे हैं' वाली कहावत का ही पूरा निदर्शन बनी है । कतिपय मतप्रवर्तकों ने यह भी कहा है कि छायावादी काव्य व्यक्तिवादी और अंतर्मुख है और वह सामाजिक भूमि का व्यापक स्पर्श नहीं करता । पर जिन कवियों को वे व्यक्तिवादी बताते हैं उन्हीं पर (उन्हीं के कवित्व रहित वाग्जाल पर) उनके प्रगतिवादी मतवाद की नैया अपना सहारा ढूंढ़ती है । निराला और पंत (और विशेषकर पंत, क्योंकि उनकी रचनाओं की कील जल्दी-जल्दी घूम जाती है) आज भी इस नवीन काव्यवाद के नेता या उन्नायक माने जाते हैं । उनके और हमारे विचारों में अंतर यह है कि हम निराला और पंत की सन् ३५ के पीछे की रचनाओं को उस काव्यस्तर पर नहीं पाते जिस स्तर पर इस समय के पूर्व की रचनाओं को पाते हैं । और इसके विपरीत प्रगतिवाद के हिमायती पिछली रचनाओं को ही अधिक श्रेष्ठता और महत्त्व देते हैं । उदाहरण के लिए प्रगतिवाद के समर्थ सहायक श्री राहुलजी पंत का काव्यविकास दिखाते हुए 'पल्लव,' 'वीणा' या 'गुंजन' की रचनाओं को, पंत जी के स्वास्थ्य का हवाला देते हुए, रुग्णावस्था की रचना बतलाते हैं और सब से बड़ा आश्चर्य तो यह है कि स्वयं पंतजी अपने को सन् ३० के पहले अस्वस्थ शरीर और अस्वस्थ मनोवृत्ति का स्वीकार करने लगे हैं । पर उन लोगों को क्या कहा जाय जिन्होंने सन् ३० के पहल के पंत जी के सौम्य, सुन्दर और स्वस्थ चित्र देखे हैं या स्वयं जीते-जागते पंतजी को ही देखा है ! इस प्रकार के बयान और विवरण साहित्य-समीक्षा के वास्तविक निर्माण में सहायक नहीं हो सकते । यदि हम यह मान भी लें कि सन् '३० के आसपास पंतजी कुछ दिन अस्वस्थ रहे थे तो भी शरीर की अस्वस्थता सदैव मन की अस्वस्थता नहीं हुआ करती, और थोड़ी देर के लिए हम यह भी मान लें कि पंतजी वास्तव में सन् '३० के पहले या आसपास शरीर और मन दोनों से अस्वस्थ थे तो भी यह कौन साबित कर सकेगा कि उस समय की पंतजी की सुन्दरतम रचनाएं शारीरिक और मानसिक अस्वास्थ्य का परिणाम हैं ! प्रश्न और समस्या बिलकुल साफ़ और दोटूक है ।

हमारे सामने पंत जी की सन् ३० तक की रचनाएं हैं और फिर उनके ३४-३५ से आरंभ होने वाले मतवादी उद्गार हैं। देखना यह है कि साहित्यिक दृष्टि से (और साहित्यिक दृष्टि के अंतर्गत, मेरे विचार से, वे समस्त दृष्टियाँ समन्वित हो जाती हैं जिनका काव्य के उत्कर्ष-अपकर्ष संबंधी निर्णय से कुछ भी संबंध हो सकता है) इन दोनों में से किस वर्ग की रचनाएं श्रेष्ठतर हैं। यह एक विशुद्ध साहित्यिक समस्या है अतएव इसके निर्णय के लिए हम समस्त साहित्यिकों को आमंत्रित कर सकते हैं।

सन '३० के पूर्व की पंतजी की दो रचनाओं के उदाहरण य हैं :—

१ आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात!
चार दिन सुखद चाँदनी रात
और फिर अंधकार अज्ञात।
....
अभी तो मुकुट बँधा था माथ,
हुए कल ही हलदी के हाथ;
बना सिन्दूर अँगार!
वातहत लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार।

(परिवर्तन)

२ अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भूकंपन,
गिर-गिर पड़ते भीत पक्षिपोतों से उडुगन:
आलोडित अंबुधि फेनोन्नत कर शत शत फन
मुग्ध भुजंगम सा इंगित पर करता नर्तन!
दिक् पिंजर में बद्ध गजाधिप सा विनतानन
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन!

(परिवर्तन)

यहां जान बूझकर मैंन एक ही रचना से ऐसे दो स्थल चुने हैं जो दोनों ही निराशावादी उद्गार कह कर रुग्ण और अस्वस्थ, असामाजिक और अप्रगतिशील (और न जाने क्या क्या) घोषित किए जाते हैं।

साथ ही ये दोनों पद्य दो पृथक् पद-रचना के उदाहरण हैं। दोनों ही पद्य कल्पना की मूर्तिमत्ता से पूर्णतः सज्जित हैं। पहले पद्य में 'बचपन का कोमल गात' अपनी वर्णध्वनि में बचपन की कोमलता का आभास लिए हुए है। जरावस्था 'पीला पात' द्वारा प्रत्यक्ष की गई है। 'चार दिन सुखद चांदनी रात' में एक लोक-प्रचलित उक्ति (चार दिन की चांदनी फिर अंधियाली रात) को परिष्कृत रूप में अपनाया गया है। पांचवीं और छठी पंक्तियों में 'माथे पर मुकुट बांधा जाना' और 'हलदी के हाथ' होना, इतने प्रसिद्ध लोकाचार से जुड़े हुए हैं और साथ ही इतना अनायास मांगलिक भावों का द्योतन करते हैं कि पाठक की स्मृति इन उपमानों का सहज ही साथ देती है और उसके सामने विवाह का पूरा चित्र जाग उठता है। सातवीं पंक्ति वैषम्य का झटका देने के लिए लाई गई है—छंद में भी वह ऊपर की पंक्तियों से भिन्न है। आठवीं और नवीं पंक्तियां फिर एक नई उपमा—और अत्यंत प्राकृतिक उपमा—'वायु से उखाड़ी सुकुमार लता' को हमारी आंखों के सामने लाती हैं। कोई भी पंक्ति ऐसी नहीं है जिसमें कोई रूप-योजना न हो—दृश्य को साकार करने का सामर्थ्य न हो।

दूसरा उदाहरण और भी संश्लिष्ट कल्पना-योजना से संपन्न है। प्रलय के समय होने वाला विराट् परिवर्तन चित्रित किया गया है—उसी के अनुरूप समस्त रूपयोजना में विराट् उपमानों का संग्रह है—दिशाओं और पृथिवी का कांप उठना, पक्षियों के बच्चों की भांति आकाश के तारों का टूट गिरना, समुद्र की ऊंची लहरों का फण उठा कर सांप की भांति प्रलय के इशारे पर नाचना। दिशाओं के पिंजड़े में बद्ध आकाश रूपी हाथी का, वायु के कोड़े खाकर, नतमस्तक और आर्त भाव से कराहना—सभी चित्र प्रलय की भयंकरता लिए हुए हैं और समस्त पद्य की भाषा अपने असाधारण उत्कर्ष में प्रस्तुत किए गए भाव का पूरा साथ देती है। पहले पद्य की शैली सरल और मुहावरेदार है, दूसरे पद्य में संग्रथित और धारावाही शब्द-चयन किया गया है।

काव्य की दृष्टि से दोनों पद्य ऊपर उद्धृत हरिऔध जी और मैथिलीशरण जी के पद्यों की अपेक्षा स्पष्ट ही अधिक समुन्नत काव्य-वैभव लिए हुए हैं। शब्दों की संगीतात्मकता, भावानुरूपता और अर्थप्रवणता में ऊपर के दोनों कवियों की अपेक्षा पंत जी का रचना-संभार अधिक

समृद्ध है। रूपों (उपमानों या अप्रस्तुतों) की योजना में पंत जी की कल्पना कहीं अधिक शक्तिमती है। प्रस्तुत किया जाने वाला भाव भी इस सशक्त और समृद्ध रूपयोजना के कारण पूरी तरह खिल उठा है। काव्य-दृष्टि से किसी ऐसी वस्तु का अभाव या कमी नहीं है जिसके कारण रचना को काव्य की सर्वोच्च श्रेणी में न रक्खा जा सके।

परन्तु जिन महानुभावों को काव्य-साहित्य की अपनी विशिष्ट परंपरा से संबंध नहीं है, जो रचना के निर्माणात्मक गुणों को परखने के अभ्यस्त नहीं हैं—या परखना चाहते ही नहीं, वे इन कृतियों पर क्या क्या आरोप नहीं लगाया करते ! ऐसे समीक्षकों की विशेषता यह है कि उनके ये आरोप कभी कुछ और कभी कुछ—प्रायःपरस्पर-विरोधी हुआ करते हैं, जिनके कारण वे अपने ही तर्कों को अपने ही तर्कों से काट कर बराबर कर देते हैं। पर कठिनाई यह है कि इस काटा-कूटी में वास्तविक तथ्य भी घायल हो जाता है और काव्य-सत्य की ओर हमारा ध्यान नहीं जा पाता।

इस साहित्यिक अनाचार को रोकने का कार्य सच्चे साहित्यिकों का ही है—वे साधक जो जीवन की प्रगति के साथ काव्यप्रगति का संबंध देख सकें और साथ ही जो काव्य की अपनी सत्ता को किसी काव्येतर या असाहित्यिक-वाद की धींगाधींगी में पड़ने से बचा सकें। जैसे किसी बच्चे के हाथ में तेज धार की छूरी नहीं दी जा सकती या किन्हीं हिलते हाथों को आपरेशन का काम नहीं सौंपा जा सकता वैसे ही किन्हीं नौसिखिए वाद-विज्ञानियों या किन्हीं स्थविर शास्त्राचारियों को भी आधुनिक काव्य-समीक्षा का कार्य नहीं सौंपा जा सकता।

पर इस प्रासंगिक चर्चा में पड़ कर हम अपने मुख्य विषय से अधिक दूर नहीं जाना चाहते। अतएव हमें अपने विचार-प्रवाह का संवरण कर छायावाद-युग के कुछ अन्य प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं के स्फुट उदाहरण देखने होंगे। प्रसाद जी, जो इस युग के प्रवर्तक और प्रधान संदेशवाहक हैं, जिनके दार्शनिक और सांस्कृतिक अध्ययन और मनन पर विरोधियों को भी श्रद्धा है, अपने काव्यनिर्माण में छायावाद-युग की प्रमुख विशेषताओं को प्रतिफलित करते हैं। 'चिन्ता' और 'लज्जा' जैसी सूक्ष्म और अशरीरी वस्तुओं का चित्रण करने में उनकी लेखनी का चमत्कार देखा जा सकता है। केवल कुछ ही पंक्तियां दी जा सकती हैं:—

हे अभाव की चपल बालिके,
    री ललाट की खल लेखा !
हरी-भरी सी दौड़-धूप, ओ
    जल-माया की चल रेखा !
इस ग्रह-कक्षा की हलचल, री
    तरल-गरल की लघु लहरी।
जरा अमर जीवन की, और न
    कुछ सुनने वाली बहरी। (चिन्ता : 'कामायनी' से)

... ...

मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में
    मन का उन्माद निखरता ज्यों।
सुरभित लहरों की छाया में
    बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों।
नीरव निशीथ में लतिका सी
    तुम कौन आ रही हो बढ़ती;
कोमल बाहें फैलाए सी
    आलिंगन का जादू पढ़ती !

(लज्जा: 'कामायनी' से)

और 'निराला' जी, जिन्होंने नवीन कविता-कामिनी को मुक्त छंद का नया परिधान पहना कर नीचे की पंक्तियों में उसका स्मरणीय स्वागत किया था। कौन जानता था कि उनको इस नई भेंट का कितना दुरुपयोग न होगा। भाषा की गति-लय से अपरिचित व्यक्ति मुक्त-छंद का सहारा लेकर कितने अनर्गल और काव्यहीन प्रयोग न करेंगे। निराला जी का मुक्त छंद काव्य को नया आच्छद देने की अभिरुचि का परिचायक है, उसे अशोभन या भोंड़े रूप में उपस्थित करने की प्रेरणा का परिणाम नहीं है, यह उनकी मुक्त-छंद की इस आरंभिक कृति से ही स्पष्ट हो जाता है :—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह।
अर्धविकच इस हृदय-कमल में आ तू, प्रिये,
छोड़कर बंधनमय छंदों की छोटी राह।
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण, कंटकाकीर्ण ;
कैसे होगी उससे पार !

कांटों में तेरा चीर उलझ जाएगा,
और निकल जाएंगे उसके तार—
जिसे अभी-अभी पहनाया,
किन्तु नज़र भर देख न पाया,
कैसा सुंदर आया !

इन पंक्तियों में कवि के कलापूर्ण साधन-प्रेम की झलक तो है ही, उसके भाषा-संबंधी अधिकार और कुशल गतियोजना का भी यथेष्ट आभास है और इन सबके ऊपर उसका अदम्य आत्मविश्वास तथा प्रवाहमयी कल्पना या रूपयोजना का सामर्थ्य भी स्पष्ट होता है। छायावादी काव्य को भाषा-संबंधी प्रौढ़ प्रयोग और नए शब्द-चयन के साथ नवीन सामासिक योजना के सबसे अधिक उपहार निराला जी के काव्य से ही मिले हैं। भावचित्रण में अज्ञात की आकांक्षा का सुन्दर स्वरूप उनकी रचनाओं में व्यंजित हुआ है :—

लख ये काले काले बादल,
नील सिंधु में खुले कमल-दल ;
हरित ज्योति चपला अति चंचल
सौरभ के, रस के—
अलि, घिर आए घन पावस के ।

इन पंक्तियों में काले बादलों का घिरना देख कर नील-सिंधु में (श्वेत) कमलदलों का खिल पड़ना और उन पर पड़ कर विद्युत की चंचल ज्योति का हरित वर्ण की झलक मारना, जहां एक ओर रंगों का समारोह सामने लाता है, वहीं दूसरी पंक्ति में 'नील-सिंधु' में कमलदलों के खिलने की सूचना कवि की अज्ञात-सौन्दर्य-लालसा की परिचायक है।

इन सुन्दरतम काव्य-प्रयोगों के मूल में एक अभिनव रहस्य-भावना, एक विश्वजनीन दार्शनिकता और एक परिष्कृत सौंदर्य-चेतना काम कर रही थी। विना उस मूलवर्ती आधार के रचनाओं में यह चमत्कार और ये कलात्मक विशेषताएं न आ सकतीं, यह स्वीकार करने के लिए यदि हमारा सामान्य बोध (Common Sense) पर्याप्त नहीं है, तो कदाचित् इस छोटे दायरे में दिए गए निदर्शन भी पर्याप्त न होंगे। इसलिए हम रचना-संबंधी दृष्टान्तों का सहारा छोड़ कर स्वयं एक रचयिता (या रचयित्री) का साकार दृष्टान्त लेते हैं—वह दृष्टान्त है महादेवी वर्मा का। छायावाद

काव्ययुग के अंतिम और विलम्बित प्रतीक के रूप में महादेवी जी इस बात की सूचना तो देती ही हैं कि आधुनिक छायावाद या रहस्यवाद एक स्वतंत्र जीवन-दृष्टि से ही नहीं कदाचित् एक गम्भीर साधना-प्रणाली से भी सम्बद्ध है।

महादेवी जी के काव्य को हम सदैव आदर की दृष्टि से देखते आए हैं, पर यह स्वीकार करने में हमने कोई आपत्ति नहीं देखी कि महादेवी जी की रचनाओं में छायावादी काव्य को आरम्भिक स्फूर्ति और स्वाभाविक (कहीं-कहीं उद्दाम) कल्पना-प्रवाह के बदले एक सुसंयत गति, एक सुचिन्तित आभरणप्रियता और साथ ही एक सुनिर्दिष्ट प्रतीक-योजना का भी क्रमशः सघन योग होता गया है। इन विशेषताओं के मनोवैज्ञानिक या अन्य प्रेरणा-सूत्रों पर विना गए हुए भी हम दो बातें संशयरहित होकर कह सकते हैं। प्रथम यह कि छायावादी काव्यधारा की मूलवर्ती आध्यात्मिक भावना ही परिपुष्ट होकर महादेवी जी के काव्य में व्यक्त हुई है और दूसरी यह कि महादेवी जी की दुःखवादी दार्शनिकता कोरा दुःखवाद न होकर उसी आध्यात्मिक प्रेरणा से अनुरंजित है, जो छायावाद का मुख्य आधार है। काव्य-दृष्टि से महादेवी जी की रचनाएं उज्वल किन्तु मंथर रहस्यात्मक भाव-सृष्टि से समन्वित हैं। आज उनकी कविता रहस्य-'वाद' से शृंखलित और सीमाबद्ध हो गई है, अतएव सभी 'वादी' रचनाओं की भांति उसमें भी वह स्वातंत्र्य और प्रवेग नहीं है जो छायावाद के आरंभिक कवियों में प्रचुर मात्रा में रहा है। दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

१. दूसरी होगी कहानी
शून्य में जिसके मिटे स्वर, धूलि में खोई निशानी।
आज जिस पर प्रलय विस्मित,
मैं लगाती चल रही नित,
मोतियों की हाट औ' चिनगारियों का एक मेला।

२. झरे सुमन बिखरे अक्षत सित,
धूप अर्घ्य नैवेद्य अपरिमित,
तम में सब होंगे अन्तर्हित,
सब की अर्चित कथा इसी लौ में पलने दो।
यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो।

हिन्दी साहित्य के सांस्कृतिक काव्योत्थान (छायावादी युग) के समाप्त

होते-होते प्रथम श्रेणी के दो अन्य कवि—बच्चन और दिनकर—इसे अपने नवीन काव्य-सौरभ से सुवासित करने लगे थे। कई दृष्टियों से इन दोनों कवियों में बहुत बड़ा विभेद भी है। कुछ समीक्षकों ने इनमें से एक या दूसरे के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है, और तब उन्हें उक्त दोनों में से एक को हीन करना भी आवश्यक जान पड़ा है। पर मुझे इन दोनों के काव्यों में उतना बड़ा भेद नहीं दिखाई देता कि उनकी चर्चा दो विरोधी शिविरों में रख कर की जाय। जहां तक काव्य और अभिव्यंजना का संबंध है छायावादी कवियों की समता का परिष्कार और कलात्मकता कदाचित् इन दोनों में नहीं है। ये दोनों ही प्रतिवर्तन या उतार के कवि हैं। बच्चन की रचनाओं में वैयक्तिक वेदना का अधिक प्रबल उभार दिखाई देता है। दिनकर जी की कृतियों में उसी भावावेश को सामाजिक परिधान दे दिया गया है किन्तु स्पष्ट दार्शनिकता और जीवन-लक्ष्य के संबंध में दोनों एक से ही अनिर्णीत हैं—या यह कहें कि दोनों किसी विशिष्ट जीवन-साधना के अभाव में एक से ही परिक्लान्त हैं। दोनों की रचनाओं का एक-एक उदाहरण दिया जाता है :—

जीवन-मरघट पर अपने सब
अरमानों की कर होली
चला राह में रोदन करता
चिता-राख से भर झोली।
शीश हिला कर दुनिया बोली,
पृथ्वी पर हो चुका बहुत यह
इतने मत सन्तप्त बनो

(बच्चन : 'आकुल अन्तर')

हाय रे मानव, नियति का दास !
हाय रे मनुपुत्र, अपना आप ही उपहास।
प्रकृति की प्रच्छन्नता को जीत,
सिंधु से आकाश तक सब को किए भयभीत।
सृष्टि को निज बुद्धि से करता हुआ परिमेय,
चीरता परमाणु की सत्ता असीम, अजेय !
बुद्धि के पवमान में उड़ता हुआ असहाय,
जा रहा तू किस दिशा की ओर हो निरुपाय।

(दिनकर : 'कुरुक्षेत्र')

इन्हीं भावात्मक रचनाओं के सिर पर जब हम नए प्रयोगवादियों के प्रयोगों को देखते हैं तब सहसा प्रश्न होता है कि हिन्दी कविता अपनी रचनात्मक दिशा का इतनी शीघ्रता से परित्याग कर दिग्भ्रान्त क्यों होती जा रही है। प्रयोक्ताओं को क्या पड़ी है कि वे हिन्दी की इस नवनिर्मित परंपरा का मूलोच्छेद कर एकदम एक नया वैशिष्ट्य प्राप्त कर लेना चाहते हैं। नए प्रयोगवादी अपने को अन्वेषक कहते हैं, पर नई हिन्दी में अभी इस अबाध अन्वेषण के लिए—इस बेतहशा दौड़ के लिए—स्थिति और अवसर ही कहां हैं? नवीन कविता समृद्धि की उस सीमा पर नहीं पहुँची है जहां से विघटन का कार्य आरम्भ हो सके। इसलिए अच्छा तो यह होता कि हमारे प्रयोगवादी हिन्दी भाषा और उसकी काव्य-परम्परा को परिपुष्ट करते—उसे और आगे बढ़ने का अवसर देते। यदि अन्वेषण ही करना है तो अन्वेषण के लिए भी स्थान है—नई विचारधाराओं और नए जीवन-दर्शन का अन्वेषण ही नहीं उनको जीवन में उतारने के प्रयोग। पर ऐसा दिखाई देता है कि प्रयोगवादी अभी से ऊब उठे हैं, समाज साहित्य और उसके समस्त सांस्कृतिक आधारों से। तभी तो इतनी उतावली के साथ सब की भर्त्सना और सब का परिहास करने की शून्यगामी योजना उन्होंने अपना ली है। सम्भव है मध्यवर्ग का सांस्कृतिक सत्ता के समाप्त होने-नए निर्माण में उस सत्ता को रंच मात्र भी उपयोगिता न रह जाने का इजहार किया जा रहा हो। पर प्रश्न यह है कि शून्य का स्तवन करने वाली काव्य सृष्टि किस वर्ग का कल्याण करने का उद्देश्य रखती है?

प्रयोगवादी रचनाओं के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। पहली कविता आर्थिक साम्य या वैषम्य से संबंध रखती है:—

इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि!
इतना ज्ञान, संस्कृति और अन्तः शुद्धि!
इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति
यह सौन्दर्य, वह वैचित्र्य, ईश्वर भक्ति।
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छन्द
जितना ढोंग जितना भोग है निबंध,
इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुन्दर जाल।
केवल एक जलता सत्य देते टाल।

(तारसप्तक, पृष्ठ १६)

पहली पंक्ति में 'प्राण' और 'बुद्धि' के बीच में 'हाथ' किस बारीकी से बैठा है ! 'ज्ञान', 'संस्कृति' और 'अंतः शुद्धि' जैसे शब्द दूसरी पंक्ति में आए हैं, जिनमें से एक-एक का अर्थ जान लेने में ही एक पूरे जीवन की आवश्यकता है ! जब तक अर्थ ग्रहण नहीं कर लेते तब तक भाव का अनुभव ही क्या करेंगे (इसलिए अभी से अर्थ-सिद्धि में लग जाना चाहिए)। तीसरी पंक्ति में 'दिव्य' और 'भव्य' जैसे विशेषण किस विशेष्य के लिए हैं—भव्य और दिव्य कौन सी वस्तुएं हैं, इसका पता नहीं बताया गया। शायद 'इतना' ही दिव्य और भव्य है। चौथी पंक्ति में 'सौन्दर्य', 'वैचित्र्य' और 'ईश्वरभक्ति' का समन्वय किया गया है, मानो एक ही पिता के ये दो पुत्र और एक कन्या हो ! पांचवीं और छठी पंक्तियां एक दूसरे की अनुलोम या प्रतिलोम हैं क्योंकि एक में 'इतना' 'इतना' और दूसरी में 'जितना' 'जितना' आया है । जान पड़ता है कि कवि अपने 'काव्य', 'शब्द' और 'छंद' को ही ढोंग और भोग की उपाधि दे रहा है। कवि की इस अंतः-शुद्धि का कारण क्या है—'ईश्वरभक्ति' या कुछ और ? सातवीं पंक्ति में कोई जाल है—गूढ़, गाढ़ और सुन्दर। कोई जाल-विशेषज्ञ ही बता सकता है कि सब से सुन्दर जाल क्या ऐसा ही हुआ करता है और क्या वह सुन्दर जाल किसी जलते (या उबलते) सत्य को टालने के काम भी आ सकता है? प्रश्न यह भी है कि इन पंक्तियों का आर्थिक साम्य या वैषम्य से क्या संबंध है ? इसका एक ही उत्तर ढूंढ़ कर निकाला जा सका है । वह यह कि जो कोई इन पंक्तियों को पढ़ेगा वही साम्यवादी होगा और विना पढ़े वैषम्य का शिकार रहेगा—पूंजीवादी कहलायगा !

एक कविता कविता के सम्बन्ध में भी लिखी गई है :—

कविता क्या है ? कहते हैं जीवन का दर्शन है आलोचन।
वह कूड़ा जो ढँक लेता है बचे-खुचे पत्रों में के स्थल।
कविता क्या है ? स्वप्न-श्वास है उन्मन, कोमल।
जो न समझ में आता कवि के भी ऐसा है वह मूरखपन।
कविता क्या है ? आदिम कवि की दृग झारी से बरसा वारी।
वे पंक्तियां जो कि गद्य हैं कहला सकती नहीं बिचारी।

('तारसप्तक', पृष्ठ ५७)

कविता के संबंध में यह धारणा एक प्रयोगवादी कवि को क्यों हुई ? माना कि उसके आसपास ऐसी रचनाओं का भी ढेर लगा है, जो कूड़ा-

करकट कही जा सकती हैं, जिनका अर्थ समझना उनके रचयिताओं के लिए भी आसान नहीं है, और साथ ही जो, प्रयत्न करने पर भी, किसी प्रकार गद्य नहीं कहला सकतीं (क्योंकि वे पद्य में लिखी गई हैं) पर प्रश्न यह है कि क्या इस कविता में आत्माभिव्यंजना का तत्व बिल्कुल नहीं है—आत्मानुभूति का नितान्त अभाव है ? क्या लेखक के मस्तिष्क के किसी अज्ञात कोने में अपनी रचनाओं का संस्कार नहीं रहा है ? इस प्रश्न का उत्तर भी कोई मनःविशेषज्ञ ही दे सकता है !

और अन्त में हम स्वयं अज्ञेय जी की 'जनाह्वान' कविता लेते हैं (तारसप्तक, पृष्ठ ७७) जिसमें वीर-भाव को जगाने की चेष्टा की गई है:—

ठहर ठहर आततायी, ज़रा सुन ले,
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा,
रागातीत, दर्पस्फीत, अतल, अतुलनीय,
मेरी अवहेलना की टक्कर सहार ले,
क्षण भर स्थिर खड़ा रह ले—
मेरे दृढ़ पौरुष की एक चोट सह ले,
नूतन प्रचंडतर स्वर से
आततायी आज तुझ को पुकार रहा मैं।
रणोद्यत दुर्निवार ललकार रहा मैं।
कौन हूँ मैं ?
तेरा दीन दुःखी पददलित पराजित
आज जो कि क्रुद्ध सर्प से अतीत को जगा
'मैं' से 'हम' हो गया ।

'आततायी' शायद कुछ दूर है, और क्रमशः दूर होता जा रहा है ! वह दूसरी दिशा में जा रहा है। कोई व्यक्ति उसे रोकता है, रुकने को कहता है । वह उसे अपने दिल का गुबार सुनाना चाहता है । पहली पंक्ति में वह आततायी को ठहराता है । और ठहरा कर कहता है 'जरा सुन लो ।' यहाँ 'ज़रा' शब्द का प्रयोजन क्या है ? क्या आततायी से 'दो मिनट,' 'एक बात' सुनने की प्रार्थना की जा रही है ? क्या सामूहिक आह्वान या ललकार ऐसी ही होती है ? और दूसरी पंक्ति 'मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा' में 'आज' और 'सुन जा' की विशेषता क्या है ? क्या यहां भी कोई मिन्नत है कि कृपा कर 'आज पुकार सुन कर

चले जाना ?' तीसरी और चौथी पंक्तियों में टक्कर सम्हालने की अपेक्षा 'अवहेलना' का मनोवैज्ञानिक स्वरूप स्पष्ट करने में अधिक समय ले लिया गया है—रागातीत, दर्पस्फीत, अतल, अतुलनीय अवहेलना'—इसके बाद टक्कर सम्हालने को कुछ रह नहीं जाता ! 'अवहेलना' का 'टक्कर' भी एक अद्भुत पदार्थ है । 'अवहेलना' स्वयं ही टक्कर बचाती है, फिर उसकी टक्कर सम्हालने में कौन सी बहादुरी होगी ? पाँचवीं और छठी पंक्तियों में पहली और दूसरी पंक्तियों का पुनरावृत्ति सा है 'क्रुद्ध वीर्य' और 'दृढ़ पौरुष' में केवल शाब्दिक अन्तर है ।

सातवीं, आठवीं और नवीं पंक्तियाँ काफी जोरदार हैं परंतु जो कुछ भी उनका जोर था, उसे नीचे की चार पंक्तियों ने समाप्त कर दिया है । किसी व्यक्ति को ललकार कर फिर उसी से अपनी दीनता का वर्णन करना अपने को 'तेरा दीन दुःखी पददलित, पराजित' कहना मनोविश्लेषणात्मक तथ्य हो सकता है, परंतु भावात्मक सत्य नहीं । 'उलझी संवेदना' का यह कविता एक अच्छा उदाहरण है (उलझी संवेदना, जिसकी चर्चा अज्ञेय जी ने प्रयोगवादी कविता की व्याख्या करते हुए की है) ।

मैं यह नहीं कहता कि इन प्रयोगवादी रचनाओं का कोई मूल्य ही नहीं है; सम्भव है ये रचनाएं किसी नए और श्रेष्ठतर कवि के आगमन का हेतु बनें, परंतु वर्तमान रूप में वे जैसी हैं, उनमें साहित्यिक परिष्कार की बड़ी आवश्यकता है ।

प्रयोगवादी 'शृंगार' का एक उदाहरण देकर यह प्रसंग समाप्त करूंगा ।

मैं वैसा का वैसा ही रह गया सोचता
पिछली बातें;
दूज-कोर-से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तसवीरें!
सेज सुनहली,
कसे हुए बंधन में चूड़ी का झर जाना ।
निकल गईं सपने जैसी वे रातें
याद दिलाने रहा सुहाग-भरा यह टुकड़ा ।

('चूड़ी का टुकड़ा' तारसप्तक, पृष्ठ ४२)

महाराज अज का 'सुलोचना' के लिए विलाप कवि कालिदास ने कराया था । परंतु उनकी भी दृष्टि इतनी महीन चीजों की ओर नहीं गई—

'कसे हुए बंधन में चूड़ी का झर जाना।' कदाचित् कालिदास में थोड़ी सी लोक-मर्यादा बच रही थी। इसीसे वे प्रयोगवादी कवियों की बराबरी पर नहीं रक्खे जा सकते। प्रयोगवादी इस विषय में उनसे बाजी मार ले गए हैं!

अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हिन्दी काव्य की ऊपर दिखाई परंपरा से टूट कर अलग होने का प्रयोगवादियों का प्रयत्न न तो उनके लिए और न हिन्दी कविता के लिए श्रेयस्कर है। नवीनता लाइए पर अपनी विरासत से मुँह न मोड़िए। उत्तराधिकार न छोड़िए। अन्वेषण के लिए—अन्वेषण ही नहीं जीवन संबंधी धारणा और साधना के लिए, प्रचुर स्थान है, उस ओर आगे बढ़िए। अपने प्रति (अपनी अनुभूतियों के प्रति) काव्य के प्रति और समय और समाज के प्रति उत्तरदायित्व को भूल कर प्रयोग नहीं किए जा सकते। उन प्रयोगों का अर्थ होगा शून्य पर दीवाल खड़ी करना।

प्रयोगवादी काव्य की इस अंधाधुंध में सब से बड़ी बुराई यह हुई कि काव्य और कला संबंधी स्थिर पैमानों पर किसी का विश्वास नहीं रहा और सुमित्रानन्दन पंत जैसे निसर्ग-सिद्ध कवि भी कविता का पल्ला छोड़ कर वादों का राग अलापने लगे। पंत जी का काव्यक्षेत्र छोड़ कर वादी क्षेत्रों में चला जाना कदाचित् हिन्दी साहित्य के इस युग की सबसे बड़ी दुर्घटना है। परंतु उससे भी अधिक खेदजनक बात यह हुई कि समीक्षा के क्षेत्र में काव्य-संबंधी विचार-परंपरा सुरक्षित न रह सकी, काव्य और वाद को एक ही श्रेणी में मिला दिया गया। इसलिए आज की समीक्षा का प्रमुख उत्तरदायित्व यह है कि इन दोनों का पृथक्करण करके काव्य की अपनी सत्ता की पूर्ण प्रतिष्ठा की जाय। यह कार्य अभी तो असंभव सा दीखता है, परंतु आशा खोने के पक्ष में हम नहीं हैं। हिन्दी के समस्त कलाकार—और प्रयोगवादी कलाकार भी उनमें सम्मिलित हैं—यदि सब कुछ छोड़ कर केवल एक बात में एकमत हो जाएं, यदि वे केवल इतना मान लें कि वे हिन्दी साहित्य के कवि और कलाकार हैं और उनका कार्य हिन्दी की काव्य-सृष्टि की रक्षा और विकास करना है, तो दूसरे समस्त प्रश्न आसानी से हल हो जाएंगे और तब हिन्दी कविता—और प्रयोगवादी कविता भी—अपने अस्तित्व के लिए परमुखापेक्षिणी न रहेगी, वह अपने पैरों पर खड़ी हो सकेगी।

साकेत

'साकेत' हिन्दी के लोकप्रिय कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त का प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ है। इसकी रचना आज से प्रायः पैंतीस वर्ष पूर्व आरम्भ हुई थी और इसके निर्माण में सोलह वर्षों का समय लगा था। 'साकेत' का पुस्तकाकार प्रकाशन सम्वत् १९८८ में (सन्, ३१ के आसपास) हुआ था, यद्यपि इसके कुछ अंश वर्षों पहले 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हो चुके थे। 'साकेत' के आरम्भ और परिसमाप्ति के बीच गुप्त जी की कुछ अन्य रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं, किन्तु इस अवधि में वे मुख्यतः 'साकेत' के ही निर्माण और परिष्कार में लगे रहे हैं। 'साकेत' में गुप्तजी ने अपने सर्वप्रिय विषय रामकथा और तत्संबंधी प्रसंगों को अपनाया है, अतएव इसके प्रति उनका विशेष अनुराग होना स्वाभाविक है। गुप्त जी की भावना इसमें पूर्ण रूप से रमी है और उनकी प्रतिभा का पूरा उन्मेष हुआ है। इस दृष्टि से 'साकेत' को गुप्त जी की प्रतिनिधि रचना भी कहा जा सकता है।

साकेत की आधुनिकता :—यहां हम 'साकेत' की आधुनिकता और उसके महाकाव्यत्व पर ही कुछ विचार करेंगे। 'साकेत' की प्रत्यक्ष आधुनिकता तो यही है कि वह आधुनिक युग की कृति है, किन्तु निर्माण-तिथि के आधार पर ही किसी रचना को आधुनिक कहना साहित्यिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त न होगा। 'साकेत' की एक प्रमुख आधुनिकता है उसमें व्रजभाषा और पुरानी हिन्दी के स्थान पर नई खड़ी बोली का प्रयोग। इस विषय में इसकी समता गुप्त जी के दूसरे समकालीन कवि हरिऔध जी के 'प्रिय प्रवास' काव्य से ही की जा सकती है। 'प्रिय प्रवास' की खड़ी बोली पर संस्कृत का पूरा आच्छादन है और उसके छंद, समास आदि संस्कृत से ही ग्रहण किए गए हैं। 'साकेत' की खड़ी बोली अधिक स्वतंत्र है। उस पर संस्कृत का अनावश्यक बोझ नहीं है, और न उसके छन्दों और समासादिकों में संस्कृत की पद्धति स्वीकार की गई है। खड़ी बोली के विकास की दृष्टि से वह 'प्रिय प्रवास' की अपेक्षा अधिक आधुनिक कृति है।

'साकेत' की भाषा सम्बन्धिनी शरीर-यष्टि की नवीनता देख लेने पर उसके अन्तरंग की आधुनिकता भी स्पष्ट होने लगती है। यह तो निर्विवाद है कि आधुनिक शब्द सर्वथा सापेक्ष है और किसी भी वस्तु की आधुनिकता उसके ऐतिहासिक निर्माण-क्रम की परिधि में ही देखी जा सकती है, इतिहास से निरपेक्ष होकर नहीं। यदि हम इस ऐतिहासिक पक्ष का ध्यान न रखें, तब तो 'साकेत' की आधुनिकता भी आज अनेक अंशों में विगत और व्यतीत ज्ञात होगी। मैं केवल एक उदाहरण देकर इस कथन को पुष्ट करना चाहूंगा। 'साकेत' के पश्चात् हिन्दी में दो अन्य काव्य-ग्रन्थों का निर्माण हुआ है, जिन्हें 'साकेत' की अपेक्षा अधिक आधुनिक कहा जा सकता है। उनमें से एक 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' है, और दूसरा है 'दिनकर' जी का 'कुरुक्षेत्र'। 'कामायनी' में 'प्रसाद' जी ने आधुनिक विज्ञान की प्रेरणा ग्रहण की है और वैज्ञानिक आधार पर मानवीय विकास का एक चित्र उपस्थित किया है। 'कामायनी' का दार्शनिक निरूपण भी अधिक आधुनिक है, क्योंकि उसमें हमारी भावना या विश्वास की अपेक्षा हमारी तर्कबुद्धि को उत्तेजित करने की अधिक क्षमता है। इसी प्रकार 'कुरुक्षेत्र' काव्य यद्यपि प्राचीन कथानक को लेकर बना है, किन्तु उसमें नए युग के राजनीतिक विद्रोह और समाजवादी भावधारा का प्रभाव भी लक्षित होता है। इन दोनों से तुलना करने पर 'साकेत' की आधुनिकता किसी अंश तक आरम्भिक या अविकसित प्रतीत हो सकती है, किन्तु व्यापक आधुनिकता और ऐतिहासिक नवीनता की दृष्टि से 'साकेत' का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं।

यदि हम गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरितमानस की आधार-भूमि से 'साकेत' की आधारभूमि की तुलना करें तो 'साकेत' काव्य की आधुनिकता का स्पष्ट प्रमाण मिलेगा। मानस में गोस्वामी जी ने अवतारवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उन्होंने अपने सम्पूर्ण काव्य में ईश्वर की मानवता प्रदर्शित की है। 'साकेत' में इसका ठीक उल्टा क्रम है। इसमें ईश्वर की मानवता के स्थान पर मानव की ईश्वरता का निरूपण किया गया है जो दार्शनिक दृष्टि से ठेठ आधुनिक युग की वस्तु है। 'साकेत' में प्रथम बार मानव का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर—ईश्वर के समकक्ष लाकर—रक्खा गया है जो मध्ययुग में किसी प्रकार सम्भव न था। 'साकेत' इसी कारण हिन्दी की

प्रथम मानवतादर्शवादी या आदर्श-मानवतावादी रचना कही जा सकती है।

अल्पसंख्यक वर्ग की रीति-नीति और वातावरण का परित्याग कर 'साकेत' में कवि ने लोक-सामान्य जीवन-चित्रण की ओर अपनी रुचि प्रदर्शित की है। 'साकेत' के लक्ष्मण और उर्मिला ऐसे व्यक्ति नहीं हैं, जिनसे हम दूरी का अनुभव करें। उनके संलापों में उनकी मानवोचित साधारणता व्यक्त हुई है, जिससे उनके प्रति समीपता की प्रतीति होती है। मानस में गोस्वामी जी ने केवल एक पंक्ति में यह कहा है कि सीता जी अपने हाथ से गृह की परिचर्या करती थीं। यह बात भी ऐसे प्रसंग में आई है जिसमें सीता जी का परिचर्या-कार्य उन्हें नारी-जीवन की सामान्य भूमि पर नहीं आने देता, किन्तु गुप्त जी के 'साकेत' का समस्त जीवन विवरण हमारे साधारण पारिवारिक जीवन के साथ मिला-जुला प्रतीत होता है।

यही नहीं, गुप्तजी ने सीता जी को चित्रकूट की रमणीय प्राकृतिक भूमि में लाकर उनके हाथों में चरखा और तकली के साथ खुरपी और कुदाल भी दे दी है, जिससे वे स्वावलम्बिनी बनें, और मूल मानवता से दूर न चली जाएँ। इसे हम आधुनिक विचार-धारा का एक अभिन्न अंग कह सकते हैं, जिसे गुप्त जी ने मजबूती के साथ पकड़ रखा है। उनकी सीता कहती हैं :—

औरों के हाथों यहां नहीं पलती हूँ।
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ।
श्रमवारि बिन्दु फल स्वास्थ्य शुक्ति फलती हूं।
अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूं।
तनु लता सफलता स्वाद आज ही आया।
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।

मैं नहीं समझता कि राजवंश का वर्णन करने वाले किसी प्राचीन कवि की लेखनी इस आशय की पंक्तियों का सृजन कर सकती थी। ये सर्वथा नवीन जीवन-दृष्टि की परिचायक पंक्तियां हैं।

परन्तु 'साकेत' की मूलवर्तिनी आधुनिकता का उल्लेख करना अब भी शेष है। रामायण के प्रमुख चरित्रों और क्रमागत कथानक को छोड़कर कवि ने उर्मिला और भरत की साधनामयी जीवनी चित्रित की है। महा-

काव्य की पद्धति के विरुद्ध साधु भरत को नायक और वियुक्ता उर्मिला को नायिका बनाया है। यह केवल एक साहित्यिक मौलिकता ही नहीं है, इसमें सम्पूर्ण जीवन-दर्शन की एक क्रान्तिकारी झलक भी दिखाई देती है। इस आपात् परिवर्तन या प्रवर्तन को हम 'व्यक्ति की महान मर्यादा की रक्षा' का नाम दे सकते हैं, क्योंकि न केवल क्रमागत वीर-काव्य की मर्यादा यहां तोड़ी गई है, मानव-महत्व का समस्त आदर्श ही बदल दिया गया है; इस परिवर्तन के समक्ष समस्त रूढ़ मर्यादाएँ और सामाजिक परम्पराएँ नगण्य ठहरती हैं। बिना इस तलवर्ती परिवर्तन के नवीन जीवन-योजना सम्भव नहीं थी। कवि ने अत्यन्त साहसपूर्वक इस क्षेत्र में प्रवेश किया और क्रान्तिकारी जीवन-मूल्यों को अपना कर नवीन निर्माण की समस्त बाधा दूर कर दी है। हम यह नहीं कहते कि 'साकेत' में चित्रित उर्मिला और भरत के चरित्र नितान्त नवीन हैं, किन्तु राम और सीता के स्थान पर भरत और उर्मिला के जीवन सूत्रों से कथा-तन्तु का निर्माण साहित्यिक इतिहास में एक प्रवर्तन है और विचारों की दुनिया में एक अभिनव क्रान्ति। इस नवीनता को यदि साकेत में प्रतिष्ठित आधुनिकता की आत्मा कहा जाय, तो कुछ भी अनुचित न होगा।

ऊपर कही गई बात को कुछ और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। गुप्त जी ने उर्मिला को 'साकेत' की मुख्य नायिका बनाया है। पूर्ववर्ती रामायणों में उर्मिला का चरित अत्यन्त संक्षिप्त या नहीं के बराबर आया है। ऐसे नगण्य पात्र को, जिसका अस्तित्व नाममात्र का ही रहा हो, किसी काव्य की मुख्य भूमिका में लाकर प्रतिष्ठित करना दो दृष्टियों से नया और क्रान्तिकारी प्रयत्न है। पहली दृष्टि सामाजिक है। गुप्त जी के पूर्व हिन्दी कवियों का ध्यान उर्मिला के चरित्र पर नहीं गया, इसका मुख्य कारण वह सामाजिक स्थिति है जिसमें व्यक्ति की सत्ता और उसके महत्त्व के सम्बन्ध की दृष्टि बहुत कुछ संकुचित थी। मानव-महत्व की परिभाषा सीमित थी, उसका दायरा छोटा था। व्यक्ति की मर्यादा और उसके उत्कर्ष की दिशाएँ अनेक प्रतिबन्धों से जकड़ी हुई थीं। ऐसे क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का निर्माण कठिन था जो इन प्रतिबन्धों की अवमानना कर व्यक्ति के अबाध और अपरिमेय महत्त्व को स्वीकृति दे सकता। व्यक्ति के चरित्र में उसकी जीवन-चर्या की विविध दिशाओं और अवस्थाओं में अपार महत्त्व की सम्भावना देख सकना नवीन और क्रान्तिकारी सामाजिक

दृष्टि द्वारा ही सम्भव था। भले ही गुप्त जी की यह सूझ कवि रवीन्द्र के किसी वक्तव्य का परिणाम हो, और भले ही उनके द्वारा अंकित उर्मिला के चरित्र में परिपूर्ण नवीनता न आ पाई हो, (पुराने संस्कार और सामाजिक आदर्शों की छाया बनी रह गई हो) परन्तु एक छोटे से संकेत को लेकर एक बड़े काव्य की प्रधान नायिका का निर्माण करना—उसे नए रंगों और नयी भावनाओं से सजाना—गुप्त जी की सामाजिक क्रांति-दर्शिता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। नए युग की मानव-महत्व की सामाजिक कल्पना—नया व्यक्तिवाद और समत्व का आदर्श—साकेत काव्य के मूल में रहा है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

दूसरी क्रान्तदर्शिता साहित्यिक है। समाज-सम्बन्धी धारणाओं में कोई कवि कितना ही अग्रगामी क्यों न हो, सामने पड़ने वाली साहित्यिक रूढ़ियाँ और परम्पराएँ भी उसका मार्ग-अवरोध कर लेती हैं। यह आवश्यक नहीं कि नई सामाजिक दृष्टि का प्रवर्तक कवि सदैव नई साहित्यिक दृष्टि का भी प्रवर्तक हो। किन्तु गुप्त जी की साकेत सम्बन्धी मूलवर्ती कल्पना में साहित्यिक नवीनता भी कम नहीं है। उर्मिला और भरत का नायकत्व स्वीकार कर साकेत में पहले-पहल महाकाव्य की वीररस-प्रधान पद्धति की उपेक्षा की गई है। यह एक ऐसा साहित्यिक प्रवर्तन है जो आधुनिक युग के अन्य प्रबन्ध-काव्यों में भी प्रतिफलित हुआ है। 'साकेत' से कुछ पर्व प्रकाशित होने वाले 'प्रिय प्रवास' काव्य में हरिऔध जी ने भी यह पद्धति अपनाई है और साकेत के पीछे निर्मित प्रसाद जी के 'कामायनी' काव्य में भी वीररस की यही विरलता है। 'साकेत' की चरित्रसृष्टि में भी धीरोदात्त नायक की गरिमा और उत्कर्ष के स्थान पर अधिक सरल और मनोरम माननीय भावों की योजना है। 'साकेत' में महाकाव्य सम्बन्धी नया आदर्श और प्रतिमान स्थिर करने का प्रयत्न जान-बूझ कर भले ही न किया गया हो, परन्तु महाकाव्य विषयक क्रमागत व्यवस्था और परिपाटी से यह अनजाने में ही इतनी दूर चला गया है कि आधुनिक युग का नया साहित्यिक प्रवर्तन उसे स्वभावतः अपने विकास की आरम्भिक कड़ी मानकर चलता है।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि 'साकेत' काव्य की इस वास्तविक आधुनिकता के साथ-साथ उसमें ऊपरी और कृत्रिम आधुनिकता के भी उल्लेख मिलते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि कवि इन प्रलोभनों से बच नहीं सका

है। एक स्थान पर अयोध्या से राम के विदा होते समय जनता द्वारा रास्ता रोक कर खड़े होने और भद्र-अवज्ञा करने का दृश्य है। दूसरे स्थान पर उर्मिला द्वारा सैनिकों को गांधी जी की अहिंसा की शिक्षा दी जाती है। सम्भव है कुछ लोग इन्हीं स्थलों को आधुनिक समझते हों, किन्तु मेरी धारणा ऐसी नहीं है। मैं तो इन स्थलों को काव्यगत वास्तविक आधुनिकता का अपवाद ही समझूँगा।

नवनिर्माण का स्वरूप

साकेत के चरित-चित्रण या पात्र-कल्पना में पर्याप्त नवीनता है, उसका वस्तु-विन्यास भी बहुत कुछ नया है, यद्यपि मूल कथा पुरानी है। साकेत की उर्मिला नई चरित्र-सृष्टि है। भरत और लक्ष्मण भी अपना व्यक्तित्व लिए हुए हैं। सीता और राम के निर्माण में भी कवि की लेखनी नया काम करती है। काव्य का वातावरण प्राचीन रक्खा गया ह, जो सम्यक् प्रभाव के लिए आवश्यक था। परन्तु साकेत के चरित्र न तो वाल्मीकि रामायण के चरित्रों की भांति लोक-प्रतिनिधि और वीर चरित्र हैं न वे 'मानस' की भांति उदात्त और आदर्श हैं। उनमें एक सामान्य पारिवारिक भावना का विकास है जो वर्तमान युग की संमिलित परिवार-व्यवस्था का आभास लिए हुए है। उर्मिला और लक्ष्मण का प्रथम चित्र गृहिणी और गृही के रूप में चित्रित किया गया है, जिसके आरम्भ में ललित कला का प्रसंग आया है, किन्तु जिसके अन्त में जो कुछ है वह लालित्य से कुछ दूर है!

हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिए
और बोले एक परिरम्भण प्रिये!
सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया!
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया!

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के शृंगारिक निर्देश न तो प्राचीन रामकाव्य की परिपाटी में गृहीत हैं और न इन्हें नवीन काव्यधारा का सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक वस्तु-चित्रण ही स्वीकार करेगा।

अस्तु, साकेत की नवीनता में यद्यपि नए युग की परिस्थिति का हाथ है, पर साकेत काव्य को वर्तमान युग की वस्तून्मुखी मनोवैज्ञानिकता का संपूर्ण संसर्ग प्राप्त नहीं है। नए युग की नवीन और गंभीर भाव-

भूमियों का परिदर्शन इस काव्य में नहीं हो सका है। इसमें नवयुग की आरम्भिक और अनिश्चित नवीनता अधिक है। प्रथम सर्ग के उक्त (लक्ष्मण-उर्मिला) दृश्य से आगे बढ़ने पर अयोध्या की करुण और विवशतापूर्ण परिस्थिति का प्रदर्शन किया गया है और लक्ष्मण के आवेश पूर्ण वाक्यों से रस-संचार की चेष्टा की गई है—

खड़ी है मा बनी जो नागिनी यह।
अनार्या की जनी हतभागिनी यह!
अभी विषदन्त इसके तोड़ दूंगा।
न रोको तुम तभी मैं शान्त हूंगा!
बने इस दस्युजा के दास हैं जो,
इसी से दे रहे वनवास हैं जो,
पिता हैं वे हमारे—या कहूँ क्या?
कहो हे आर्य, फिर भी चुप रहूं क्या!

ऐसे काव्य-प्रसंगों को उदात्त तो कदाचित् किसी अर्थ में नहीं कहा जा सकता।

यहां उदात्त से मेरा तात्पर्य महाकाव्य की परिपाटी के अनुरूप 'धीरोदात्त' चित्रण से ही नहीं है, वास्तव में हम यहां नवीन युग के अनुरूप मनोवैज्ञानिक चित्रण की गम्भीरता की अपेक्षा कर सकते थे। परन्तु कवि मनोविज्ञान की नई भूमि में नहीं गया है और न मनोवैज्ञानिक संघर्ष, समस्या या वस्तुनिरूपण की योजना कर सका है। कैकेयी और मन्थरा के प्रसंग में तुलसीदास जी ने जिस चारित्रिक वैषम्य के अनुरूप मनोवैज्ञानिक भूमिका की अवतारणा की है साकेत में उसकी भी व्यवस्था नहीं है। वहां केवल इस प्रकार की भावनात्मक पंक्तियां हैं—

नाथ कैकेयी के वर वित्त
चीर कर देखो उसका चित्त!
स्वार्थ का वहां नहीं है लेश,
बसे हो एक तुम्हीं प्राणेश!
सदा थे तुम भी परमोदार,
हुआ क्यों सहसा आज विकार!
भरत-से सुत पर भी सन्देह
बुलाया तक न उसे जो गेह!

साकेत की रसभूमि इसीलिए भावना (Sentiment) पर अधिक अवलम्बित है। इस भावनापरता के सम्बन्ध में एक बार गांधी जी ने अपने स्वाभाविक दृष्टिकोण से गुप्त जी को लिखा भी था—उन्होंने 'साकेत' के दशरथ-विलाप को अवीरोचित बताया था। काव्य में किसी भी वस्तु-योजना का महत्व उसकी मूलवर्ती भाव-सत्ता पर आश्रित रहता है। साकेत में नियोजित दशरथ-विलाप की वस्तुस्थिति 'मानस' में नियोजित दशरथ-विलाप तथा दशरथ-देह-त्याग की परिस्थिति की अपेक्षा हल्की भावना या आवेश पर स्थित है। 'मानस' के दशरथ-मरण के औचित्य पर सम्भवतः गांधी जी अपना विरोधी मत न देते, अथवा यदि देते तो उनका वह मत कदाचित् निजी और 'असाहित्यिक' माना जाता। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'मानस' में दशरथ-देहत्याग का प्रसंग अत्यंत गम्भीर और सुसंयत भावना पर प्रतिष्ठित है।

उर्मिला की चरित-सृष्टि में भी भावनात्मक आदर्शवादिता का स्वरूप ही स्पष्ट हो सका है, जो समस्त अवस्थाओं में नायिका के महत्त्व के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। विशेषतः नवम सर्ग के उर्मिला-गीतों में भावना की जो उन्मुक्त गति है, उसके साथ उर्मिला की उदात्त और संयमपूर्ण चारित्रिक विशेषताओं का मेल नहीं बैठता। इन उर्मिला-गीतों की भावना कहीं-कहीं ऐसे साधारण स्तर पर पहुँच जाती है जिसकी 'साकेत' की नायिका से किसी प्रकार अपेक्षा नहीं की जाती। एक स्थान पर उर्मिला कहती है—

मेरे चपल यौवन बाल !
अचल अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल।

इन पंक्तियों का संकेत उर्मिला को विषय-वासना की सीमारेखा के इतने समीप पहुँचा देता है कि अन्य अवसरों पर उसके द्वारा दी गई वीर रमणी के अनुरूप वीर व्यवहार की शिक्षा (जैसे उर्मिला द्वारा दिया गया सैनिकों को उपदेश) ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करने में असमर्थ रह जाती है।

साकेत में भरत और मांडवी के चरित्र भी करुण भावना की ही सृष्टि करते हैं, उस उदात्त भावभूमि पर पहुँचाने का प्रयत्न नहीं करते जो उक्त दोनों चरित्रों को दूसरे ही प्रकार का गौरव देती। अयोध्या के राज-परिवार में अनशन और उपवास के दैहिक ताप का उल्लेख

किये विना मानो भरत और मांडवी का चारित्रिक सौन्दर्य उद्‌घाटित ही न हो पाता ! इतने ऊपरी दृश्य-स्तर की भाव-योजना करना साकेत की मूलवर्ती भावनामयता (Sentimentalism) का ही प्रमाण है। दूसरे शब्दों में, कवि मनोवैज्ञानिक और चारित्रिक निरूपणों के लिए कल्पना और अनुभूति की व्यापक भूमि में न जाकर, समीपवर्ती प्रत्यक्ष या गोचर-क्षेत्र से ही काम निकालता है ।

साकेत के नाटकीय कथनोपकथन या उत्तर-प्रत्युत्तर के चमत्कार-प्रधान प्रसंगों की काव्यात्मकता पर भी दो शब्द कहना आवश्यक है । ऐसे स्थल काव्य में प्रचुरता से मिलते हैं । ये भी प्रकारान्तर से कवि की काव्येतर बौद्धिकता के ही साक्षी हैं। वास्तविक भाव-प्रधान कवि के लिए कदाचित् इस नाटकीय योजना की आवश्यकता ही न होती । परंतु साकेत के ये स्थल काव्य को चमत्कारशून्य इतिवृत्त के स्तर पर उतरने से बचा लेते हैं और इस अर्थ में उनकी पर्याप्त उपयोगिता भी सिद्ध होती है। वास्तविक और धारावाहिक काव्योत्कर्ष की पूर्ति इन प्रयोगों द्वारा अच्छी मात्रा में हुई है, इतना ही हम इन प्रसंगों के पक्ष में कह सकते हैं।

साकेत की उस वास्तविक काव्यात्मक स्थिति के निरूपण के लिये जो उसे एक ओर मध्ययुग के 'मानस' जैसे काव्य की उदात्त भावमयता से, और दूसरी ओर 'कामायनी' जैसे नव्यतर काव्य की सूक्ष्म वस्तुस्थापना से, पृथक् करती है, इन तीनों काव्यों का एक-एक उद्धरण लेकर देखना होगा । यदि हम सुविधापूर्वक तीनों काव्यों का एक ही विषय से संबद्ध प्रसंग ले सकें तो तुलना और भी स्पष्ट हो सकेगी । 'मानस' में सीता जी का रूप-चित्रण है, 'साकेत' में उर्मिला का सौन्दर्य-वर्णन है और 'कामायनी' में भी नायिका का स्वरूप निरूपण है । यहाँ तीनों का एक-एक उदाहरण लीजिए—

(मानस) जौं पटतरिय तीय सम सीया
जग असि जुवति कहाँ कमनीया !
गिरा मुखर तन अरध भवानी,
रति अति दुखित अतनुपति जानी।
जौं छबि सुधा पयोनिधि होई,
परम रूपमय कच्छप सोई।

सोभा रजु मंदर सिंगारू,
मथै पानि पंकज निज मारू।
एहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख-मूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय समतूल।

इन पंक्तियों में सीता जी की रूप-प्रतिमा अत्यंत निर्विकार और सौम्य शिल्प द्वारा गठित है। इसे किसी सीमा तक भावहीन और आलंकारिक भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें रूप की एक कल्पना, उसका एक आभास-मात्र है—रूप की स्थूल या सूक्ष्म रेखाओं की भी योजना नहीं है। भक्त कवि मानो इस आदर्श प्रतिमा की ही वंदना करके रह जाता है, उसमें इतना साहस नहीं कि वह उस प्रतिमा के निर्माण में अपनी ओर से एक टांकी भी लगाए। सीता की रूपराशि की यह स्थापना सच्चे भक्त कवि के अनुरूप है। 'साकेत' में उर्मिला के रूपवर्णन की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

(साकेत) देखती है जब जिधर यह सुन्दरी,
दमकती है दामिनी सी द्युतिभरी!
हैं करों में भूरि भूरि भलाइयाँ,
लचक जातीं अन्यथा न कलाइयाँ!
चूड़ियों के अर्थ जो है मणिमयी
अंग की ही कान्ति कुन्दन बन गई!

मंदिरस्था कौन यह देवी भला। किस कृती के अर्थ है इसकी कला?
स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला, नाम है इसका उचित ही 'उर्मिला'!

इन पंक्तियों में 'कामिनी की दृष्टि में दामिनी की दमक', 'लचकती हुई कलाइयां', 'शरीर कांति में मणियों का प्रतिबिंबित होना', 'किसी कृती के लिए इस कृति का उपयोग' आदि ऐसी अभिव्यंजनाएं हैं जिनमें तटस्थ सौन्दर्य-रेखाओं के स्थान पर अतिरंजित चित्रण की प्रवृत्ति अधिक है। सौन्दर्य के मनोवैज्ञानिक प्रभाव की अपेक्षा उसके शारीरिक पक्ष की प्रमुखता इस चित्रण की विशेषता है। 'कामायनी' की सौन्दर्य-रेखाओं का चित्र-फलक इस प्रकार है:—

(कामायनी) हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त।

मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ-संयुक्त।
नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रङ्ग!
आह वह मुख! पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि-मंडल उनको बेध
दिखाई देता हो छविधाम!

इन लंबी और मंथर गति से चलने वाली पंक्तियों में चित्रित रूप हमारी मानसिक प्रक्रिया को उपयुक्त विस्तार देता है और प्रकृति के मनोरम क्षेत्र से ली हुई उत्प्रेक्षाएं अपने सौन्दर्य में हमारी वृति को विलमा लेती हैं ; कामायनी की रूप-रेखा केवल एक काल्पनिक और मनोमय प्रभाव डाल कर रह जाती है। निचली पंक्ति में आया हुआ 'आह' शब्द रूप की मुखरता को एक वैराग्यमयी आभा देकर प्रशमित करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां 'मानस' का रूप-चित्र अत्यधिक सौम्य और सांकेतिक है, तथा 'कामायनी' का स्वरूप कल्पना की संवेदनशीलता का आधार पाकर अधिक मनोमय हो गया है, वहां 'साकेत' की उर्मिला का सौन्दर्य छोटे छंद की द्रुतगति पर आरूढ़ होकर अधिक मुखर, अधिक अतिरंजित और कदाचित् अधिक उत्तेजनाशील हो गया है। साकेत काव्य की सम्पूर्ण आदर्शवादिता के होते हुए भी उसमें व्याप्त इस शरीर-पक्ष-प्रधान प्रभाव का निराकरण नहीं किया जा सकता। यह कवि के भावना-प्रधान कवित्व का ही परिचायक है, जिसको ऊपर के विवेचन में स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। वह मनोवैज्ञानिक तटस्थता और वस्तु-चित्रण की प्रवृत्ति जो कल्पना की जागरूक और अंतर्भेदिनी सत्ता का परिणाम है, 'साकेत' में विरलता से मिलती है। इसी विवेचन के आधार पर हम साकेत को नवयुग का प्रतिनिधि काव्यग्रंथ कहने के बदले उसे युग की आरंभिक कृति कहना अधिक संगत मानते हैं।

महाकाव्यत्व

आधुनिकता की इस चर्चा के पश्चात् अब मैं महाकाव्य की

दृष्टि से साकेत पर विचार करूंगा। महाकाव्य के तीन मुख्य लक्षण माने जा सकते हैं। प्रथम, रचना का प्रबंधात्मक या सर्गबद्ध होना। द्वितीय, उसकी शैली का गांभीर्य और तृतीय, उसमें वर्णित विषय की व्यापकता और महत्त्व। इसके अन्य उपनियम भी हो सकते हैं, किन्तु मैं उनका समावेश इन्हीं तीन लक्षणों में करना चाहूंगा। 'साकेत' की रचना सर्गबद्ध तो है किन्तु उसकी प्रबन्धगत धारा अव्याहत या अटूट नहीं है। नवम सर्ग में उर्मिला के विलाप का वर्णन करते हुए कवि काव्य के कथा-तन्तु को छोड़ बैठा है। दशम सर्ग में उर्मिला अपने शैशवकालीन अतीत का स्मरण करती है। इसका भी मुख्य प्रबन्ध से कोई तार नहीं जुड़ता। ग्यारहवें और बारहवें सर्गों में 'साकेत' के राजपरिवार के दैनिक जीवन की एक झाँकी है, सहसा भरत के बाण से हनुमान के गिरने की घटना आ जाती है। पश्चात् राम के प्रत्यावर्तन और लक्ष्मण-उर्मिला मिलन के साथ काव्य की समाप्ति हो जाती है। इन चार सर्गों में व्यापार-विकास की न्यूनता के कारण प्रबन्ध की शिथिलता स्वीकार करनी पड़ती है। प्रथम आठ सर्गों में प्रबन्ध का स्वरूप अधिक व्यवस्थित अवश्य है, परन्तु वहाँ एक दूसरे प्रकार की त्रुटि आ गई है। उन आठ सर्गों में केवल कुछ दिनों की ही घटनाएँ संकलित हैं, जबकि चौदह वर्ष के लम्बे समय का सारा विवरण अंतिम चार सर्गों में ही समाहित है। कथावस्तु के संघटन की इस त्रुटि का कारण सम्भवतः यह है कि कवि ने 'साकेत' की वस्तु कल्पना अपने आरम्भिक साहित्यिक जीवन में की थी और एक बार कथानक का सांचा बन जाने के उपरान्त उसमें परिवर्तन करना कठिन हो गया। फिर भी यह त्रुटि 'साकेत' के अन्य गुणों के समक्ष अधिक प्रमुख नहीं हो पाई।

महाकाव्य की दूसरी मुख्य विशेषता, शैली के गाम्भीर्य, के संबंध में हम कह सकते हैं कि एक नितान्त नवीन काव्य-भाषा का निर्माण और प्रयोग करने वाले कवि से सर्वथा साधु, प्रौढ़ और प्रांजल पद-रचना की अपेक्षा करना ही अनुचित होगा। जब तक हमारी यह भाषा कम-से-कम एक शताब्दी तक जनसमूह के निरन्तर प्रयोग से प्रसारित और कवियों के सतत अभ्यास से परिष्कृत नहीं हो लेती, तबतक महाकाव्योचित निर्दोष पदावली का निर्माण नहीं हो सकता। तबतक हमारी काव्य-शैली में सम्यक् परिशुद्धि, विस्तार और गाम्भीर्य नहीं आ सकता। किन्तु इस अनिवार्य अभाव के लिए गुप्त जी पर कोई दायित्व नहीं रखा जा सकता। यह तो

भाषा की विकासगत और ऐतिहासिक कमी है, जिसकी पूर्ति समय पाकर ही होगी। इस संबंध में हिन्दी-संसार तो गुप्त जी के प्रति अपनी कृतज्ञता ही प्रकट कर सकता है कि उन्होंने साहित्यिक और काव्योचित भाषा के निर्माण का प्राथमिक कार्य किया और उसे प्रशंसनीय सीमा तक आगे बढ़ाया। इसमें सन्देह नहीं कि खड़ी बोली के काव्यात्मक विकास के विवरण में गुप्त जी का नाम सदैव आदरपूर्वक लिया जायगा।

महाकाव्य की तृतीय और कदाचित् सर्वप्रमुख विशेषता उसमें वर्णित विषय की व्यापकता और महत्त्व है। 'साकेत' की नवीन उद्भावना और युग सम्मत आधुनिकता का कुछ विवरण मैंने अभी-अभी दिया है। केवल उतने ही आधार पर मैं कह सकता हूं कि 'साकेत' में प्रचुर नवीनता और महत्त्व है। यों तो महाकाव्य की व्यापकता और महत्त्व के द्योतक कोई सुनिश्चित प्रतिमान नहीं हो सकते, और अन्ततः इस संबंध का निर्णय मतभेद से रहित नहीं हो सकता; किन्तु 'साकेत' काव्य का साहित्यिक जगत् में जो सम्मान है, हिन्दी के ऐतिहासिक विकास में उसकी जो देन है, युग-चेतना के जो नवोन्मेष उसमें अपनी सुन्दर आभा बिखेर रहे हैं, उन्हें देखते हुए 'साकेत' को महाकाव्य न कहना अन्याय होगा। 'साकेत' महाकाव्य ही नहीं, आधुनिक हिन्दी का युगप्रवर्त्तक महाकाव्य है। समस्त हिन्दी जगत् को इसका गर्व और गौरव है।

कामायनी

कामायनी काव्य आधुनिक युग की कृति है। इसके निर्माता 'प्रसाद' जी यद्यपि भारतीय अतीत और उसकी प्राचीन संस्कृति के प्रेमी थे, परन्तु कामायनी में उन्होंने नवीन वैज्ञानिक तथ्य का भी यथेष्ट उपयोग किया है। उनकी यही विशेषता उनके काव्य को आधुनिकता प्रदान करती है। प्रसाद जी ने कामायनी के नायक और नायिका मनु और कामायनी का स्वरूप वैज्ञानिक भूमि पर स्थिर किया है। पुरुष और नारी की विज्ञान-संमत प्रकृति और प्रवृत्ति का चित्रण मनु और कामायनी के रूप में करने की चेष्टा की है। पुरुष और नारी प्रकृत्या क्या हैं; सभ्यता, इतिहास और परम्परा के आवरणों को अलग कर देने पर मूलतः वे क्या रह जाते हैं; यही कामायनी और मनु के स्वरूपों में दिखाया गया है। इस मूल भावना के प्रदर्शन का महत्व यह है कि कवि विज्ञान-संमत चित्रण द्वारा जीवन के स्वरूप और उसकी प्रेरणा की परीक्षा करना और उसके तथ्यों पर प्रकाश डालना चाहता है। आज का मनुष्य और आज की नारी इतिहास की उपज है; उसमें कृत्रिम प्रवृत्तियों और संस्कारों का मेल हो गया है; इसलिए समस्त ऐतिहासिक और कालगत आवरण के परे जाकर मूल मानव प्रवृत्तियों के उद्घाटन में प्रसाद जी संलग्न हुए हैं। नवीन विज्ञान का कहना है कि मनुष्य की वास्तविक प्रकृति का परिचय और परिज्ञान तथा उक्त प्रकृति के आधार पर उसके जीवन-विधान का निरूपण मानव प्रगति के लिए आवश्यक है। प्रसाद जी कामायनी काव्य में इस तथ्य को मानकर मूल मानव प्रकृति के उद्घाटन में प्रवृत्त हुए हैं।

मनोवैज्ञानिक आधार

इस काव्य में जो सर्गों के शीर्षक दिए गए हैं, वे प्रायः मानसिक वृत्तियों के आधार पर हैं। वे यह सूचित करते हैं कि प्रसाद जी का लक्ष्य मानव मनोविज्ञान को प्रतिष्ठित करने का था। पहला सर्ग 'चिंता' का है। प्रलय के पश्चात् सृष्टि के नव-निर्माण की समस्या मनु के सामने आई। वह अतीत का लेखा लगाता और भावी की चिन्ता करता है। यह चिंता या आत्मचेतना मनुष्य की वह मूल वृत्ति है जो उसे शेष प्राणिजगत से भिन्न और श्रेष्ठ पद प्रदान

करती है। मनुष्य को छोड़कर अन्य प्राणियों में यह शक्ति नहीं होती। प्रसाद जी ने इसी प्रमुख विशेषता को लेकर 'चिंता' सर्ग का निर्माण किया है। चेतना या चिंता मनुष्य की मनुष्यता की सूचक प्रथम मौलिक वृत्ति है, इसीलिए वह कामायनी काव्य के प्रथम सर्ग में शीर्षक बनकर आई है।

आत्मचेतना या चिंता के पश्चात् मानव को जीवन क्षेत्र में आगे बढ़ानेवाली दूसरी वृत्ति आशा है, जो कामायनी के द्वितीय सर्ग में आई है। आशा विकासोन्मुख वृत्ति है, और वह सुखात्मक है। प्रमुख रूप से आशा ही मनुष्य को कार्यक्षेत्र में अग्रसर करती है। आशा या सुख की अभिलाषा न केवल मानवजीवन का प्रमुख लक्ष्य है, वह जीवन को प्रगति या प्रेरणा देनेवाला मुख्य उपादान भी है।

आशा मनुष्य को जीवन-विकास की प्रेरणा देती है, परंतु जीवन-विकास का वास्तविक आधार श्रद्धा है। आशा जीवन में प्रविष्ट कराती और कर्म की प्रेरणा देती है, परंतु जीवन का मूल तत्त्व श्रद्धा है। इसी आशय की अभिव्यक्ति के लिए कामायनी में तृतीय सर्ग 'श्रद्धा' का है। कवि की दृष्टि में श्रद्धा जीवन की इतनी प्रमुख वृत्ति है कि वह काव्य में नायिका के रूप में उपस्थित की गई है। प्रसाद जी ने यहां श्रद्धा का मनोवैज्ञानिक स्वरूप भी अंकित किया है और उसे नारी-प्रतीक के रूप में भी उपस्थित किया है। मनोविज्ञान का विवेचन करते समय हम श्रद्धा को मानसिक वृत्ति के रूप में ही लेंगे। श्रद्धा ही मनु (मानव) को सृष्टि के उद्देश्य का बोध कराती है—

और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान;
शक्तिशाली हो, विजयी बनो, विश्व में गूंज रहा जय-गान।

श्रद्धा मनु को प्रवृत्ति का संदेश देती है, शक्ति-संचय कर जीवन में सफलता प्राप्त करने को प्रेरित करती है। जीवन के कर्मक्षेत्र की सफलता ही मानवचेतना की सफलता है। मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य इसी चेतन तत्व का अधिकाधिक प्रसार और विस्तार करना है। मानव की समस्त प्रगति, विकास और विस्तार श्रद्धा द्वारा ही संभव है। श्रद्धा के स्वरूप को और भी स्पष्ट करने के लिए चतुर्थ 'काम' सर्ग की योजना की गई है। काम श्रद्धा का पिता है। प्रसाद जी ने काम को सृष्टि के विकास में अत्यंत उपयोगी मानकर प्रतिष्ठित किया है। काम की यह कल्पना वैदिक है। बौद्धों के दार्शनिक विवेचन में भी

काम या सौमनस्य की विशेषता दिखाई गई है। मन की स्वस्थ और विकासशील अवस्था का साधन 'काम' ही है। 'कामना' नाटक में भी प्रसाद जी ने इसका उल्लेख किया है। कामना ही उस नाटक की नायिका है। उसमें तथा 'कामायनी' की नायिका श्रद्धा में मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक स्वरूप का साम्य है। स्पष्ट है कि प्रसाद जी के मन में कामना का स्वरूप इस काव्य-रचना के पूर्व ही वर्तमान था। कामायनी में काम अपनी पुत्री श्रद्धा (कामायनी या कामना) को मनु को समर्पित कर संदेश देता है कि तुम मेरी इस पुत्री के सहयोग से ही जीवन के समस्त लाभ प्राप्त कर सकते हो। यहीं वह अपनी प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता का निर्देश करता है—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का, यह विश्व कर्म-रंगस्थल है
है परम्परा लग रही यहां, ठहरा जिसमें जितना बल है,

इसके आगे 'वासना' सर्ग से लेकर निर्वेद तक ५-६ सर्गों में मनु निरन्तर जीवन के वास्तविक उद्देश्य को खोकर विपथ में जाते दिखाई देते हैं। श्रद्धा सर्ग में मनु को श्रद्धा प्राप्त हुई, पर मनु वास्तव में श्रद्धा का यथार्थ स्वरूप पहचानने और उसका उचित मूल्यांकन करने में असमर्थ रहे। श्रद्धा के स्वरूप के अपरिचय से ही मनु को वासना के कर्दम में फँसना पड़ा। इस ओर मनु में वासना जगती है, स्वार्थ या भोग वृत्ति पैदा होती है, उस ओर नारी (श्रद्धा) में लज्जा का उदय होता है। लज्जा ही नारी को संयम त्याग और समर्पण की शिक्षा देती है। नारी अपना भविष्य समझने में असमर्थ है। वह संकल्प-विकल्प में पड़ी है। वह अपने अस्तित्व के वास्तविक उद्देश्य को समझना चाहती है, पर वह असमर्थ है। उसी समय लज्जा कहती है

'क्या कहती हो ठहरो नारी, संकल्प-अश्रुजल से अपने
तुम दान कर चुकीं पहले ही, जीवन के सोने से सपने
नारी! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग-पग-तल में
पीयूष स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुंदर समतल में

× × × ×

आंसू के भीगे अंचल पर, मन का सब कुछ रखना होगा
तुमको अपनी स्मित रेखा से, यह संधिपत्र लिखना होगा।

श्रद्धा नारी-रूप में देव और असुर भावों के चिरन्तन संघर्ष को शांत करने वाली सत्ता है। यह संघर्ष न केवल वाह्य जगत में होता है यह

अंतर्जगत में भी होता रहता है। इस चिरन्तन सांस्कृतिक द्वंद्व की शांति श्रद्धा-नारी द्वारा ही हो सकती है। यह प्रसाद जी की नारी के संबंध की दार्शनिक धारणा है।

वासना के उपरान्त मनु में कर्म की प्रवृत्ति बढ़ती है। यहां कर्म से प्रसाद जी का अभिप्राय याज्ञिक या हिंसात्मक कर्म से है। वासना के उदय के पश्चात् मानव की अतृप्ति उसे अबाध कर्म की ओर प्रेरित करती है। व्यक्ति सब छोड़ कर उसी में लग जाता है। कर्म के अबाध प्रवाह म डालने वाली प्रवृत्ति वासनाजन्य अतृप्ति ही है। किलात और आकुलि नामक असुर पुरोहित मनु को हिंसात्मक याज्ञिक कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अतृप्ति ही हिंसात्मक कार्यों में परिणत होती है। कर्म का ही अतिवादी रूप है सत्ता को अधिकृत करने की चेष्टा, आत्म विस्तार वा अपने को अधिकारी बनाने का उद्योग। ज्यों-ज्यों मनु में हिंसात्मक कार्यों की प्रवृत्ति बढ़ती है, वह अनेक मानसिक दुर्वृत्तियों से आक्रांत होते हैं। उनकी अंतिम दुर्वृत्ति ईर्ष्या है। ईर्ष्या असहनशीलता का परिणाम है। ईर्ष्या में दूसरे की सुख-सुविधा के प्रति अनुदार संकीर्णता और विरोध का भाव रहता है। मनुष्य अहं-केन्द्रीय हो जाता है। यह कर्म का संकीर्णतम स्वरूप है।

ईर्ष्या की उत्तेजना में मनु घर-बार पत्नी सब कुछ छोड़कर अज्ञात दिशा में निकल पड़ते हैं। यहां से मनु बुद्धिवादी बनकर सारस्वत प्रदेश में पहुँचते और इड़ा से मिलते हैं। हिंसाप्रिय और ईर्ष्यालु मनुष्य बुद्धिवादी बन ही जाता है। आज का वैज्ञानिक भी अपने को बुद्धिवादी कहता है। सारस्वत प्रदेश के नव-निर्माण का जो चित्रण प्रसाद ने किया है (कामायनी दशम सर्ग) वह आज के विज्ञानवादी संसार से मिलता जुलता है। प्रसाद की दृष्टि में यह बुद्धिवाद, विज्ञानवाद या भौतिकतावाद मनुष्य के स्वस्थ और स्वाभाविक विकास में बाधक है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से मनु की दुर्वृत्तियों की अंतिम परिणति बुद्धिवाद ही है। यह मनु को दुःखांत परिणाम के लिए तैयार कर देता है। केवल एक घटना निमित बनकर आती है; वह है इड़ा (बुद्धि या प्रकृति) के प्रति व्यभिचार भावना। आरंभ में मनु बुद्धि (इड़ा) को सम्राज्ञी मानकर आत्मविकास में प्रवृत्त हुए हैं। पर अंत में वे बुद्धि को अपनी अंकशायिनी बनाना चाहते हैं। इड़ा के राज्य में मनु मंत्री थे पर अब सम्राट् बनकर वे

बुद्धि को अपनी वशवर्तिनी बना रहे हैं। बुद्धिवाद अंत में इसी व्यभिचार में परिणत होता है। इसी व्यभिचार के विरुद्ध प्रकृति विद्रोह करती है और सृष्टि में पुनः संतुलन स्थापित होता है।

'कामायनी' में यहीं से मनु का प्रत्यावर्त्तन होता है। वे बुद्धि की इस विभीषिका से ऊबकर नए सिरे से श्रद्धा के पथ पर चलने का उपक्रम करते हैं। 'निर्वेद' सर्ग में उन्हें अपने कार्यों पर ग्लानि होती है। फिर उन्हें वास्तविक तत्व का 'दर्शन' होता है। यह दर्शन ही स्थायी अनुभूति बनकर रहस्य रूप में परिणत होता है। यहां रहस्य से अभिप्राय तत्व को जीवन में आत्मसात् कर लेने से है। यह अपरोक्षानुभूति या प्रत्यक्ष तत्वज्ञान ही आनंद का स्रष्टा है। मनु को संपूर्ण जीवन की सार्थकता की और अखंड आनंद की अनुभूति होती है। जीवन का चरम परिणाम और उच्चतम लक्ष्य यही है। भारतीय दर्शनों में जो आनंदवाद है, उसीका नया उद्घाटन प्रसाद ने 'कामायनी' के अंतिम 'आनंद' सर्ग में किया है।

'इस प्रकार हम देखते हैं 'कामायनी' मनु और श्रद्धा की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। यही नहीं, यदि हम और गहरे पैठें तो मानव प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमें मिलेगी। आध्यात्मिक और व्यावहारिक तथ्यों के बीच संतुलन स्थापित करने की सर्वप्रथम चेष्टा इस काव्य में की गई है। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए मानवीय वस्तुस्थिति से परिचय रखने वाली जिस मर्मभेदिनी प्रकृति की आवश्यकता है, वह प्रसाद जी को प्राप्त थी। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से शरीर, मन और आत्मा; कर्म, भावना और बुद्धि; क्षर, अक्षर और उत्तम तत्वों को सुसंगठित कर दिया है। यही नहीं, उन्होंने इन तीनों के भेद को मिटाकर इन्हें पर्यायवाची भी बना दिया है। जो मनु और कामायनी हैं, वही आधुनिक पुरुष और नारी भी हैं। यही नहीं, शाश्वत पुरुषत्व और नारीत्व भी वही हैं। एक की साधना सबकी साधना बन जाती है। मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहां एक साथ दिखाई देते हैं। मानस (मन) का ऐसा विश्लेषण और काव्यात्मक निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों के बाद हुआ है।'

'कामायनी' में चित्रित मनोविज्ञान सुगठित एवं प्रौढ़ है। कामायनी के सर्गों का नामकरण स्थान, घटना या पात्र के आधार पर करने की जगह

मानसिक वृत्तियों के आधार पर कर प्रसाद जी ने मानवजीवन की प्रवृत्तियों का क्रम दिखाने की सफल चेष्टा की है।

कामायनी का दार्शनिक निरूपण (समरसता सिद्धांत)

मानवजीवन आज अनेकानेक जटिलताओं और वैषम्यों से ग्रस्त है। उन जटिलताओं का दिग्दर्शन कराना और उनके निवारण का उपाय बताना आज के क्रान्तदर्शी कवि का ही कार्य है। प्रसाद जी ने अपने 'कामायनी' काव्य में इस क्रांतदर्शिता का परिचय दिया है। जीवन के विरोधों का उल्लेख करने में प्रसाद जी ने सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि से काम लिया है। उन विरोधों का परिहार भी वैज्ञानिक आधार पर किया गया है। इसके निमित्त उन्होंने प्राचीन भारतीय दर्शन का उपयोग किया है और विशेष कर उसके समन्वय-प्रधान स्वरूप का आधार लिया है। कामायनी काव्य में यह समन्वयात्मक दर्शन 'समरसता' के नाम से अभिहित है। समरसता का उल्लेख काव्य में कितने ही स्थानों पर किया गया है। जीवन का एक मुख्य वैषम्य सुख-दुख संबंधी है। प्रसाद जो ने सुख और दुःख की द्विविधा का निराकरण इन मार्मिक शब्दों में किया है—

जिसे तुम समझे हो अभिशाप, जगत की ज्वालाओं का मूल
ईश का वह रहस्य वरदान, कभी मत इसको जाओ भूल

.. ..

नित्य समरसता का अधिकार, उमड़ता कारण जलधि समान
व्यथा की नीली लहरों बीच, बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान

(कामायनी, पृष्ठ ५३-५४)

मानव संबंधों में आकांक्षा और तृप्ति का वैषम्य भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। आकांक्षाओं का अन्त नहीं है और तृप्ति अतिशय दुष्प्राप्य है। इस वैषम्य के निवारण के लिए भारतीय संन्यासियों ने इच्छा या आकांक्षा को पाप कहकर उसके दमन का आदेश किया है, परंतु प्रसाद जी ने आकांक्षा और तृप्ति के व्यावहारिक स्वरूप को स्वीकार कर उसके समन्वय की योजना की है :—

हम भूख प्यास से जाग उठे, आकांक्षा-तृप्ति-समन्वय में
रति काम बने उस रचना में, जो रही नित्य यौवनवय में

.. ..

मैं तृष्णा था विकसित करता, वह तृप्ति दिखाती थी उनको
आनन्द समन्वय होता था, हम ले चलते पथ पर उनको

इससे स्पष्ट है कि प्रसाद जी कामना और इच्छा के अबाध और अनियंत्रित रूप को स्वीकार न करते हुए भी उनकी नितांत वर्जना नहीं करते । सीमा में, संयम के साथ उनकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं। आनन्द के विकास के लिए तृष्णा और तृप्ति की समन्वित सत्ता के वे समर्थक हैं ।

अधूरी आत्मसत्ता के उपासक देवतागण और देह तथा प्राणशक्ति के उपासक असुरों के विरोधी जीवन-प्रवाह में भी वे समरसता की संभावना देखते हैं । इस ऐतिहासिक द्वंद्व की शांति के लिए वे 'श्रद्धा' का उपयोग करते हैं और यह सुझाते हैं कि इस सांस्कृतिक द्वंद्व का अपवारण 'श्रद्धा' नारी ही कर सकती है—

देवों की विजय दानवों की हारों का होता युद्ध रहा,
संघर्ष सदा उर अन्तर में जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा ।
आँसू से भीगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्मित रेखा से यह संधि-पत्र लिखना होगा ।

(कामायनी, पृष्ठ १०६)

अधिकारी और अधिकृत, शासक और शासित के बीच भी सदा से एक दुर्भेद्य खाई रही है जिससे संसार में महान उत्पीड़न होते आए हैं। इन दोनों में अनियंत्रित संबंध रहने के कारण ही इतिहास के पृष्ठ रक्त-रंजित हुए हैं । यद्यपि प्रसाद जी ने इस द्वैत के निर्मूलन के लिए अधिकारी या सत्ताधारी को ही समाप्त कर देने का संदेश नहीं दिया है, (एक दार्शनिक के नाते प्रसाद जी इस द्वैत का नितांत अभाव मानने में असमर्थ थे) परंतु इस ऐतिहासिक द्वंद्व का भी 'समरसता' द्वारा शांत करने का मार्ग-निर्देश किया है—

तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में, कुछ सत्ता है नारी की
समरसता है संबंध बनी, अधिकार और अधिकारी की ।

मनु द्वारा इड़ा के सहयोग से सारस्वत प्रदेश में अनेक मानव-वर्गों का उद्‌भव और परस्पर संघर्ष होता है जो बुद्धिवाद की एकांगिता का परिचायक है । आधुनिक सभ्यता इसी बुद्धिवादी आधार पर प्रतिष्ठित है। प्रसाद जी इस खतरे को पूरी तरह समझते थे । श्रद्धा-विरहित समाज-

योजना के दुष्परिणामों से वे अवगत थे। मनु का अपनी प्रजा से संघर्ष और सारस्वत प्रदेश का विद्रोह इसी एकांगी बुद्धिवाद का निदर्शक है। इस रोग का उपचार भी प्रसाद जी ने बताया है—

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय
इसका तू सब संताप निचय, हर ले, हो मानव भाग्य उदय
सब की समरसता कर प्रचार
मेरे सुत सुन मां की पुकार

(कामायनी, पृष्ठ २२४)

प्रसाद जी कर्ममार्ग के विरोधी नहीं थे। वे मननशील अभय कर्म का संदेश देते हैं। परंतु वह कर्म जो भेद-बुद्धि के आधार पर ठहरा है और श्रद्धारहित है, परिणाम में विनाशकारी है। इस प्रकार बुद्धि, श्रद्धा और कर्म का समन्वय कामायनी में प्रदर्शित किया गया है। अंततः जीवन के सबसे बड़े और दुर्भेद्य विरोध कर्म, इच्छा और ज्ञान के समन्वय का संकेत भी प्रसाद जी ने किया है। सत्व, तम और रज के त्रिगुणात्मक प्रवाह में कहीं किसी ओर से एकात्मता दृष्टिगोचर नहीं होती। अत्यंत ऊंची भूमि से ये तीन गोलक अलग-अलग दिखाई देते हैं। इनका विच्छेद चिरंतन और शाश्वत है। इच्छा या भावना रजोगुणी वृत्ति है, ज्ञान सात्विक व्यापार है, कर्म तामस का परिणाम है। सृष्टि के ये तीन प्रबलतम तथ्य परस्पर विच्छिन्न होकर एक दूसरे से टूटकर अनंत वैषम्य की सृष्टि करते हैं। इनकी पृथक्ता का अपवारण होने पर ही शाश्वत और नित्य आनंद का अभिषेक हो सकता है। प्रसाद जी ने श्रद्धा की मुसकान द्वारा इस महा-वैषम्य को तिरोहित कर अखंड मंगल और आंनद का विमोहक नृत्य दिखाते हुए काव्य की परिसमाप्ति की है—

संगीत मनोहर उठता, मुरली बजती जीवन की
संकेत कामना बनकर, बतलाती दिशा मिलन की।
प्रतिफलित हुईं सब आंखें उस प्रेम-ज्योति विमला से
सब पहचाने से लगते, अपनी ही एक कला से
समरस थे जड़ या चेतन, सुंदर साकार बना था
चेतनता एक विलसती, आनंद अखंड घना था।

इस प्रकार जीवन के वास्तविक विरोधों को श्रद्धा की मूलवर्तिनी सत्ता द्वारा अपहृत कर जीवन में समरसता और समन्वय स्थापित करने की

अपूर्व आशाप्रद कल्पना प्रसाद जी ने कामायनी काव्य में की है। यह कल्पना एक ओर जीवन के सूक्ष्मदर्शी विज्ञान का आधार रखती है और दूसरी ओर उच्चतम भारतीय दार्शनिकता का संबंध लेकर चलती है। मानव प्रकृति और जीवनगत द्वंद्वों का निरूपण विज्ञान पर आश्रित है, और श्रद्धा की कल्याण-मयी सत्ता दर्शन की देन है। इन दोनों के सम्मिलन और संयोग स्थल पर कामायनी का समरसता सिद्धांत प्रतिष्ठित है। इसे नवीन विज्ञान और चिरनवीन भारतीय दर्शन की संगमभूमि भी कहा जा सकता है।

अन्य दार्शनिक निर्देश

कामायनी काव्य के आरंभ में देवताओं के जीवनदर्शन की तुलना में मानवजीवन-दर्शन का निरूपण किया गया है। देवताओं की अमरता प्रसाद जी की दृष्टि में सापेक्ष और स्वल्पस्थायी अमरता थी। देवसृष्टि का भी विध्वंस प्रसाद जी ने प्रदर्शित किया है। ध्वंस का कारण यह था कि देवसंस्कृति का निर्माण एकांगी आधार पर हुआ था। केवल सुख की आकांक्षा को लेकर उसका विकास हुआ था। प्रकृति पर प्रभुत्व स्थापित कर वह अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहती थी। ये ही दो कारण प्रसाद जी के मत में देवसृष्टि के विनाश के थे:—

१—जीवन के केवल सुख-पक्ष की प्रवर्धना का प्रयत्न।

२—प्रकृति पर नियंत्रण और उसके समस्त सार को स्वार्थ के लिए प्रयोग करने की लालसा। ये दोनों प्रवृत्तियाँ देवताओं को कहाँ तक ले गईं यह कामायनी के प्रथम सर्ग में (११, १२, १३, १४ पृष्ठों पर) वर्णित है। प्रकृति ने इस अनाचार का बदला लिया। प्रसाद जी प्रकृति को एक सचेतन शक्ति मानते हैं। प्रकृति की वह अनिर्वचनीय शक्ति जो मनुष्य के बढ़ते हुए अहंकार का शमन करती है प्रसाद जी की दृष्टि में नियति है। इसकी कुछ चर्चा आगे की जायगी।

प्रसाद जी का विधायक मानवदर्शन दिखाई पड़ता है देवताओं और दानवों के द्वंद्व के प्रदर्शन में। दो संस्कृतियों में द्वंद्व दिखाकर दोनों की एकांगिता का चित्रण (इड़ा सर्ग में) किया गया है—

जीवन का लेकर नव विचार
जब चला द्वंद था असुरों में प्राणों की पूजा का प्रचार।

आत्मा की एकांगी उपासना देवों की विशेषता थी। वे अहं के उपासक थे। असुरवर्ग शरीर और प्राणों की पूजा करता था। मानसिक और शारीरिक

उत्कर्ष को सब कुछ मानता था। विश्वास और श्रद्धा की दोनों में कमी थी। श्रद्धा का अभाव ही दोनों के निरंतर संघर्ष का कारण बन गया था। श्रद्धा ही संतुलित मानवदर्शन की मूल आधार है, जो इन उभय-विध प्रवृत्तियों में एकात्मता स्थापित कर संघर्ष का परिहार करती है। श्रद्धा ही जीवन में अखंड आनंद की प्रतिष्ठा करने में समर्थ है।

प्रसाद का आनंदवाद सर्ववाद के सिद्धांत पर स्थित है, जो वैदिक अद्वैत सिद्धांत भी कहा जा सकता है। यह सर्ववाद शंकराचार्य द्वारा प्रवर्तित अद्वैत सिद्धांत से, जिसमें माया की सत्ता भी स्वीकार की गई है, भिन्न है। सर्ववाद प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को आत्मसात करता है, जबकि शंकर का मायावाद केवल निवृत्ति पर आश्रित है। भारतीय दर्शन की वह धारा जो वेदों में समस्त दृश्यजगत को ब्रह्म से अभिन्न मानकर चली है, क्रमशः शैवागम ग्रंथों में प्रतिष्ठित हुई। प्रसादजी ने शैवागम से ही इस सर्ववादमूलक आनंदवाद को ग्रहण किया। 'काम' सर्ग में काम के द्वारा जो मनु को स्वप्न में शिक्षा दी जाती है वह इसी दार्शनिकता का संकेत करती है –

यह नीड़ मनोहर कृतियों का, यह विश्व कर्म रंगस्थल है
है परंपरा लग रही यहाँ, ठहरा जिसमें जितना बल है।

सर्ववाद का लक्ष्य निवृति द्वारा उतना सिद्ध नहीं होता जितना विश्व को कर्मस्थल मानने से सिद्ध होता है। यह कोरा कर्म नहीं, समन्वयात्मक कर्म है।

पौराणिक धारणा के अनुसार काम का तत्व त्याज्य और वर्जित माना जाता है, पर प्रसादजी ने काम के स्वरूप को नितांत भिन्न रूप में माना है। पौराणिक आख्यान के अनुसार कामदेव शंकर के द्वारा भस्म किए गए थे। गीता में भी—

'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः'

कहकर उसकी भर्त्सना की गई है। पर प्रसादजी जिस सर्ववाद को लेकर चले हैं उसमें काम का तत्व जीवन को प्रगति देनेवाला माना गया है। काम की पुत्री कामायनी ही श्रद्धा है। स्पष्ट है कि पौराणिक दृष्टि से उनकी दृष्टि भिन्न है। पुराणों में निवृति मूलक दार्शनिकता जोर पकड़ रही थी, प्रसादजी उसके हामी नहीं थे।

नियतिवाद—

प्रथम सर्ग में ही प्रलय में सारी सृष्टि का ध्वंस नियति की प्रेरणा

से हुआ दिखाया गया है। नियति को प्रसादजी सचेतन प्रकृति का कार्यकलाप मानते हैं। सचेतन प्रकृति नियति के रूप में ही सक्रिय होती है। इस प्रकृति से मनुष्य और मानव को स्पर्धा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह एक वृहत्तर शक्ति है। मानव जब एकांगी आत्मविस्तार में लगता है, तब प्रकृति रोषाविष्ट हो उठती है और नियति के रूप में मानव की उक्त प्रवृति का शमन करती है। प्रसाद जी की दृष्टि म नियति प्रकृति का नियमन और विश्व का संतुलन करनेवाली शक्ति है जो मानव अतिवादों की रोक थाम करती है और विश्व का संतुलित विकास करने में सहायक होती है।

प्रसाद का यह नियति-सिद्धांत साधारण भाग्यवाद या प्रारब्धवाद से भिन्न है। नियति एक अज्ञेय शक्ति है किंतु वह जड़ और अज्ञानमूलक नहीं है। उसका प्रवाह मानवता के और सृष्टि के कल्याण के लिए है। मनुष्य को उससे विद्वेष न कर उसपर विश्वास रखते हुए अपना जीवनक्रम निर्धारित करना चाहिए। वह जीवन के प्रति आस्था और अविरोध उत्पन्न करती तथा मानव के अतिचारों को रोककर विश्व की अबाध प्रगति का मार्ग प्रशस्त करती है। इसे भाग्यवाद नहीं कहा जा सकता।

प्रारब्धवाद या पूर्वजन्मों के कर्मफल सिद्धांत से भी यह भिन्न है। यह मनुष्य को सामाजिक कर्तव्य की पूरी छूट देती है, और कहीं भी लौकिक न्याय की प्राप्ति में बाधक नहीं बनती। किसी भी सीमा-रेखा पर जाकर पूर्वजन्म और उसके कर्मों की दुहाई देना और मनुष्य को सामाजिक न्याय के मार्ग में पूरी दूरी तक जाने देने से रोकना 'प्रसाद' की नियति का कार्य नहीं है। उनकी नियति-कल्पना बहुत कुछ वैयक्तिक है, वह किसी क्रमागत सिद्धांत की प्रतिरूपमात्र नहीं है।

रहस्यवाद :—

यों तो उनका समस्त काव्य ही छायावादी या रहस्यवादी आधार लिए हुए है, वास्तविक और व्यक्त जीवन-घटना के स्थान पर भावनाओं और मनोवृतियों का छायात्मक निरूपण ही उनके काव्य की मुख्य विशेषता है, परंतु कतिपय स्थल स्पष्टत: रहस्य की आभा से परिपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए कामायनी का रूप-वर्णन 'और देखा वह सुन्दर दृश्य, नयन का इन्द्रजाल अभिराम' अथवा सौन्दर्य-तत्व का यह प्रसिद्ध निरूपण 'ओ नील आवरण जगती के, दुर्बोध न तू ही है इतना, अवगुंठन होता आँखों का, आलोक रूप

बनता जितना।' इसी प्रकार 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' सर्ग भी स्पष्टतः प्रसाद जी के रहस्यवादी जीवन-दर्शन के निरूपक हैं।

वस्तु-विन्यास और चरित्रचित्रण :—

'कामायनी' का कथानक या वस्तु-विन्यास सरल किन्तु मार्मिक है। मनु की 'चिन्ता' का प्रथम सर्ग जलप्रलय की घटना का उल्लेख कर काव्य के महत् आशय की सूचना देता है। इसे काव्य-प्रासाद की नींव कह सकते हैं जो पर्याप्त गहरी और मजबूत है। 'आशा' का द्वितीय सर्ग पृष्ठभूमि का काम करता है। हिमालय की उपत्यका में नवीन अरुणोदय दिखा कर कवि अपने काव्य के मर्म अथवा उसकी मूल कल्पना का आभास देता है। व्यापार या घटना-क्रम का आरंभ तृतीय सर्ग से होता है जब परम रमणीय श्रद्धा को देख कर मनु नवीन उल्लास के साथ जीवन-प्रांगण में प्रवेश करते हैं। घटनावली इस सुखात्मक दृश्य से आरंभ होकर सौन्दर्य और उल्लास के नवीन जीवन-अध्यायों को पार करती हुई आगे बढ़ती है। काम, वासना और लज्जा के सर्ग सुख और शृंगार से सज्जित हैं। नायिका के मन में प्रथम आशंका का उदय लज्जा सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियों में होता है:—

नारी जीवन का चित्र यही क्या
विकल रंग भर देती हो ?
अस्फुट रेखा की सीमा में
आकार कला को देती हो।
मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूं।
भुज-लता फँसा कर नर-तरु से
झूले सी झोंके खाती हूं।

यहीं से कथानक में खिचाव आरंभ होता है। अशान्त जीवन-तरंगें उठने लगती हैं। कर्म, ईर्ष्या और इड़ा सर्गों में क्रमशः बढ़ता हुआ उद्वेलन अपनी सीमा पर पहुँच जाता है। इड़ा सर्ग में आकर कथानक एक अद्भुत वैषम्य की परिस्थिति उत्पन्न कर देता है। थोड़ी देर के लिए इड़ा का उज्वल प्रकाश सूर्यास्त के पूर्व की मनोरम आभा से परिपूर्ण-सा दिखाई देता है। परन्तु थोड़ी ही देर में अंधेरा आ जाता है। इड़ा सर्ग चरमसीमा की संधि का द्योतक है। इसके पश्चात् काव्य निगति (Denouement)

की ओर उतरने लगता है। स्वप्न, संघर्ष और निर्वेद के सर्ग इसी उतार के परिचायक हैं। यहीं हम अंतिम घटना की प्रतीक्षा में आतुर रहते हैं। निश्चय ही किसी दुःखान्त जीवन-दृश्य की संभावना प्रबल हो उठती है और वास्तव में वह घटित भी होती है। परंतु सहसा रंगमंच पर 'कामायनी' अपने पुत्रशिशु सहित उपस्थित हो जाती है; और नायक मनु की मुमूर्षु और मरणासन्न धमनियों में नई और आशाप्रद उत्तेजना उत्पन्न होने लगती है। कामायनी काव्य यद्यपि दुःखान्त सृष्टि के अनुकूल वस्तुविन्यास धारण किए है (और इस दृष्टि से 'कामायनी' की वस्तु में पश्चिमी दुःखान्त रचनाओं की अनुरूपता पाई जाती है), परन्तु कवि की भारतीयता यहां अपना अनोखा चमत्कार दिखाती है। स्वर्गस्था शकुन्तला और उसके पुत्र भरत की भांति कामायनी और उसका पुत्र मानव नए और अप्रत्याशित जीवन-दृश्य की झांकी दिखाते हैं। दुष्यंत की भांति मनु को भी स्वर्गीय शान्ति और समाधान प्राप्त होता है।

इस प्रकार कामायनी का वस्तुनिर्माण पश्चिमी ट्रेजेडी और पूर्वी आनन्द-कल्पना के योग से समन्वित होने के कारण समीक्षकों के सामने थोड़ी-सी कठिनाई भी उपस्थित करता है। एक ही काव्य में सुखान्त और दुःखान्त कृति के अनुरूप वस्तुविन्यास हो कैसे सकता है? या तो वह सुखान्त कृति के ही अनुरूप होगा या दुःखान्त कृति के ही। अन्यथा कथानक में एकात्मता न आएगी। जैसा ऊपर निर्देश किया गया, कामायनी का कथानक दुःखान्त कृति के उपादानों से बना है। समस्त संधियों का विनियोग दुःखान्त रचना के ही अनुकूल हुआ है। ऐसी अवस्था में घटना-चक्र को सहसा दूसरी दिशा में मोड़ कर बिलकुल भिन्न परिणाम पर पहुँचाने के औचित्य पर शंका और विरोध के लिए पूरा स्थान है। परंतु यहां फिर 'शाकुन्तल' का आदर्श हमारी रक्षा के लिए उपस्थित होता है। 'शाकुन्तल' की ही भांति 'कामायनी' भी किशोर वय की अनुरंजनकारिणी उषाकिरणों से आरंभ होकर प्रौढ़तर यौवन के दिवातप की उल्लासपूर्ण अनुभूति का सर्वांग दर्शन कराती है और शाकुन्तल की ही भांति विच्छेदमूलक नियति की क्रूर संधि से संयुक्त होकर समस्त दृश्य को एक अद्भुत रौद्र से परिप्लावित कर देती है और अंत में शाकुन्तल की ही भांति कामायनी का कथानक भी आतपतापित दर्शकों को स्वर्गीय विराम की अभिनव माया में लपेट लेता है और काव्य-संधियों की चिन्ता न कर

एक संध्योत्तर सुखद चांदनी की स्वर्गीय आभा में लीन कर देता है। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से कामायनी को दुःखान्त रचना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं। उपसंहार के आनन्दात्मक दृश्यों को हम संधियों के परे काव्य की दार्शनिक और आलंकारिक (Ornamental) पूर्ति मानकर भी संतोष कर सकते हैं।

कामायनी की चरित्र-सृष्टि के संबंध में यह आरंभ में ही जान लेना चाहिए कि कामायनी चरित्र-प्रधान रचना नहीं है। एक तो उसमें पात्रों की संख्या ही बहुत कम है, जो चरित्र हैं भी उनमें स्वभावगत विशेषताओं का अधिक निरूपण नहीं हुआ है। वास्तव में कामायनी के चरित्र जीवन की दार्शनिक इकाइयों के प्रतिनिधि हैं। उनमें गतिशीलता और बाह्य स्थितियों से प्रभावित होने की विशेषता नहीं देखी जाती। वास्तव में वे प्रतीक चरित्र हैं, परंतु काव्य में वे निर्जीव चरित्र के रूप में नहीं आए हैं। उनमें पर्याप्त व्यक्तित्व है। यह भी स्पष्ट है कि कामायनी के चरित्रों के निर्माण में किसी रूढ़ि या परंपरागत व्यवस्था का हाथ नहीं है। मनु महाकाव्य के क्रमागत नायक की भांति वीरचरित्र नहीं है। उसे हम वर्तमान संघर्षात्मक युग का प्रतिनिधि कह सकते हैं जो जीवन के वैषम्यों से खिंचकर अनेक दिशाओं में दौड़ता है, किन्तु कहीं भी शान्ति नहीं पाता। मनु के जीवन में संकल्प-विकल्प की प्रधानता है, सुख और दुःख का संमिश्रण है। वह जीवन के किसी निर्णीत आधार को लेकर नहीं चला। अंत में प्रसाद जी उसे श्रद्धा के अंचल में शान्ति देते हैं।

'कामायनी' या श्रद्धा का चरित्र अपनी आदर्शात्मक विशेषता के कारण काव्य का सर्व-प्रमुख चरित्र है। कामायनी नायिका-प्रधान काव्य कहा जा सकता है। किन्तु कामायनी के जीवनादर्श में कहीं भी रूढ़ि या कृत्रिम गौरव का आभास नहीं है। वह आरंभ में एक चंचल बालिका के रूप में उपस्थित होती है :—

भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान
इधर रह गंधर्वों के देश,
पिता की हूँ प्यारी संतान।

घूमने का मेरा अभ्यास
बढ़ा था मुक्त व्योमतल नित्य
कुहल खोज रहा था व्यस्त
हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य।

इस चरित्र में किसी प्रकार की अनाकांक्षित गरिमा नहीं है। परंतु जीवन के कठोर अनुभव उसे सहनशील और गंभीर बना देते हैं। नारी की स्वाभाविक और मूलवर्ती चेतनाएं उसमें प्रचुरमात्रा में हैं। तभी वह मनु के अनिर्दिष्ट जीवन को दिशाज्ञान देने में समर्थ होती है—

समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पदतल में विगत विकार;
दया माया ममता लो आज
मधुरिमा लो अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।

'कामायनी' का रहस्यमय सौन्दर्य उसके व्यक्तित्व को अमित आभा प्रदान करता है, परंतु उसमें सौन्दर्याभिमान की वृत्ति का नितान्त अभाव है। अपनी सरलता में ही वह अनोखा आकर्षण रखती है। मनु की उद्दाम वासना को संयमित करने का पूरा प्रयत्न करती है, परंतु इस कार्य में उसे सफलता नहीं मिलती। कामायनी के नारीसुलभ गुणों में आत्म-विश्वास, पति के व्यक्तित्व को उचित दिशा में प्रभावित और परिचालित करते हुए भी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को उसमें लीन कर देने की आकांक्षा, निष्ठा, धैर्य और वात्सल्य आदि गुणों का विशेष रूप से प्रकाशन हुआ है। काव्य के अंतिम चरण में वह आदर्श भारतीय रमणी ही नहीं, विश्वकल्याण-मयी नारी का स्वरूप ग्रहण करती है, जिसके कारण काव्य के इस भाग में कामायनी के चरित्र में एक अलौकिक आभा और रहस्यात्मक गरिमा का संचार हो गया है।

इड़ा की चारित्रिक विशेषताओं का विकास काव्य में अधिक नहीं दिखाया गया। एक प्रतीक-पात्र की भूमिका में रहने के कारण उसके मानवीय गुणों और व्यक्तित्व का उन्मेष पूरी तरह नहीं हो सका है। फिर

भी उसके चरित्र के कुछ पहलू प्रकाश में आए हैं। आरंभ में वह विपन्न और व्यथित मनु को सान्त्वना देती और नवीन जीवन-उपक्रम में उसका हाथ बटाती है । जब मनु अपनी अतिवादी प्रवृत्तियों के कारण इड़ा के प्रति अपनी उच्छृंखलता का परिचय देते हैं, तब वह संपूर्ण शक्ति से उनका विरोध करती है ; परंतु मनु के इसी अपराध के कारण जब प्रजा उन्हें आहत और घायल कर देती है, तब मनु की सेवा-सुश्रूषा का भी कार्य इड़ा ही करती है। कामायनी के मनु के समीप उपस्थित होने के अवसर पर इड़ा की सहानुभूति और संवेदना दर्शनीय हुई है—

पहुँची पास और फिर पूछा
तुमको बिसराया किसने,
इस रजनी में कहाँ भटकती
जाओगी तुम बोलो तो!
बैठो आज अधिक चंचल हूँ
व्यथा गांठ निज खोलो तो।

इड़ा यह समझती है कि उसने श्रद्धा (कामायनी) के प्रति अन्याय किया है (यद्यपि वास्तव में उसका कोई प्रत्यक्ष हाथ उस अन्याय में नहीं था) और उसे जीवन भर इसकी ग्लानि रहती है। श्रद्धा ने अपने पुत्र मानव को उसे समर्पित कर उसके ग्लानि-परिहार का अपनी ओर से पूरा उद्योग किया था, किन्तु 'कामायनी' के अंतिम सर्ग में इड़ा की वही वैराग्य मूर्ति सामने आती है जिसे देख कर प्रत्येक पाठक यही कहेगा कि इड़ा में भी प्रसाद जी नारीसुलभ गुणों का पूरा संनिवेश कर सके हैं। इड़ा की वह अंतिम झांकी कवि ने इन पंक्तियों में दी है :—

चल रही इड़ा भी वृष के
दूसरे पार्श्व में नीरव।
गैरिक वसना संध्या सी
जिसके चुप थे सब कलरव।

चौथा और शेष चरित्र श्रद्धा और मनु का पुत्र मानव है जिसकी चंचल और भावुक वृत्ति का परिचय कवि ने कुछ ही सधी रेखाओं में दे दिया है। इस पात्र की चरित्र-चर्चा की पंक्तियां मुझे सदैव प्रसाद जी के पुत्र रत्नशंकर का स्मरण करा देती हैं जिसके चंचल किन्तु शालीन स्वभाव के प्रति प्रसाद जी के भावुक वात्सल्य का मुझे व्यक्तिगत परिचय है।

'मा' फिर एक किलक दूरागत गूंज उठी कुंटिया सूनी।
मा उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कंठा दूनी।

कामायनी का काव्यत्व—कबीर के पद आत्मा और परमात्मा के संबंध विज्ञापन करने के लिए नारी और पुरुष के प्रतीकों की योजना करते हैं। उनमें स्वाभाविक रसात्मकता नहीं, कवि को वहां एक दार्शनिक तथ्य का निरूपण करना है; उसमें काव्य की वह स्वाभाविकता नहीं आ सकती जो भाव सृष्टि के लिए आवश्यक है। काव्य का प्रयोजन भावानुभूति से प्रेरित होकर रस का उद्रेक करना है। तथ्य निरूपण तो बौद्धिक प्रक्रिया है। वह काव्य से दूर का संबंध रखती है। जायसी के काव्य में रूपक और प्रकृत काव्य दोना पक्ष मिले हुए हैं। जायसी में रूपक और वास्तविक भावयोजना समान वैशिष्ट्य रखते हैं। शुक्ल जी ने इसे समासोक्ति पद्धति कहा है। कबीर की पद्धति अन्योक्ति की है। यहां प्राकृत भाव-भूमि पर काव्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई। जायसी में चरित्र और कथानक का स्वतंत्र अस्तित्व है, साथ हो अप्रस्तुत का भी निर्देश है। अप्रस्तुत रूप में पद्मावती को बुद्धि और रतनसेन को जीव माना गया है। ऐसे काव्यों में चरित्र और कथानक का स्वरूप तथ्यात्मक (बौद्धिक) और भावात्मक दोनों रहता है। अन्योक्ति में तो हम विना दार्शनिक आशय (प्रस्तुत) का शोध किए काव्य के साथ आगे बढ़ ही नहीं सकते, पर समासोक्ति में रूपक या अप्रस्तुत की स्थिति इतनी प्रमुख नहीं होती। ऐसे काव्य में दार्शनिकता रहती है, पर काव्य का प्रकृत स्वरूप भी रहता है। दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र ओर निरपेक्ष रहते हैं। अन्योक्ति में वस्तुवर्णन और भावनिरूपण दोनों ही कृत्रिम और आलंकारिक होते हैं, वास्तविक नहीं। कवि अपनी कल्पना के सामर्थ्य से ऐसे उपमानों को प्रस्तुत करता है जो उसके बौद्धिक उपदेश को भावात्मक पद्धति से चित्रित करने में सहायक होते हैं। यह अन्योक्ति या प्रतीक-पद्धति काव्य में कल्पना-चित्रों की बहुलता और भावानुरूपता पर आश्रित रहती है।

तीसरी पद्धति प्रकृत काव्य-पद्धति है जिसमें समस्त वस्तुनिरूपण और भाव-वर्णन स्वाभाविक रूप में रहा करता है और अपना साध्य आप ही होता है। प्रसाद जी की 'कामायनी' काव्य की रचना प्राकृतिक भाव-भूमि पर ही की गई है, यद्यपि उसमें एक दार्शनिक तथ्य निर्देश भी हुआ है। प्रसाद ने मानव-वृत्तियों का निरूपण करने वाले अपने काव्य में एक

दार्शनिकता का आभास अवश्य दिया है, पर वह दार्शनिकता काव्य का अंग बनकर आई है और उसकी प्रकृत भावनाभूमि पर ही अधिष्ठित है। वह काव्य के वस्तु-वर्णन और उसके भावात्मक स्वरूप को किसी प्रकार ठेस नहीं पहुंचाती। इस प्रकार हम देखते हैं कि कामायनी काव्य अन्योक्ति तो है ही नहीं, उसे समासोक्ति भी नहीं कहा जा सकता। उसमें एक दार्शनिक अंतर्धारा मिलती है, परन्तु वह काव्य की स्वाभाविक भाव व्यंजना से अभिन्न और तद्रूप होकर आई है।

वस्तुवर्णन और भावनिरूपण—पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पना को सर्वतः स्वतंत्र वस्तु माना है। कल्पना ही काव्य का निर्माण करती है। भारतीय आचार्यों ने कल्पना के दो रूप माने हैं—१. काव्य कल्पना, २. काव्यबाह्य कल्पना। भारतीय दृष्टि से कल्पना वह साधन है जो मूलवर्ती भाव की सत्ता को हृदयग्राही बनाता है। भाव के विना कल्पना का अस्तित्व संभव नहीं। भाव-विरहित कल्पना कवि कल्पना नहीं है। मानसिक विश्लेषण और बौद्धिक चेष्टाएं निरर्थक हैं यदि वे मुख्य भाव या अनुभूति का पोषण नहीं करतीं। कवि कल्पना को प्रमुखता देकर और उसे एक मात्र काव्य-साधन मानकर यदि पश्चिमी आचार्यों ने काव्य में कल्पना की अवास्तविक और अबाध उड़ानों के लिए जगह छोड़ दी है, तो दूसरी ओर भारतीय भावसत्ता के आग्रह में भी जीवन और जगत की वास्तविक गतिविधि और यथार्थ मानव व्यवहार की उपेक्षा की भी पूरी संभावना रह गई है। वास्तव में पद्धतिबद्ध भावनिरूपण का ही रूढ़ रूप हम रीति-कालीन शृंगारिक कविता में पाते हैं। तात्पर्य यह है कि भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही काव्य-धारणाएं पूर्णतः अव्याहत नहीं हैं। इस दृष्टि से कदाचित् कोई भी काव्य-सिद्धांत अपने में अकाट्य नहीं होता।

अस्तु, भारतीय धारणा के अनुसार भाव-निरूपण के लिए ही वस्तु वर्णन किया जाता है। वस्तु के स्वतंत्र चित्रण के लिए काव्य में अधिक अवकाश नहीं रहता, क्योंकि रस निष्पत्ति काव्य का प्रमुख लक्ष्य होती है। भारतीय आचार्यों ने काव्य का विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष अवश्य माना है, पर विभाव और भाव दोनों ही काव्य में रस का संचार करने के लिए होते हैं। विभाव के अन्तर्गत मानव जगत (आलम्बन रूप में) और प्रकृति की सत्ता (उद्दीपन रूप में) आ जाती है, और उन दोनों के अतिरिक्त कोई वर्णनीय वस्तु हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार

अनुभावों और संचारियों के अंतर्गत मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मक और मानसिक सत्ता का समावेश हो जाता है। इस प्रकार सैद्धांतिक दृष्टि से रस के अंगों का निरूपण अपने में पूर्ण और अकाट्य है तथा उसमें किसी प्रकार की अव्याप्ति या अतिव्याप्ति नहीं पाई जाती।

यहां प्रश्न यह है कि काव्य के विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष में पारस्परिक संबंध क्या है? जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विभाव के अन्तर्गत समस्त वस्तुवर्णन और चरित्र-निरूपण आ जाता है तथा भाव-पक्ष के अन्तर्गत भावों (संचारी भाव, अनुभाव आदि) का निर्देश होता है। स्पष्ट है कि भारतीय धारणा के अनुसार वस्तुवर्णन और चरित्रनिरूपण भी भावानुयायी ही होते हैं, स्वतंत्र नहीं। काव्य की भावसत्ता ही उसकी आत्मा होती है। नवीन पाश्चात्य विचार के अनुसार भी काव्य एक अखंड व्यापार है। उसमें साध्य और साधन, विषय और विषयी वस्तु-चित्रण और भाव-निरूपण पृथक्-पृथक् नहीं होते। एक ही कल्पना-व्यापार समस्त काव्य में व्याप्त होता है। वही किसी कृति को काव्यत्व देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य की अखंड सत्ता दोनों प्रणालियों में (भारतीय और पाश्चात्य) स्वीकृत है। अन्तर इतना ही है कि भारतीय प्रणाली भावात्मकता या अनुभूति का आग्रह करती है और पाश्चात्य प्रणाली कल्पना या सौन्दर्य की आश्रित है। एक यदि काव्य के निर्माण पक्ष को ध्यान में रखकर चलती है तो दूसरी उसके प्रभाव पक्ष को ग्रहण कर चली है। इस आरंभिक चर्चा के पश्चात् हम कामायनी के वस्तु-वर्णन पर आते हैं।

चिंता वस्तु का वर्णन कामायनी के आरंभ में आया है। चिंता नाम की मानसिक वृत्ति को साकार रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी के साथ देवताओं के विलास का वर्णन भी किया गया है। देवताओं का पतन उनके विलास के कारण ही हुआ। यहीं प्रलय का वर्णन किया गया है। पहले अध्याय में यही तीन वर्णन मुख्य हैं। दूसरे सर्ग में उषा का वर्णन, हिमालय प्रदेश का वर्णन और मनु के सामने उपस्थित हुए नए जीवन के विकास का वर्णन है। फिर श्रद्धा सर्ग में कामायनी का सौंदर्य-वर्णन रहस्य की आभा लिए हुए है। उसमें स्थूल अंग-वर्णन और मानसिक प्रभाव की सृष्टि मुख्य रूप से की गई है। इसके आगे वासना का वर्णन कवि ने विस्तार के साथ किया

है। संपूर्ण सर्ग में वासना की रूपरेखा सूक्ष्म ढंग से अंकित की गई है। यह वासना वर्णन वस्तून्मुखी और मनोवैज्ञानिक है। वासना के अनेक अनुभावों मानसिक और शारीरिक प्रभावों का उल्लेख किया गया है। इसके अंतर्गत सूक्ष्म और मनोमय वस्तु को साकार स्वरूप में उपस्थित करने का नया प्रयास प्रसाद जी ने किया है। यहीं सौंदर्य-तत्व और रूप का वर्णन भी किया गया है (पृष्ठ १००-१०२)।

इड़ा सर्ग में बहुत ही सुंदर दार्शनिक वर्णन है। यहाँ मनु की जीवन स्थिति को प्रसाद जी ने वस्तु रूप में चित्रित किया है। प्रसाद जी ने कामायनी के वियोग का भी अत्यंत भावपूर्ण वर्णन किया है। प्रसाद जी ने संघर्ष या युद्ध का भी वर्णन किया है जो विशेष सफल नहीं कहा जा सकता। प्रसाद जी स्थूल वस्तुओं और जीवन दृश्यों का समारोहपूर्ण वर्णन करने में उतने सफल नहीं हुए जितने सूक्ष्म मानसिक तथ्यों को साकार रूप देने में। अंतिम निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनंद सर्ग दार्शनिक है। काव्यात्मक दृष्टि से कामायनी का जीवनगीत अत्यंत सुन्दर है—

'तुमुल कोलाहल कलह में, हृदय की बात रे मन!

दर्शन सर्ग में प्रकृति का चित्रण किया गया है। अंतिम दो सर्गों में भावना, कर्म और ज्ञान के तीनों लोकों का सुन्दर वर्णन है। आनंद सर्ग के आरंभ में प्रकृति के अलौकिक आनंदमय दार्शनिक नृत्य का वर्णन भी सुन्दर है।

इन प्रसंगों में किए गए वस्तु वर्णन और भावनिरूपण के अन्योन्याश्रित संबंध को समझने के लिए हमें भारतीय ध्वनि सिद्धांत पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। काव्य में आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी की सत्ता होते हुए भी रस की निष्पत्ति तभी होगी जब इन चारों के संयोग से पुष्ट होकर स्थायी भाव रस रूप में अभिव्यक्त हो सकेगा। जिन स्थलों पर विभावादि से रस की व्यंजना बिना किसी व्यवधान के होती है वे रस ध्वनि के स्थल कहलाते हैं और उनमें श्रेष्ठ काव्यत्व माना जाता है। उदाहरण के लिए आदि कवि वाल्मीकि का सुप्रसिद्ध प्रथम श्लोक——

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्।

'रे निषाद, तू चिर दिन तक प्रतिष्ठारहित और अभिशप्त रहेगा, क्योंकि तूने मिथुन करते हुए क्रौंच पक्षियों के जोड़े में से एक को अभी अभी मारा है।' ऊपर के शब्दों से कवि की शोक की भावना सीधे

करुण रस के रूप में व्यक्त हो गई है। ऋषि के शब्द हैं और उनसे प्रतीयमान रस है, बीच में कोई तीसरी वस्तु नहीं है। कामायनी में भी रस के अनेकानेक प्रसंग मिलते हैं। आरंभ में ही भयानक रस का एक उदाहरण यह है--

लहरें व्योम चूमती उठतीं, चपलाएं असंख्य नचतीं
गरल जलद की कड़ी झड़ी में, बूंदें निज संसृति रचतीं

यह असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य का उदाहरण है जिसे रस ध्वनि भी कहते हैं। यहां विभावादि से सीधे रस की व्यंजना होती है।

परंतु काव्य में ध्वनि के ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें शब्दार्थ द्वारा किसी अलंकार या वस्तु की व्यंजना होती है, सीधे रस की नहीं। ये ही उदाहरण वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि के होते हैं। यहां विभावादि के द्वारा कोई वस्तु, गुण, चरित्र या अन्य तथ्य व्यंजित होता है। वास्तव में काव्यगत समस्त वस्तु वर्णन इसी वस्तुध्वनि के अंतर्गत आता है। अलंकार ध्वनि भी वास्तव में वस्तु-ध्वनि ही है। अंतर इतना ही है कि अलंकार ध्वनि में ध्वनित होनेवाली वस्तु अलंकार का रूप धारण किए रहती है। वस्तु और अलंकार-ध्वनि में जो वस्तु वर्णन होता है, उसकी पहली आवश्यकता यह है कि वह काव्यात्मक हो। उससे सीधे न सही, किसी न किसी क्रम से रस की व्यंजना होनी ही चाहिए। इस प्रकार वस्तु और अलंकार ध्वनि मध्यवर्ती काव्य वस्तु है। उसका काव्यत्व अक्षुण्ण है। उसमें रस की सत्ता निश्चित रूप से है, भले ही वह कुछ दूरान्वयी हो। रसरहित वस्तु ध्वनि और रसरहित अलंकार ध्वनि की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि काव्य की आत्मा रस है और वस्तुध्वनि तथा अलंकार ध्वनि का काव्य भी उत्तम काव्य कहा गया है।

इसीसे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि काव्य में आया हुआ समस्त वस्तुवणन (वह प्रकृति-चित्रण के रूप में हो या चरित-चित्रण के रूप में, या अन्य किसी रूप में) वास्तव में विभावादि से ध्वनित होनेवाले रस के अंतर्गत ही हैं, उससे बाहर या असंपृक्त नहीं। दूसरे शब्दों में काव्य में वस्तुनिरूपण काव्य की भावात्मकता का विरोधी बनकर किसी प्रकार नहीं रह सकता।

कामायनी से वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि का एक एक उदाहरण देना यहां अप्रासंगिक न होगा।

अलंकार ध्वनि—

हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल लेखा !
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ जल-माया की चल रेखा ! (चिंता वर्णन)

यहां चिंता के वस्तु-वर्णन में अलंकार ही नियोजित हैं ।

वस्तु ध्वनि—

देवों की विजय, दानवों की हारों का होता युद्ध रहा
संघर्ष सदा उर अंतर में, जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।
आंसू से भीगे अंचल पर, मन का सब कुछ रखना होगा
तुमको अपनी स्मित रेखा से, यह संधिपत्र लिखना होगा।

यहाँ नारी के स्वरूप और उसके कर्तव्यरूप वस्तु का वर्णन किया गया है।

केवल उन स्थलों में जहां शब्दार्थ में व्यंजना या ध्वनि का चमत्कार-पूर्ण सामर्थ्य नहीं है, किसी रचना में हीनकाव्यत्व माना जायगा। हीनकाव्यत्व के भी दो भेद हैं—गुणीभूत व्यंग्य और चित्रकाव्य । गुणीभूत व्यंग्य में शब्दार्थ द्वारा विभावादि की व्यंजना तो होती है, परंतु वह इतने सशक्त रूप में नहीं होती कि काव्य को रसभूमि तक पहुंचा सके। वाच्यार्थ या इतिवृत्त ही प्रधान बना रहता है । स्पष्ट है कि,ऐसे काव्य में कल्पना-व्यापार त्रुटिपूर्ण रहता है । परंतु जहां कल्पना-व्यापार का नितांत अभाव हो और केवल शब्दचित्र या अर्थचित्र ही प्रस्तुत किया जा सका हो, वह निकृष्ट काव्य का उदाहरण है । अस्तु, ऊपर की चर्चा से यह स्पष्ट होने में सहायता मिली कि काव्यगत वस्तुवर्णन काव्य की मूलवर्ती भावसत्ता से एकदम विच्छिन्न या टूटे हुए नहीं हो सकते। अब हम यहां देखना चाहेंगे कि कामायनी में वस्तुचित्रण और भावात्मकता का समन्वय किस रूप में हुआ है ।

प्रथम सर्ग में मनु की चिंता को व्यक्त किया गया है । इसमें शोक स्थायी भाव और करुण रस की अभिव्यक्ति हुई है। करुण रस के उपक्रम में चिंता का चित्रण स्वाभाविक है, पर विलास को भी करुण रस के अंतर्गत कहना एक असाधारण सी बात है। करुण रस के अंतर्गत स्मृति संचारी रूप में अतीत विलास का चित्रण किया गया है । विलासमय जीवन ही देवसृष्टि के प्रलय का कारण बना है । विलासी जीवन के प्रति वितृष्णा, ग्लानि और निर्वेद की भावना व्यक्त हुई है। प्रसाद जी रूप और विलास का चित्रण यहां ग्लानि से प्रेरित होकर करते हैं। अतएव उनका विलास का चित्रण

शृंगारी और उत्तेजक नहीं है। विलास-वस्तु दो रूपों में चित्रित हुई है।

१—विलास के स्वरूप का वस्तून्मुखी वर्णन (वस्तु-चित्रण)।

२—विलास के प्रति मनु की मानसिक प्रतिक्रिया का वर्णन (भाव-निरूपण)। मनु यहां आश्रय के रूप में चिंता का अनुभव करते हैं। यह अनुभावमूलक वर्णन है। इसका संबंध आश्रय से है। मनु अपनी मानसिक स्थिति को व्यक्त कर रहे हैं; किन्तु साथ ही चिन्ता का स्वरूप वस्तुरूप में भी चित्रित किया गया है। इस प्रकार एक ही स्थान पर भावमूलक और वस्तु-मूलक वर्णन एकत्र हो गए हैं। चिंता का स्वरूप-वर्णन वस्तुवर्णन है, तो मनु पर उसका प्रभाववर्णन भाववर्णन है। चिंता नामक मनोभावना विभाव या वस्तुरूप में भी और अनुभावरूप में भी चित्रित है। कुछ पंक्तियां चिंता वस्तु का स्वरूप निर्देश करती हैं और कुछ मनु पर उसके प्रभाव का निरूपण करती हैं। चिंता सर्ग के प्रलयवर्णन में करुण रस के अंगभूत भयानक रस की योजना की गई है। शोक स्थायी भाव के सहायक रूप में प्रलय का भयप्रद वर्णन किया गया है। यह आवश्यक नहीं कि किसी लक्षण ग्रंथ में इन दोनों रसों के मिश्रण का उल्लेख हो ही। रसों का यह संगम और भावों का इस प्रकार टकराना हमारे साहित्य की परंपरागति पद्धति के अंतर्गत आ जाय, यह अनिवार्य नहीं। प्रसाद जी वास्तविक अनुभूतिशील कवि थे, वे रीतिवादी रचनाकार नहीं थे।

कामायनी काव्य में आलंबन का चित्रण कम है, क्योंकि पात्रों की संख्या बहुत थोड़ी है। परंतु वस्तुचित्रण पर्याप्त हुआ है, और विशेषकर सूक्ष्म मानसिक वस्तुओं को साकार रूप देने में कवि-कल्पना अधिक सफल हुई है। साथ ही पात्रों के मानसिक उद्‌गार, अनुभावों और संचारियों के रूप में विशद रूप में चित्रित हुए हैं।

हम कह चुके हैं कि प्रथम सर्ग में प्रलय, विलास, चिन्ता आदि वस्तुओं का चित्रण मनु की मानसिक प्रतिक्रिया के रूप में अनुभावों और संचारियों का चित्रण है, परंतु साथ ही चिंता, विलास आदि वस्तुओं को साकार रूप में व्यक्त करने का उद्योग वस्तुचित्रण भी कहा जायगा। प्रसाद जी ने मनोभावनाओं को साकार रूप देकर चित्रित करने की जो चेष्टा की है, वह आलंबन विभाव के अंतर्गत आएगी। आलंबन का स्वरूप रखने में—सूक्ष्म मानसिक तथ्यों को साकार रूप देने में—प्रसाद जी ने कल्पना का

सहारा लेकर शक्तिशाली अप्रस्तुत योजना की है। उनका वस्तु-निरूपण इसी अप्रस्तुत-योजना या रूपविधान (या अलंकार) से सज्जित है।

पुराने समय में वस्तुयोजना के अंतर्गत विवाह, अभिषेक, यज्ञ आदि और नदी, पहाड़, प्रातः, संध्या आदि विभिन्न मानव प्रसंगों और पदार्थों का वर्णन आता था। प्राचीन लक्षण ग्रंथों ने इस बात का उल्लेख किया है कि इन प्रसंगों का वर्णन महाकाव्य में अपेक्षित है। ये प्रसंग मुख्यरूप से वर्णनीय होते थे। कवि इनका वर्णन बड़े विस्तार से करते थे। ये जीवन की मुख्य ओर प्रभावशालिनी वस्तुएं होती थीं, जिनका वर्णन आवश्यक समझा जाता था। साथ ही महाकाव्य की एक पद्धति भी बन गई थी जिनमें उनका रहना आवश्यक समझा गया था। कामायनी में स्थूल वस्तुव्यापार कम हैं। इनके बदले मानसिक वस्तुओं का वर्णन करने की कवि की प्रवृत्ति अधिक प्रमुख है। प्रस्तुत वस्तु--(चिंता, श्रद्धा, वासना आदि) सूक्ष्म और मानसिक हैं। वे अपने में अव्यक्त भी हैं। उन मानसिक पदार्थों को वस्तु रूप में व्यक्त करने की चेष्टा अपेक्षाकृत अधिक कठिन है। वह समृद्ध कल्पना से ही साध्य है। प्राचीन काव्य में जो एक प्रकार के स्थूल वर्णन रहते थे, उनके स्थान पर प्रसाद जी ने सूक्ष्म वस्तुओं को साकार रूप देने का आयोजन किया है। उन्हें अनुभाव रूप में अंशतः भावात्मक (Subjective) दृष्टि से ला रक्खा है, और अन्यत्र उन्हीं को विभाव या वस्तु रूप (Objective) भी दिया है।

महाकाव्यत्व--जीवन के अनेक स्वरूपों और उनकी अनेक स्थितियों को महाकाव्य में स्थान मिलता है। चरित्रों के विभिन्न आदर्श उसमें रहा करते हैं। महाकाव्य में स्वभावतः वस्तुचित्रण की प्रमुखता होती है। कामायनी में वस्तुचित्रण मानसिक वृत्तियों की अभिव्यंजना के रूप में अधिक है। वस्तु-जगत के अनेकमुखी दृश्यों और परिस्थितियों का इसमें विशद उल्लेख नहीं है। मन के नाना उपकरणों, मानसिक स्थितियों और मनोभावों आदि का प्रत्यक्षीकरण अधिक है। प्रकृति के सौंदर्य का वर्णन भी वस्तुरूप में मिलता है। वस्तुओं का समारोहपूर्ण विशद वर्णन होने पर काव्य में एक औदात्य आ जाता है, किंतु सूक्ष्म मानसिक वृत्तियों और वस्तुओं का स्वरूप-आलेख भी कल्पना की उच्चतर शक्ति से ही संभव है। कामायनी में व्यक्त वस्तुओं का वैविध्य और उससे उत्पन्न औदात्य नहीं है, इसलिए कुछ लोग कामायनी को महाकाव्य नहीं मानते।

कामायनी में रामायण जैसा परंपरागत देव-दानव संघर्ष भी नहीं दिखाया गया। इससे वीररस संभूत जो गरिमा रामायण में है, कामायनी में नहीं। कामायनी में युद्ध और संघर्ष का वर्णन ही कदाचित् सबसे अधिक प्रभावहीन है। प्रजा के साथ मनु का युद्ध वास्तविक युद्ध की अपेक्षा छायात्मक और प्रतीकात्मक है, परंतु इस बाह्य संघर्ष के स्थान पर मन के अंतरंग संघर्ष का—बुद्धि और श्रद्धा के बीच मन की भटकी हुई स्थिति का—मार्मिक और गंभीर चित्रण कामायनी में अवश्य है। यह मनोवैज्ञानिक संघर्ष काव्योचित महत्व लिए हुए है। और भी कितने ही द्वंद्व और समस्याएं काव्य में आई हैं।

सारस्वत प्रदेश में बुद्धिवादी भौतिक विकास को जो आज की ही सामाजिक प्रगति का संकेतक है, प्रसाद जी ने पर्याप्त समारोह के साथ दिखाया है। प्रकृति और मनुष्य के बीच प्रकृति पर शासन करने की आज की बद्धमूल धारणा के औचित्य पर एक बड़ा प्रश्नचिह्न लगाने में प्रसाद जी समर्थ हुए हैं। वर्तमान और स्थायी मानवसंघर्ष या विरोधों के बीच सामंजस्य या समरसता लाने के प्रसाद जी के क्रांतिदर्शी प्रयास की चर्चा निबंध के आरंभ में की जा चुकी है। प्रसाद जी की मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि और उनके द्वारा ग्रहण किए गए वर्तमान विज्ञान के प्रभावों का भी उल्लेख किया जा चुका है।

प्रसाद जी भारतीय आध्यात्मिक दर्शन के अध्येता और अनुयायी हैं। वे सुख और दुःख को तात्विक वस्तु मानने के विरोधी हैं। सुख और दुःख की भावनाओं के ऊपर प्रतिष्ठा पाने वाले आनंद तत्त्व का प्रसाद जी ने आदर्श निरूपण किया है। उन्होंने समस्त द्वैतों का परिहार इसी आनंद के अंतर्गत किया है। त्रिपुर-दाह के रूप में त्रिगुणात्मिका सृष्टि के द्वंद्व का परिहार और उसका सामंजस्य दिखाया है। वर्तमान जीवन की सभी मुख्य और मूलभूत समस्याओं को प्रसाद ने 'कामायनी' काव्य में ग्रहण किया है। नारी के आदर्श-संस्थापन द्वारा प्रसाद जी ने नवयुग की प्रतिनिधि प्रेरणा को सुंदर रूप में अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कामायनी की मूल कल्पना उदात्त है और उक्त उदात्त कल्पना का व्यक्तीकरण भी सफलतापूर्वक किया गया है। प्रसाद के काव्यगुणों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। प्रसाद की काव्यशैली में नवीनता और उनके भाषा प्रयोगों में पर्याप्त व्यंजकता और काव्यानुरूपता है। प्रथम बार काव्योपयुक्त पदावली का प्रयोग कामायनी में किया गया है। इस प्रकार प्रसाद जी की वस्तु-

कल्पना के महत्व को स्वीकार कर उक्त कल्पना को पूर्ण काव्यात्मक आच्छद में व्यक्त करने के उच्च काव्यकौशल को भी स्वीकार करना पड़ता। तभी परंपरागत महाकाव्य के लक्षणों की पूर्ति न करने पर भी कामायनी को नए युग का प्रतिनिधि महाकव्य कहने में हमे कोई हिचक नहीं होती।

कुरुक्षेत्र

'कुरुक्षेत्र' श्री दिनकर की नवीन काव्यकृति है। 'साकेत' और 'कामायनी' के पश्चात् यह हिन्दी की एक प्रतिनिधि रचना कही जा सकती है। इसमें उक्त दोनो ग्रंथों का सा विषय-विस्तार और दार्शनिक व्यापकता भले ही न हो, पर आधुनिक युग की एक समस्या-विशेष, युद्ध के प्रश्न पर, मार्मिक भाव और विचार व्यक्त किए गए हैं। 'कुरुक्षेत्र' में महाभारत के युधिष्ठिर-भीम-संवाद की भूमिका लेकर युद्ध की वस्तुस्थिति का उल्लेख किया गया है। 'महाभारत' का आधार लेते हुए भी रचना एक हद तक स्वतंत्र है। विशेषकर युवकों को सामाजिक अन्याय के विरुद्ध अस्त्र उठा कर खड़े होने और अनीति का अंत कर समता और समानता के आधार पर नवीन समाज निर्माण का संदेश देने में दिनकर जी ने नई परिस्थिति से ही प्रेरणा ग्रहण की है। अन्याय का अंत युद्ध से, यही 'कुरुक्षेत्र' काव्य का मुख्य संदेश है। आज के सर्वसंहारक युद्ध में न्याय और अन्याय दोनों ही एक साथ स्वाहा हो सकते हैं और सारा संसार एक अखंड श्मशान में परिणत हो सकता है— इस पहलू पर लेखक की दृष्टि नहीं गई है। युद्ध में विजय ही न्याय और अन्याय की निर्णेता है, दूसरी कोई मापरेखा इस विषय के निर्णय की नहीं रहती, यह समस्या भी विचारणीय है। आज की स्थिति में शक्तिशाली ही युद्ध का सहारा लेता है और अधिक शक्तिशाली बनने की आकांक्षा रखता है, यह भी एक अनुभवसिद्ध तथ्य है। युद्ध से युद्ध का अंत कभी न होगा, युद्ध से न्याय की प्रतिष्ठा कभी न होगी, अयोग्य साधनों से योग्य साध्य का मिलना असंभव है, यह गांधी जी की सुप्रसिद्ध नीति भी 'कुरुक्षेत्र' में विचारार्थ नहीं आई है। कुरुक्षेत्र के कवि का मुख्य वक्तव्य यह है कि युद्ध अर्थात् हिंसात्मक युद्ध तब तक अनिवार्य है जब तक संसार में सद्भावना, शान्ति और समता की प्रतिष्ठा नहीं होती। अनिवार्य तो है ही, युद्ध आवश्यक भी है और बिना युद्ध के मनुष्य के गौरव और आत्मसंमान की सत्ता व्यक्त नहीं होती। दिनकर जी कहते हैं कि जब तक संसार में शान्ति और सद्भाव नहीं हैं तब तक युद्ध होंगे ही, होने ही चाहिए; पर दूसरी ओर प्रश्न यह भी है कि जब तक युद्ध होते रहेंगे तब तक सद्भावना और शान्ति का विकास होगा

पर प्रश्न यह है कि लड़ते रहने से शान्ति कैसे आएगी और समता कैसे होगी। कहीं तो हमें रुकना होगा और युद्ध तथा शान्ति के द्वंद्व का निपटारा करना होगा। कहीं और कभी तो यह कहना होगा कि अब युद्ध न होगा, अब शान्ति ही रहेगी। उस भावना का भी कुछ मूल्य है जो किसी भी स्थिति में युद्ध का सहारा लेने से इनकार करती है। युद्ध संबंधी और भी कई दृष्टिकोण हैं जो युद्ध की आधुनिक समस्या पर प्रकाश डालते हैं, पर दिनकर जी उन अनेक विचारों के ऊहापोह में नहीं पड़े हैं। उन्होंने अपना ही एक मंतव्य उपस्थित किया है—महाभारत का सहारा लेकर। उनके मंतव्य से हम यहां परिचित होना चाहते हैं।

'कुरुक्षेत्र' में युद्ध की समस्या

'कुरुक्षेत्र' के आरंभ में यह प्रश्न उठाया गया है कि युद्ध का उत्तरदायित्व किस पर है? पूरे समाज पर या समाज के संचालक, उसके हिताहित के निर्णायक, किसी व्यक्ति पर? प्राय: कहा जाता है कि राष्ट्रीय संमान की रक्षा के लिए, राष्ट्र की लाज बचाने के लिए युद्ध आवश्यक हो गया है। लेखक पूछता है कि 'देश की लज्जा' कोई वास्तविक तत्त्व है या वह राष्ट्र-नेताओं की विद्वेषपूर्ण मनःज्वाला को युद्ध द्वारा शान्त करने का एक उपक्रम मात्र है। युद्ध क्या स्वाभाविक वस्तु है, क्या मनुष्य साधारणत: युद्ध में पड़ने की इच्छा रखता है? लेखक का उत्तर यह है कि साधारणतः मनुष्य युद्ध नहीं करना चाहता। विवश होकर अंतिम स्थिति में ही उसे युद्ध करना पड़ता है। और युद्ध का परिणाम क्या होता है? विकास, सुव्यवस्था या शान्ति? नहीं, युद्ध का परिणाम होता है विनाश, अव्यवस्था, ग्लानि और पश्चात्ताप। युद्ध के समाप्त होने पर विजेता को चतुर्दिक व्यंग्यपूर्ण वातावरण ही का सामना करना पड़ता है। सारा देश विशृंखल और कुरूप हो गया रहता है। युद्ध में जो हार गए हैं या मर गए हैं, वे ही सुखी हैं; क्योंकि उन्हें कुछ करना नहीं रहता। वे स्वर्ग में सुख भोगते हैं। परंतु विजेता को युद्ध की भीषण स्मृतियाँ सताया करती हैं और भविष्य की चिन्ता व्याप्त रहती है। युद्ध में विजयी होकर उसके हाथ कुछ नहीं लगता।

ऐसी ही सशंक और आकुल मनःस्थिति लिए हुए महाभारत युद्ध के पश्चात् सम्राट् युधिष्ठिर महामना भीष्म के पास जाते हैं और अपनी

समस्या उनके संमुख रखते हैं। उनका मुख्य प्रश्न युद्ध के औचित्य के संबंध में है। वे समझ नहीं पाते कि युद्ध नैतिक है या अनैतिक, पुण्यमय है या पापपूर्ण।

जानता हूँ लड़ना पड़ा था हो विवश, किन्तु
लोहू सनी जीत मुझे दीखती अशुद्ध है।
ध्वंसजन्य सुख या कि साश्रु दुख शान्तिजन्य,
ज्ञात नहीं, कौन बात नीति के विरुद्ध है ?
जानता नहीं मैं कुरुक्षेत्र में खिला है पुण्य
या महान् पाप यहां फूटा बन युद्ध है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भीष्म जी युद्ध के स्वरूप का—उसकी सत्ता का परिचय देते हैं। भीष्म युद्ध की तुलना तूफान से करते है, जो प्रकृति के रुग्ण और क्षीणकाय अंगों को—द्रुमों और शाखाओं को—तोड़ कर फेंक देता है। बलिष्ठ और सशक्त शिराओं वाले वृक्ष इससे भयभीत नहीं होते, न उनकी कोई क्षति ही होती है। तूफ़ान के बाद वन की विध्वस्त स्थिति को देख कर शोक और संताप करने की आवश्यकता नहीं। यह न समझना चाहिए कि उस तूफ़ान का उत्तरदायित्व किसी एक वस्तु या व्यक्ति पर है। वह तो प्रकृति के आवेगमय प्राणों का विस्फोट है। इसी प्रकार मानव-समाज में संचित होती रहने वाली विकारमयी वृत्तियां युद्ध के रूप में फूट पडती हैं। युद्ध को कोई रोक नहीं सकता, उसका दायित्व किसी पर नहीं।

हम देखते हैं कि भीष्म की युद्ध-संबंधी यह धारणा बहुत कुछ नियतिवादी और अज्ञेय है। हम इतना ही जान पाते हैं कि युद्ध प्राकृतिक विकारों का विस्फोट है। वे विकार कैसे उत्पन्न होते हैं, उनका स्वरूप क्या है अथवा उनके प्रतिरोध का क्या उपाय है इसका कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता। इसके साथ ही भीष्म कहते हैं कि युद्ध एक संक्रामक रोग है। एक चिनगारी सहसा कितना बड़ा विध्वंस उत्पन्न कर देगी, कहा नहीं जा सकता। युद्ध की ललकार सुन कर प्रतिशोध का भाव गरज उठता है, रक्त खौलने लगता है और तलवार स्वयं हाथ में आ जाती है। स्पष्ट है कि कवि ने युद्ध को एक प्राकृतिक पदार्थ माना है। वह नियत है और अज्ञात समय में विना कार्य-कारण का हवाला दिए फूट पड़ता है। वह रहस्यमय और जड़ है। उसके संबंध में यह प्रश्न उठता ही नहीं कि वह पुण्य है या पाप। वह पुण्य और पाप से परे है।

इस प्रकार लेखक ने युद्ध संबंधी वस्तून्मुखी और बौद्धिक विचारणा का स्पर्श न कर उसको मानव-बुद्धि से परे की वस्तु ठहराया है। परंतु लेखक यहीं जाकर ठहर नहीं गया है, उसने युद्ध में संमिलित होने वाले व्यक्ति या समाज के नैतिक-अनैतिक पहलू की भी एक दूसरे ढंग से मीमांसा की है। युद्ध तो नैतिक-अनैतिक स्तर से ऊपर है, यदि वह कुछ है तो अनिवार्य होने के कारण शुद्ध नैतिक ही है। युद्ध में संमिलित होने वाले पक्षों की भावना ही उनके कार्य को उचित या अनुचित बनाती है :—

है बहुत देखा-सुना मैंने मगर
भेद खुल पाया न धर्माधर्म का।
आज तक ऐसा कि रेखा खींच कर
बांट दूं मैं पुण्य को औ पाप को।
जानता हूँ किन्तु जीने के लिए
चाहिए अंगार जैसी वीरता।
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

हम देखते हैं कि कवि की दृष्टि में युद्ध तो पाप-पुण्य से परे चिरशुद्ध है ही, युद्ध में संमिलित होने वाले व्यक्ति, समूह या राष्ट्र की नैतिकता या औचित्य की परीक्षा भी केवल एक कसौटी पर की जा सकती है—यह कि उसकी प्रतिशोध-भावना कितनी ज्वलंत है। ज्वलंत प्रतिशोध कभी पापपूर्ण नहीं हो सकता। यह लेखक का दूसरा निष्कर्ष है। कदाचित् यह पहले निष्कर्ष की ही भांति—युद्ध को प्राकृतिक और अनिवार्य मानने वाले लक्ष्य के ही अनुरूप-अबुद्धि संमत और हेतु-रहित है।

सोचने की बात है कि कवि इन दो निष्कर्षों के द्वारा हमें, हमारे आधुनिक समाज को, युद्ध की कितनी अनिर्दिष्ट कल्पना पर ले जाता है। युद्ध अनिवार्य है, वह होगा ही; वह संक्रामक है, फैलेगा ही; उसमें आहुति देने के लिए विशुद्ध प्रतिशोध भावना के अतिरिक्त और कुछ भी आवश्यक नहीं। ज्वलन्त प्रतिशोध के रहते युद्ध में कुछ भी अनैतिक नहीं। इन दो निष्कर्षों के साथ कवि एक तीसरे निष्कर्ष को भी उपस्थित करता है। वह तीसरा निर्णय यह है कि तप, करुणा, क्षमा और विनय-त्याग आदि व्यक्तिगत धर्म हैं। वे सामूहिक या सामाजिक धर्म नहीं हैं। समाज में उनका प्रयोग सार्वजनिक रूप में नहीं किया जा सकता—

कौन केवल आत्मबल से जूझ कर,
जीत सकता देह का संग्राम है?
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।

इस प्रकार मानव के व्यक्तिगत और समुदायगत धर्मों को एक दूसरे से नितान्त भिन्न बताकर लेखक ने युद्ध को चिरस्थायी मानने और बनाने की ही प्रेरणा दी है, उसे रोकने का कोई उपक्रम नहीं किया। लेखक का संकेत तो यही है कि जब तक मानव समुदाय-रूप में है, तब तक युद्ध रहेगा ही, क्योंकि त्याग, क्षमा, दया आदि वैयक्तिक वृत्तियां हैं, उनसे समाज से कोई मतलब नहीं। परन्तु प्रश्न यह है कि समाज व्यक्तियों से ही तो बनता है; अतएव व्यक्ति और समाज के धर्म नितान्त भिन्न कैसे हो सकते हैं?

युद्ध के लिए ये तीन भूमियां तैयार करने के पश्चात् कवि सहसा सामाजिक न्याय और अन्याय की समस्या को उठाता है और सत्ताधारियों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करने की उत्तेजना देता है—

न्यायोचित अधिकार मांगने
से न मिलें तो लड़ के
तेजस्वी छीनते समर को
जीत या कि खुद मर के।
किसने कहा पाप है समुचित
स्वत्व प्राप्ति-हित लड़ना?
उठा न्याय का खड्ग समर में
अभय मारना मरना?

यहां कवि ने सामाजिक समता के लिए संघर्ष को न्यायोचित बताया है; परन्तु यहां भी कवि की मुख्य प्रेरणा सामाजिक न्याय या समता स्थापित करने की उतनी नहीं है जितनी हिंसात्मक साधनों का अवलंबन लेकर युद्ध का डंका बजाने की है :—

सच पूछो तो शर में ही
बसती है दीप्ति विनय की।
संधि-वचन संपूज्य उसीका
जिसमें शक्ति विजय की।

युद्ध के लिए युद्ध की वरेण्यता बताना और शक्ति का निरपेक्ष गान करना आज की स्थिति में मानवतावादी या समाजवादी सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता, यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

युद्ध की अनिवार्यता के लिए एक तर्क और दिया गया है। संसार में हिंसा की प्रधानता है। धर्मनिष्ठ थोड़े और अधार्मिक अधिक हैं। जब तक असत् पक्ष की यह प्रधानता रहेगी, तब तक युद्ध होते ही रहेंगे। बात ठीक है, पर प्रश्न यह है कि संसार में हिंसा, अधर्म और असात्त्विकता की प्रधानता को कम करने के लिए भी तो कुछ उपाय होने चाहिए। क्या युद्ध के द्वारा हिंसा और असत् प्रवृत्तियों में कमी आ सकती है?

इसके आगे कवि दिनकर लोभ और स्वार्थ-साधन के लिए किए गए युद्ध से धर्मयुद्ध का अन्तर बताते हैं। उनके अनुसार युद्ध अनेक उद्देश्यों को लेकर होता है। इन सब युद्धों में प्रतिशोध-भावना से प्रबुद्ध होकर जागी हुई जाति का संघर्ष सब से श्रेष्ठ है और वास्तव में वही धर्मयुद्ध है। इसीके साथ दिनकर यह भी कहते हैं कि युद्ध को बुलाने का दायित्व अनाचारियों पर है, शोषणकर्ताओं पर है, प्रतिशोध के आकांक्षी दलितों पर नहीं। यहाँ यह आभासित होता है कि कवि के मतानुसार प्रतिशोध की भावना दलितों और उत्पीड़ितों में ही जागती है और वह भी वीर भावना से ओतप्रोत दलितों में।

यहीं पर कवि ने शूरधर्म की व्याख्या की है, जिसे उसने सर्वश्रेष्ठ धर्म माना है :—

शूरधर्म है अभय दहकते
अंगारों पर चलना।
शूरधर्म है शाणित असि पर
धर कर पांव मचलना।
सब से बड़ा धर्म है नर का
सदा प्रज्वलित रहना।
दाहक शक्ति समेट स्पर्श भी
नहीं किसी का सहना।

इस प्रकार श्री दिनकर ने धर्मयुद्ध को दलितों के उत्थान के साथ और साथ ही 'असहनशील शूरधर्म' के साथ मिला कर आज के शोषित

समाज और नवयुक-वर्ग को क्रांत का एक नया और उत्तेजनापूर्ण संदेश दिया है।

इसी चतुर्थ सर्ग में भीष्म अपने मन की द्विधात्मकता को—अंतर में चलने वाले बुद्धि और भावना के संघर्ष को—व्यक्त करते हैं। द्विधात्मकता के ही कारण वे न तो पांडवों के पक्ष में होकर लड़ सके और न दुर्योधन की ही पूरी सहायता कर सके। उनकी बुद्धि उन्हें दुर्योधन के पक्ष में खींचती थी, क्योंकि उन्होंने दुर्योधन का अन्न खाया था, और उनकी भावना उनसे पांडवों के विजय की कामना करती थी, क्योंकि उनका संबंध सत् पक्ष से था। इसी खींच-तान में उनका शौर्य प्रस्फुटित न हो पाया और वे जीवन में असफल रहे। भीष्म बतलाते हैं कि बुद्धि और भावना की इस लड़ाई में उन्हें भावना का साथ देना था और विना हिचक पांडवों का पक्ष लेकर लड़ना था। यदि उन्होंने ऐसा किया होता, तो संभव है कुरुक्षेत्र के युद्ध की नौबत ही न आती (क्योंकि दुर्योधन विना भीष्म की सहायता के युद्ध करने को प्रस्तुत न होता) या युद्ध में इतना अधिक जन-संहार न होता (दुर्योधन शीघ्र ही हार जाता)।

धर्मराज! अपने कोमल
भावों की कर अवहेला
लगता है, मैंने ही जग को
रण की ओर ढकेला।
न था मुझे विश्वास कर्म से
स्नेह श्रेष्ठ सुन्दर है।
कोमलता की लौ व्रत के
आलोकों से बढ़कर है।

हृदय और बुद्धि के इस चिरंतन संघर्ष में हृदय युवकों की विरासत है। प्रौढ़ वय हार्दिक उन्मेष का विरोधी होता है। अतएव सच्चे वीर-मार्ग का अवलंबन नवयुवक ही कर सकते हैं। इस प्रकार बुद्धि-विहीन भावना के आवेश में आकर युद्ध में प्रवृत्त होने की यह एक और शिक्षा है।

इसी सर्ग में युद्ध संबंधी उस मनोविज्ञान का भी उल्लेख है जो महाभारत के मूल में था। भीष्म के कथनानुसार युधिष्ठिर द्वारा किया गया राजसूय यज्ञ ही युद्ध का मूल कारण था। राजपुरुषों की अहम्मन्यता युधिष्ठिर के बढ़ते हुए प्रभाव को सहन नहीं कर सकी। यह अहंकार

मानवता की सब से बड़ी बाधा है। महर्षि व्यास ने इस मानव दुर्बलता को पहचान कर युधिष्ठिर को यज्ञ के समय ही सचेत किया था और संयम से काम लेने की सलाह दी थी। इसके साथ ही भीष्म ने द्रौपदी के स्वयंवर में अर्जुन के विजयी होने की घटना का भी स्मरण कराया है और द्रौपदी के वस्त्रहरण के प्रसंग का भी उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि एक-एक कर क्रमशः युद्ध के संयोग जुटते गए और अंत में भीषण विस्फोट होकर ही रहा।

पंचम सर्ग में युधिष्ठिर के पश्चात्ताप और उनकी विरक्ति का वर्णन है। वे आत्मचिन्ता में डूब गए हैं। युद्ध का क्या परिणाम निकला? युद्ध की अपरूप भीषणता का स्मरण कर वे हतचेत हो जाते हैं। वे विजय-श्री का स्वागत करने के बदले शासन और साम्राज्य से मुँह फेर लेते हैं और युद्ध के महासंहार के लिए अपने को धिक्कारते हैं। युधिष्ठिर की यह स्थिति आज के युद्ध-त्रस्त मानव की स्थिति का ही प्रतिरूप है :—

धरती वह जिसपर कराहता है घायल संसार
वह आकाश भरा है जिसमें करुणा का चीत्कार;
महादेश वह जहां सिद्धि की शेष बची है धूल
जलकर जिसके क्षार हो गए हैं समृद्धि के फूल।

युधिष्ठिर आत्मशोध करते हैं और युद्ध में संमिलित होने के पूर्व की अपनी मनोवृत्ति की परीक्षा लेते हैं। वे अपने को दोषी पाते हैं। उनके वैराग्य में छल, सहिष्णुता में प्रतिशोध की छिपी अग्नि, करुणा में प्रतिकार की लिप्सा, व्याप्त थी। उन्हें प्रतीत हुआ कि वे सुखान्वेषी ईर्ष्यालु और साधुता का आडंबर करने वाले व्यक्ति थे। युधिष्ठिर आत्मविगर्हणा के भाव से भर जाते हैं और भीष्म के संमुख अपने को ही सपूर्ण दोषी ठहराते हैं। वे महाभारत-युद्ध में अपना ही हाथ पाते हैं और प्रायश्चित्त स्वरूप एक नया व्रत ग्रहण करने को उद्यत होते हैं :—

यह होगा महारण राग के साथ
युधिष्ठिर हो विजयी निकलेगा।
नर संस्कृति की रण-छिन्न लता पर
शान्ति सुधा-फल दिव्य फलेगा।
कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पंथ की
मानव ऊपर और चलेगा।

मनु का यह पुत्र निराश नहीं
नव धर्म प्रदीप अवश्य जलेगा।

छठे सर्ग में युधिष्ठिर के मुख से आज के मानव की विचित्र स्थिति का वर्णन कराया गया है। युद्ध की परंपरा अब भी ज्यों-की-त्यों चल रही है। मनुष्य आज वैज्ञानिक युग में प्रवेश कर चुका है। प्रकृति पर मनुष्य की विजय प्रायः पूरी हो चुकी है। उसके कोई रहस्य उससे छिपे नहीं रहे। परंतु मानव की इस प्रगति में मस्तिष्क ही आगे बढ़ता गया है, हृदय पिछड़ता ही गया है।

नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार।
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।

हृदय-पक्ष की इस अवहेलना का परिणाम अच्छा नहीं हुआ। मनुष्य अपने जीवन-लक्ष्य को भूलता जा रहा है। वासना की प्रमुखता होती जा रही है। मनुष्य स्वार्थ से आक्रान्त हो संघर्ष करता और अपना आहार आप ही बनता जाता है। उसमें शान्ति की लालसा नहीं है, वह नए दुर्जय विघ्नों की खोज में रहता है उसकी पाशववृत्तियाँ अब तक छूटी नहीं हैं, 'बुद्धि पर हृदय की चेतना' अधिकार नहीं कर पाई है। मानव-प्रीति का भाव जागा नहीं है। मनुष्य अणुओं को तोड़ने में लगा है, मानव-मानव के व्यवधान को मिटाने में नहीं। विज्ञान के संहारक स्वरूप से छुटकारा पाने के लिए कवि वैज्ञानिक दौड़ को बंद कर देने की सलाह देता है:—

सावधान मनुष्य ! यदि विज्ञान है तलवार
तो इसे दे फेंक तज कर मोह, स्मृति के पार;
हो चुका है सिद्ध, है तू शिशु अभी अज्ञान;
फूल कांटों की नहीं कुछ भी तुझे पहचान।

विज्ञान के स्थान पर मानव-हृदय को 'स्निग्ध', 'सौम्य' और 'पुनीत' बनाने वाली प्रज्ञा का अनुशीलन होना चाहिए। स्नेह-सिंचित न्याय पर नए विश्व का निर्माण हो। मनुष्य युद्ध की ज्वर-भीति से मुक्त हो जाय। साम्य की स्निग्ध और उदार रश्मि का आवाहन कवि ने किया है। स्पष्ट है कि यह सर्ग द्वापर की अपेक्षा आज की स्थिति और समस्या से संबद्ध है।

पांचवें और छठे सर्गों में युधिष्ठिर का पश्चात्ताप और आत्मविगर्हणा नवीन संसार के निर्माण की अभिलाषा एक अनोखी भावुकता लिए हुए है। युद्ध का अंत करने के युधिष्ठिर के संकल्प के मूल में ऐसा कोई तात्त्विक

चिन्तन नहीं है, जैसा भीष्म के द्वारा युद्ध को अनिवार्य सिद्ध करने के मूल में है। आज के मनुष्य की भी ऐसी ही एक अनिर्दिष्ट अभिलाषा है कि युद्ध का अंत हो जाय। परंतु युद्ध का अंत करना आज की सभ्यता का सर्वप्रमुख ध्येय है और आज की मानवता की परीक्षा इसी ध्येय को सिद्ध करने के प्रश्न पर होगी, ऐसी कोई निष्ठा आज के मनुष्य में नहीं दिखाई देती। युधिष्ठिर के वाक्यों में भी युद्ध के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया तो अवश्य है, परंतु युद्ध (हिंसात्मक युद्ध) संसार का सब से बड़ा अभिशाप है और आज के सर्व-संहारक युद्ध द्वारा मानव-सभ्यता के नष्ट हो जाने की संभावना उपस्थित है, ऐसा कोई निर्देश युधिष्ठिर ने नहीं किया। सारांश यह कि युद्ध के संबंध में युधिष्ठिर की (अथवा कहें कवि की) धारणा भावना-मूलक और नकारात्मक ही है। वे केवल यह चाहते हैं कि युद्ध न हो, मानव-प्रेम का प्रसार हो। परंतु प्रेम और अहिंसा का विधेय पक्ष उसकी तात्विक और अनिवार्य आवश्यकता, उसकी साधना की विधि और शैली आदि का उल्लेख नहीं किया गया। इससे ज्ञात होता है कि श्री दिनकर युद्ध-निवारण संबंधी समस्या पर गंभीर आस्था नहीं रखते और युधिष्ठिर की ही भांति भीष्म द्वारा कहे गए युद्ध की अनिवार्यता के संदेश को स्वीकार करते हैं।

हम देखते हैं कि 'कुरुक्षेत्र' काव्य में भीष्म और युधिष्ठिर द्वारा युद्ध-संबंधी दो विरोधी धारणाएं व्यक्त की गई हैं—अनुकूल और प्रतिकूल पक्ष उपस्थित किए गए हैं। भीष्म युद्ध को आवश्यक और अनिवार्य मानते हैं, युधिष्ठिर उसके परिणाम से विरक्त और भयभीत हैं। भीष्म के युद्ध-सम्बन्धी कुछ तर्कों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वे युद्ध को प्रकृति का विस्फोट मानते हैं। उनके लिए युद्ध किसी तर्क संमत कार्य-कारण श्रृंखल से बंधा नहीं है। वह संक्रामक और आत्मविस्तारक है। उसके संक्रमण में भी कोई नियम नहीं है। वह पाशव और जड़ वस्तु है। वह नियत और अनिवार्य है। नियत होने के कारण ही वह पुण्य और तप से परे चिर शुद्ध है। इस चिरशुद्ध यज्ञ में अपनी आहुति देने के लिए होता को भी लोकोत्तर प्रतिशोध-भावना से संपन्न होना चाहिए। इस प्रकार एक पाशव और अज्ञेय पदार्थ में एक लोकोत्तर भावना लेकर आत्मविसर्जन करना ही भीष्म का मुख्य संदेश है।

इसी के साथ नवयुवकों को शूरधर्म की शिक्षा दी गई है और उन्हें

अनीति के विरुद्ध उठ खड़े होने को ललकारा गया है। उन्हें हिंसा और युद्ध का मार्ग ही ग्रहण करना होगा, क्योंकि संसार अभी अहिंसा और आत्मबल का महत्त्व मानने को तैयार नहीं है। आत्मबल वैयक्तिक वस्तु है, समूह पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता; अतएव उसका सामूहिक प्रयोग अनुचित और व्यर्थ है।

इसके विरुद्ध युधिष्ठिर का पक्ष युद्ध से घबराए हुए व्यक्ति का पक्ष है। वह युद्ध नहीं चाहता। युद्ध का सहायक विज्ञान नहीं चाहता। वह चाहता है हृदय की चेतना, स्थिरता और प्रेम। परन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है अहिंसा और प्रेम संबंधी कोई रचनात्मक और तात्विक दृष्टि युधिष्ठिर के चिन्तन में व्यक्त नहीं हुई। युधिष्ठिर के पास कोई हिंसा-विरोधी दृष्टिकोण नहीं है, कोई कार्यक्रम या सिद्धान्त नहीं है।

इन दोनों परस्पर विरोधी दृष्टियों के सम्बन्ध में पहली उल्लेखनीय बात यह है कि ये दोनों ही आधुनिक युद्ध की स्थिति, स्वरूप और परिणाम का पूरा आकलन नहीं करती। आज की दृष्टि से उनमें एक मूलभूत अवास्तविकता दिखाई देती है। आज का युद्ध किसी सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। उसके औचित्य और अनौचित्य की अपेक्षा मुख्य विचारणीय प्रश्न उसकी प्रलयकारिता है जो किसी भी नैतिक-अनैतिक नियम को मटियामेट कर देने के लिए पर्याप्त है। अतएव आज की मुख्य समस्या है उसके ध्वंसकारी प्रभाव से संसार की रक्षा करने की। भले ही युद्ध उचित हो, नैतिक हो या आवश्यक हो, पर आज के प्रलयकारी युद्ध में औचित्य और नैतिकता का पक्ष भी उतना ही निरर्थक और व्यर्थ है जितना अनौचित्य या अनैतिकता का पक्ष।

यदि हम यह मानें कि आज का युद्ध कितना ही सर्वग्रासी क्यों न हो उसका होना अनिवार्य है, अतएव हमें उसके लिए तैयार रहना होगा और उनमें न्यायोचित पक्ष का साथ देना होगा, तब हमें न्याय और अन्याय की समस्या पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। इस सम्बन्ध में सब से स्पष्ट मत तो समाजवादियों और साम्यवादियों का है जो सामाजिक वैषम्यों के विरुद्ध आवाज उठा रहे हैं। दिनकर जी ने भी उन वैषम्यों और अनीतियों का हवाला दिया है और दलित वर्गों को युद्ध के लिए तैयार हो जाने की पुकार उठाई है। इस सीमा तक दिनकर जी की यह रचना आधुनिक नवयुवकों और समाजवादियों का प्रतिनिधित्व करती है, परन्तु यह समझना

संगत न होगा कि दिनकर जी का यह रण-आवाहन तत्वतः समाजवादी दृष्टिकोण और विचारणा को व्यक्त करता है।

युद्ध या संघर्ष की आवश्यकता मानते हुए भी गाँधी जी ने उसके हिंसात्मक स्वरूप को त्याज्य बताया है। उन्होंने आत्मबल की विशेषता स्वीकार की है और हृदय परिवर्तन की शक्ति और आवश्यकता का आग्रह किया है। गांधीजी का यह अहिंसा और प्रेम का संदेश सक्रिय अहिंसा और प्रेम पर अवलंबित है। हमें यहां गांधी जी के मत को विस्तार के साथ उपस्थित करने की आश्वयकता नहीं है। परन्तु इतना कहना अनुचित न होगा कि युधिष्ठिर के उद्गारों में और गांधी जी के अहिंसा-विधान में बहुत बड़ा अंतर है। युधिष्ठिर एक निराश और अकर्मण्य व्यक्ति के रूप में आए हैं, उनके समक्ष कोई निर्दिष्ट लक्ष्य या मार्ग नहीं है। अतएव उनके उद्गारों में गांधी-विचारधारा और वसूलों को ढूंढ़ना व्यर्थ श्रम होगा।

हम कह सकते हैं कि 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध संबंधी आधुनिक वास्तविकता का यथेष्ट आकलन नहीं है, न उसमें युद्ध-विषयक नई समाजवादी दृष्टि का ही पूरा निरूपण है। युद्ध-निवारण संबंधी गांधी जी की अहिंसा-प्रक्रिया की स्थापना तो कदाचित कवि का लक्ष्य भी नहीं है। ऐसी अवस्था में 'कुरुक्षेत्र' में गांधी-मत का प्रभाव देखना तो असंगत है। फिर भी 'कुरुक्षेत्र' में कवि की वीरदर्पपूर्ण उक्तियों के साथ, उसके शंकालु और निर्वेद-युक्त हृदय की जो झांकी मिलती है, वह आधुनिक सामान्य मानव के हृदय का पूरा आभास लिए हुए है।

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि 'कुरुक्षेत्र' काव्य प्राचीन पृष्ठभूमि पर रचा गया है, उसमें संपूर्ण आधुनिकता हो भी नहीं सकती। महाभारत में आए हुए भीष्म-युधिष्ठिर-संवाद को ही नए सांचे में ढालने की चेष्टा की गई है। उसमें पूरा आधार महाभारत का भी नहीं है और न पूरी नवीनता ही है। प्राचीन और नवीन के मिश्रण से जो चीज़ बन सकती है, वह बनी है। यदि उसमें पूरी प्राचीनता या पूरी नवीनता रहती, तो कदाचित् रचना अधिक सुसंपन्न होती।

हमें यह भी भूलना न चाहिए कि 'कुरुक्षेत्र' एक काव्यग्रंथ है, वह कोई दार्शनिक या मतनिरूपक कृति नहीं है। दार्शनिक या सैद्धान्तिक

प्रौढ़ता न होते हुए भी उसमें ऐसी सामग्री अवश्य है जो हम सब को प्रभावित और आन्दोलित करती है।

यह ठीक है कि आज का काव्य केवल भावोत्तेजना का लक्ष्य लेकर नहीं चल सकता। भावोत्तेजना के लिए सम्यक् दृष्टिकोण भी होना चाहिए। यह भी सत्य है कि कुरुक्षेत्र की रचना में कवि ने विचार-पक्ष को प्रमुखता देनी चाही है। उसने लिखा भी है, 'यह तो एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोल रहा है।' यह मानने में कोई हानि नहीं कि हमें 'कुरुक्षेत्र' काव्य में साधारण मनुष्य का ही नहीं, एक अच्छे कवि का हृदय बोलता मिलता है। वह हृदय शंकाकुल ही नहीं, ओजस्वी और मनस्वी भी है। उसका हृदय मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोला है, पर जो कुछ वह बोला है उसमें मस्तिष्क का वास्तविक योग कितना है, यह ऊपर निर्देश करने की चेष्टा की गई है।

'कुरुक्षेत्र' का जीवन-दर्शन :—'कुरुक्षेत्र' का सातवां सर्ग युद्ध-विषयक नहीं है। वह संपूर्ण जीवनदृष्टि को लेकर मानव-व्यवहार की शिक्षा देता है। यह अध्याय अपेक्षाकृत अधिक बड़ा है। इसमें भीष्म युधिष्ठिर को वैराग्य भावना त्याग कर जीवनक्षेत्र में प्रवेश करने को प्रोत्साहित करते हैं। पाप और अनाचार से त्रस्त होकर भाग खड़ा होना और संन्यास लेकर वन में जा पहुँचना मानवधर्म नहीं है। जब तक मनुष्य में सहानुभूति और संवेदना का एक भी कण शेष है, तब तक मनुष्यता के लिए निराश होने का कोई कारण नहीं। मनुष्यता के विकास का मार्ग युद्ध के बाद भी अक्षुण्ण रह गया है। कुरुक्षेत्र में मनुष्य मरे हैं, मनुष्यता नहीं मरी। उसी मनुष्यता का नवविकास मानव समाज में रह कर करना होगा। दलितों से दैन्य और दंभियों से दर्प का भाव दूर कर दोनों के बीच समता की प्रतिष्ठा करनी होगी, संसार को भयमुक्त करना होगा। मनुष्य मनुष्य में जन्मना कोई भेद नहीं। सबके समान अधिकार हैं। कृत्रिम वैषम्य को दूर कर देना होगा। तभी मानवता फूल-फल सकेगी। आज का समाज वैयक्तिक भोगवाद पर स्थित है। वह अपनी अधि-कार-सत्ता औरों से पृथक् मानता है। इस भेद-दृष्टि को मिटा कर मनुष्य मात्र के भौतिक, मानसिक और बौद्धिक विकास के लिए द्वार खोल देने होंगे।

यहीं पर लेखक ने भीष्म के मुख से भाग्यवाद का उपहास कराया है

तथा श्रम और उद्यम-संपन्न नई मानवता के निर्माण की घोषणा की है। आज भाग्यवाद के मिथ्यादर्श का आधार लेकर सामाजिक वैषम्य और ऊंच-नीच का पोषण किया जाता है। लोग समझते हैं कि धनिकों के भाग्य में धन लिखा है, अथवा वह उनका पूर्वजन्म का अर्जित अधिकार है। इससे एक बड़ी मिथ्या धारणा को प्रश्रय मिलता है—

और मरा जब पूर्व जन्म में
वह धन संचित कर के
विदा हुआ था न्यास समर्जित
किस के घर में धर के ?
जन्मा है वह जहां आज
जिसपर उसका शासन है।
क्या है यह घर वही और
यह उसी न्यास का धन है ?

महाभारत से लिए गए ये प्रसंग रोचक और उपयोगी हैं। आधुनिक भारतीय समाज में भाग्यवाद या पूर्वजन्म के पुण्य-पाप संबंधी धारणा इतनी बद्धमूल और व्यापक है कि उससे निस्तार पाने का कोई उपाय नहीं दीखता। जहां कहीं जो कुछ स्थिति है, सब स्वाभाविक है, न्यायपूर्ण है, पूर्वजन्मों के कर्मों का फल है, ऐसी धारणा हमारे आज के समाज में परिव्याप्त है।

यहीं दिनकर जी ने मानव-समाज के विकास-क्रम का दिग्दर्शन भी महाभारत के ही आधार पर कराया है। किस प्रकार आरंभ में सब मनुष्य समान थे। सब में परस्पर विश्वास था। सब सुखी थे। सब परिश्रम करते और इच्छा भर खाते थे। ऊंच-नीच की भावना नहीं थी। राजा-प्रजा का प्रश्न नहीं था। आगे चल कर लोभ की वृत्ति उत्पन्न हुई। वैयक्तिक संग्रह बढ़ चला। एक दूसरे के प्रति अविश्वास बढ़ा। मानव-समाज की वह आरंभिक शान्ति भंग हो गई। लूट-मार, चोरी और छीना-झपटी फैल चली। समाज ने एक शासक की आवश्यकता का अनुभव किया। राजा आया, उसकी तलवार ने शान्ति स्थापित की। क्रमशः राजतंत्र जटिल होता गया। उसके अधिकार बढ़ते गए और उसी अनुपात में प्रजा की स्वतंत्रता छिनती गई। सब राजनियम के अधीन हो गए। शरीर ही नहीं, बुद्धि भी परतंत्र हो गई; रूढ़ राजाज्ञा

के विरुद्ध किसी नवीन विचारधारा की सृष्टि करना भी निषिद्ध हो गया।

इसी शृंखला को तोड़ने की आवश्यकता है। जिस क्रम से मनुष्य ने बंधन मोल लिए हैं, उसके उल्टे क्रम पर चलकर बंधनों से छुटकारा पाना है और मनुष्य-समाज को उसकी मूलवर्तिनी समता और स्वतंत्रता प्राप्त करनी है। यह कार्य संन्यास ग्रहण करने से न होगा। यह तो मनुष्यों के बीच रह कर उनकी मनोभावनाओं का संस्कार करने से ही होगा। इसी निर्भय, किन्तु श्रम-साध्य पथ पर चलने में ही मानवता का हित है। संसार को त्याग कर किसी लोकातीत सुख या कल्याण की कल्पना के पीछे दौड़ना निष्फल है।

जनाकीर्ण जग से व्याकुल हो
निकल भागना वन में,
धर्मराज है घोर पराजय
नर की जीवन रण में।
यह निवृत्ति है ग्लानि, पलायन
का यह कुत्सित क्रम है।
निःश्रेयस यह श्रमित, पराजित
विजित बुद्धि का भ्रम है।

संन्यास मार्ग को एकान्तिक, निष्फल और भ्रामक बताकर लेखक ने पृथ्वी पर रह कर मिट्टी की ओर बढ़ने का संदेश सुनाया है। कर्मों का त्याग मनुष्य को जीवन से दूर ले जायगा। दीपक के प्रज्वलित रहने में जो सौन्दर्य है, उसके निर्वापित हो जाने में वह नहीं। अकर्मण्यता ही संन्यास या निवृत्ति की प्रेरणा देती है। इस मरीचिका से बच निकलना अत्यंत आवश्यक है--

कहती सत्य उसे केवल जो कुछ गोतीत अलभ है।
मिथ्या कहती उस गोचर को जिसमें कर्म सुलभ है।
सुविकच स्वस्थ सुरम्य सुमन को मरण भीति दिखलाकर।
करती है रस-भंग काल का भोजन उसे बता कर।

यहां पर दिनकर जी ने कर्म और चिन्तन के बीच समन्वय स्थापित करने का उनके पारस्परिक विरोध को मिटाकर उनकी दूरी दूर करने का संदेश दिया है--

जहां भुजा का एक पंथ हो अन्य पंथ चिन्तन का।
सम्यक रूप नहीं खुलता उस द्वंद्व ग्रस्त जीवन का।
केवल ज्ञानमयी निवृत्ति से द्विधा न मिट सकती है।
जगत छोड़ देने से मन की तृषा न घट सकती है।

निवृत्ति की कोमल कल्पना संसार के कठोर सत्यों का सामना करने में असमर्थ होगी। व्योम-प्रवासी बन कर मनुष्य के हाथ कुछ न लगेगा। उसे मिट्टी की ओर आंखें मोड़नी होंगी। वहीं जीवन का सार-रस है। मिट्टी में आत्मा को नहीं आत्मा में मिट्टी को विलीन कर शरीर पर मन का आधिपत्य कायम करना होगा। इसी नवीन साध्य की ओर कुरुक्षेत्र के सप्तम सोपान में हमें उन्मुख किया गया है।

कुरुक्षेत्र के इस अंतिम संदेश के संबंध में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इसका अधिकतर अंश महाभारत के भीष्म-युधिष्ठिर-संवाद से ही लिया गया है। सलिए स्वभावतः इसकी सब बातें आज के समाज के लिए पूरी तरह लागू नहीं होतीं। अवश्य दिनकर जी ने भीष्म-कथित वाक्यों को आज के उपयुक्त नया आशय और अभिप्राय देने की चेष्टा भी की है। भीष्म की संपूर्ण उक्तियों का समाहार 'मिट्टी का राग' के रूप में किया गया है। आज के समाज के लिए दिनकर जी का संदेश मिट्टी की ओर बढ़ने का है, आकाश में उड़ने का नहीं। उन्होंने प्राचीन प्रवृत्ति और निवृति के सिद्धान्तों की व्याख्या करके इसी तथ्य का निर्देश किया है कि आज के समाज को निवृति की नहीं, प्रवृत्ति की आवश्यकता है। पर प्रश्न यह है कि आज का विश्व समाज तो यों ही अत्यधिक प्रवृत्तिमुखी है। अधिकारों के लिए संघर्ष बढ़ता ही जा रहा है। ऐसी अवस्था में आज के विश्व-समाज को और अधिक प्रवृति की प्रेरणा देने की अवश्यकता ही क्या है? इसके उत्तर में हम इतना ही कह सकते हैं कि दिनकर जी द्वापर में कहे गए महाभारत में अंकित भीष्म के संदेश की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकते थे, क्योंकि उनका कुरुक्षेत्र काव्य ऐतिहासिक आधार भी रखता है। उक्त ऐतिहासिक आधार की रक्षा करते हुए सामयिक समाज के लिए उपयोगी कतिपय तथ्यों को उन्होंने हमारे सामने रखने की चेष्टा की है। विशेषतः कुरुक्षेत्र में उन्होंने नवयुग की नवयुवक-जागृति और न्याय और समता के लिए उत्पीड़ितों की क्रान्ति की जो जोरदार आवाज उठाई है, उस सामयिक संदेश का हम सहर्ष स्वागत करते हैं।

कुणाल

'कुणाल' श्री सोहनलाल द्विवेदी का तीसरा काव्य-संग्रह है। इसके पूर्व 'भैरवी' और 'वासवदत्ता' नाम की उनकी दो कविता-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन पुस्तकों द्वारा सोहनलाल जी को अच्छी ख्याति और लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

सोहनलाल जी बालकों की कविता करने में भी निपुण हैं। बालकों के लिए उनकी बहुत-सी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं और उनका यथेष्ट चार भी हुआ है। सोहनलाल जी में अब भी बालकों की सी मृदुता मौजूद है, बच्चों की सी सरलता पाई जाती है।

द्विवेदी जी की कविता का सबसे प्रधान गुण है प्रसाद। सरल काशन की विशेषता के कारण वे पाठकों की रुचि अधिक आकृष्ट करते हैं। सुन्दर से सुन्दर भाव भी बड़े सीधे ढंग से कह निकलते हैं। इस संबंध में उनकी तुलना श्री मैथिलीशरण गुप्त से ही की जा सकती है।

सोहनलाल जी की सभी रचनाओं में राष्ट्रीयता का पुट रहता है। यहाँ राष्ट्रीयता से मेरा आशय किसी राजनीतिक मत या सिद्धान्त-विशेष से नहीं है। यहाँ राष्ट्रीयता से मेरा मतलब स्वदेश-प्रेम की व्यापक भावना से है। अपने देश के रंग में रँगे होने के कारण सोहनलाल जी भारतीय गौरव के सभी आख्यानों को, वे नवीन हों या प्राचीन, बड़ी तत्परता के साथ अपनाते हैं। महात्मा गांधी और महामना मालवीय जी के प्रति उनका एक सा समादर है। इसी प्रकार बौद्ध और हिन्दू नृपतियों के आख्यान भी उनके लिए समान रूप से संग्राह्य हैं। व्यापक भारतीयता के ही वे उपासक और भक्त हैं। कहीं भी विदेशीपन की झलक उनकी रचनाओं में नहीं मिलती।

सोहनलाल जी की तीसरी विशेषता है वीरपूजा की उनकी प्रवृत्ति। वीरता से यहाँ मेरा तात्पर्य शारीरिक बल से नहीं है, बल्कि चरित्र की सर्वतोमुखी महत्ता से है। महत् चरित्र के उपासक होने के कारण आशा की जाती है कि सोहनलाल जी भविष्य में किसी बृहत्तर आख्यान या महाकाव्य की भी रचना करेंगे।

यों तो साहित्य-शास्त्र की शाब्दिक व्याख्या के अनुसार 'कुणाल' भी महाकाव्य कहा जा सकता है, पर वास्तव में वह एक खण्ड-काव्य है। उसमें कुणाल के जीवन से संबंध रखने वाली एक ही घटना मुख्य रूप से चित्रित है, वह है सौतेली मा की आसक्ति पर कुणाल की प्रतिक्रिया। इस एक घटना के सूत्र में सारा काव्य सँजोया हुआ है। देश, काल और चरित्र का इतना विस्तार इसमें नहीं है कि इसे हम महाकाव्य कह सकें। किन्तु खण्ड-काव्य की दृष्टि से यह एक सफल रचना है।

काव्य के आरंभ में पाटलिपुत्र का वर्णन है जो 'कुणाल' और उसके पूर्व-पुरुषों की राजधानी थी। नगर की श्री-समृद्धि का वर्णन करने में कवि ने प्राचीन इतिहास की सहायता ली है और ऐतिहासिक वातावरण का ध्यान रक्खा है। नगर का यह वर्णन काव्य के लिए पृष्ठभूमि का काम देता है और साथ ही आगे आने वाली करुण घटनाओं की तीव्रता बढ़ाने में सहायक होता है; नायक कुणाल के त्याग के महत्व को बढ़ा देता है।

दूसरे सर्ग में 'कुणाल' के बाल्य और तरुण जीवन की झाँकी है। इसके लिए एक अलग सर्ग रखने का प्रयोजन भी यही है कि वह कुणाल की आगामी विपत्तियों को वैषम्य द्वारा तीव्रतर बना दे और करुण रस के परिपाक में सहायक हो। तीसरे सर्ग में कुणाल के पिता विख्यात सम्राट् अशोक के चित्रण द्वारा भी राजधानी में घटित होने वाली आगामी घटना की आश्चर्यमयता बढ़ाने का ही लक्ष्य सिद्ध होता है।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि काव्य के प्रथम तीन सर्ग केवल भूमिका में लगा देना और कार्य (action) का आरंभ न करना कहाँ तक उचित है ? कार्य का आरंभ चतुर्थ सर्ग में होता है जब अशोकपत्नी तिष्यरक्षिता सपत्नी-पुत्र कुणाल से प्रेम का प्रस्ताव करती है। शंका होती है कि इसके पूर्व के परिच्छेद और उनका संपूर्ण समारंभ, इस खण्ड-काव्य के कथानक को देखते हुए कहाँ तक खप सकता है ?

इनकी सार्थकता के संबंध में ऊपर जो कुछ कहा गया उससे यदि पूरा समाधान नहीं होता, तो हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रबंध-काव्य में और विशेषतः ऐतिहासिक प्रबंधों में तत्कालीन वातावरण का चित्रण और नायक की जीवनी का आलेख भी अपना अलग महत्व रखते हैं जो काव्य के मुख्य कार्यव्यापार से संबद्ध न होते हुए भी निरे निरर्थक नहीं हो जाते। अलंकरण में उनका उपयोग हो जाता है।

पाँचवें सर्ग में प्रेम-प्रस्ताव अस्वीकार होने पर तिष्यरक्षिता का अनुताप और छठे में उसका प्रतिशोध दिखाया गया है। ये दोनों सर्ग मनोवैज्ञानिक हैं, इनमें कार्यव्यापार सतह पर न रहकर तलस्थ और मनोमय हो गया है।

सातवें सर्ग में वह पुनः उभरता है और यहाँ तिष्यरक्षिता की कठोर आज्ञा ले कर राजचर कुणाल के नगर पहुँचता है। कुणाल प्रसन्नतापूर्वक अपनी आँखें निकलवा डालते हैं और सहर्ष निर्वासन का दण्ड स्वीकार करते हैं।

आठवें सर्ग में उनके प्रस्थान की कथा वर्णित है। अपनी पत्नी राजकुमारी कांचना के साथ वे प्रायः उसी प्रकार घर से निकल पड़ते हैं, जिस प्रकार राम सीता के साथ निकल पड़े थे। नगर-निवासियों की व्याकुलता भी अयोध्यावासियों के ही समान चित्रित की गई है।

नवम सर्ग में कुणाल के वे पथ-गीत हैं जिन्हें गाता हुआ वह दुर्गम वनों में भटकता है। इन गीतों की भावमयता हमें 'साकेत' काव्य के नवम सर्ग की याद दिलाती है, जिसमें उर्मिला के विरहगीत संगृहीत हैं। अवश्य 'कुणाल' का नवम सर्ग 'साकेत' के नवम सर्ग से आकार में बहुत छोटा है।

दशम सर्ग में कुणाल-दम्पति का वन-वन विचरण करते हुए पाटलिपुत्र के समीप पहुँचना और अपने प्राचीन विहारस्थलों की चर्चा करते हुए आगे बढ़ना दिखाया गया है। किन्तु इसी समय महाराज अशोक इन्हें राजमन्दिर में बुलाते हैं, वहीं इनका गायन होता है और वहीं इन्हें अपना परिचय भी देना पड़ता है।

एकादश और द्वादश सर्गों में कथा का उपसंहार है। कुणाल का परिचय प्राप्त कर अशोक उन्हें राजसिंहासन सौंप देते हैं और स्वयं काषाय धारण कर राजधानी से निकल पड़ते हैं। यहीं यह काव्य समाप्त होता है।

कथानक के संबंध में जैसे एक प्रश्न काव्य के आरम्भ में उठा था वैसे ही एक प्रश्न अन्त में भी उठता है। वह यह कि कुणाल के निर्वासन और उनके पाटलिपुत्र लौटने के बीच का समय जो कवि के संकेत के अनुसार कितने ही वर्षों का था, अत्यन्त शीघ्र समाप्त क्यों कर दिया गया? निर्वासन की अवधि में 'पथ-गीत' के अतिरिक्त किसी भी घटना की योजना नहीं की गई। नवम सर्ग में वे गीत हैं और दशम में ही पुनर्मिलन। इनके बीच का कथानक इतना संक्षिप्त है कि कुणाल के निर्वासित जीवन का यथेष्ट विकास नहीं हो पाया।

कथानक की दृष्टि से भी यह बात खटक सकती है और कुणाल के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी। कथानक की दृष्टि से निर्वासन ही वह केन्द्र है जिसकी ओर काव्य का समस्त घटना-चक्र प्रवहमान है, किन्तु हम इस केन्द्र पर पहुँचते ही पुनर्मिलन की ओर मुड़ने लगते हैं। इसे क्या घटनाओं की स्वाभाविक गति कह सकते हैं ?

एक बात यहाँ स्मरण रखनी होगी। यदि कवि घटनाचक्र को स्वच्छंद रूप से बढ़ने देता, तो खण्ड-काव्य न हो कर 'कुणाल' महाकाव्य बन जाता। खण्ड-काव्य में घटनाओं को इतना विस्तार नहीं दिया जा सकता था। इसलिए रचना की सीमा का ध्यान रखते हुए कथानक पर की गई आपत्ति बहुत कुछ निर्बल हो जाती है।

सच पूछिए तो निर्वासन नहीं, आँखों का अर्पण करना ही, नायक का मुख्य कार्य है। खण्ड-काव्य के लिए यह कार्य पर्याप्त है और निर्वासन को अनावश्यक विस्तार दिए विना भी काम चल जाता है। यहाँ मेरी अपनी सम्मति यह अवश्य है कि आँखें अर्पण करना यदि काव्य का मुख्य कार्य है, तो उसे काव्य में सर्वाधिक महत्त्व मिलना चाहिए था। उसके लिए एक स्वतंत्र सर्ग की भी योजना की जा सकती थी।

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में भी यही बात प्रकारांतर से लागू होती है। कुणाल का चरित्र महाकाव्य के उपयुक्त धीरोदात्त बनाना कवि को इष्ट नहीं है। वह कुणाल के सिर पर इतना बड़ा बोझ नहीं लादना चाहता। वह केवल उसके मातृ-प्रेम-सम्बन्धी ऊँचे आदर्श को ही प्रमुख रूप से सामने रखता है। यदि वह अन्य घटनाओं के संयोग से चरित्र को बोझिल बना देता, तो उक्त इष्ट की सिद्धि न होती।

निश्चय ही कुणाल की यह मातृवत्सलता उसके चरित्र की स्वतंत्र विशेषता नहीं है, उसके चरित्र की स्वतंत्र विशेषता है उसकी चारित्रिक पवित्रता जिसकी परीक्षा ही इस प्रसंग में हुई है। इस पवित्रता की रक्षा के लिए ही वह निरपराध होता हुआ भी कठोर से कठोर दण्ड सहर्ष स्वीकार करता है। इस प्रसंग में उसने राजाज्ञा के प्रति जो अनुल्लंघनीयता का भाव दिखाया है, वह भी प्रकारांतर से उक्त चारित्रिक पवित्रता का ही अंग बन गया है। इस दृष्टि से कुणाल के चरित्र की मुख्य विशेषता उसका शम-दम संयम ही सिद्ध होता है और इस काव्य का आधार नैतिक ही ठहरता है, जो तत्कालीन बौद्ध प्रभावों के अनुकूल है।

इसी नैतिकता का दूसरा पक्ष रानी तिष्यरक्षिता के चरित्र में दिखाया गया है। तिष्यरक्षिता वयस्क अशोक की युवती पत्नी है। अशोक के महान् समृद्धिमय राज्य की, और उसके महत्तर हृदय की अधिकारिणी है। अधिकार-मद में और विलासप्रवाह में पड़कर वह कर्त्तव्य-अकर्तव्य को भूल गई है। किन्तु जब उसका अनुचित प्रस्ताव ठुकरा दिया जाता है, तब क्षण भर को उसकी चारित्रिक चेतना जग उठती है और वह अपनी करनी पर पछताती है, पर दूसरे ही क्षण वह रोषमग्ना होकर जो कठोर आज्ञाएँ प्रचारित करती है, वह उसकी जैसी स्थिति की राजरमणी के लिए स्वाभाविक ही है।

महत्त्व की दृष्टि से तीसरा चरित्र कांचना और चौथा अशोक का है। कांचना की चरित्र-सृष्टि में लेखक ने उतनी तत्परता नहीं दिखाई जितनी उसने अशोक के चित्रण में दिखाई है। किन्तु काव्य के लिए कांचना अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। अशोक का इस काव्य से आधिकारिक संबंध नहीं, प्रासंगिक संबंध ही है।

तिष्यरक्षिता के सौन्दर्य को अधिक प्रकर्ष देने के लिए और उसके चित्रण को अधिक प्रमुख बनाने के उद्देश्य से ही राजकुमारी कांचना का चित्रण अधिक उभार नहीं पा सका। तिष्यरक्षिता की तुलना में कांचना का चित्रण, काव्य व्यापार को ध्यान में रखते हुए, नमित अवश्य दिखाना था। तो भी कांचना के चित्रण में कुछ प्रमुख रेखाएँ छूट गई हैं, ऐसा आभास पुस्तक पढ़ लेने पर हमारे मन में रह जाता है। जिस प्रकार कुणाल, तिष्यरक्षिता और अशोक के लिए कवि ने एक-एक सर्ग रक्खा है, उसी प्रकार कांचना को भी एक अलग सर्ग मिल जाता, तो चित्रण-समन्वय की दृष्टि से अधिक अच्छा होता।

अशोक इस काव्य में स्वतंत्र चरित्र के रूप में नहीं आए हैं। उनसे काव्य के कार्य-व्यापार का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। इसलिए अशोक के चित्रण को हम आलंकारिक ही मान सकते हैं। वातावरण का निर्माण उससे होता है। इससे अधिक उसकी उपयोगिता नहीं दिखाई देती।

इनके अतिरिक्त और कोई उल्लेखनीय चरित्र इस काव्य में नहीं आया है।

अब इसके देश-काल के सम्बन्ध में भी विचार कर लें। हम कह चुके हैं कि इसका कथानक इतिहास पर आधारित है। दूसरे शब्दों में इसका

देश-काल प्राचीन है। सम्राट् अशोक के समय के पाटलिपुत्र के वर्णन से यह काव्य आरंभ हुआ है। तत्कालीन श्री-समृद्धि का अच्छा परिचय इस वर्णन से मिल जाता है। उस समय की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ भी प्रकाश में आ जाती हैं।

काव्य का कथानक राज-परिवार के व्यक्तियों का कथानक है। इसलिए स्वभावतः राजपुरुषों के जीवन का ऐश्वर्यमय वातावरण दिखाना कवि को इष्ट था। किन्तु वातावरण के रूप में ऐश्वर्य का प्रदर्शन करते हुए भी अशोक और कुणाल के चरित्रों के आदर्शवादो और मानवीय पक्षों को ही उसने अधिकतर अंकित किया है। यहां तक कि बालक कुणाल को राजकीय वैभव की चिन्ता न कर—

'वह धूल भरा नटखट आया
मुँह में मिट्टी उँगली गीली
यह कौन वेश वह धर लाया।'

जैसे सामान्य रूप में दिखाया गया है और—

देखता ललक कर दूध दही,
जो टँगी सिकहरे ऊपर ही।

दूध-दही के लिए ललकता हुआ भी प्रदर्शित किया गया है। यह ललकना तो अच्छा लगता है, पर 'सिकहरे' के लिए कोई अधिक उपयुक्त शब्द अपेक्षित था।

केवल एक ही स्थान पर वर्णन में काल का क्रमभंग दीखता है—

'कहता मा दे की मैं छलपल,
घोले पर दिल्ली ओ आया।'

कुणाल के समय में 'दिल्ली' नगरी तो सम्भवतः थी, पर उसका यह नाम न था। देश-काल का इतना ही उल्लेख बस होगा। अब प्रश्न यह है कि इस काव्य का उद्देश्य या साध्य क्या है और उस साध्य का हमारे वर्तमान जीवन से कुछ संबंध है या नहीं। कुणाल काव्य का मुख्य साध्य तो कुणाल का चरित्र प्रस्तुत करना और उसकी सहायता से तत्कालीन सामाजिक जागृति का परिचय देना है। इसका दूसरा साध्य जो पहले का ही आनुषंगिक है, उस समय के जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित करना है। तीसरा और गौण आशय इतिहास प्रसिद्ध राज-परिवार से सम्बन्ध रखने वाले मार्मिक कथानक और घटनाचक्र का वर्णन करना है।

इन साध्यों की हमारे आज के जीवन में क्या उपयोगिता है? इस प्रश्न के उत्तर में एकमत हो सकना संभव नहीं है। नीति और आचार के बाह्य पक्षों का आग्रह न करते हुए भी केवल काव्य की दृष्टि से इतना कहा जा सकता है कि कुणाल के चरित्र में असाधारण दृढ़ता और सहन-शक्ति चित्रित की गई है। इसका काव्यगत ही नहीं, सामयिक जीवन में भी सार्वजनीन मूल्य है। तत्कालीन जीवन के यथातथ्य चित्रण में कवि का आशय अपने प्राचीन कृतित्व की ओर ध्यान आकृष्ट कर राष्ट्रीयता की भावना भरना है। हमें शिकायत इतनी ही है कि इस काल के चित्रण में कवि और अधिक यथार्थता और विवरण में क्यों नहीं गया? तीसरा साध्य, रमणीक कथानक का निर्माण भी, मानव-जीवन की स्थिर कलात्मक आकांक्षा की ही पूर्ति करता है।

इस सम्बन्ध में शंकाएँ हो सकती हैं कि भूत काल में कवि का विचरण करना वर्तमान जीवन से पलायन-मात्र है और राज-परिवार के विविध प्रसंगों का आलेख पुरानी सामंतकालीन रुचि और संस्कारों का परिचायक है। किन्तु कवि के काव्यप्रवाह को ध्यान में रखते हुए उसकी वास्तविक प्रवृत्तियों का आकलन करने पर ये आरोप निराधार सिद्ध होते हैं। कवि का लक्ष्य विभ्रान्त होकर अतीत में विचरण करना मात्र नहीं है, वह साशय विचरण है और राज-परिवार के चित्रण में सामंतकाल का मिथ्या मोह नहीं है, उस काल के ऊँचे आदर्शों के प्रति सजग श्रद्धा का भाव है।

यदि यह कहा जाय कि उन आदर्शों का चित्रण भी आज के लिए प्रतिक्रियात्मक वस्तु है और राज-परिवार के जीव को आदर्श रूप में अंकित करना ही अपराध है, तो इस अपराध को कवि की ओर से स्वीकार कर लेना पड़ेगा। किन्तु तब उन अतिवादी आलोचकों से यह निवेदन करना होगा कि देश, राष्ट्र और संस्कृति का नाम लेना छोड़कर और क्रमागत भाषा तथा काव्य से विच्छिन्न होकर मूक, बर्बर और अकिंचन जीवन की उपासना वे आरम्भ कर दें।

जहां तक सोहनलाल जी और उनकी इस रचना का संबंध है, उन्होंने प्राचीन कथानक तो ग्रहण ही किया है, अपने पूर्ववर्ती कवियों के छंद और यत्र तत्र उनकी अभिव्यंजना शैली भी अपनायी है। सोहनलाल जी के संबंध में मैं कह चुका हूँ कि उनमें वीर पूजा की प्रवृत्ति प्रकृतिगत है। उनका यह गुण जहां एक ओर उन्हें नवीन और पुरातन महिमामय चरित्रों और

आख्यानों के अनुसंधान तथा गुणगान में लगा सका, वहां दूसरी ओर पूर्ववर्ती काव्य का सौरभ भी उन्हें लुब्ध कर सका और मधुकर की सी गुणग्राही रसिकता भी उनमें आ सकी। आरंभ से ही मेरी यह धारणा रही है कि सोहनलाल जी नवीन प्रवर्तन की अपेक्षा नवीन परिष्कृति और नव्य सज्जा के कवि हैं, किन्तु इस कारण मेरे मन में उनके काव्य के प्रति लघुता की धारणा कभी नहीं रही। मेरा सदैव यह विश्वास रहा है कि हिन्दी को नवीन प्रवर्तकों की जितनी आवश्यकता है उससे कम आवश्यकता भाषा और साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान करने वाले कवि-हृदय रसज्ञों की नहीं है। सोहनलाल जी को मैं प्रचुर मौलिकता संपन्न ऐसा ही कवि-हृदय रसज्ञ मानता आया हूँ और उनके कुणाल काव्य को पढ़ लेने के पश्चात् मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई है कि राष्ट्रीयता का अनन्य प्रेमी यह वीरोपासक कवि हिन्दी में राष्ट्रीय महाकाव्य की कमी पूरी करने के लिए ही सौभाग्यवश हमारे साहित्य में आया है।

जहाँ तक प्रस्तुत पुस्तक का संबंध है, कवि ने वर्णनात्मक प्रसंगों की अपेक्षा भावगीतों में अधिक सफलता पाई है। नवम सर्ग के पथगीतों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। द्वितीय, तृतीय और अष्टम सर्ग में भी कुछ गीत हैं। काव्य के उत्कृष्ट स्थलों में इनकी भी गणना की जायगी। रूपचित्रण में भी कवि को यथेष्ट सफलता मिली है। तिष्यरक्षिता और कुणाल का तारुण्य अंकित करते हुए सुंदर उपमाओं का संग्रह किया गया है। अशोक के ऐश्वर्य का भी अच्छा वर्णन है—

सुख श्री संपति के कमल कुंज,
खिल उठे रत्न धन पत्र पुंज,
उल्लास लासमय मधुप गुंज,
था कहीं न पीड़ा का विलाप।

× × × × ×

थी वाम पार्श्व में खंग नग्न
ज्यों राज्य श्री हो मौर्य मग्न
पदतल लुंठित हो भक्ति लग्न
अकलंकित उज्ज्वल तीक्ष्ण धार।

× × × × ×

मानसिक स्थितियों के चित्रण में भी कवि की निपुणता उल्लेखनीय

है। तिष्यरक्षिता के चरित्र में मानसिक संघर्ष और मनोगतियों का अच्छा निरूपण हुआ है। तरुणी, राजमहिषी और व्यभिचारिणी का संयुक्त स्वरूप अंकित करने में स्वभावत: कठिनाई थी। किन्तु फिर भी कवि ने इस चरित्र को अच्छी रूपरेखा दी है।

इस काव्य का मुख्य रस शांत ही है। करुण रस की भी धारा इसमें बही है, किन्तु संपूर्ण काव्य का पर्यवसान शान्त में ही हुआ है। भारतीय आदर्शों के उपासक कवि के लिए शांत रस की यह नियोजना स्वाभाविक ही है।

कृष्णायन

१. काव्य-परिचय

यहां मैं नवीन काव्यग्रंथ 'कृष्णायन' का परिचय देना चाहता हूँ, जिसका निर्माण मध्यप्रांत के प्रसिद्ध राष्ट्रसेवी श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने किया है। 'कृष्णायन' की रचना सन् '४२ के 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दिनों में कारावास के अंतर्गत हुई थी। नौ सौ से अधिक पृष्ठों के इस बृहत् ग्रंथ में श्रीकृष्ण की संपूर्ण जीवनी का संकलन किया गया है। पुस्तक का मूल आधार 'महाभारत' है। किन्तु महाभारत में कौरवों और पांडवों की कथा मुख्य है। 'कृष्णायन' में कृष्ण नायक हैं और उन्हीं का आख्यान मुख्य है, यद्यपि महाभारत के प्रमुख प्रसंगों का भी 'कृष्णायन' में समावेश हो गया है। महाभारत में इतनी कथाएँ और अंतर्कथाएँ जुड़ी हुई हैं कि उसमें एक नियमित घटनाप्रवाह का संकलित स्वरूप नहीं आ पाया। 'कृष्णायन' का कथाविकास सुस्पष्ट और सुसंबद्ध है। महाभारत में अनेक प्रकीर्णक विषय इस प्रकार संलग्न हो गए हैं कि उनका सापेक्षिक महत्व छिप सा गया है। 'कृष्णायन' में महाभारत का सारांश लेकर कृष्ण कथा के साथ सुन्दर रूप में समाहित कर दिया गया है और साथ ही कृष्ण का महान् व्यक्तित्व भी काव्य में नायक रूप से प्रतिष्ठित किया गया है। 'कृष्णायन' में महाभारतीय वीर युग के संपूर्ण वातावरण के बीच कृष्ण के चरित्र का विकास ग्रंथ को महाकाव्य के अनुरूप सौष्ठव प्रदान करता है।

'कृष्णायन' के निर्माण में 'महाभारत' के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों से भी सामग्री ग्रहण की गई है; उदाहरण के लिए बालचरित्र का कथानक भागवत और सूरसागर आदि ग्रंथों से लिया गया है। अनेक पुराणों और प्राचीन काव्य कृतियों से भी यथास्थान सहायता ली गई है। भारत की विविध भाषाओं की रचनाओं के सुन्दर स्थलों का भी 'कृष्णायन' में उपयोग किया गया है। कवि ने विदेशी साहित्य के अध्ययन का भी आवश्यक लाभ उठाया है, किन्तु कहीं भी विदेशीयता का प्रभाव उसकी रचना में नहीं पाया जाता।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय जीवन और उसकी सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक परंपरा को विशुद्ध भारतीय स्वरूप में उपस्थित करने के लिए 'कृष्णायन'

का निर्माण किया गया है। महाभारत के विषय में उक्ति प्रसिद्ध है कि जो कुछ महाभारत में नहीं है वह भारतवर्ष में नहीं है, अर्थात् महाभारत में भारतीय जीवन का, उसकी संपूर्ण रीतिनीति, लोक-व्यवहार, शास्त्रीय-मर्यादा और दार्शनिकता के सहित उल्लेख किया गया है जिसके कारण उसे भारतीय जीवन और संस्कृति का आकर-ग्रंथ भी कहते हैं। कृष्णायन का कवि महाभारत की उस संपूर्ण जीवन-परंपरा को अपने काव्य में प्रत्यक्ष करना चाहता है। जान पड़ता है कि 'भारत छोड़ो' आंदोलन को मिश्रजी ने केवल राजनीतिक परतंत्रता से मुक्त होने के लक्ष्य से ही नहीं अपनाया, वरन् शताब्दियों के मानसिक और सांस्कृतिक दासत्व को दूर फेंकने की दृष्टि से उन्होंने भारतीय जीवन के उस विशुद्ध और सर्वतोमुखी विकास को दिखाना चाहा है जो महाभारत के पृष्ठों में बिखरा पड़ा है। संभवतः इसी कारण उन्होंने 'कृष्णायन' की रचना में नई भाषा का भी प्रयोग नहीं किया, वरन् उसे पुरानी लोक-भाषा में ही अंकित किया है।

"'कृष्णायन' में प्रथम बार कृष्ण की संपूर्ण जीवन-कथा को संकलित काव्य का स्वरूप दिया गया है। इसके पूर्व कविगण या तो कृष्ण के व्रज चरित्र का ही रमणीय गान करते थे अथवा उनके उपदेष्टा रूप की चर्चा कर लेते थे। कुछ कवि द्वारकावासी कृष्ण की परिणय-लीलाओं को ही अपना रचना-विषय बनाते थे। इन सब का एक ही जीवनप्रसंग में समाहार करना और महाभारत के मुख्य कथानक को कृष्ण की जीवनकथा के अन्तर्गत मिलाकर दोनों के संग्रथित स्वरूप का निर्माण करना मिश्र जी के अनुशीलन, शोध और कलात्मक सामर्थ्य का परिचय कराता है।

बालचरित्र के वर्णन में कवि ने भारतीय पारिवारिक जीवन के सुख, सौन्दर्य और परिपूर्णता को प्रदर्शित किया है। इसके लिए 'सूर सागर' से बढ़कर मनोरम वस्तुविन्यास और भावसामग्री कहां से मिल सकती थी। अतएव मिश्रजी ने इसका भरपूर उपयोग किया है। अवश्य उन्होंने सारे काव्य को दोहा-चौपाई में ही लिपिबद्ध किया है, जिससे काव्य की प्रबंध-धारा तो अक्षुण्ण रही है, पर दोहा-चौपाई और सोरठा के अतिरिक्त किसी अन्य छंद का व्यवहार न होने से 'कृष्णायन' में कहीं कहीं कठोर एकरूपता प्रकट हो उठती है। यदि रामचरित-मानस की भांति कुछ अन्य छंदों को भी कवि ने अपनाया होता, तो निस्संदेह काव्यप्रवाह में अधिक मनोरमता आ जाती।

बाललीला के प्रसंग में कृष्ण और राधा तथा कृष्ण और गोपियों का व्यवहार प्रदर्शित करने में मिश्रजी ने उनमें बाल्य और किशोरावस्था के भाव ही अंकित किये हैं। उनके समस्त कृष्ण चरित्र का यह अंश अपनी स्वाभाविक भूमि पर रहा है। भावगीतों की रचना करने वाले भक्त कवियों की भांति उन्होंने इसमें कृष्ण और राधा को चिरंतन पुरुषत्व और चिरंतन नारीत्व का प्रतीक बनाकर नहीं अंकित किया है और न प्रेम के संपूर्ण स्वरूपों की अभिव्यंजना उन दोनों का आधार लेकर की है। तात्पर्य यह है कि कवि ने राधाकृष्ण के बालचित्रण में व्यावहारिकता और वास्तविकता का अधिक ध्यान रक्खा है ।

प्रथम कांड की बाल-लीलाओं के पश्चात् कंस-बध के साथ द्वितीय कांड का आरम्भ होता है। उग्रसेन को मथुरा का राज्य सौंपकर श्रीकृष्ण विद्याध्ययन के लिए उज्जयिनी जाते हैं। गुरुकुलों की प्राचीन परिपाटी का स्वरूप आंखों के सामने आ जाता है। विद्याध्ययन के पश्चात् समावर्तन संस्कार पूरा कर श्रीकृष्ण कर्मक्षेत्र में प्रवेश करते हैं। यहाँ से उनका राजनीतिक जीवन प्रारंभ होता है। उन्हें सर्वप्रथम मगधराज जरासंध के आक्रमणों का सामना करना पड़ता है जो असुर पक्ष का प्रधान प्रतिनिधि था। कवि ने इस प्रसंग में राज्य-संचालन, शत्रु के छद्म व्यवहारों के प्रतिकार तथा रणनीति का भी परिचय दिया है। भारतीय युद्धकौशल की कई सुन्दर प्रक्रियाओं का भी यहाँ वर्णन किया गया है।

तृतीय, द्वारका कांड में श्रीकृष्ण द्वारा विपक्षियों के संहार के साथ साथ मित्र शक्तियों के संग्रह और संगठन का कार्य अग्रसर होता है। स्वभावतः उन्हें इन अवसरों पर अनेक राजकन्याओं से वैवाहिक संबंध स्थापित कर मैत्री विस्तार करना पड़ता है। कृष्ण के इन विवाह वृत्तांतों को कवि ने राजनीतिक स्तर पर नियोजित किया है। इन विवाहों का एक नैतिक पक्ष भी है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती; परंतु 'कृष्णायन' के कवि ने इतिहास, गाथा, राजनीतिक परिस्थिति और जनश्रुति के आग्रहों को प्रमुखता दी है, जिसके कारण दूसरे पक्ष की ओर पाठक का ध्यान नहीं जाता।

द्वारका कांड में रुक्मिणी-परिणय के अवसर पर श्रीकृष्ण अपने पार्षद अक्रूर को कौरवों और पांडवों की गतिविधि से संपर्क स्थापित करने के लिए भेजते हैं, और यहीं से यदुवंश की कथा-कालिन्दी भरतवश की गाथा-

भागीरथी के साथ एकाकार होकर बहने लगती है। श्रीकृष्ण आर्य साम्राज्य की व्यापक प्रतिष्ठा के लिए अपने यदुवंश की प्रादेशिक राजसत्ता का मोह त्याग देते हैं, और देश की संपूर्ण एकता के निमित्त प्रांतीय प्रलोभनों से विरत हो जाते हैं। यह व्यावहारिक उदाहरण और आदर्श उपस्थित करने के बाद ही वे गीता की अनासक्ति का संदेश देते हैं। इस प्रकार कर्म, वचन और मन की एकात्मकता की त्रिवेणी 'कृष्णायन' के कृष्ण की चरित्र-कल्पना की सुंदर विशेषता बन गई है। केवल अनुवाद की दृष्टि से भी मिश्र जी द्वारा 'कृष्णायन' के गीता कांड के रूप में किया गया गीता-अनुवाद अतिशय सुंदर बन पड़ा है।

चतुर्थ, पूजाकांड में राजसूय यज्ञ की प्राचीन पद्धति का विशद वर्णन किया गया है। यज्ञ के पश्चात् समवेत राजसभा में पुरुषोत्तम रूप में कृष्ण की अग्रपूजा का प्रसंग आता है, किन्तु कृष्ण के ऐश्वर्य की चरम अवधि का यह क्षण उनके द्वारा समस्त अभ्यागतों के पादप्रक्षालन रूप सुविनीत कृत्य में अपनी परिणति प्राप्त करता है।

जयकांड में 'कृष्णायन' के कवि ने महाभारत-युद्ध का वर्णन किया है। इस प्रसंग में भीष्म, द्रोण, कर्ण, अर्जुन और युधिष्ठिर आदि के वीर चरित्र भारतीय रंगभूमि पर पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व लेकर उपस्थित हुए हैं। 'कृष्णायन' के कवि ने भारतीय धर्मयुद्ध की सुंदर कल्पना की है जिसके अनुसार युद्ध जैसी अत्यंत भौतिक वस्तु भी ऊँचे नैतिक और आध्यात्मिक धरातल पर पहुँचा दी गई है। एक ओर सेनाएँ जीवन-मरण के संग्राम में संलग्न हैं और दूसरी ओर वहीं कृषक अपने नित्यप्रति के कृषिकार्य में संलग्न हैं। धर्मयुद्ध की ऐसी कल्पना भारत के अतिरिक्त कदाचित् किसी दूसरे देश में नहीं हुई।

'कृष्णायन' के कवि ने युद्धनीति तथा युद्धकौशल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, जिससे हमें प्राचीन भारत की इस विद्या का परिचय मिलता है। 'कृष्णायन' के युद्धवर्णन में अस्त्र-शस्त्र के अनेक नामों और प्रयोग-विधियों का उल्लेख है। कवि की एक अन्य विशेषता यह है कि वह युद्ध के अवसर पर पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप और विवाद द्वारा संघर्ष को मनोवैज्ञानिक उत्तेजना प्रदान करता है। इस सम्बन्ध में भीष्म और शिखंडी का संवाद उल्लेखनीय है। इस प्रकार के वर्णन कवि की अपनी सृष्टि हैं, वे कहीं से अनुकृत नहीं हैं।

अन्तिम आरोहण-कांड में कथावस्तु थोड़ी है, पर शर-शय्या-शायी भीष्म द्वारा दिये गये राजनीतिक उपदेश और स्वयं कृष्ण द्वारा मैत्रेय के संमुख उपस्थित की गई जीवनशिक्षा विशेष महत्त्व रखती है। यद्यपि इनमें भारतीय व्यवहार, नीति और आध्यात्मिकता का निदर्शन महाभारत के आधार पर ही किया गया है, किन्तु कवि ने स्थान-स्थान पर अपने स्वतंत्र अनुभव भी प्रकट किये हैं। केवल एक उदाहरण यहां पर्याप्त होगा। जीव की मुक्त-दशा का वर्णन हिन्दू दार्शनिक जिस रूप में करते हैं, जैन दार्शनिक उससे भिन्न रूप में करते हैं। जैनों के निरूपण में मुक्त जीव ही ईश्वर संज्ञा धारण करता है, वही पृथ्वी पर अवतार लेकर प्रकट होता है। किंतु हिंदू दर्शनों में जीव को ईश्वर की संज्ञा नहीं दी गई है। 'कृष्णायन' के कवि ने मुक्त जीव की कल्पना जैन आधार पर ग्रहण की है, क्योंकि वह उसे अधिक व्यावहारिक प्रतीत हुई है।

'कृष्णायन' के इस संपूर्ण निर्माण में यद्यपि प्राचीन भारतीय जीवन-स्वरूप और जीवनदर्शन को प्रस्तुत करने का प्रयत्न मुख्य है, परन्तु उसमें एक नवीन सन्देश भी है। संक्षेप में वह नवीन सन्देश है एक भारतव्यापी राष्ट्रीयता का निर्माण। कृष्णायन के कृष्ण इसी राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि हैं। कवि ने इस राष्ट्रीय निर्माण की प्रणाली या विधि का भी निर्देश किया है। वह विधि है असुरनीति के स्थान पर आर्यनीति की प्रतिष्ठा। यद्यपि आर्य और असुर संस्कृतियों का एक ऐतिहासिक आधार भी रहा होगा, पर 'कृष्णायन' में उक्त नीतियों को मानवीय जीवन-व्यवस्था की दो विभिन्न प्रणालियों के रूप में उपस्थित किया गया है। आर्यनीति का आधार है प्रेम, असुर-नीति का आधार है आतंक। असुर-नीति का स्वरूप कंस की राज्यव्यवस्था में दिखाया गया है —

कंस धनी अनुचर धनी भोगहिं भोग विशाल।
क्षुधित अकिंचन ग्राम जन विचरत जनु कंकाल।
राजभक्ति हरिभक्ति भइ राजेच्छा जन धर्म,
राज वचन श्रुति ऋषि गिरा, राजाज्ञा जन कर्म।

एक प्रकार की पूंजीवादी फासिस्ट राज्यव्यवस्था का ही यह प्राचीन प्रतिरूप है। इस व्यवस्था का दार्शनिक आधार कवि ने चार्वाक् मत में दिखाया है। भारतीय आर्य-व्यवस्था इसके विपरीत प्रेममूलक और

जनतांत्रिक है। इस व्यवस्था के दार्शनिक प्रवक्ता नारद, व्यास और स्वयं श्रीकृष्ण हैं।

'कृष्णायन' के इन बौद्धिक, दार्शनिक और सैद्धान्तिक उपकरणों के साथ उसका काव्य-पक्ष भी कम परिपुष्ट नहीं है। पुस्तक में ऐतिहासिक और पुरातत्त्व सम्बन्धी अनेक निर्देश हैं। भौगोलिक स्थानों का व्यापक उल्लेख है। नगरों और नृपतियों के नामों की भरमार है। कवि महाभारत-काल की घटनाओं और परिस्थितियों के संपूर्ण विवरणों से परिचित और अवगत है। उसकी यह बहुज्ञता काव्य के लिए उपादेय हुई है।

प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन करने में कवि-दृष्टि का सुन्दर परिचय मिलता है। यहां केवल एक छोटे वर्णन का ही उदाहरण दे सकूंगा —

निरखेउ उत्तर विंध्य प्रदेशा,
दुर्गम निविड़ अरण्य अशेषा।
दीपित दिनकर कतहुँ पहारा,
कहुँ गिरि कन्दर चिर अँधियारा।
कहुँ कहुँ नभ चुम्बन अभिलाषी,
शोभित प्रांशु शालतरु राशी।
कहुं कहुं अतुल गत भयदाता,
लय जनु विनु बराह उत्खाता।

'कृष्णायन' की शैली में पांडित्य और प्रवाह का सुन्दर योग है। प्रयोग की गई भाषा पर लेखक का अच्छा अधिकार है। शब्दों की सार्थकता के साथ कवि ने उपयुक्त ध्वनि का भी विवेक रक्खा है। युद्ध वर्णन की कतिपय पंक्तियां इस प्रकार हैं:—

वृंत विहीन प्रसून समाना।
होत छिन्न शिर लागत बाणा॥

... ...

तजि गज गजारोहि गजपाला।
गिरे शराहत शिथिल बिहाला॥

... ...

चेतन विरहति सारथि आहत।
शोणित परिप्लुत रथी कराहत॥

नष्ट त्रिवेणु अक्ष रथ चाका।
कीर्ण किंकिणी ध्वस्त पताका॥

... ...

यह सुप्रयुक्त पदावली भाषा पर कवि के प्रचुर अधिकार की सूचना देती है, जिसके अभाव में ऐसे वर्णनों को संभालना कठिन हो जाता।

सबसे अधिक सौन्दर्य कवि द्वारा प्रयुक्त छोटी-छोटी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में दिखाई देता है—

विरह विथा क्षण माँझ भुलानी।
शोक नदी सुख सिंधु समानी॥

... ...

अस्त अचिन्ह अमर समुदाई।
जात फेन जिमि लहर बिलाई।

... ...

विफल प्रयास भए सब तैसे।
शंख निनाद बधिर ढिग जैसे॥

... ...

खल स्वामी सेवा सहवासा।
अहिफण तल जनु दादुर वासा॥

... ...

त्रास चपल गोलक* विमल,
स[illegible] वलोचन छोर।
शी वेधी मीन जनु
करत वारि झकझोर॥

... ...

अस्तु मैं पुस्तक का सहर्ष स्वागत करता हूँ। विशेषतः इसलिए कि वर्तमान राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं में साहित्यिक अभिरुचि बहुत ही कम है, और साहित्यिक निर्माण तो नहीं के बराबर है। यदि 'कृष्णायन' के उदाहरण से हमारे राजनीतिज्ञ प्रेरणा ग्रहण कर सकें, तो साहित्य और राजनीति दोनों का बड़ा लाभ हो। देश के सांस्कृतिक उत्थान के लिए राजनीतिक क्षेत्रों में साहित्यिक चेतना का जाग्रत होना अत्यावश्यक और उपयोगी है।

---

२. नवीनता और मौलिकता

'कृष्णायन' को प्रकाशित हुए प्रायः तीन वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। इस बीच इस ग्रंथ की जो समीक्षाएं प्रकाशित हुई हैं, उनमें एकरूपता की बहुत कुछ कमी ही है। कतिपय समीक्षाएं अत्यन्त प्रशंसात्मक और दूरान्वयी हैं। इसके विपरीत कुछ समीक्षाएं अत्यन्त उपेक्षापूर्ण और विरुचिसूचक हैं। संमतियों के इस असाधारण अंतर और मूल्यांकन-संबंधी इस वैषम्य के दो-तीन कारण बहुत स्पष्ट हैं। कृष्णायन हिन्दी की नवीन काव्य-शैलियों से नितान्त भिन्न शैली-स्वरूप की कृति है। नवीन काव्यधारा के तरल और क्षिप्र प्रवाह की तुलना में कृष्णायन की धीर-गम्भीर गति प्रचलित काव्यसंस्कारों के अनुकूल नहीं पड़ती। आधुनिक कविता, कवि की वैयक्तिक मनःस्थिति का लगाव न छोड़ने के कारण, अत्यधिक आत्मपरक होती है। इसीलिए नवीन काव्य में आनेवाले व्यक्ति-चित्र और जीवन-दशाएँ नवीन समीक्षक के अधिक समीप पड़ती हैं। कृष्णायन में रचनाकार की व्यक्तिगत मनःस्थिति का योग नहीं के बराबर है। कृष्णायन का कथानक, चरित्र-चित्रण और परिस्थिति-निर्माण कवि की निजी अनुभूति के ज्ञापक नहीं हैं। उसमें एक तटस्थता और अलगाव है। दूसरी बात यह है कि कृष्णायन की भाषा, उसके आकार की विशालता तथा उसमें चित्रित विषय की दूरवर्तिता, समीक्षक के लिए परीक्षा की वस्तु बन जाती है जिसमें पूरा उतरना धैर्य और लगन से ही सम्भव है। अधिकांश संमतियां पुस्तक का विना पूरा अध्ययन किए ही उपस्थित की गई जान पड़ती हैं। तीसरी कठिनाई कृष्णायनकार के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखती है। एक कवि के रूप में हिन्दी संसार मिश्रजी से इसके पूर्व परिचित न था। वे एक सम्पादक के रूप में ही अधिक ख्यात रहे हैं। अतएव सहसा एक बड़े काव्य-ग्रंथ के प्रकाशन के पश्चात् हिन्दी समीक्षकों को एकदम नई भूमि में आ जाना पड़ा है। रचयिता के राजनीतिक पद के कारण भी कृष्णायन की सम्यक् समीक्षा में बाधा पड़ी है। यह अन्तिम वस्तु बहुत अधिक खेदजनक है। हिन्दी की साहित्यिक परम्परा में वह दिन अत्यन्त अशुभ होगा जब ऐसे साहित्य-बाह्य उपकरणों को लेकर साहित्यिक सम्मतियां बनाई जाएँगी।

हम मानते हैं कि कृष्णायन पुरानी परम्परा का काव्य है। उसकी शैली तथा स्वरूप-निर्माण में नवीन काव्य से एक मौलिक भिन्नता है। परन्तु हिन्दी साहित्य अपनी नवीन प्रगति के साथ अपने प्राचीन वैभव

से भी सदैव अनुप्राणित होता रहा है। इस युग में भी 'रत्नाकर' और सत्यनारायण कविरत्न के काव्य इसका प्रमाण उपस्थित करते हैं। हिन्दी-संसार कितनी अधिक प्राच्य और पुरागामी कृति को अपना सकता है, यह प्रश्न है। अग्रगामिता और परंपरा के इस भासित होने वाले विरोध में ही हिन्दी के स्वरूप की विशालता और ग्राहकता का प्रमाण मिलेगा। कितनी अधिक विस्तृत और दूरवर्ती भावभूमियों को हमारा नया साहित्य अपना सकता है, यह हमारे साहित्य की व्यापकता का मानदण्ड होगा।

कृष्णायन में प्राचीन पद्धति का अनुसरण करते हुए लेखक ने ग्रंथ में नवीन राष्ट्रीय आदर्शों को व्यक्त करने की भी चेष्टा की है। मूलतः इस ग्रंथ में देशव्यापी सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता का लक्ष्य रक्खा गया है और भारतीय राजनीति को प्राचीन आर्यनीति के व्याज से एक नई चेतना दी गई है। कवि की काव्यपद्धति और उसका विषय-विन्यास कितना ही पुराना हो, उसके काव्यसंदेश में सामयिकता का यथेष्ट योग है। काव्य की दार्शनिक भूमिका में भी कवि आधुनिक जीवन-समस्या को काफी गहराई में जाकर पकड़ता है। चार्वाक मत की तुलना में भारतीय आर्यमत को उपस्थित कर वह 'प्रसाद' जैसे नवीन कवि और 'कामायनी' जैसे नव्यतर काव्य की भूमिका का स्पर्श करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्यतंत्रीय, सामाजिक और दार्शनिक भूमिकाओं में लेखक पूर्णतः नई दृष्टि से काम लेता है।

अब यहां धारावाहिक रूप से कृष्णायन के कथानक का निर्देश करते हुए हम यह देखना चाहते हैं कि कृष्णचरित के निर्माण में पूर्ववर्ती रचनाओं का आधार रखते हुए भी कृष्णायनकार की अपनी विशेषताएँ क्या हैं? कृष्णायन काव्य को हम आरंभिक सर्ग से ही भक्ति-काव्य की परंपरागत भूमि से अलग होकर राजनीतिक, सामाजिक और दार्शनिक विषयों में विस्तार के साथ पैठते देखते हैं। उदाहरण के लिए, गोपीकृष्ण के बाललीला-प्रसंग में सूरदास तथा अन्य भक्त कवि शृंगार रस की विविध दशाओं की विस्तीर्ण योजना करते हैं। परंतु कृष्णायन में राधाकृष्ण के प्रेमप्रसंग का वर्णन दोनों के बाल्यवय को ध्यान में रखकर किया गया है। कथा का यह अंश कृष्णायन में चरित्र की वास्तविकता के आधार पर अंकित हुआ है।

परंपरागत भक्तिकाव्यों की पद्धति के अनुसार इसमें देवताओं की स्तुतियां तथा ऐसे ही अन्य अलौकिक प्रकरण भी नहीं हैं। उनके स्थान

पर इसमें आर्य और असुर जीवन-पद्धति के निरूपण का अधिक प्रयास है। फिर भी बालक कृष्ण द्वारा अनेक असुरों के वध की अलौकिक घटनाओं का निरसन कवि नहीं कर सका है। कृष्णायन के आरंभिक कांड म उन्हें पूरा स्थान दिया गया है। अलौकिक घटनाओं के वर्णन के संबंध में यह समझ लेना चाहिए कि अलौकिकता की अधिक विस्तृत योजना प्रबंधकाव्य की परिपाटी के अनुकूल नहीं होती। उसमें विश्वसनीय जीवन-घटनाओं का आकलन ही अधिक उपयुक्त होता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इस तथ्य को समझ कर रामचरितमानस में इसका निर्वाह किया है। कृष्णायन में असुर-वध के ये अलौकिक और अतिरंजित प्रसंग काव्य की गंभीर गति-विधि के अधिक अनुकूल नहीं हुए।

कृष्णायन के द्वितीय (मथुरा) कांड में कृष्ण के बालचरित्र को उनके परवर्ती जीवनचरित से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कृष्ण की बाललीलाओं से उनके परवर्ती चरित्र को जोड़ने वाला कोई प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। कृष्णकथा प्रायः तीन खंडों में विभाजित पाई जाती है। कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन श्रीमद् भागवत और देशभाषाओं के पदावली-साहित्य में पाया जाता है। कृष्ण के जीवन का दूसरा पहलू द्वारका के अधिपति के रूप में उनके विलास-वैभव और विवाहादि का है, जिसकी चर्चा प्राचीन प्रेमगाथा-काव्यों में बहुत कुछ बिखरी हुई मिलती है। उनका तीसरा स्वरूप कर्मयोगी, गीताप्रवक्ता और महान् राजनीतिज्ञ कृष्ण का चरित्र है जिसका वर्णन मुख्यतः महाभारत ग्रंथ में मिलता है। इन तीनों परस्पर भिन्न चारित्रिक पहलुओं को एक ही समन्वित चरित्र के रूप में संयोजित करना कठिन कार्य था। कदाचित् इसीलिए कृष्ण के चरित्र की यह समन्वित रूप-रेखा किसी एक ग्रंथ में अंकित करने की चेष्टा नहीं की गई थी। कृष्णायनकार ने उक्त तीनों जीवन-पक्षों को एक समन्वित प्रबंधकाव्य के रूप में बांधने का कुशल प्रयत्न किया है।

अवतरण कांड के बालचरित के पश्चात् कृष्णायन के द्वितीय कांड में कंसवध का वर्णन आता है और यहीं से कृष्ण का सांदीपनि-आश्रम में जाकर विद्याध्ययन करने का प्रसंग प्रस्तुत किया गया है। बहुत थोड़े समय में शिक्षा समाप्त कर श्रीकृष्ण पुनः मथुरा लौटते हैं और यहां आकर देखते हैं कि मगधसम्राट् जरासंध ने मथुरा पर चढ़ाई कर दी है। कृष्ण

झटपट मथुरा की रक्षा का उद्योग करने लगते हैं, और यहां से निरन्तर उनका समय संघर्षों के बीच बीतता हैं। कंसवध और जरासंध-संग्राम के बीच के विद्याध्ययन-समय को दो संघर्षों के बीच का स्वल्प संधिकाल समझना चाहिए।

इस द्वितीय (मथुरा) कांड में घटनाओं का जमाव अधिक समारोह-पूर्ण होने लगा है। लम्बे वर्णनों के बीच काव्यछटा दिखाने का कवि को अवसर मिला है, परन्तु किसी केन्द्रीय घटना का संसर्ग इस कांड में भी प्राप्त नहीं हो सका। रामचरितमानस में समस्त बालचरित जिस प्रकार पुष्पवाटिका और धनुषभंग के प्रकरणों में लयमान हो गया है, और स प्रकार अयोध्याकांड में राम-वनवास-संबंधी समस्त घटनाएँ भरत-। लन के समारम्भ में पर्यवसित हो गई हैं, वैसे केन्द्रीय प्रसंग की अपेक्षा म यहाँ भी करते थे। परन्तु मथुराकांड में कथानक का वैसा समाहार नहीं हो पाया।

आगे, द्वारकाकांड में जाकर वस्तुयोजना प्रौढ़ हो गई है। इसमें पाँच-छः मुख्य प्रसंगों के अन्तर्गत सारी कथा समाहित की गई है। कवि ने भागवत और महाभारत के प्रकरणों का, एक के पश्चात् एक, सुन्दर ग्रंथन किया है। कवि की महत्त्वाकांक्षा वस्तुचयन तक ही सीमित नहीं है। इस कांड में वह संस्कृत के कतिपय प्रमुख कवियों के काव्यों की तत्संबंधी भूमिका लेकर अपने वर्णनों की समृद्धि करता है। इस कांड में कवि ने स्वानुभव से भी काम लिया है। विमानयात्रा के प्रसंग में विविध भौगोलिक स्थानों का वर्णन, प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण, और विमानयात्रा के अनुभवों का उल्लेख काव्य के रमणीक स्थल हैं।

इस कांड के आरम्भ में शृंगार रस की जो भूमिका ग्रहण की गई है, उसका सम्यक् विस्तार और पल्लवन पूरे कांड में होता गया है। इसी रम्यप्रशान्त शृंगारिक भूमि पर सौम्य और चमत्कारपूर्ण वीर रस की घटनाओं की योजना कौरव-पांडवों की रण-शिक्षा के रूप में इन्द्रप्रस्थ में दिखाई गई है। सत्राजित-आख्यान और स्यमंतक मणि की घटना कौतूहल की दृष्टि से अनोखी है। इसे भी कृष्णायनकार ने विस्तार के साथ अपनाया है। द्रौपदी-स्वयंवर के आख्यान में कवि को अपने प्रिय विषय आर्यसंस्कृति के समुज्वल स्वरूप को उपस्थित करने का अवसर मिल गया है। वेदव्यास द्वारा कही गई

आर्यनीति का उल्लेख कृष्णायन काव्य के सुन्दर स्थलों में एक है।

चतुर्थ, पूजा कांड के अधिकांश आख्यान महाभारत से लिए गए हैं यद्यपि कुछ घटनाएं भागवत से भी संग्रहीत हैं। यत्र-तत्र 'शिशुपालवध' जैसे संस्कृत के प्रमुख काव्यग्रंथ का भी स्वतंत्र रूप से उपयोग किया गया है। इस कांड में महाभारत के सभापर्व, वनपर्व और विराटपर्व के विस्तृत स्थलों से कथानक की सामग्री ली गई है। पूजा कांड में आरम्भ से लेकर पांडवों की वनवास-आज्ञा तक का प्रकरण अधिक सुसंबद्ध बन पड़ा है। चार-पाँच चुने हुए कथांश, जैसे जरासंध-वध, राजसूय यज्ञ, शिशुपाल-वध, द्यूतक्रीड़ा और द्रौपदी चीर-हरण आदि महाकाव्योचित गरिमा लिए हुए हैं। दूसरी ओर कवि को द्वारकापुरी की घटनाओं को भी मुख्य कथानक के समानान्तर ले चलना पड़ा है। यहां की घटनाएँ अपेक्षाकृत अनिर्दिष्ट और विखरी हुई थीं। अतएव इन्हें ऊपर कहे हुए महाभारत के प्रसंगों के समकक्ष लाकर स्थापित करने में कवि के सामने बड़ी कठिनाई रही है। द्वारकापुरी के शाल्वयुद्ध-सम्बन्धी आख्यान में कृष्णायनकार ने पर्याप्त शक्तिमत्ता लाने का उद्योग किया है। महाभारत के कथानक को द्वारका में घटित होनी वाली यदुवंशियों की कथा के साथ जोड़ कर दोनों को समान समारोह के साथ आगे बढ़ाने में कवि की प्रबंध-कला को प्रशंसनीय सफलता मिली है।

इस कांड में दूसरी मुख्य समस्या महाभारत के पात्रों और चरित्रों के बीच कृष्ण के नायकत्त्व की रक्षा करने की रही है। महाभारत में पांडव नायक हैं, किन्तु कृष्णायन के नायक श्री कृष्ण हैं। ऐसी स्थिति में महाभारत के कथानक में कोई मूलवर्ती परिवर्तन किए बिना कृष्ण-चरित्र की प्रमुखता स्थिर रखना कृष्णायनकार की समृद्ध चरित्र-सृष्टि और काव्यकल्पना का द्योतक है। यह नहीं कि कृष्णायन के इस प्रसंग में कृष्ण को घटनाओं के मुख्य केन्द्र में स्थापित कर उनका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। महाभारत की ही भांति कृष्णायन में भी कृष्ण युद्ध के सक्रिय नायक नहीं हैं, फिर भी कृष्णायन के कवि ने उनकी वाणी और उनके व्यवहारों में असाधारण आकर्षण और प्रभावशालिता ला दी है।

कृष्णायन के (पंचम) गीताकांड के कथा-संघटन के सम्बन्ध में यह बाधा अवश्य है कि घटनाओं का जो क्रम सुनिश्चित रूप से युद्ध की ओर

बढ़ रहा था, वह सहसा रोक दिया जाता है और लम्बी दार्शनिक चर्चा आरम्भ कर दी जाती है। परन्तु कृष्णायन का गीताकांड घटनाओं की दृष्टि से नितान्त गतिरहित नहीं है। अर्जुन और दुर्योधन के रण-निमंत्रण में नाटकीयता का प्रचुर योग है। यदुवंशियों की युद्ध-सम्बन्धी तैयारी में बलराम और सात्यकि के चरित्र अच्छी मात्रा में उभार पा सके हैं। परन्तु इनसे भी अधिक उल्लेखनीय प्रकरण श्रीकृष्ण द्वारा यदुवंशियों की विशेषताओं के उद्घाटन का है जिसमें वे एक बार और विकासोन्मुख जाति की उन त्रुटियों का सूक्ष्म परिचय देते हैं जो उस जाति को सुनिश्चित विनाश की ओर ले जा रही हैं। संजय और श्रीकृष्ण के दूतत्व को आगे-पीछे रख कर कवि ने दोनों के चारित्रिक और राजनीतिक कौशल की तुलना का अच्छा अवसर दिया है। कौरव और पांडव शिविरों में चलने वाली सैनिक गतिविधि का परिचय भी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मदर्शिता लिए हुए है।

गीताकांड की एक अन्य प्रमुख विशेषता है वीरोत्साह के वातावरण में सहसा सूर्यग्रहण के धार्मिक पर्व के उल्लेख द्वारा शान्तरस की एक नई स्रोतस्विनी की उद्भावना कर देना। यह शान्ति और सात्त्विकता की सरिता श्रीराधा की प्रेमनिष्ठा और उनकी भक्तिचर्या का प्रकाश पाकर और भी प्रदीप्त हो उठी है। वीर और शान्त रस के प्रकरणों को साहित्यशास्त्र में प्रायः विरोधी माना जाता है, परंतु कृष्णायनकार ने युद्ध को भी आत्मिक शान्ति की भूमिका पर रख कर एक नई और मनोरम स्थिति उत्पन्न कर दी है। वास्तव में धर्मयुद्ध का जो स्वरूप कवि की कल्पना में साकार हुआ है, उसमें शान्ति, प्रीति और भक्ति की त्रिधारा विरोध की अपेक्षा एक उदात्त सामंजस्य की ही सृष्टि करती है। कृष्णायन के कवि की यह उदात्त कल्पना गीताकांड में दर्शनीय हुई है।

कृष्णायन के जय कांड में महाभारत-युद्ध का वर्णन है। इस कांड की उपयुक्तता के संबंध में संदेह हो सकता है कि कवि कृष्ण–कथा को छोड़ कर पांडवों के आख्यान को प्रमुखता दे रहा है। परंतु जयकांड का अध्ययन करने पर यह शंका निर्मूल सिद्ध होती है। वास्तव में समस्त देश में आर्यनीति के संस्थापन के लिए श्रीकृष्ण आरंभ से ही उद्योगशील रहे हैं। यही उनका मुख्य जीवनोद्देश्य रहा है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने ही युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने की सलाह दी थी। तभी से वे भरतवंश

में घटित होने वाली आगामी समस्त घटनाओं के लिए उत्तरदायी हो गए हैं। महाभारत-युद्ध भी उक्त राजसूय यज्ञ का ही परिणाम था। इस दृष्टि से महाभारत-युद्ध श्रीकृष्ण के राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवनोद्देश्य से अविच्छिन्न रूप में जुड़ा हुआ है और कृष्ण-जीवनी का वह एक अनिवार्य अंग हो गया है।

यह सही है कि महाभारत-युद्ध में श्रीकृष्ण उस रूप में युद्ध के नायक नहीं हैं जिस रूप में वाल्मीकि या तुलसी के राम–रावण-युद्ध में राम नायक हैं। फिर भी कृष्णायन के जयकांड में युद्ध के पूर्ण और सांगोपांग वर्णनों के बीच कृष्ण के अधिनायकत्व में किसी ओर से कमी नहीं आती। ऐसी अवस्था में जयकांड के लंबे युद्धवर्णन को काव्य के लिए अनावश्यक या अयथास्थान नहीं कहा जा सकता।

अंतिम आरोहणकांड में अधिक घटनाएँ नहीं हैं। कवि को चुने हुए स्थलों में रमने और विस्तारपूर्वक कुछ कहने का अवसर मिला है। एक ओर युधिष्ठिर द्वारा संचालित धर्मराज्य के वैभव और उत्कर्ष तथा दूसरी ओर यादवों के ह्रास और अपकर्ष का चित्र दिखा कर कवि ने उन्नतिशील और ह्रासोन्मुख राष्ट्रों की जीवन-दशाओं का निरूपण किया है।

इस कांड के आरंभ में पूर्वपक्ष के रूप में चार्वाक मत का उल्लेख किया गया है जिसमें प्रत्यक्ष को ही सब कुछ मान कर बरतने का विधान है। आगे चल कर भीष्म द्वारा दी गई राजधर्म की शिक्षा जीवन के व्यावहारिक और आदर्शात्मक पक्ष को प्रस्तुत करती है। प्राचीन राजनीति और जीवन-व्यवस्था के ये दोनों स्वरूप क्रमशः अनार्य और आर्य अथवा असुर और देव-संस्कृति के प्रतीक हैं। अंत में श्रीकृष्ण के मुख से जीवन के आध्यात्मिक पक्ष का उद्‌घाटन कराते हुए कवि ने भारतीय जीवन-सौन्दर्य के श्रेष्ठतम स्वरूप की झांकी दिखाई है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह कांड सर्वाधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें आर्य और अनार्य जीवन-दर्शन के साथ व्यावहारिक जीवन-चर्या और आध्यात्मिकता का भी सामंजस्य दिखाया गया है। महाभारत और भागवत दोनों की दार्शनिक दृष्टियों का उपयोग किया गया है।

कृष्णायन के आरोहणकांड की तुलना 'मानस' के उत्तरकांड से की जा सकती है। मानस के उत्तरकांड में रामराज्याभिषेक है तो कृष्णायन के आरोहणकांड में युधिष्ठिर की राजपद-प्रतिष्ठा है। मानस में एक ओर रामराज्य के वैभव का वर्णन है तो दूसरी ओर कलियुग का दारुण

चित्र है। कृष्णायन में भी भरतराज्य का उत्कर्ष और यादवों का अधःपतन दिखा कर समाज की दोनों परिस्थितियों का प्रदर्शन कराया गया है। अंतर है तो यह कि रामचरित-मानस में व्यावहारिक राजनीति और लोकदशा के चि ण के स्थान पर अत्यंत आदर्शात्मक रामराज्य की कल्पना की गई है। कृष्णायन में यह उल्लेख अधिक यथार्थ भूमि पर रक्खा गया है। मानस के कवि के संमुख वास्तविक शासन या राजव्यवस्था के उल्लेख की न स्थिति थी और न आवश्यकता ही। देश विदेशियों से शासित था। ऐसी स्थिति में रामराज्य की आदर्श कल्पना द्वारा कवि ने जनसमाज को पृथिवी पर स्वर्ग का आभास दिलाया है। कृष्णायन के कवि ने महाभारत का आधार लेकर राजनीति और शासन-व्यवस्था का अधिक व्यावहारिक और यथार्थ स्वरूप अंकित किया है। भक्ति और आध्यात्मिक जीवन-लक्ष्य को दोनों ही ने बड़े विस्तार और आग्रह के साथ उपस्थित किया है। गोस्वामी जी के लिए भक्ति ही साध्य और साधन थी, आध्यात्मिक साधना ही संपूर्ण जीवन-लक्ष्य थी। कृष्णायन के कवि इसे जीवन का उत्कृष्ट लक्ष्य मानते हुए भी समाज के यथार्थ स्वरूप और उसके कठोर सत्यों का विस्मरण नहीं करते। लौकिक और आध्यात्मिक आदर्श की समान प्रतिष्ठा कृष्णायन के कवि को अभीष्ट है जब कि मानसकार के लिए 'एकहि धर्म एक व्रत साधन, मन-क्रम-वच हरिपद आराधन' का मंत्र ही पर्याप्त रहा है।

—

खंड २

उपन्यास-कहानी

पश्चिमी उपन्यास

पाश्चात्य देशों में उपन्यास आधुनिक युग की देन है। इसका आरंभ नए युग के आगमन का सूचक है। उपन्यास से आजकल गद्यात्मक कृति का अर्थ लिया जाता है। पद्यबद्ध उपन्यास नहीं हुआ करते। उपन्यास के विकास से गद्य के विकास का भी सम्बन्ध है। प्रायः वही परिस्थितियाँ गद्य के विकास में सहायक हुई हैं जो उपन्यास के विकास में योग दे रही थीं। यूरोप में गद्य-उपन्यासों के पूर्व कुछ प्रेमाख्यानक कवितायें प्रचलित थीं। उन्हें ही आधुनिक उपन्यास की जननी कहा जा सकता है।

उपन्यास का स्वरूप :—मध्य-युग के सामंती समाज का अंत होने पर जब नवीन औद्योगिक सभ्यता का आविर्भाव हो रहा था और नगरों में नवीन मध्यवर्ग की सत्ता स्थापित हो रही थी, उसी समय उपन्यास के साहित्यांग का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार उपन्यास एक ओर गद्य-साहित्य के निर्माण और विकास का समकालीन है और दूसरी ओर वह मध्य वर्ग के उत्थान का समसामयिक है। यही उसकी साहित्यिक और सामाजिक स्थिति विशेष है।

विचारों के क्षेत्र में नवीन युग का आरंभ धार्मिक विचारधारा के स्थान पर स्वतन्त्र और व्यक्तिमूलक विचारों के प्रचलन के साथ हुआ। धार्मिक युग में उपन्यासों के लिये स्थान नहीं था, क्योंकि उपन्यास का सम्बन्ध व्यक्तियों के वास्तविक जीवन से है और उसमें साधारण दैनिक घटनाओं का भी पूर्ण योग रहता है। इस दृष्टि से उपन्यास मूलतः यथार्थ-वादी कलासृष्टि है, क्योंकि वह जीवन की वास्तविक घटनाओं पर आश्रित रहता है। आगे चलकर तो उपन्यास जीवन से इतना तद्रूप हो उठा कि वास्तविक जीवन में तथा उपन्यास की साहित्यिक कृति में अन्तर ढूँढ़ निकालना कठिन हो गया (यद्यपि यह अन्तर तो है ही कि उपन्यास सर्वथा काल्पनिक कृति है, वास्तविक जीवन-घटना की छाया ही वहां रहती है।) प्रारंभिक अवस्था में भी उपन्यास की प्रवृत्ति सामान्य जीवन के निकट रहकर उसकी यथार्थता का छाया-चित्र या प्रतिबिंब उपस्थित करने की रही है। उपन्यास 'फोटोग्राफिक' कला भी कहा जा

सकता है और इस दृष्टि से भाव-प्रधान काव्यकला से उसका अंतर स्पष्ट दिखाई देता है ।

उपन्यास चित्रण और वर्णन-प्रधान साहित्य है । इस दृष्टि से उसका स्वरूप नाटकीय साहित्य से भी भिन्न है । नाटक में घटनाओं का चयन अधिक वेगवान, प्रवाहशील और नाटकीय परिस्थिति की द्वंद्वात्मकता के उपयुक्त हुआ करता है । परंतु उपन्यास में घटनाओं की गति मन्द और व्यापक होती है । किसी फल या कार्य-विशेष की ओर वेग से आगे बढ़ने की आवश्यकता नाटक में होती है, उपन्यास में नहीं । समस्त उपन्यास ही एक प्रकार से कार्य होता है । उसमें फल, निर्णय अथवा कार्य की योजना केवल निष्कर्ष के रूप में नहीं होती । स्वतन्त्र रूप से स्वभाव वैचित्र्य को तथा चारित्रिक विशेषताओं को प्रदर्शित करने का उतना अवकाश नाटक में नहीं रहता जितना उपन्यास में । परंतु परिस्थिति, संयोग और चरित्र का एक दूसरे के संघात में उद्घाटन करना नाटक का कार्य है ।

किसी विद्वान् ने उपन्यास को पड़ी रेखा (Horizontal line) और नाटक को खड़ी रेखा (Vertical line) की उपमा दी है । इसका कारण यह है कि उपन्यास का चित्रण समतल भूमि पर होता है और नाटक में घटनायें नीचे से ऊपर की ओर दौड़ती हैं । जिस प्रकार सम भूमि को देखने के लिये दृष्टि को चारों ओर फैलाना पड़ता है, एक-एक विशेषता का परिचय पाने के लिए स्थान-स्थान पर ठहरना पड़ता है, उसी प्रकार उपन्यास की समीक्षा उसके प्रत्येक अध्याय पर दृष्टिपात करने पर ही हो सकती है । इसके विपरीत नाटक प्रभाववादी कला है जिसमें पाठक का ध्यान अन्तिम फल की ओर समाहित रहता है । नाटक का संबंध घटनाओं की असाधारण प्रगति और संघर्ष से है, परन्तु उपन्यास का संबन्ध घटनाओं की स्वाभाविक गति और फैलाव से है । नाटकों का सम्बन्ध चरित्र की परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न होने वाले विस्मयकारक परिणामों से है । उपन्यास में चरित्रों की मीमांसा अधिक तटस्थ और निरपेक्ष रूप में होती है । वर्तमान समय में नाटकों का निर्माण किसी समस्या-विशेष के निरूपण के लिये भी किया जाता है । नाटक में ऐसी घटनाओं का संग्रह करते हैं जो उस समस्या के मुख्य पहलुओं को स्पर्श करती है और अंततः नाटक उक्त समस्या का सम्पूर्ण निरूपण कर समाप्त होता है । उपन्यास में इतनी

अधिक स्वाभाविक चित्रण की आवश्यकता रहती है कि उसमें कोई विशेष समस्या आधार या लक्ष्य बन कर नहीं आ सकती। यद्यपि जीवन के किसी अंग-विशेष को लेकर विशेषज्ञता-प्रधान रचना भी उपन्यासों में होने लगा है, परन्तु समस्या-उपन्यास का नाम अब तक नहीं सुना गया।

उपन्यास का स्वरूप छोटी कहानी या लघुकथा से भी भिन्न होता है। छोटी कहानी या लघुकथा जीवन का एक अंश चित्र होती है और उस अंश-चित्र में भी परिस्थितियों की विशेषता, घटनाओं का असाधारण प्रवेग और मानव मनोवृत्तियों का मार्मिक उद्घाटन आवश्यक होता है। इन तीनों के योग से ही छोटी कहानी अपना अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करती है।

इस दृष्टि से छोटी कहानी उपन्यास की अपेक्षा नाटक के अधिक निकट है। नाटक की ही भांति लघकथा में भी सापेक्षता का तत्व अधिक प्रमुख रहता है। घटनायें और परिस्थितियाँ चरित्रात्मक संघर्ष की सृष्टि करती हैं और उन्हें तात्कालिक निर्णय की ओर आगे बढ़ाती हैं। उपन्यास में इस सापेक्षता की आवश्यकता नहीं होती। उसमें देश और काल का संकोच नहीं रहता। विस्तृत समय और विस्तृत स्थल पर उपन्यास का रंगमंच प्रतिष्ठित रहता है। कला की दृष्टि से भी नाटक और छोटी कहानी प्रभावान्विति (Unity of effect) को लक्ष्य मानती हैं। परन्तु उपन्यास इस तरह का कोई लक्ष्य नहीं रखता। यही नहीं, जो उपन्यास अधिक उद्देश्य-मूलक होकर लिखे जाते हैं, उनकी औपन्यासिकता में बाधा पड़ती है और उपन्यास-रसिकों को उनमें रोचकता की कमी अनुभव होती है। उपन्यास का जगत् खुले हुए आकाश के नीचे फैली हुई विस्तृत हरीतिमा के समान है जिस में नाना वर्ण के वृक्ष, लता, गुल्म, पशु, पक्षी आदि स्वछंद रूप से विहार करते हैं, यद्यपि इस स्वच्छंदता में भी एक समग्रता तो रहती ही है।

गद्य-साहित्य का आरंभ होने के साथ ही गद्य के अनेक रूपों की अवतारणा हो चली थी। विचारात्मक तथा चरित्रांकन अंकित करने वाले निबन्धों की रचना होने लगी थी। समाचारपत्रों में विचार-सम्पन्न रोचक गद्य लेख प्रकाशित होने लगे थे। साहित्य सामान्य जीवन से अपना लगाव बढ़ाने लगा था। इसके पूर्व साहित्य का लक्ष्य महत्वपूर्ण प्रसंगों और चरित्रों की अवतारणा करना

था। असाधारण गांभीर्ययुक्त चरित्रों का निर्माण होता था। शैली में भी आलंकारिकता और प्रसाधन की प्रधानता थी, और अधिकांश साहित्य कविता-बद्ध हुआ करता था। इस असाधारणता के विरुद्ध विद्रोह के रूप में उक्त गद्य-साहित्य की अवतारणा हुई। जो प्रवृत्ति गद्य के निर्माण के मूल में देखी जाती है—भावात्मकता के स्थान पर विचारात्मक दृष्टि और जन-साधारण के दैनिक जीवन और विचारों की वस्तून्मुखी अभिव्यक्ति— उसीका विशद और परिपूर्ण कलात्मक स्वरूप उपन्यासों की सृष्टि में दिखाई देता है।

आरंभिक उपन्यासकार :—अंग्रेजी साहित्य में सबसे पहले उपन्यास-लेखक रिचर्डसन, फील्डिंग और स्टर्न माने जाते हैं। तीनों ने तीन शैलियों का आविर्भाव किया था। एक चौथा प्रकार डेनियल डीफो नामक रचनाकार का था, जिसने आत्मकथा के रूप में अपना प्रसिद्ध उपन्यास "राबिन्सन क्रूसो" लिखा था। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्णनात्मक शैली में कल्पना के आधार पर यथार्थ प्रतीत होने वाली जीवन-घटना का चित्रण करना उपन्यासों का प्राथमिक लक्ष्य था। कल्पना-निर्मित वास्तविक जीवन कथा ही उपन्यास है, उक्त उपन्यासों को देखते हुए यही उनकी परिभाषा की जा सकती है।

रिचर्डसन की शैली पत्रों के रूप में उपन्यास लिखने की थी। डीफो की आत्मकथा-शैली की अपेक्षा यह पत्र-शैली चरित्रों के स्वरूप को अधिक मार्मिकता के साथ उपस्थित कर सकी है। रिचर्डसन की चरित्र सृष्टि में भावुकता और आदर्शवादिता का पूरा योग है। वह साधारण जीवन से ही अपने पात्र लेता है, परंतु उसके नायक और नायिका साधारण जीवन से सम्बद्ध होते हुए भी निर्दोष, भावुक तथा आदर्श-वादी हैं। स्वभावतः रिचर्डसन के चित्रों में नैतिक भावना और आदर्श-वादिता का पुट अधिक पाया जाता है।

इसके विरुद्ध हेनरी फील्डिंग के उपन्यास अधिक यथार्थोन्मुख हैं। लेखक का जीवन-सम्बन्धी निरीक्षण और अनुभव यथातथ्य रूप में व्यक्त हुआ है। स्वभावतः उपन्यास पाठकों की अधिक रुचि जीवन के वास्तविक स्वरूप के चित्रणों में हुआ करती है। इस दृष्टि से फील्डिंग १७वीं शताब्दी का अंग्रेजी भाषा का प्रथम और प्रमुख उपन्यासकार माना जाता है।

स्टर्न के उपन्यासों में जीवन का विनोदात्मक पक्ष अधिक अंकित

हुआ है। उसके उपन्यासों में हास्य-विनोद और व्यंग्य की अधिकता है। फीलिडंग और स्टर्न तक आते-आते उपन्यासों की वर्णनात्मक शैली प्रतिष्ठित हो चुकी थी और आत्मकथा तथा पत्र-शैली की अपक्षा तृतीय पुरुष में कथा कहने का ढंग प्रचलित हो चला था।

द्वितीय उत्थान :—यद्यपि अंतर्वर्ती समय में यूरोप तथा इंगलैंड में भी अनेक उपन्यास-लेखक हुए, परन्तु अंग्रेजी साहित्य में उपन्यासों का द्वितीय उत्थान स्काट के उपन्यासों द्वारा आरंभ हुआ। 'स्काट' और 'ड्यूमा' १८वीं शताब्दी के आरंभिक भाग में उपस्थित थे। इसी समय के आसपास फ्रांस में विक्टर ह्यूगो के उपन्यास प्रकाशित हो रहे थे। इन तीनों उपन्यासकारों की प्रमुख विशेषता परंपरा प्राप्त सामाजिक धारणाओं, विचार-पद्धतियों आदि को अमान्य कर एकदम नवीन और स्वच्छन्द चरित्र-सृष्टि करनी थी। यही कारण है कि इनकी कृतियों को तत्कालीन समाज में बड़े विरोध का सामना करना पड़ा। वे अश्लील, समाज-विरुद्ध और स्वतंत्र मानी गईं। परन्तु उपन्यास का मुख्य तत्व स्वच्छन्द विचारण और अबाध चरित्र-सृष्टि, इन उपन्यासकारों में पूर्ण मात्रा में प्रदर्शित हुआ।

स्काटलैंड-निवासी सर वाल्टर स्काट ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। ऐतिहासिक उपन्यास लेखक को तत्कालीन इतिहास की पूर्ण जानकारी रहनी चाहिये। उस जानकारी पर औपन्यासिक रंग चढ़ा कर वह उसे हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। यदि उपन्यासकार उस समय की ऐतिहासिक स्थिति, सामाजिक प्रथा, चाल-चलन, व्यवहार, बोल-चाल, वेश-भूषा, अर्थनीति, राजनीति आदि के विवरणों से परिचित नहीं है और केवल कल्पना के आधार पर चरित्रों को गढ़ लेता है, तो उपन्यास ऐतिहासिक दृष्टि से दोषपूर्ण होगा। पूर्णतः कल्पनाजन्य होते हुए भी परिपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य का प्रवेश ऐसे उपन्यासों में होना चाहिये। स्काट अंग्रेजी का सफल ही नहीं, श्रेष्ठ उपन्यासकार माना जाता है। परन्तु उसके उपन्यासों में ऐतिहासिक काल-दोष है। तथापि उसके उपन्यासों में सामान्यतः प्राचीन इतिहास के बहुत ही सुन्दर और हृदयग्राही चित्र देखने को मिलते हैं।

अभी तक उपन्यासों में दार्शनिक तत्व का आगमन नहीं हुआ था। कहानी या वर्णन ही उसका मुख्य अंग था और चरित्रचित्रण कथा के

साथ रहा करता था। कहानी का उपयोग जीवन के विविध पक्षों के मनोरंजक उद्घाटन के लिये किया जाता था। इस समय तक उपन्यास जीवन के अनेक पहलुओं के दिग्दर्शन का माध्यम था। जीवन के पहलू कभी तो राष्ट्रीय और कभी नागरिक या पारिवारिक जीवन के रहते थे और कभी वे इतिहास के मार्ग का अनुसरण करते थे।

इस समय तक उपन्यासों में कहानी व परिस्थिति का चित्रण (Narrative) मुख्य रूप से रहा करता था। उपन्यासों में वस्तुवर्णन की प्रधानता थी और चरित्र-चित्रण द्वितीय तत्व था। चरित्र के स्वरूप का उद्घाटन और कहानी द्वारा जीवन के अंगों का चित्रण, उपन्यास का लक्ष्य था।

इसी समय दार्शनिकता का आधार लेकर जीवन-मर्म को प्रस्तुत करने का कार्य उपन्यासों ने ग्रहण किया। स्काट ही नहीं, डिकेन्स तक में, जो १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का उपन्यासकार था, यह दार्शनिक पक्ष उभर नहीं पाया था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनके उपन्यासों में कोई मर्म नहीं था, या उन्होंने निरर्थक जीवन-चित्रण को लक्ष्य बनाया था। निश्चय ही जो कुछ उन्होंने चित्रित किया, उसके मूल में उनकी जीवन-सम्बन्धी धारणा अवश्य थी। परंतु चित्रण के मूल में किसी जीवनदर्शन की योजना उनमें नहीं थी।

स्काट के पश्चात् अलेक्जेंडर ड्यूमा और विक्टर ह्यूगो नामक उपन्यासकार हुए। ये १८वीं शताब्दी के प्रमुख उपन्यासकार थे। इनका मुख्य कार्य फ्रांस व विशेषतः पेरिस के कोने-कोने के जीवन के विभिन्न पहलुओं को उपस्थित करना था। ह्यूगो के उपन्यासों में तत्कालीन राजनीतिक व विचार-संबन्धी द्वन्द्वों के चित्र उपलब्ध होते हैं। वे उद्देश्य का संकेत भी देते हैं। ह्यूगो के उपन्यास विभिन्न वर्गों और समुदायों के चित्रण में भी अप्रत्यक्ष रूप से योग देते हैं, परंतु उनमें प्रत्यक्ष दार्शनिकता नहीं है। दर्शन या उद्देश्य की प्रमुखता और उसके अनुवर्ती रूप में उपन्यास की रूप-रचना अब तक आरंभ नहीं हुई थी।

तृतीय उत्थान:–डिकेन्स के पश्चात् थेकरे ने उद्देश्यपूर्ण उपन्यासों की रचना की। इन्होंने उद्देश्यमूलक सर्वप्रथम उपन्यास "व्हेनिटी फेयर" लिखा। ये १८वीं शताब्दी के मध्य भाग में अंग्रेजी साहित्य में अवतरित हुए।

अब उपन्यास वर्णनात्मक कलासृष्टि तक सीमित न रह कर दार्शनिकता के क्षेत्र में भी पदार्पण करने लगे। 'वैनिटी फेयर' दो नारियों के कथानक से आरम्भ होता है। उनमें एक नारी आवश्यकता से अधिक चतुर व सक्रिय है। दूसरी बहुत ही भोली-भाली और सामान्य है। इन दोनों के आधार पर कथानक बढ़ता है। हम देखते हैं कि पहली को पग-पग पर सफलता वरण करती है परन्तु, उपन्यास के अन्त में, वह देखती है कि वह चतुर होती हुई भी उस दूसरी भोली-भाली नारी से अधिक सुखी और सफल नहीं रही। इससे भिन्न दूसरी नारी अपने सरल और प्रदर्शन-हीन स्वभाव के कारण जीवन में अधिक उन्नति नहीं कर पाती, परन्तु उपन्यास के अन्त में वह देखती है कि उसका जीवन असफल नहीं रहा। इन विरोधी चरित्रों के निर्माण करने का उद्देश्य संसार में सफलता व असफलता के यथार्थ स्वरूप की मीमांसा करना है। थैकरे के मत में ऊपर से दीखने वाली सफलता ही वास्तविक सफलता नहीं है और अनेक बार ऊपरी असफलता के पर्दे में सफलता का सुन्दर स्वरूप झांकता रहता है। 'वैनिटी फेयर' में इस दार्शनिक प्रयोजन के साथ और भी विचार बिखरे हुए हैं। प्रथम बार ऐसी कृति अंग्रेजी में आई, जिसमें वर्णन और चरित्र-चित्रण से ऊपर प्रमुख रूप से कोई दार्शनिक या विचार-सम्बन्धी तथ्य उपस्थित किया गया। यह उपन्यासों में एक नया विकास था।

डिकेन्स के उपन्यासों में कथानक नवीन नहीं है। पुरानी कृतियों में जो पात्र मिलते हैं, उन्हें ही नया रूप दिया गया है। ये कथानक व पात्र मूल कथा में बहुत ही असाहित्यिक व भोंड़े रूप में थे। डिकेन्स ने उन्हें वहां से लेकर अपनी प्रतिभा के नये साँचे में ढाला और उन्हें साहित्यिक दृष्टि से विनोदात्मक चरित्र की भूमि पर ला खड़ा किया। इस तरह उन्होंने सर्वप्रथम विनोद-प्रधान (Comic) उपन्यासों का सृजन किया।

प्रहसन प्रायः व्यंग्यात्मक व भोंड़े चित्रों व दृश्यों को लेकर रचे जाते हैं। उनमें अतिशयोक्ति और अतिरंजना रहती है। पात्रों की त्रुटियों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर चित्रित करते हैं। परन्तु डिकेन्स के विनोद-प्रधान उपन्यासों में सौम्यता है, संयम है, शिष्टता है। डिकेन्स इंगलैंड का राष्ट्रीय उपन्यासकार है। उसने वहां के राष्ट्रीय व्यवहारों और आचरणों का उद्घाटन किया है। यदि समस्त अंग्रेजी साहित्य में प्रतिनिधि राष्ट्रीय उपन्यास-कार के चुनने का प्रश्न हो, तो कदाचित् डिकेन्स ही चुना जायगा। इसके

उपन्यासों में बौद्धिकता और दार्शनिकता ऊपर से नहीं आई है। साथ ही कथानक का तंतु भी शिथिल है। चरित्रों को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रख कर उनका परिस्थिति के अनुकूल यथातथ्य चित्रण किया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि डिकेन्स के उपन्यास चरित्र और परिस्थिति प्रधान हैं।

व्यक्तिवादी उपन्यास

डिकेन्स के पश्चात् उपन्यासों से तटस्थता और विनोद-भावना की वृत्ति बदलने लगी और उपन्यासकार अपने को ही अपनी कृत्ति में सन्निविष्ट करने लगे। उपन्यासों में आत्मपरक चित्रण (Subjective portraiture) का युग आया। अब उपन्यासों में निजी भावों, अनुभवों, विचारों व सिद्धान्तों का मिश्रण किया जाने लगा। डिकेन्स के चित्र निरपेक्ष और तटस्थ हैं। उन्हें डिकेन्स ने अपने भावों, विचारों और अपने व्यक्तित्व से रंजित नहीं किया। व्यक्तिवादी उपन्यासकला का आविर्भाव डिकेन्स के बाद हुआ।

चरित्र-चित्रण दो प्रकार का होता है। पहला जातिगत चित्रण। इन चरित्रों में व्यक्तिगत विशेषतायें न रह कर वर्गगत विशेषतायें होती हैं। यह चरित्र जिस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, उसमें उस वर्ग के समस्त गुणों, प्रवृत्तियों आदि की विशेषतायें रहा करती हैं। ऐसे चरित्रों में सूक्ष्म वैयक्तिक और मनोवैज्ञानिक विशेषतायें नहीं होतीं। हम यह नहीं कह पाते कि यह व्यक्ति यही है, दूसरा कोई इसके अनुरूप नहीं हो सकता। दूसरे प्रकार का चित्रण व्यक्तिप्रधान होता है। इस प्रकार का व्यक्ति वही है जो उस उपन्यास में है। ऐसे व्यक्ति का चित्रण पढ़ने से ही यह नहीं मालूम होता कि ऐसा हमने भी देखा है। वे चरित्र वैयक्तिक विशेषताओं से पूर्ण रहते हैं। डिकेन्स के चरित्र जातिगत प्रतिनिधिरूप में हैं। परन्तु पीछे के उपन्यासकारों ने वैयक्तिक चरित्रों की भी सृष्टि की। यह उपन्यास में व्यक्तिवादी और मनोवैज्ञानिक चरित्र-सृष्टि का आरम्भिक प्रयोग था। ऐसे चरित्रनिर्माण की प्रमुख विशेषता यह होती है कि वे परिस्थितियों और घटनाओं के योग से बनते हैं और निरंतर उनका स्वरूप-परिवर्तन होता रहता है। सामूहिक गुणों के प्रतीक पात्र प्रायः आदि से अन्त तक समरस रहते हैं, उनमें कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं होता। परंतु दूसरे प्रकार के पात्र परिवर्तन पर ही आश्रित होते हैं। एमिली ब्रांट नामक लेखिका के उपन्यास इसी प्रकार के हैं।

मध्यवर्गीय आदर्शवाद—उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जिसे विक्टोरियन युग कहते हैं, एक दूसरे प्रकार के औपन्यासिकों का आगमन हुआ। यह युग मध्य-वर्ग की उस विकासावस्था का परिचायक है जब कि वह वर्ग अपने को सांस्कृतिक दृष्टि से समाज का नेता मान चुका था। ऐसे समय में मध्यवर्ग के जिन लेखकों ने उपन्यास-रचना का कार्य किया, उन्होंने मध्य-वर्ग के पारिवारिक और सामाजिक जीवन को आदर्श रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया। मध्यवर्गीय समाज की पारिवारिक पद्धति और रहन-सहन को ही आदर्श-पद्धति मान लेने में एक प्रकार की संकीर्णता अवश्य थी, परन्तु तत्कालीन औपन्यासिकों का ध्यान इस कमी की ओर नहीं गया। आदर्शवादी उपन्यासों का क्रम निरंतर चलता रहा और ऐसे चरित्रों की सृष्टि होती रही जो सीमा के भीतर कतिपय सुसंस्कृत गुणों के आधार थे। एक प्रकार की सांस्कृतिकता इन उपन्यासों में पाई जाती है। कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी इस युग में लिखे गये, जिनमें ऐतिहासिक परिस्थितियों का तथा सामयिक जीवन का व्यापक, विविधतापूर्ण और यथातथ्य स्वरूप दिखाया गया। चार्ल्स रीड का "दी क्लाइस्टर एण्ड दी हार्थ" नामक उपन्यास ऐसे उपन्यासों का एक उदाहरण है। परन्तु अधिकतर उपन्यास जीवन की व्यापकता और चरित्रों की ऐतिहासिक यथार्थता और वैविध्य को छोड़ कर मध्यवर्ग की जीवनचर्या प्रदर्शित करने में ही लगे रहे।

आधुनिक युग—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जॉर्ज मेरिडिथ और थामस हार्डी, दो प्रसिद्ध उपन्यासकार हुए जिनमें दूसरा नाम आधुनिक उपन्यास-साहित्य का प्रमुख नाम है। थामस हार्डी ने उपन्यास के स्वरूप-विकास में एक नया अध्याय जोड़ा। अब तक के उपन्यास कथानक-प्रधान और चरित्र-प्रधान थे। चरित्रों की विशेषतायें कतिपय गुणों के निरूपण द्वारा प्रदर्शित होती थीं, परन्तु जीवन की गहराई में जाकर पात्र या चरित्र के सम्पूर्ण स्वरूप का उद्घाटन, जीवन में उसकी इकाई का प्रदर्शन अब तक उपन्यासों में नहीं हुआ था। यह कार्य थामस हार्डी ने किया।

थामस हार्डी को, जिसने उपन्यासों का यह नया स्वरूप प्रस्तुत किया, हम चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यासकारों की श्रेणी में नहीं रख सकते। चरित्र-चित्रण के लिए पात्रों की परिस्थिति और उनकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया का निरूपण आवश्यक होता है, परन्तु हार्डी के उपन्यासों

में इससे कहीं अधिक गहनता और मार्मिकता के साथ जीवन के तात्विक स्वरूपों का दिग्दर्शन कराया गया है। हार्डी के इन उपन्यासों को वहाँ के कुछ अंग्रज आलोचक या पाठक अपनी परम्परा के बहुत अनुकूल नहीं मानते। उन्हें नियति-संबंधी सिद्धान्त और मानव के ऊपर प्रकृति और समाज के अनियंत्रित अत्याचार का यह चित्रण रुचिकर नहीं प्रतीत होता। परन्तु एक नये उपन्यास-प्रकार का निर्माण हार्डी ने किया, इसमें सन्देह नहीं। ये उपन्यास दार्शनिक कहे जा सकते हैं, किन्तु इनमें मानव-चेतना का तलवर्ती निरूपण होने के कारण इन्हें मानव के आध्यात्मिक और अंतरंग संघर्षों का निरूपक उपन्यास कहना अधिक संगत होगा।

यथार्थवादी प्रवाह—यूरोप में इसी समय यथार्थवादी उपन्यासों का प्रचलन होने लगा। यह १९वीं शताब्दी के अन्तिम काल की बात है। कल्पना-प्रधान व भावना-प्रधान उपन्यासों से यथार्थवादी विरक्त हो गये थे। उन्होंने मानवचरित्र की परिस्थिति-गत सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया और उन्हें वे नवीन उपन्यासों में चित्रित करने लगे। इन उपन्यासों में भावुकता का बहुत कुछ अभाव दिखाई पड़ता ह। मानव-चरित्र की आदर्शोन्मुखी धारा जिसमें भावना की प्रधानता रहती है, इन उपन्यासों में नहीं दिखाई पड़ती। इन्हें एक अर्थ में वैज्ञानिक उपन्यास कहा जा सकता है, क्योंकि इनमें वस्तु-गत परिस्थितिथों और मनोविज्ञान का चित्रण अधिक सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है। मानव-स्वभाव की विशेषताओं का चित्रण करने में ये उपन्यास अधिक सफल हुए हैं, परन्तु यह बात भी ध्यान में रखने की है कि इन उपन्यासकारों ने जीवन के विकासोन्मुख पक्षों की प्रायः उपेक्षा की है और ऐसे पात्रों का सृजन किया है जिनके सम्मुख कोई सामाजिक आदर्श या लक्ष्य नहीं है। यह यथार्थवाद एक उद्देश्यहीन और निष्क्रिय समाज का यथार्थवाद था। यही कारण है कि इन उपन्यासों में यद्यपि वैज्ञानिक तथ्य की कमी नहीं है और इनके लेखकों की सूक्ष्म दृष्टि की भी प्रशंसा करनी ही पड़ती है, परन्तु इन उपन्यासों द्वारा तत्कालीन समाज और जीवन को कोई उदात्त प्रेरणा नहीं प्राप्त हुई। यदि साहित्य का लक्ष्य सांस्कृतिक उत्थान माना जाय, तो इस उपन्यास-युग में उक्त उद्देश्य की पूर्ति कम ही हुई।

जीवन के ऐसे पहलू चित्रित करने वाले यथार्थवादी उपन्यासों को जिनमें जीवनोद्देश्य का अभाव है तथा जो सत्य होते हुए भी सार्थकता से रहित हैं,

हम वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न, परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से निष्फल, गतिहीन और निरुद्देश्य मान सकते हैं ।

नवीनतम सृष्टियाँ—इसके पश्चात् बीसवीं शताब्दी का उपन्यास-युग प्रारम्भ होता है, जो दो धाराओं में विभक्त है । एक वह जिसमें सामाजिक उद्देश्य की प्रमुखता है और दूसरा वह जिसमें मनोवैज्ञानिक तथ्य या अन्तःकरण के द्वंद्वों का प्राधान्य है । इस युग में उपन्यासों का केन्द्र पश्चिमी यूरोप से हट कर रूस में प्रतिष्ठित हो गया था । बीसवीं शताब्दी का प्रमुख उपन्यासकार टाल्सटाय सामाजिक और वैयक्तिक पहलुओं को साथ-साथ लेकर चला । परन्तु उसके पश्चात् गोर्की के उपन्यासों में सामाजिक जीवन-पद्धति प्रमुख रूप से प्रतिफलित हुई । इसके विपरीत डॉस्टोव्रस्की के उपन्यासों में वैयक्तिक मनोविज्ञान और अन्तर्द्वन्द्व का आधिक्य है । फिर भी इन तीनों उपन्यासकारों ने मानव-चरित्र की स्वाभाविकता को अपनी कृतियों में बहुत कुछ अक्षुण्ण रक्खा है, जिसके कारण कला की दृष्टि से उनके उपन्यास महत्वपूर्ण हैं । इन उपन्यासकारों के सम-सामयिक यूरोप में किसी विशेष विचारधारा को कथा-रूप देने की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी तथा कला की अनेक शैलियों को उपन्यासों में प्रयोग के लिए उपस्थित किया गया । यह 'वादी' पद्धति उपन्यासों के वास्तविक विकास में बाधक सिद्ध हुई । किसी विचारधारा मात्र का विभिन्न पात्रों या प्रतीकों द्वारा उद्घाटन करना उपन्यास नहीं है और न केवल शैली के चमत्कार को उद्देश्य मान कर उपन्यास-रचना की जा सकती है । यही कारण है कि इन आदर्शों को लेकर लिखे गए उपन्यासों में प्रथम श्रेणी का साहित्यिक विकास कम ही दिखाई देता है ।

इसी समय जीवन के किसी पक्षविशेष को लेकर उसकी विशेषज्ञता के परिचायक उपन्यासों का निर्माण भी आरम्भ हुआ । ऐसे उपन्यासों में जीवन के किसी एक अंग को ही सब कुछ मान लेने की एकांगिता अनिवार्य रूप से आई । परन्तु वैज्ञानिक विशेषज्ञता के युग में यह साहित्यिक प्रवृत्ति स्वाभाविक ही थी । डी० एच० लारेंस नामक उपन्यासकार ने मनुष्य के प्राणिसत्तामूलक (Biological) रूप का चित्रण विज्ञान-सम्मत विशेषज्ञता के साथ करने का दावा किया है । ये एकांगी उपन्यास हैं, क्योंकि ये मानव-जीवन के किसी एक ही अंग को लेते हैं और उस अंग के विज्ञान-संमत स्वरूप को ही प्रस्तुत करते हैं । परन्तु मनुष्य को उसकी

सम्पूर्णता से अलग कर उसे किसी एक ही पार्श्वभूमि में चित्रित करना कहां तक उपादेय होगा? उसी प्रकार मनुष्य के आर्थिक पक्षों और मानसिक संघर्षों को लेकर ही जो उपन्यास लिखे गए, वे भी क्या संपूर्ण मानव चरित्र के ज्ञापक कहे जा सकते हैं? इसी तरह विज्ञान के आधार पर विशिष्ट (Specialized) कृतियां उपस्थित की गई हैं, जिनमें जीवन के किसी एक ही पहलू को संपूर्ण मान लेने की अयथार्थता विना आए नहीं रही। एच० जी० वेल्स और गाल्सवर्दी ऐसे ही उपन्यासकार हैं जो विशेषज्ञतापूर्ण वैज्ञानिक तथ्यों का उपयोग करते हैं। यह पद्धति कला को वैज्ञानिक भले ही बना दे, परन्तु मानवीय या सामाजिक नहीं बना सकेगी। मनुष्य केवल वर्गगत प्राणी नहीं है, न वह केवल प्रकृति-विज्ञान का नमूना है और न वह मनोविज्ञान की कोई इकाई है। वह एक संश्लिष्ट सत्ता है। उस सत्ता को कई पहलुओं में बांट कर उनमें से किसी एक के आधार पर उपन्यास-रचना करना कला के व्यापक उद्देश्यों की पूर्ति में बाधक ही सिद्ध होगा।

जेम्स जौयस का उपन्यास "यूलीसिस" इसका अन्तिम उदाहरण है। इसमें न तो कोई व्यवस्थित कथानक है, न कोई चरित्र-चित्रण और न किसी विचारधारा का ही स्पष्ट निरूपण। विश्रृंखल वाक्यावली जिसका अर्थ जानना भी दुष्कर है, उपन्यास में भरी हुई है। सारा उपन्यास एक दिन की घटना पर आश्रित है, जो डब्लिन में घटित हुई। कला की सामाजिकता और उद्देश्यात्मकता की ओर से यह नई विरक्ति कला को निरर्थकता की ओर लिए जा रही है। यूरोप के 'समृद्ध' साहित्य में ऐसे विलक्षण साहित्यिक प्रयोगों के लिए भले ही स्थान हो, परन्तु स्वस्थ और समुन्नत साहित्य-साधना का उद्देश्य रखने वाले साहित्य-स्रष्टाओं के लिए इस वाक्याडंबर से कोई अर्थ सिद्ध होने वाला नहीं।

प्रेमचंद के पूर्व

हिन्दी उपन्यासों का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ। हिन्दी का पहला उपन्यास 'परीक्षागुरु' सन् १८८२ के लगभग लिखा गया। इसके लेखक श्री० श्रीनिवास दास थे। श्री० देवकीनन्दन खत्री का प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' सन् १८९० में प्रकाशित हुआ। श्री गोपालराम गहमरी और कार्तिकप्रसाद खत्री ने इसी समय के आस पास बंगला की छाया लेकर कई उपन्यास लिखे। सन् १८९८ में श्री किशोरी-लाल गोस्वामी ने 'उपन्यास' नामक मासिक-पत्र प्रकाशित किया जिसमें गोस्वामी जी के प्रायः पैंसठ उपन्यास प्रकाशित हुए। दूसरी भाषाओं के छाया-अनुवाद भी इन मासिक उपन्यासों में छापे जाते थे। उपन्यासों के प्रति लोकरुचि अधिक थी। छापेखाने खुल चुके थे और पुस्तकों की मांग बढ़ रही थी। अंग्रेजी, बंगला तथा अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यास हिन्दी में रूपान्तरित होने लगे और साथ ही हिन्दी के मौलिक उपन्यासों की संख्या बढ़ने लगी।

परन्तु अनेक वर्षों तक हिन्दी उपन्यास का स्वरूप स्पष्ट न हो सका। लेखकों के सामने कोई निश्चित लक्ष्य न था, उपन्यास की कोई निर्धारित प्रणाली या रूप-रेखा न थी। अनेक प्रकार के प्रयोग हो रहे थे। सभी लेखक अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार उपन्यास-रचना का कार्य कर रहे थे। यह स्वाभाविक भी था; क्योंकि हिन्दी में उपन्यास-लेखन की कोई पूर्व परम्परा न थी। केवल कुछ बातें इन सभी उपन्यासों में समान थीं। एक समानता यह थी कि ये सभी उपन्यास खड़ी बोली गद्य में लिखे जा रहे थे, जो उस समय तक साधारण व्यवहार की भाषा बन चुकी थी। दूसरी समानता यह थी कि इन सभी उपन्यासों में कोई क्रमबद्ध कहानी रहा करती थी। वह कहानी कभी कल्पित होती थी और कभी वास्तविक; कभी उपदेशात्मक या मनोरंजक; कभी सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक या पौराणिक। तीसरी समानता वर्णन की थी। प्रत्येक उपन्यास में घटनाओं, चरित्रों तथा उनसे संबंधित वस्तुओं का ऐसा वर्णन किया जाता था जिसमें पाठकों का मन रमे और जिसमें उन्हें अस्वाभाविकता न दीखे या अविश्वास करने के लिए स्थान न

हो। इस प्रकार गद्य में लिखा गया वर्णनात्मक आख्यान, यही उन आरंभिक उपन्यासों का मोटा रूप था।

आगे चलकर हिन्दी उपन्यास के स्वरूप में स्थिरता आई और उसकी निश्चित रूप-रेखा निर्धारित हुई। यहां यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी उपन्यास के स्वरूप-निर्माण में विदेशी उपन्यास-कला का क्या स्थान है, और एक स्वतंत्र साहित्य-स्वरूप ग्रहण करने में विदेशों से कहाँ तक प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। इसमें तो सन्देह नहीं कि आज का हिन्दी उपन्यास विदेशी उपन्यास के साथ मैत्री संबंध रख कर चल रहा है। विषय और शैली दोनों में समानता पाई जाती है, यद्यपि यह स्वीकार करने में आपत्ति न होनी चाहिये कि विदेशी उपन्यास और विशेषतः अंग्रेजी उपन्यास हिन्दी उपन्यासों की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध और समुन्नत हैं। आज के हिन्दी उपन्यास-लेखक अपनी स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा करते हुए विदेशी उपन्यासों से प्रभावित हो रहे हैं। भारतीय देश-काल का स्वतन्त्र और मौलिक चित्रण करते हुए शैली और विचारधारा में पश्चिमी प्रभाव की झलक नवीन लेखकों में देखी जाती है।

हमें देखना यह है कि अपनी आरंभिक अनगढ़ अवस्था से आगे बढ़ कर हिन्दी उपन्यास विदेशी उपन्यास के कला-स्वरूप को कहाँ तक अपना सका है और उपन्यास-संबंधी पाश्चात्य परिभाषा के कितने समीप आ सका है। ध्यान देने की बात यह है कि पश्चिमी उपन्यासों का कला-स्वरूप अठारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में स्पष्ट हुआ, जब कि इंगलैंड में रिचर्डसन, फीलिडंग और स्मालेट आदि औपन्यासिकों को रचनायें प्रकाशित हुईं। अठारहवीं शताब्दी के पूर्व प्रायः दो सौ वर्षों से अंग्रेजी उपन्यास अपनी प्रयोगकालीन अवस्था को पार कर रहा था। इन दो सौ वर्षों के समय में अंग्रेजी उपन्यास का स्वरूप उतना ही अनिश्चित और अनिर्दिष्ट था, जितना हिन्दी के आरंभिक उपन्यासों का स्वरूप। वास्तव में सामंत-वर्गीय समाज की प्रमुखता कम होने पर जब से योरप में मध्यवर्ग के समाज का उत्थान हुआ, तभी से मध्यवर्गीय समाज के जीवन के चित्रण-कार्य के लिए नवीन उपन्यास का विकास हुआ। उपन्यास की कला-सृष्टि मध्यवर्ग के सामाजिक उत्थान की समकालीन है। इंगलैंड के अठारहवीं शताब्दी के उपन्यासकार इसी नवीन उत्थान के साहित्यिक प्रतिनिधि थे।

वह युग अंग्रेजी साहित्य में गद्य के विकास का था। सार्वजनिक शिक्षा-प्रसार और प्रेस की सुविधा हो जाने से साहित्यक कृतियाँ जन-समाज की वस्तु बनने लगी थीं। काव्य-गान करने वाले चारणों का स्थान गद्य में प्रकाशित होने वाले समाचार-पत्र लेने लगे थे। कल्पना और भावना के स्थान पर बुद्धि और विचार की प्रतिष्ठा हो रही थी। काव्य-रचना का स्थान समाज के दैनिक जीवन का चित्रण ले रहा था। कवि के सामने जीवन की अनुभूति रहती है, उस अनुभूति को प्रेरित करने वाला जीवन का स्थूल चित्र कवि के पीठ पीछे ही रहता है। इसके विपरीत उपन्यासकार और गद्य-लेखक के सामने जीवन और समाज का स्पष्ट चित्र रहा करता है। उसी को अंकित करना और उसी के माध्यम से जीवन-सम्बन्धी तथ्यों की व्याख्या करना उपन्यासकार का काम होता है। काव्य अधिकतर कवि के भावों की अभिव्यक्ति है। उपन्यास जीवन और समाज के व्यक्त रूपों और घटनाओं का चित्रण है। जीवन की व्याख्या कवि भी करता है और उपन्यासकार भी; परन्तु एक में वह व्याख्या अनुभूतियों के माध्यम से होती है और दूसरी में वह सामाजिक चित्रणों के माध्यम से होती है।

आरंभ में गद्य में उपन्यास लिखने का विधान पाश्चात्य देशों में न था। वहाँ का मध्यकालीन साहित्य अधिकतर पद्यबद्ध ही रहा है। औपन्यासिक कथायें पद्य और गद्य दोनों में लिखी जाती थीं। क्रमशः यह ज्ञात होने पर कि वर्णनात्मक आख्यान गद्य में पूरी सफलता के साथ लिखे जा सकते हैं, गद्य उपन्यासों का प्रचलन होने लगा। परंतु तब भी उपन्यास और ऐतिहासिक जीवनी, उपन्यास और प्रेमाख्यान, उपन्यास और भावगद्य तथा उपन्यास और काल्पनिक गाथा का अंतर स्पष्ट न था। आगे चलकर यह स्पष्ट हुआ कि उपन्यास वह काल्पनिक कृति है जो गद्य के माध्यम से आख्यान-विशेष की सहायता लेकर सामाजिक जीवन के किसी स्वरूप का यथार्थ आभास देती हुई उक्त जीवन की मार्मिक व्याख्या करती है। आरंभ में उपन्यास के ये सभी अवयव बिखरे हुए थे। कहीं गद्य के साथ पद्य में उपन्यास लिखे जाते थे, और कहीं काल्पनिक के स्थान पर वास्तविक जीवनी और ऐतिहासिक घटना को उपन्यास का रूप दिया जाता था। कहीं परम्परागत प्रेमचर्चा को लेकर उपन्यास की रचना होती थी। भावात्मक या काव्यात्मक गद्य का प्रयोग उपन्यास में आवश्यक स्थलों पर ही होना चाहिये, सर्वत्र नहीं, इस तथ्य की ओर भी उपन्यासकारों का ध्यान

न था। उपन्यास के लिए जीवन का कोई वास्तविक और साकार खण्ड-चित्र अपेक्षित है; कविता की भाँति उपन्यास कोरी भावना या कल्पना पर अवलंबित नहीं रह सकता; यह जानकारी भी आरंभ में नहीं थी। इन सब अवयवों का संग्रह होते-होते अठारहवीं शताब्दी के योरप में उपन्यास के कला-स्वरूप का पूरा निखार हुआ और अंततः उस व्यवस्थित रूप की प्रतिष्ठा हुई जो आज के उपन्यास की सर्वविदित विशेषता है।

उपन्यास का यही विकसित स्वरूप हिन्दी में भी मान्य हुआ और जहां तक परिभाषा का प्रश्न है, हिन्दी उपन्यास उक्त पश्चिमी परिभाषा को ही स्वीकार कर चले हैं। हम यह उल्लेख कर चुके हैं कि हिन्दी उपन्यास अपनी आरंभिक अवस्था में अनेक अनिर्दिष्ट प्रयोग कर रहे थे, परंतु वह अनिश्चयात्मक स्थिति बहुत दिनों तक न रही। क्रमशः हिन्दी उपन्यास अपने स्पष्ट कलात्मक स्वरूप और लक्ष्य को पहचान कर आगे बढ़े और यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि हिन्दी उपन्यास के स्वरूप-निर्माण में पाश्चात्य उपन्यास का यथेष्ट हाथ रहा है। उपन्यास के विकास की परिस्थितियां दोनों देशों में एक-सी थीं, पर पश्चिम में वह विकास सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हो चुका था। यह भी एक मुख्य कारण है कि उपन्यास के कलात्मक स्वरूप के निर्माण में हिन्दी को पश्चिमी उपन्यासों से सहज ही सहायता मिल सकी। अंग्रेजी उपन्यास सोलहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी के मध्य भाग तक प्रयोग की अनिश्चित अवस्था में रहे, पर हिन्दी उपन्यासों का प्रयोगकाल ३०-३५ वर्षों में ही समाप्त हो गया। प्रेमचंद तक आते-आते हिन्दी उपन्यास का स्वरूप और लक्ष्य निर्दिष्ट हो चुका था।

सन् १८८२ से लेकर सन् १९१५ तक हिन्दी उपन्यास का आरम्भिक और संक्रांति-काल रहा है। इस काल के प्रतिनिधि उपन्यास-लेखकों में श्री० देवकीनंदन खत्री, श्री० किशोरीलाल गोस्वामी और श्री० व्रजनंदन सहाय के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से खत्री जी के उपन्यास घटना-प्रधान, मनोरंजक और कौतूहलवर्धक कहे जा सकते हैं। इनके उपन्यासों का विधान तिलस्म और जासूसी के उन प्रयोगों को लेकर किया गया है जो पिछले समय के जागीरदारों और सामंतों के क्रीड़ा-विलास के परिचायक हैं। यद्यपि इन उपन्यासों में असंभव घटनाओं का योग है, परंतु साथ ही घटनाओं की योजना कौतूहल की वृद्धि करती रहती है जिसमें पाठक का मन रमता है। नायक और नायिकाएं यद्यपि राजकीय वर्गों

से ली गई हैं, परंतु उनका चरित्रनिर्माण प्रेम और वीरता के स्वच्छंद प्रसंगों को लेकर ही हुआ है, जिससे उनमें जन-साधारण के लिए भी आकर्षण आ गया है ।

श्री० किशोरीलाल गोस्वामी के पात्र और चरित्र मध्यवर्गीय समाज के प्रतिनिधि हैं, यद्यपि उनका चित्रण सामाजिक वास्तविकता की भूमि पर न होकर परम्परागत प्रेमपद्धति की भूमिका पर हुआ है । गोस्वामी जी ने ऐतिहासिक, सामाजिक, गार्हस्थिक और काल्पनिक सभी प्रकार के उपन्यास लिखे, परंतु सब के मूल में प्रेम-चर्चा ही प्रधान रूप से आ पाई । रीतिकाल की नायक-नायिका-चर्चा का यथेष्ट प्रभाव उनके उपन्यासों पर दिखाई पड़ता है । अतएव उनके उपन्यास सामाजिक जीवन की यथार्थता से दूर ही दूर रहे और ऐकांतिक तथा परम्परागत प्रेम-लीला को ही अपना विषय बना पाए । उर्दू काव्य और पारसी नाटकों का प्रभाव लेकर उपन्यास लिखने वाले रामलाल वर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी जी से भी एक कदम आगे बढ़े हुए थे । उनके उपन्यासों में नायक-नायिका की अवतारणा अत्यधिक नाटकीय, अतिरंजित और काल्पनिक है ।

तीसरी श्रेणी श्री० व्रजनंदन सहाय के भावात्मक उपन्यासों की है जिनमें उपन्यास के सुदृढ़ कथासूत्र के बदले गीति-काव्य का सा सूक्ष्म भावना-तंतु ही अधिक रहता है । ऐसे उपन्यासों में कथा की धारा अटूट नहीं रह पाती, घटनाओं की विरलता हो जाती है । भाषा की आलंकारिकता, लम्बे-लम्बे वाक्यों की खींच-तान और भावात्मक उद्‌गारों की भूल-भूलैया में पाठक अपने को खो बैठता है । उपन्यासों की इस परम्परा को हम संस्कृत की कादम्बरी का ही आधुनिक रूप कह सकते हैं, यद्यपि कादम्बरी के अनेक गुणों का इनमें बहुत कुछ अभाव है ।

इस नव-निर्माण के बीच कभी कोई उपन्यासकार किसी पौराणिक या सामाजिक कथानक का आधार लेकर कोई उपदेशात्मक कृति प्रस्तुत कर देता था, और कभी कोई भावुकतापूर्ण रचना सामने आ जाती थी, परंतु सामाजिक प्रगति और जीवन की वास्तविकता में पैठकर उसके यथार्थ और प्रभावशाली चित्र हमारे आरम्भिक उपन्यासकार अधिक मात्रा में नहीं दे सके । तब तक रीति युग के साहित्यिक संस्कार बने हुए थे और नवीन सामाजिक चेतना का उदय नहीं हुआ था । हिन्दी उपन्यासों के नए युग का निर्माण करने में अंग्रेजी और बंगला आदि से किए गए

अनुवादों का भी कुछ कम हाथ नहीं है। परंतु ध्यान देने की बात यह है कि उन दिनों अंग्रेजी से साहसिक, जासूसी और प्रेमचर्चा-प्रधान उपन्यासों का जितना अनुवाद हुआ, उतना सांस्कृतिक और सामाजिक उपन्यासों का नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि तब तक लोकरुचि का परिमार्जन हिन्दी में नहीं हो पाया था। अच्छी कृतियों का बाजार नहीं था। यह भी संभव है कि अंग्रेजी के श्रेष्ठतम उपन्यास तब तक इस देश में प्रचलित ही न हो पाये हों। तभी तो 'लंडन रहस्य' और 'लैला' जैसे साहसिक और प्रेमचर्चा-प्रधान उपन्यास ही अनुवाद-योग्य समझे गये। 'टाम काका की कुटिया' के रूप में एक अच्छे उपन्यास का अनुवाद अवश्य हुआ। बंगला से भी कुछ अच्छी कृतियाँ अनुवाद होकर आईं जिनमें 'स्वर्ण-लता', 'दुर्गेशनन्दिनी', 'बंगविजेता', 'विरजा', 'दोप निर्वाण', 'युगलांगुलीय', 'कृष्णाकान्त का दान-पत्र' आदि उल्लेखनीय हैं।

उपन्यासों के निर्माण और अनुवाद के इस आरंभिक युग को पार करते ही हम हिन्दी उपन्यासों के उस नये युग में प्रवेश करते हैं जिसका शिलान्यास प्रेमचंदजी ने किया और जिसमें आकर हिंदी उपन्यास एक सुनिश्चित कला-स्वरूप को प्राप्त कर अपनी आत्मा को पहचान सका तथा अपने उद्देश्य से परिचित होकर उसकी पूर्ति में लग सका।

प्रेमचंद

प्रेमचंदजी के उपन्यासों में सब से प्रमुख विशेषता है उनकी आदर्श-वादिता। चरित्रों और उनकी प्रवृत्तियों का निर्देश करने में वे आदर्शोन्मुखी हैं। घटनावली का निर्माण और उपसंहार करने में वे आदर्श का सदैव ध्यान रखते हैं। प्रेमचंदजी की दूसरी विशेषता उनकी ध्येयोन्मुखता है। उन्होंने प्रत्येक उपन्यास में जो सामाजिक या राजनीतिक प्रश्न उठाए हैं उनका निर्णय भी हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। निर्णय का निरूपण करने के कारण प्रेमचन्दजी लक्ष्यवादी हैं और चरित्र तथा कथा के स्वरूप-निर्माण में वे आदर्शवादी हैं। 'सेवासदन' में सुमन के चरित्र का सुधार कर प्रेमचन्द जी एक आश्रम की प्रतिष्ठा करते और उसके जीवन का उज्ज्वल अध्याय आरम्भ करते हैं। 'प्रेमाश्रम' में यह वस्तु और भी स्थूल बन कर आई है। प्रेमाश्रम में आदर्श ग्राम की सृष्टि उपन्यास के उत्तरार्ध में की गई है। यह प्रेमचंद का ध्येयवाद या उद्देश्यवाद है। गांवों की परिस्थिति का द्वंद्वमय चित्रण उपन्यास के पूर्वार्ध में किया गया है। नायक के रूप में एक आदर्शवादी चरित्र की अवतारणा की गई है, परन्तु अन्त में लक्ष्य को अत्यंत स्पष्ट करने के लिए उद्देश्य रूप में आदर्शग्राम का निर्माण कर दिया गया है। आदर्शप्रधान पात्रों और परिस्थितियों का निर्माण और चित्रण तो कला के लिए वर्जित नहीं हैं, परन्तु उद्देश्य की अत्यधिक प्रमुखता प्रेमचन्दजी को उपदेशात्मक लेखक की श्रेणी में पहुंचा देती है। उपन्यासकार की आदर्शात्मक प्रेरणा और उसकी उपदेशात्मक वृत्ति में प्रायः संघर्ष रहा करता है। कतिपय उपन्यासों में आदर्श-चित्रण का स्वाभाविक स्वरूप रहता है, परन्तु कुछ उपन्यासों में लक्ष्य को प्रधानता देने के लिए कृत्रिम रूप से पात्रों एवं चरित्रों को मोड़ना पड़ता है। उदाहरण के लिए सेवासदन उपन्यास में आदर्शात्मक चरित्र-विकास बहुत कुछ स्वाभाविक है, परन्तु 'ग़बन' में नायिका जालपा का चरित्र जिस ढंग से मोड़ कर ऊँचा उठा दिया गया है उसमें कृत्रिमता दिखाई देती है। ऐसा जान पड़ता है कि उपन्यास को उपदेशात्मक और उद्देश्यप्रधान रूप देने के लिए नायिका का स्वभाव परिवर्त्तन किया गया है।

क्षेत्र की व्यापकता की दृष्टि से प्रेमाश्रम सेवासदन से एक कदम आगे की सृष्टि है, परन्तु कला की दृष्टि से सेवासदन अधिक सुन्दर है। प्रेमाश्रम के सम्बन्ध में आलोचकों ने कहा है कि उसके चरित्रों में कृत्रिमता अधिक आ गई है। लेखक की उपदेशात्मक और ध्येयप्रधान वृत्ति ही इसका करण है।

प्रेमचंदजी के चरित्र वर्गगत, जातिगत या प्रतीकात्मक होते हैं। जमीदार, किसान आदि में अपने वर्ग की साधारण विशेषताओं का आरोप रहता है। आधुनिक व्यक्ति-चित्रण-प्रणाली से वे दूर हैं।

प्रेमाश्रम के पश्चात् प्रेमचंदजी का रंगभूमि नामक उपन्यास हिन्दी में आया। इसका क्षेत्र प्रेमाश्रम से भी अधिक व्यापक था। इसमें हिंदू, मुसलमान, ईसाई, नागरिक, ग्रामीण के साथ विभिन्न वर्गों और स्थितियों की योजना एवं ग्राम तथा नगरों के जीवन का चित्रण किया गया। इसके लिखे जाने के समय गांधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन पराकाष्ठा पर था। गांधीजी के सामाजिक, राजनीतिक तथा आदर्श-मूलक विचारों से यह उपन्यास प्रभावित है। सूरदास नामक अंधा पात्र भारतीय ग्रामीण जीवन का प्रतीक है तथा गांधीवादिता में पगा हुआ है। वह अंधा निर्बल होने पर भी निष्ठावान है।

वह परतंत्र किन्तु स्वाधीनताकामी भारतीय जीवन का प्रतिनिधि है। भारतीय निर्बलता और साधनहीनता के साथ ही गांधीजी द्वारा प्रतिष्ठित आशावादिता और अजेयता भी सूरदास के जीवन में संनिहित है। इस तरह उसके जीवन में विरोधी भावों और गुणों का मिश्रण है। सूरदास प्रेमचंदजी की एक श्रेष्ठ चरित्रसृष्टि है।

रंगभूमि गांधीवादी उपन्यास इसलिए कहा जाता है कि यह गांधी जी की राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित है। रंगभूमि प्रेमचंदजी की उपन्यास-कला का एक विकसित सोपान है। गांधीवाद का प्रभाव साहित्य व जीवन पर जैसा भी कुछ पड़ा वह रंगभूमि में दिखाई पड़ता है। चरित्रों की विविधता, बहुलता (औपन्यासिक बाहुल्य) और भारतीय जीवन की व्यापकता का चित्रण रंगभूमि की अपनी विशेषता है।

रंगभूमि के पश्चात् आने वाले गबन नामक उपन्यास से प्रेमचंदजी के साहित्यिक विकास का दूसरा सोपान आरम्भ होता है। यह उनके औपन्यासिक विकास की प्रौढ़ता का परिचायक है। यद्यपि रंगभूमि में

विशालता अधिक है, परन्तु कथासूत्र किसी सुनिश्चित केन्द्र से संबद्ध नहीं है और कथा-विकास तथा चरित्र-विकास अन्योन्याश्रित नहीं हैं। गबन में परिस्थिति और चरित्रनिर्माण का एक दूसरे से अविच्छेद्य संबध स्थापित हो गया है। परिस्थितियों व चरित्रों का अन्तर्वर्तित्व इस कृति में दिखाई देता है अर्थात् परिस्थितियों का पात्रों पर व पात्रों का परिस्थितियों पर कैसा स्वाभाविक प्रभाव पड़ता है और वे एक दूसरे से अविच्छिन्न रह कर किस प्रकार विकसित होते हैं, इसका सुन्दर स्वाभाविक निरूपण इस उपन्यास में है। परन्तु उनका उद्देश्यवाद यहाँ भी नहीं छूटा है। उद्देश्य को लाने के लिए उन्होंने जालपा के चरित्र में परिवर्तन किया है। जालपा को आदर्शप्रधान बनाने के लिए लेखक की उद्देश्य-प्रमुखता ही कारण है। जालपा के चरित्र का आदर्शोन्मुख प्रवाह पूर्णतः स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

ग़बन में विषय का समारम्भ भी अधिक सीमित हो चला था। विषय-विस्तार के कारण उपन्यास में जो कथानक की व्यवस्थित श्रृंखला न बन पाती थी, वह अब ठीक हो गई है। अब विषय, समस्या व पात्रों की संख्या में कमी हो जाने के कारण चित्रण में अधिक गहराई और व्यापकता आ गई है। ग़बन में एक छोटे से मनोवैज्ञानिक प्रश्न को ले कर ही संपूर्ण जीवन-झांकी दिखाई गई है। आभूषणों के प्रति नारी का प्रेम कितना प्रबल होता है, इस आधार पर ग़बन उपन्यास का निर्माण हुआ है। सारा कथानक इसी प्रश्न से संबंधित है। हम यह भी कह सकते हैं कि सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों से भिन्न मनोवैज्ञानिक समस्या के आधार पर उपन्यास-रचना का स्वरूप ग़बन में दिखाई देता है। यद्यपि इस मनोवैज्ञानिक समस्या के अंतर्गत उपन्यास का सारा विकास सामान्य सामाजिक भूमि पर ही हुआ है, ग़बन में क्लर्कों व मध्यवर्ग का जीवन पुलिस के हथकंडे, कलकत्ते के नागरिक जीवन का स्वरूप, आतंकवादियों की गुप्त कार्यवाही आदि का सुन्दर चित्रण मिलता है। मनोविज्ञान की भित्ति पर देशकाल का वास्तविक, स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक चित्रण किया गया है। इसमें प्रेमचंदजी के औपन्यासिक विकास की समृद्ध भूमिका मिलती है।

प्रेमचंदजी पात्रों के निर्माण करने में जितने कुशल हैं, उतने उनका निर्वाह करने में नहीं। कई पात्रों को बीच ही में अस्वाभाविक अकालमृत्यु का शिकार बनना पड़ता है।

इसी बीच में कायाकल्प व कर्मभूमि नामक दो उपन्यास प्रेमचंदजी ने लिखे। कायाकल्प भारतवर्ष के आध्यात्मिक उत्कर्ष, योगियों के अलौकिक कार्यों आदि के आधार पर बना है। इस उपन्यास को प्रेमचंदजी की सामान्य उपन्यास-धारा से अलग टूटी हुई एक स्वतंत्र कृति मानना पड़ता है। यद्यपि सामाजिक चित्रण और समस्याएं इसमें भी हैं, पर इसमें अलौकिक चमत्कारों की योजना एक नवीन वस्तु है जो प्रेमचंद जी की साधारण प्रवृत्तियों से मेल नहीं खाती।

'कर्मभूमि' उपन्यास सन् ३६-३७ में लिखा गया। इसमें प्रेमचंदजी फिर सामाजिक व राजनीतिक जीवन को अपना विषय बनाते हैं। इस में न तो 'रंगभूमि' जैसी आदर्शवादिता है और न 'गबन' जैसी विषय की एकाग्रता और समाहार है; परंतु यह एक बड़ी कृति है जो सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को नए रूप में रखती है। 'कर्मभूमि' में सामान्य जीवन की धारा व वास्तविकता अधिक है, गांधीवादी प्रभाव कम है।

'ग़बन' और 'कर्मभूमि' के बीच 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' उपन्यास लिखे गए, इनमें कोई विशेष महत्वपूर्ण योजना नहीं है, परंतु प्रेमचंदजी की अधिकारपूर्ण लेखनी की झलक इनमें भी देखी जाती है।

वास्तव में सेवासदन के पश्चात् लिखा गया प्रेमाश्रम उपन्यास-कला की दृष्टि से सेवासदन से ऊँचा नहीं उठ पाया है। इसके पश्चात् व्यापक विकास व युग की आदर्शोन्मुख प्रवृत्तियों का दर्शन रंगभूमि में प्राप्त होता है। प्रेमचंदजी की ये प्रमुख कृतियाँ पूर्वार्द्ध की हैं। मनो-विज्ञान की आधारभूमि पर संयमित समस्याओं, घटनाओं, परिस्थितियों व पात्रों का संतुलित चित्रण ग़बन से आरंभ होता है। ग़बन, कायाकल्प, कर्मभूमि आदि उत्तरार्द्ध की कृतियाँ हैं। अंतिम उपन्यास 'गोदान' में प्रेमचंदजी की उपन्यास-कला का चरम विकास दिखाई पड़ता है।

प्रसादजी ने एक स्थान पर लिखा है कि सत् की ओर पक्षपात करनेवाला लेखक आदर्शवादी होता है। जिस लेखक में ऐसा पक्षपात नहीं होता, वह वस्तुजगत के व्यवहारों को विना किसी वैयक्तिक पहलू को लाए चित्रित करता है। आदर्शवाद में सदैव लेखक का व्यक्तित्व प्रधान रहता है, उसमें तटस्थ वैज्ञानिकता का गुण कम रहता है। ऐसी रचनाएँ भावात्मक होती हैं। जीवन की वास्तविक कठिनाइयों

को आँखों से ओझल कर असाधारण और अलौकिक पात्रों की सृष्टि आदर्शवाद की एक विशेषता है। कभी-कभी यह भावातिरेक रचना को अवास्तविक और अविश्वसनीय भी बना देता है। लेखक वास्तविकता को छोड़कर पात्रों को अपनी कल्पना का रूप देने लगता है। यह प्रवृत्ति पाश्चात्य समीक्षकों को खटकी। उन्होंने इसके दुर्बल पक्ष को पहचाना और विरोध में यथार्थवाद या वैज्ञानिक चित्रण की आवाज उठाई। मनोविज्ञान भी एक विज्ञान ही है; इसलिए मनोवैज्ञानिक चरित्र-निर्देश, सूक्ष्म मनोभावों का आघात-प्रतिघात यथार्थवादी कला-सृष्टि में अपनाया गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि आदर्शवादी कला में मनोविज्ञान का चित्रण होता ही नहीं। वह होता है, पर आदर्शवादी भावुकता को लिए हुए। आदर्शवादी कला के संबंध में डीडेरो नामक फ्रेंच समीक्षक का मत है कि यह कलापद्धति मिट्टी की भित्ति पर बनाए गए मूल्यवान् मणियों के जड़ाव के सदृश है।

कोई कलाकार या तो यथार्थवादी ही हो सकता है या आदर्शवादी ही। ये दोनों परस्पर-विरोधी विचारधाराएं और कलाशैलियाँ हैं। इनका मिश्रण किसी एक रचना में संभव नहीं। साहित्यिक निर्माण में यथार्थोन्मुख आदर्शवाद या आदर्शोन्मुख यथार्थवाद नाम की वस्तु नहीं हो सकती। वास्तव में प्रेमचंदजी अपने विचारों व लेखन में आदर्शवादी हैं। आपका चरित्र-निर्माण और मनोवैज्ञानिक चित्रण आदर्शवादी है। आदर्शवादी चित्रण से तात्पर्य है मानव की सद्वृत्तियों पर विश्वास रखकर साहित्यनिर्माण करना। उनकी समस्त साहित्यिक कृतियों को देखकर ही हम ऐसा कहते हैं। इस प्रकार प्रेमचंद के साहित्य का सांगोपांग अध्ययन करने पर उन्हें आदर्शवादी लेखक ही कहना उचित होगा।

कथोपकथन, भाषा की सामान्यता या पात्रानुरूपता, पात्रों की विनोदात्मक बातचीत आदि शैली-संबंधी विशेषताएं यथार्थ को छूती हुई परिलक्षित होती हैं। प्रेमचंदजी के पात्रों की गति-विधि यथार्थ का आभास लिए हुए जान पड़ती है।

परंतु केवल भाषा या शैली-संबंधी विशेषताओं को लेकर किसी लेखक को यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। उसका जीवन-दर्शन, चरित्र-चित्रण और कला की मुख्य प्रेरणा से ही उसकी परीक्षा होती है। इस

दृष्टि से प्रेमचंदजी यथार्थवादी नहीं हैं। उन्हें यथार्थोन्मुख आदर्शवादी कहना भी अस्पष्टता को ही बढ़ाना है। यथार्थोन्मुख आदर्शवादिता से क्या तात्पर्य हो सकता है? साहित्य में यथार्थवादी और आदर्शवादी रचना के दो अलग-अलग विभाग हैं। इन दोनों को मिलानेवाला (Intermediary) कोई पृथकवाद नहीं है। यह तर्कसंमत भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि दो परस्पर-विरोधी जीवनदर्शनों और कला-परिपाटियों में एकत्व की कल्पना ही कैसे की जा सकती है!

प्रेमचंद के अंतिम उपन्यास 'गोदान' के संबंध में यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि उसे आदर्शवादी किस आधार पर कहें। गोदान में प्रेमचंदजी ने ग्रामीण जीवन का सर्वतोमुखी चित्रण किया है और किसान की विवशतापूर्ण स्थिति को दिखाकर उपन्यास की समाप्ति की गई है। गोदान में समस्या के निर्णय का कोई प्रयत्न नहीं है, दूसर शब्दों में उसमें प्रेमचंदजी की ध्येयवादिता प्रत्यक्ष होकर नहीं आई है। परंतु चरित्रनिर्माण और कथानक के विकास-क्रम में प्रेमचंदजी भारतीय किसान के आदर्श-स्वरूप को भूले नहीं हैं। उपन्यास का नायक होरी सारी बाधाओं और संकटों के रहते हुए भी अपने मूल आदर्श का विस्मरण नहीं कर सका है। वह अंततः आदर्शवादी है।

गोदान

प्रेमचन्दजी के प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' के संबंध में तीन प्रश्न प्रायः किये जाते हैं। वे क्रमशः ये हैं :—(१) 'गोदान' में ग्रामीण कथानक के साथ नागरिक कथा किस उद्देश्य से जोड़ी गई है, और वह कहां तक उपयोगिनी हुई है? (२) 'गोदान' को राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास (Epic Novel) कहा जा सकता है या नहीं? और (३) 'गोदान' समाजवादी कृति है या नहीं? यहां हम इन्हीं तीन प्रश्नों का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

ग्रामीण और नागरिक कथा का समन्वय—

शास्त्रीय शब्दावली के अनुसार गोदान में आधिकारिक और प्रासंगिक, दो कथायें पाई जाती हैं। ग्रामीण पात्रों से संबंध रखनेवाली कथा आधिकारिक या मुख्य कथा है। नागरिक पात्रों को उपस्थित करने वाली कथा प्रासंगिक या गौण है। गोदान में इन दोनों कथाओं को एक संबंध-सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु प्रश्न यह है कि यह प्रयत्न कहाँ तक सफल या समीचीन हुआ है। नागरिक और ग्रामीण पात्रों के बीच संबंध-स्थापन का कार्य गांव के जमींदार रायसाहब द्वारा पूरा होता है। गांव की रामलीला देखने के लिये रायसाहब के नागरिक मित्र उनके घर आते हैं। यहीं 'मालती-हरण' का एक मनोरंजक और अनोखा दृश्य दिखाया जाता है। दूसरी ओर ग्रामीण पात्र 'गोबर' कुछ दिनों तक शहर में रहता है और उपन्यास के नागरिक पात्रों के सम्पर्क में आता है। परंतु नागरिक और ग्रामीण पात्रों का यह सम्मिलन इतना घनिष्ठ नहीं होता कि एक-दूसरे के जीवन-क्रम को प्रभावित करे और समस्त कथानक को समन्वित कर एक ही मुख्य कथा का अंग बना ले। पारसी नाटकों में प्रायः मुख्य कथा के साथ हास्य या विनोद-प्रधान एक दूसरी कथा जुड़ी रहती थी, जिसका प्रयोजन होता था मुख्य कथा की गंभीरता को कम कर दर्शकों का मनोरंजन करना। वास्तव में वे दोनों कथायें एक-दूसरे से नितांत भिन्न और स्वतंत्र होती थीं। किसी भी स्थल पर उनके कथा-तंतु जुड़े नहीं होते थे। ऐसी रचनाओं में कथानक की संगति का प्रश्न ही नहीं उठता। 'गोदान' उपन्यास के उक्त दोनों कथानक यद्यपि परस्पर इतने असंबद्ध नहीं हैं, फिर भी उनमें वास्तविक ऐक्य की कमी अवश्य है।

नगर की इस प्रासंगिक कथा का संपूर्ण उपन्यास के उद्देश्य से क्या संबंध है, इस पर भी विचार करना चाहिये। 'गोदान' निश्चय ही ग्रामीण जीवन का उपन्यास है। यदि उसमें नागरिक पात्र आते हैं, तो उनका ग्रामीण पात्रों की गति-विधि से किसी न किसी प्रकार का घनिष्ठ संबंध होना ही चाहिये। ऐसा न होने पर उपन्यास के उद्देश्य या कार्य की एकरूपता में बाधा पड़ेगी। उपन्यास में दो कार्य या दो उद्देश्य नहीं हो सकते; दो स्वतंत्र जीवन-चित्रण नहीं किये जा सकते, अन्यथा उसकी अन्विति नष्ट हो जायगी।

ग्राम्य जीवन या ग्रामीण वातावरण में सफेदपोश नागरिक समाज प्रायः दो उद्देश्यों से ही रक्खा जा सकता है। १—तुलना के द्वारा ग्रामीण परिस्थिति की विषमता को स्पष्ट करना और प्रभाव को तीव्र बनाना। २—नागरिक पात्रों द्वारा ग्रामीण-जीवन में सुधार लाने का प्रयत्न करना। पहली स्थिति में नागरिक पात्र ग्रामीण समाज के उत्पीड़क के रूप में ही दिखाये जा सकते हैं और दूसरी स्थिति में वे उसके सहायक और सुधारक हो सकते हैं। परन्तु यदि इन दो में से एक भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती और उपन्यास में नागरिक और ग्रामीण पात्र दो स्वतंत्र उद्देश्यों को लेकर चलते हैं, तो उपन्यास की वह दोहरी योजना समीचीन नहीं कही जा सकती।

गोदान उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खंडों में रहने वाले दो परिवारों के समान हैं जिनका एक-दूसरे के जीवन-क्रम से बहुत कम सम्पर्क है। वे कभी-कभी आते-जाते मिल लेते हैं, और कभी-कभी किसी बात पर झगड़ा भी कर लेते हैं; परन्तु न तो उनके मिलने में और न झगड़ने में ही कोई ऐसा संबंध स्थापित होता है जिसे स्थायी कहा जा सके।

यदि नागरिक कथा का अंश उपन्यास में न होता, तो उपन्यास के नागरिक पाठकों के लिये उसमें कोई आकर्षण न रह जाता—नागरिक पात्रों को रखने के पक्ष में इस तर्क को भी सुसंगत नहीं कहा जा सकता। उपन्यासकार को ऐसे पाठकों की आवश्यकता ही क्या जो केवल नागरिक कथानक से ही दिलचस्पी रखते हों! इसका अर्थ तो यह हुआ कि पाठकों के मनोरंजन या उनकी रुचि-तृप्ति के लिये उपन्यासकार को अपने लक्ष्य से बाहर जाकर एक विशेष प्रकार की सामग्री जुटानी पड़ेगी। कोई भी उपन्यासकार अपने को इस स्थिति में रखना पसंद न करेगा।

एक और तर्क यह दिया जाता है कि गोदान उपन्यास भारतीय जीवन के संपूर्ण स्वरूप को हमारे दृष्टिपथ पर लाना चाहता है, अतएव उसमें ग्राम के साथ-साथ नगरों और उसके निवासियों की जीवन-चर्चा भी दी गई है। ग्राम-जीवन को नागरिक जीवन से नितांत पृथक् रक्खा भी नहीं जा सकता, क्योंकि आज की भारतीय स्थिति में वे दोनों एक-दूसरे से एकदम अलग हैं नहीं। अतएव यथार्थ की रक्षा के लिये भी यह योजना आवश्यक थी। परन्तु ये दोनों तर्क भी समाधानकारक नहीं प्रतीत होते। उपन्यास का नाम 'गोदान' है, जिससे यह सूचना नहीं मिलती कि यह संपूर्ण भारतीय जीवन को चित्रित करने का लक्ष्य रखता है। जो लक्ष्य उस कृति का नहीं है, उसे उस पर आरोपित करना व्यर्थ है। 'गोदान' नाम से यही भासित होता है कि इसका संबंध कृषकों के जीवन के किसी मार्मिक पहलू से है। और यही वस्तु हम उपन्यास में पाने की सम्भावना रखते हैं। किसी दूसरी वस्तु की सूचना उपन्यास के नाम से नहीं मिलती। इस तर्क में भी कोई सार नहीं है कि भारतीय ग्राम और नगर एक-दूसरे से नितांत संबंधहीन नहीं हैं; अतएव प्रत्येक उपन्यास में इन दोनों का संबंध दिखाया ही जाय। कोई साहित्यिक कृति प्रत्येक वस्तुस्थिति को मानकर चलने के लिये बाध्य नहीं होती। प्रत्येक वास्तविकता को मानकर चलना असंभव है।

कहा जाता है कि गोदान के ग्रामीण कथानक में कोई चमत्कारपूर्ण घटना-योजना नहीं है, अतएव नागरिक कथानक को जोड़कर उसे प्रभावशाली बनाना आवश्यक था। पर प्रश्न यह है कि उपन्यासकार ग्रामीण कथानक को ही अधिक प्रभावशाली और चमत्कारपूर्ण घटनावली से सज्जित क्यों नहीं करता। यदि ग्राम-कथा में निर्माण-संबंधी कोई कमी है, तो उसकी पूर्ति ग्राम-कथा को ही सँवार कर की जानी थी। उसके लिए एक ऐसी कथा जोड़ने की आवश्यकता न थी जिसका मूल आख्यान से कोई नैसर्गिक संबंध न हो।

अंतिम दलील यह दी जाती है कि वर्तमान भारतीय समाज का वह अंश जो शिक्षित है और जो सामाजिक समस्याओं से दिलचस्पी रखता है, मध्यवर्गीय समाज ही है। उसी समाज से आज के प्रत्येक लेखक और विचारक को काम लेना पड़ता है। ग्रामीण जीवन से सम्बन्ध रखने वाला उपन्यास किसी दूसरे देश में ग्रामीण समाज के बीच प्रचार पा सकता था,

परंतु भारत की वर्तमान स्थिति में यह संभव नहीं है। अतएव स्थिति का ध्यान रखकर और शिक्षित मध्यवर्ग द्वारा ही अपने उपन्यास के उद्देश्यों के प्रसार की संभावना देखकर लेखक ने मध्यवर्गीय समाज को नागरिक कथा का लालच दिया है, जिससे वे इसी बहाने उपन्यास को पढ़ें और उससे प्रभावित हों। इस दलील का उत्तर आंशिक रूप में हम ऊपर दे चुके हैं। वास्तव में शिक्षित समाज के बीच सुधार की उत्तेजना उत्पन्न करने के लिये ग्रामीण और नागरिक कथा का बेमेल मिश्रण आवश्यक न था। उसके लिये आवश्यक था बलात् आकृष्ट करनेवाला ग्रामदशा का संपूर्ण हृदयस्पर्शी चित्र अथवा मार्मिक विरक्ति उत्पन्न करनेवाला नागरिक जीवन का तलस्पर्शी आख्यान। और यदि इन दोनों को अलग-अलग दो कृतियों में न रखकर एक में मिलाने की ही आवश्यकता समझी गई, तो यह मिलाप-कार्य अधिक समन्वित रूप में तथा अधिक कलापूर्ण रीति से करना चाहिये था। प्रेमचंदजी ने उक्त तीन प्रयोगों में से किसी एक को भी पूरी तरह नहीं निबाहा।

गोदान के 'राष्ट्रीय प्रतिनिधि' उपन्यास होने की संगति—

वास्तव में महाकाव्य और उपन्यास दो भिन्न साहित्य-प्रकार हैं। महाकाव्य की परंपरा औपन्यासिक परम्परा से नितान्त भिन्न है। ऐसी अवस्था में उपन्यास को Epic Novel की संज्ञा देना साहित्यिक दृष्टि से बहुत समीचीन नहीं जान पड़ता। राष्ट्रीय जीवन के किसी विशेष युग का संपूर्ण उद्घाटन किसी एक उपन्यास में करना कदाचित् संभव भी नहीं है। राष्ट्रीय संस्कृति के विकास में विभिन्न युगों के प्रतिनिधि महाकाव्य तो हो सकते हैं; परन्तु युग का प्रतिनिधि उपन्यास कठिनाई से मिलेगा। इसका कारण यह है कि उपन्यास में सामाजिक जीवन के वाह्य स्वरूप को चित्रित करते हैं और ऐसा उपन्यास क्वचित् ही कोई हो सकता है जिसमें वाह्य सामाजिक जीवन के किसी युग-विशेष का संपूर्ण चित्र दिखाया जा सके। महाकाव्य में युग की संस्कृति का चित्रण तथा युग की ज्वलंत समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया जाता है; परंतु सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण उसके सम्पूर्ण पक्षों के साथ किसी एक कृति में कर सकना संभव नहीं है।

राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास की संज्ञा साहित्य के इतिहास में प्रायः अज्ञात थी। सर्व-प्रथम टालसटाय के प्रख्यात उपन्यास 'War and Peace' को यह पदवी

दी गई। जिन्होंने इसका अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि यह कृति वास्तव में उपन्यास नहीं है, उससे कुछ अधिक है। इसमें कोई सुसंबद्ध कथानक भी नहीं है। सैकड़ों पृष्ठों तक सामाजिक समस्याओं और दार्शनिक विचारों की चर्चा चलती रहती है। जैसा कि नाम से आभासित होता है, इस ग्रंथ में युद्ध की परिस्थिति का वर्णन और चित्रण किया गया है। साथ ही साथ शांतिकाल में रूस की सामाजिक व्यवस्था का भी विस्तार के साथ चित्रण हुआ है। टालसटाय की साहित्यिक ख्याति, उनका रचना-सामर्थ्य, युग की सम्पूर्ण गति-विधि को एक कृति में समाहित करने की उनकी क्षमता अप्रतिम थी। यही कारण है कि उनका उपन्यास पूरे अर्थ में उपन्यास न होते हुए भी संसार की एक प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण कृति है, और उसे राष्ट्रीय उपन्यास या Epic Novel की संज्ञा दी गई है।

प्रेमचंदजी का 'गोदान' उपन्यास एक सीधे-सादे कथानक पर आश्रित है। वह ग्रामीण जीवन के दैन्य और सामाजिक वैषम्य को प्रदर्शित करता है। करुण रस का ही उसमें प्राधान्य है। इस करुण रस प्रधान ग्राम्य चित्र को राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधि चित्र नहीं कहा जा सकता। वर्तमान युग का भारतीय राष्ट्र नव जागृति की अंगड़ाइयां लेकर उठ रहा है। उसके जीवन में संघर्ष है, परंतु उसपर विजय पाने की कामना भी है। उसमें दैन्य और दुःख है, परंतु उनके निवारण का महान संकल्प भी है। हमारे देश में पिछले समय जो राष्ट्रीय संघर्ष हो रहा था, जिसके परिणाम-स्वरूप देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई है, वह अभूतपूर्व था। गोदान में इस सामाजिक उत्थान का कोई निर्देश नहीं है।

गोदान में नागरिक पात्र भी आए हैं। शिक्षित होते हुए भी उनमें वह राष्ट्रीय चेतना कम ही दिखाई देती है, जो उन पात्रों को ऊँची चारित्रिक भूमि पर प्रतिष्ठित करती। पूरे उपन्यास को पढ़ लेने पर वर्तमान युग के सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष का बहुत ही कम आभास होता है। ऐसी अवस्था में इसे युग की प्रतिनिधि रचना कहना सुसंगत न होगा।

महाकाव्य के साथ-साथ राष्ट्रीय उत्कर्ष का संस्कार जुड़ा रहता है। किसी भी महाकाव्य का उल्लेख करने पर हम उसमें युग की सर्वोच्च राष्ट्रीय चेतना तथा विकास की झलक पाना चाहते हैं। इसीलिए महा-

काव्य में प्रायः कोई बड़ा संघर्ष या युद्ध ही केन्द्रीय घटना हुआ करती है। वहीं से वीर चरित्रों का उत्थान या पतन हुआ करता है। महाकाव्य का सम्पूर्ण वातावरण वीर-भावना से ओत-प्रोत होने के कारण ही उसे राष्ट्रीय जीवन और आदर्शों का प्रतिबिम्ब या मुकुर कहा जा सकता है। गोदान में इस प्रकार की वीर-भावना का अभाव है। गोदान की अपेक्षा प्रेमचंदजी के अन्य उपन्यासों में चरित्रों का उत्कर्ष अधिक परिलक्षित होता है।

गोदान को समाज का सर्वतोमुखी चित्रण भी नहीं कह सकते। उस का देश और काल सीमित है। भारतवर्ष के विभिन्न प्रांतों में होने वाले सांस्कृतिक विनिमय का उसमें कोई उल्लेख नहीं है। उत्तरप्रदेश के एक छोटे ग्राम से ही उसका कथानक संबंधित है। यद्यपि ग्राम के विविध वर्गों और प्रतिनिधियों का उल्लेख अवश्य है, फिर भी सामूहिक और राष्ट्रीय दृष्टि से इसमें पर्याप्त विशालता नहीं है।

गोदान के कथानक में चरित्रों की संख्या भी थोड़ी है और ग्राम तथा नगर के चरित्र मिलकर भी युग-जीवन का यथेष्ट परिचय नहीं करा पाते। ऐसा नहीं प्रतीत होता कि उपन्यास का लक्ष्य राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व करना है। वह तो केवल भारतीय कृषक की असहाय अवस्था को दिखाकर समाप्त हो जाता है। नागरिक चित्रण का उद्देश्य भी नवीन पाश्चात्य संस्कारों को उसकी ऊपरी तड़क-भड़क के साथ दिखाना ही है। ये दोनों ही लक्ष्य उतने व्यापक और सर्व-स्पर्शी नहीं हैं कि इनके आधार पर गोदान को युग की प्रतिनिधि कृति कहा जा सके।

भारतवर्ष के वर्तमान जीवन में इतनी धाराएँ, और अंतर्धाराएँ, विचारों-आदर्शों की इतनी अनेकरूपता, साथ ही राष्ट्रीय उद्योग का इतना बड़ा समारम्भ चल रहा है कि उसे किसी एक उपन्यास में बाँध सकना अत्यंत कठिन है। कम-से-कम गोदान के लेखक का विचार इतने विशाल समारम्भ को अपनी कृति में स्थान देने का न था। कहा जा सकता है कि विस्तार में न सही, गहराई में यह उपन्यास युग का प्रतिनिधित्व करता है। उसमें भारतीय जीवन की करुणा 'होरी' के रूप में साकार हो गई है। होरी मानो देश की वास्तविक स्थिति का प्रतिनिधि है। परंतु इस आधार पर भी हम इस उपन्यास को राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधित्व करते नहीं

पाते। यदि उपन्यास के नायक में इतनी तीव्र संवेदना का भाव होता जिसके आधार पर हम इसे विपन्न भारत का प्रतिनिधि या प्रतीक चित्र मान सकते, तो भी एक बात थी। वास्तव में प्रेमचंदजी सीमित देश और काल को लेकर वर्तमान ग्रामीण जीवन का दिग्दर्शन ही करना चाहते हैं। गोदान में न तो महाकाव्य के से औदात्य और उत्कर्ष का समारम्भ आया है और न गहनतम उच्छ्‌वास का सा सीमित और तन्मयताकारी प्रभाव ही व्यक्त हो पाया है। हमारी दृष्टि में वह राष्ट्रीय प्रतिनिधि उपन्यास की उन शर्तों को पूरा नहीं करता जिन्हें टाल्सटाय का 'War and Peace' (वार एंड पीस) उपन्यास करता है।

गोदान के समाजवादी कृति कहलाने की सार्थकता—

किसी भी कलाकृति को किसी वाद के अंतर्गत रखना एक खतरे का काम है। विशेषकर उपन्यास-रचना का कार्य जीवन के नाना दृश्यों के चित्रण का कार्य है। कहानी में अथवा नाटक में हम फिर भी किसी एक सिद्धांत या वाद को आधार बना सकते हैं, यद्यपि इस कार्य में भी कहानी तथा नाटक की स्वाधीनता पर आघात लगे बिना न रहेगा। वादों के लिए उपन्यास सबसे अनुपयुक्त साहित्यिक सृष्टि है। उपन्यास में पग-पग पर जीवन की वास्तविक स्थिति और पात्रों की प्रगति का उल्लेख करना पड़ता है। वाद में तो कोई न कोई बँधी विचारधारा होती है, जिसके साँचे में साहित्यिक रचना को उतार देना आवश्यक होता है। अतएव यह स्पष्ट है कि यह कार्य उपन्यास-द्वारा करना अत्यंत कठिन है।

यदि किसी लेखक के कुछ सुनिश्चित विचार हैं, जिनको वह अपनी कलाकृति में रखना चाहता है, तो प्रायः अपनी उक्त कृति के प्रधान पात्रों द्वारा वह उन विचारों को उपस्थित कर सकता है। विचारों को अभिव्यक्त करते हुए पात्रों की स्थिति का पूरा ध्यान रखना पड़ता है और प्रत्येक अवसर पर उस स्थिति से संबंध रखनेवाली बात ही कहलाई जा सकती है। ऐसी अवस्था में नायक या अन्य प्रधान पात्रों द्वारा कहलाई गई बातें किसी वाद का रूप ग्रहण कर लें, यह बहुत कुछ असंभावित है। उपन्यास में आए हुए वे वाक्य उन-उन पात्रों के चरित्र-विकास से सम्बन्ध रखते हैं तथा उन-उन स्थलों की परिस्थिति के अनुरूप होते हैं। अतः ऐसे वाक्यों का ताँता लगा देना जिनसे उन

पात्रों के चरित्र में योग न मिलता हो और न वहाँ की परिस्थिति की अनुरूपता ही आती हो, रचना को उपदेशात्मक, कृत्रिम और असंबद्ध बना देगा। कोई कथाकार इस खतरे को नहीं उठा सकता।

आधुनिक उपन्यासों के विकास में समाजवादी विचारों के अनुकूल कुछ कृतियां अवश्य प्रस्तुत की गई हैं, परंतु उन कृतियों को समाजवादी उपन्यास कहना समीचीन नहीं है। उदाहरण के लिये हम गोर्की के उपन्यासों को लें। यह स्पष्ट है कि गोर्की के उपन्यास उस सामाजिक क्रांति का पूर्ण विवरण देते हैं जो श्रमिक वर्ग द्वारा की गई थी और जिसके विरोध में सत्ताधारी वर्ग या समुदाय था, परंतु इन चित्रणों में सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का आधार लिया गया है और वास्तविक जीवन का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। उपन्यासों को श्रमिक वर्ग के विद्रोह-युग की कृति कहा जा सकता है, परंतु उन्हें समाजवादी कृति कहना संगत न होगा। न तो समाजवाद के समस्त बौद्धिक निष्कर्ष इन उपन्यासों में आये हैं और न किसी वाद या विचारधारा को चित्रणों के ऊपर प्रमुखता प्राप्त हुई है। हम यह कह सकते हैं कि इन उपन्यासों द्वारा समाजवादी राष्ट्र के जीवन का चित्रण हुआ है, परंतु यह नहीं कह सकते कि इनमें समाजवाद का चित्रण हुआ है।

मार्क्सवादी साहित्य-शैली यथार्थवादी शैली होती है। मार्क्स और लेनिन दोनों ने इस बात की घोषणा की है कि समाजवादी साहित्य में यथार्थवादी चित्रण का ही स्वरूप आ सकता है। आदर्श और कल्पना-प्रधान चित्रण समाजवादी साहित्य के लिए ग्राह्य नहीं है। इसका कारण यह है कि मार्क्स के मत में समाजवाद एक भौतिकतावादी विज्ञान है और उसके मूल में वैज्ञानिक यथार्थ ही कार्य करता है। ऐसी अवस्था में सारा समाजवादी दृष्टिकोण यथार्थवाद पर आश्रित है। अपने को समाजवादी कहने वाले लेखक शैली तथा विचारों में यथार्थवाद को ही अपनाते हैं।

प्रेमचंदजी की कृतियां यथार्थवाद से बहुत दूर हैं। शैली में भी प्रेमचंद जी तर्कप्रधान बौद्धिक शैली को छोड़कर प्रायः भावात्मक शैली को अपनाते हैं। उनकी दृष्टि भी भौतिकतावादी नहीं है और न वे समाज का वह साँचा ही अपने दृष्टि-पथ में लाते हैं जिसका आधार मार्क्स-वादी समाजवाद है। अतः हम देखते हैं कि शैली की दृष्टि से, दार्शनिक

आधार पर, अथवा समाज-कल्पना के रूप में, प्रेमचंदजी का साहित्य मार्क्सवादी स्वरूप से नितांत भिन्न है। अपने आरंभिक उपन्यासों में तो प्रेमचन्दजी स्पष्टतः सुधारवादी रहे हैं। मार्क्सवादी समाज-व्यवस्था सुधार की भूमि को स्वीकार नहीं करती। वह क्रांति और प्रायः रक्त-क्रांति का ही संदेश सुनाती है। गोदान में प्रेमचन्दजी की स्थिति उनके अन्य उपन्यासों की अपेक्षा कहां तक भिन्न है, इसपर विचार करना आवश्यक है। गोदान का कथानक ग्रामीण जीवन का कथानक है। उसका नायक एक भारतीय कृषक है। गोदान में भारतीय ग्राम के अनेकमुखी जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। भारतीय कृषक के समस्त संस्कारों से युक्त उसकी वर्तमान दशा का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास का नायक होरी आरंभ में अपने घर में एक गाय रखने को लालायित है। वह किसी प्रकार गाय ले भी आता है। आगे का कथानक होरी के गाय रख सकने के सामर्थ्य की परीक्षा करता है—वह कृषक उस गाय को रख सकने में असमर्थ हो जाता है। उसका परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है और जब वह मरता है, तब 'गोदान के लिए न तो उसके पास गाय है, न बछिया और न पैसा।' उसकी स्त्री धनियाँ (बीस आने की सुतली जो आज बेची थी, उसी) बीस आने का गोदान करा देती है। उपन्यास के इस आरंभ और उपसंहार में भारतीय कृषक की दयनीय अवस्था का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। परंतु समाजवादी रचना के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं।

इस उपन्यास का उद्देश्य भारतीय ग्रामीण जीवन के विविध पक्षों को उपस्थित कर ग्रामीण जीवन की स्थिति का उद्घाटन करना है। यह कार्य समाजवाद का ही पोषक हो, यह आवश्यक नहीं। प्रेमचन्दजी ने इस उपन्यास में कोई मार्ग-निर्देश नहीं किया है। अपने अन्य उपन्यासों में प्रेमचंदजी ने आदर्शात्मक चर्चा की है और कुछ उपन्यासों में तो सामाजिक सुधार के लिए किसी संस्था-विशेष की स्थापना भी करा दी है। उन उपन्यासों में प्रेमचंदजी का सुधार-संबंधी वाद झलक भी उठता है, पर गोदान में किसी भी वाद की स्पष्ट सूचना नहीं दी गई है। ऐसी अवस्था में हम 'गोदान' को न तो समाजवादी कृति कह सकते हैं और न किसी अन्य वाद से ही उसका संबंध निर्धारित कर सकते हैं।

———

जैनेन्द्रकुमार

हिन्दी में उपन्यासकार जैनेन्द्र की ख्याति एक विचारक और चिंतक के रूप में अधिक है। उनकी रचनाओं में शुद्ध साहित्यिक गुणों के अतिरिक्त उनके विचारों और दार्शनिकता को भी ढूंढ़ने की चेष्टा की गई है। यों तो प्रत्येक लेखक में कुछ न कुछ बौद्धिक विचारणा रहती है, परंतु कुछ लेखकों में वह इतनी प्रमुख होती है कि उसी के आधार पर उसकी समस्त कृति का संघटन होता है और कभी-कभी तो एक विशेष विचारधारा के निर्देश के लिए ही उस रचना का निर्माण किया जाता है। जैनेन्द्रजी के उपन्यासों में आरम्भ से ही एक बौद्धिक या दार्शनिक दृष्टिकोण रहा है। उनकी परवर्ती कृतियों में तो दार्शनिकता इतनी प्रमुख हो गई है कि उनका साहित्यिक स्वरूप ही गौण हो गया है। साधारण विचारकों की भाँति जैनेन्द्रजी के विचार उनकी कृतियों में सरलतापूर्वक नहीं ढूंढ़े जा सकते। उनमें एक अस्पष्टता रहा करती है और पाठकों के विशेष परिश्रम करने पर ही उनके विचारसूत्र उपलब्ध होते हैं। उनके विचारों की यह रहस्यात्मकता या स्पष्टता किस कारण है, यह भी कहना कठिन है। कदाचित् जैनेन्द्रजी रचना के प्रभाव को तीव्र करने के लिए एक अनिर्दिष्ट विचारणा उसमें मिला देते हैं। कभी-कभी कला में अस्पष्टता भी आकर्षण का हेतु बन जाती है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि साहित्यिक रचनाओं में वस्तु-चित्रण और भाव-चित्रण ही मुख्य होते हैं। यदि उनमें प्रत्यक्ष रूप से किसी विचारधारा का संयोग करा दिया जाता है, तो रचना में उपदेशात्मकता आ जाने का भय रहता है। कदाचित् इसी उपदेशात्मकता के आरोप से बचने के लिए जैनेन्द्र जी अपने उपन्यासों में जो दार्शनिकता उपस्थित करते हैं, वह अस्पष्ट और रहस्यात्मक रहा करती है।

जैनेन्द्रजी एक भावुक कथाकार हैं। अतएव उनके विचारों में भी भावुकता का होना स्वाभाविक है। जब कोई विचारधारा भावना पर आश्रित हो जाती है, तब उसके तार्किक पक्ष को अथवा प्रमाण-प्रमेय संबंध को ढूंढ़ निकालना कठिन हो जाता है। जैनेन्द्रजी की दार्शनिक अस्पष्टता का यह भी एक कारण है। अधिकतर उनकी कृतियों में भावुकता

का इतना सशक्त प्रवाह है कि उनकी मूलवर्ती विचारधारा उक्त भावुकता में ही डूबी रहती है।

'त्यागपत्र' नामक इनके उपन्यास को लीजिए। इस उपन्यास के दार्शनिक आधार का स्पष्ट बोध करने के लिए हमें आरम्भ में ही यह समझ लेना होगा कि इस उपन्यास में नायिका मृणाल का चरित्र-लेखन किया गया है और ऊपरी दृष्टि से प्रतीत होने वाले उसके समस्त नैतिक और व्यावहारिक अवगुणों का अपवारण कर उसे एक महान नारी के रूप में उपस्थित करने का उद्योग किया गया है। इसी उद्योग के साधन के रूप में त्यागपत्र में दार्शनिकता की योजना की गई है। आरम्भ में ही हम देखते हैं कि मृणाल विवाह के पूर्व अपनी सखी शीला के घर आती-जाती रही है और शीला के भाई के प्रति उसका आकर्षण भी हो गया है। इसी वीच में उसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति से कर दिया जाता है जो आयु में उससे बहुत बड़ा है और विशेष पढ़ा-लिखा भी नहीं। इस प्रसंग में शीला के भाई के प्रति मृणाल के व्यवहार को एक रहस्यात्मक आवरण में ही रखकर लेखक ने अपना काम चलाया है और सारा दोष मृणाल के वयस्क पति पर रख छोड़ा है।

दूसरा प्रसंग तब उपस्थित होता है जब मृणाल से रुष्ट होकर उसका विवाहित पति उसे अलग कर देता है और वह असहाय अवस्था में रहने लगती है। यहां लेखक ने मृणाल के विवाह-पूर्व आचरण को रहस्यात्मक रीति से छिपाकर उसके प्रति हमारी सम्पूर्ण सहानुभूति प्राप्त कर ली है। किन्तु इस स्थिति में आकर लेखक के संमुख मार्ग यह था कि वह मृणाल का नैतिक पतन न दिखाकर उसकी साधनामयी जीवनी का आरम्भ करता और मृणाल के चरित्र को नया उत्कर्ष देकर हमारी सहानुभूति को स्थिर रखता। परन्तु लेखक ने उस मार्ग को न चुनकर मृणाल का संबंध एक दूसरे व्यक्ति से प्रदर्शित किया है। इस समाज-विरोधी और अनैतिक पक्ष की पुष्टि के लिए लेखक ने फिर अपने 'तत्वज्ञान' का सहारा लिया है। सामाजिक दृष्टि से परपुरुष-सम्बन्ध एक अपवाद ही है; परन्तु लेखक इस सम्बन्ध में ही मृणाल की जीवन-साधना का दर्शन करता है। हम कह सकते हैं कि यह दार्शनिकता सामाजिक नियमों की विरोधिनी, अस्पष्ट और अत्यंत गूढ़ है।

लेखक इस परिस्थिति में मृणाल की दयनीय दशा और विवशता का

मार्मिक चित्र उपस्थित कर हमारी सहानुभूति मृणाल की ओर फिर से आकृष्ट करता है। यह कार्य वह अपनी भावुक दार्शनिकता के बल पर करता है। क्रमशः मृणाल गर्हित समाज में गहरी पैठती जाती है, और ज्यों-ज्यों उसका संपर्क इस आचारहीन समाज से बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों लेखक उसके व्यक्तित्व को उत्कर्ष देता और उसे साधना के मार्ग में बहुत ऊँचा उठा हुआ प्रदर्शित करता है। मृणाल भगवान की दुहाई देती है और अपनी अवशता में ही अपना कर्तृत्व मानने लगती है। वह स्वतः अपने को किसी अलौकिक उद्देश्य की सिद्धि का निमित्त मानती है और प्रमोद-जैसे विचारशील तथा उच्च पदस्थ व्यक्ति को भी इस साधना-मार्ग में प्रवेश करने का निषेध करती है। प्रश्न यह है कि लेखक ने कौन-सी साधना मृणाल को सौंपी है? प्रत्यक्ष में उपन्यास किसी विशेष साधना-पथ का संकेत नहीं करता, तथापि लेखक की दृष्टि में मृणाल एक उत्कृष्टतम साधिका बनी हुई है!

इसके आगे हम मृणाल को एक परिवार में बच्चों की देखरेख करते और उससे मिलने वाले द्रव्य से जीविका चलाते देखते हैं। यहां अवश्य हमें यह प्रतीत होता है कि मृणाल अब स्वात्मनिर्भर हो गई है और वह स्वतंत्र रूप से अपनी मर्यादा की रक्षा करती हुई अपना जीवन-यापन कर सकती है। परंतु लेखक मृणाल की इस संतोषजनक परिस्थिति को अधिक दिन कायम नहीं रखता। उसकी नौकरी छूट जाती है और वह फिर पूर्ववत् विवशतापूर्ण अनिर्दिष्ट मार्ग पर चलने लगती है। अंत में वह अत्यंत शोचनीय और विद्रूप परिस्थितियों में पड़कर रुग्ण हो जाती है और कुछ समय बाद 'घुट-घुट कर प्राण त्याग देती है'। यहां भी किसी सुस्पष्ट जीवनक्रम के स्थान पर हमें मृणाल की किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति का ही बोध कराया जाता है।

एक स्थान पर मृणाल अपनी-जैसी आश्रयहीन नारियों का एक संगठन तैयार करती हुई दिखाई गई है। इस अवसर पर प्रमोद से उसकी कुछ बातचीत भी होती है। प्रमोद के आग्रह करने पर भी वह उसके घर आने को तैयार नहीं होती, परंतु उससे आवश्यक द्रव्य लेकर निराश्रित नारियों की सहायता में लगाने का विचार करती है। प्रमोद से उसे आवश्यक द्रव्य नहीं मिलता। इस प्रसंग में लेखक की दार्शनिकता यह सुझाती प्रतीत होती है कि अच्छे-से-अच्छे सुधारवादी व्यक्तियों-द्वारा भी अत्या-

वश्यक सामाजिक कार्य में यथेष्ट सहयोग मिलना संभव नहीं होता। उसकी यह उपपत्ति हमें समाज की एक सामान्य प्रवृत्ति का परिचय भर कराती है, परंतु लेखक इस घटना की योजना-द्वारा भी मृणाल के चरित्र के उत्कर्ष को बढ़ाता है, और उसकी दयनीय दशा के प्रति संवेदना उत्पन्न करता है। समस्त उपन्यास में इसी भावुक और रहस्यमय प्रणाली के प्रयोग-द्वारा हमारी सहानुभूति खींची गई है, परंतु प्रश्न यह है कि मृणाल के चरित्र में वास्तविक गरिमा लेखक कहाँ तक ला सका है? दूसरा प्रश्न यह है कि मृणाल को विना वास्तविक चारित्रिक गरिमा दिए उसके प्रति हमारी संवेदना आकृष्ट करना कहां तक स्वस्थ साहित्यिक उद्देश्य कहा जा सकता है?

हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि जैनेन्द्र का उद्देश्य नारी की वर्तमान सामाजिक असहायावस्था के चित्रण द्वारा समाज की व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह उत्पन्न करना है। मृणाल को कष्टपूर्ण और अनैतिक स्थितियों में रख कर लेखक ने हमारी समाज-विरोधी चेतना को और भी तीव्र किया है। परंतु हमारी उक्त चेतना को जागृत करने के लिए क्या यह भी आवश्यक था कि मृणाल के सामाजिक पतन को भी दिव्य और लोकोत्तर साधना का नाम दिया जाता? लेखक के इस अंतिम निर्देश को स्वीकार करने में हम असमर्थ हैं।

प्रेमचंद को आदर्शवादी कहकर लोग संकीर्ण या गुजरे जमाने का लेखक कहते हैं, परन्तु प्रेमचंदजी आदर्शवादी होते हुए भी जीवन के प्रति आस्था और विश्वास से पूर्ण हैं जब कि जैनेन्द्र-जैसे लेखकों की दृष्टि अत्यंत व्यक्तिवादी, तर्कप्रधान और अनिर्दिष्ट है। वाद कोई हो, उस के अंतर्गत लेखक की जीवनानुभूति उसके उत्कर्ष की विधायक होती है। प्रसिद्ध लेखक अज्ञेय ठीक ही कहते हैं कि 'परवर्ती उपन्यास की अपेक्षा प्रेमचंद के उपन्यासों में रचनात्मक प्रभाव की संभावना अधिक है। क्योंकि प्रेमचंद का आदर्शवाद मानवता में आसक्ति रखता है और वह आसक्ति रचनात्मक प्रणालियों में बांधी जा सकती है।' प्रेमचंदजी के उपन्यासों में सामाजिकता का गुण पूर्ण मात्रा में पाया जाता है। उनके पात्र और चरित्र आधुनिक भारतीय जीवन के प्रतिनिधि रूप में चित्रित हुए हैं। उनके निर्माण में रचयिता की दृष्टि सामाजिक विकास की ओर पूर्णतः संलग्न है। प्रेमचंदजी का अनुभव व्यापक और विशाल है। उन्होंने अनेकानेक सामा-

जिक स्तरों से पात्रों और चरित्रों का चयन किया है। उनके साहित्य में व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि प्रेमचंद का साहित्य बहिर्मुख साहित्य है और जीवन के प्रश्नों और समस्याओं से जुड़ा हुआ है। जैनेन्द्र की साहित्य-सृष्टि व्यक्तिमुखी है। उनका संबंध सामाजिक जीवन के व्यापक स्वरूपों से कम ही है। वे वैयक्तिक मनोभावों और स्थितियों के चित्रकार हैं। जैनेन्द्र के साहित्य में रचयिता की अंतर्मुखी प्रवृत्ति का पूरा योग है जिसके कारण रचना के साथ उसके रचयिता की मनोवैज्ञानिक परीक्षा भी आवश्यक हो जाती है। प्रेमचंद का साहित्य इस प्रकार की परीक्षा से परे है, क्योंकि प्रेमचंद स्वस्थ और विकासोन्मुख सामाजिक जीवन के चित्रकार हैं। जैनेन्द्र भी आदर्शों की स्थापना करते हैं, परंतु उनके साहित्य को आदर्शवादी नहीं कहा जा सकता। वे कल्पना-प्रधान और व्यक्तिवादी लेखक हैं। इन दोनों साहित्य-सरणियों का अंतर समझने के लिए यह जान लेना भी आवश्यक है कि जैनेन्द्रकुमार सामाजिक जीवन के वास्तविक प्रवाह से दूर जाकर 'आध्यात्मिक' सूक्ष्मतंत्रों को चित्रित करने का लक्ष्य रखते हैं। परंतु इस 'आध्यात्मिक' चित्रण में उनकी मनःस्थिति पूर्णतः स्वस्थ और तटस्थ नहीं दिखाई देती। जैनेन्द्र सामाजिक जीवन से दूर जाकर जिस साहित्य की सृष्टि करते हैं, उसमें व्यक्ति के मानसिक संघर्ष और उसकी परिस्थिति-जन्य समस्याएं प्रमुख रूप से आती हैं। परंतु उनका विरूपण करने में लेखक का दृष्टिकोण स्वस्थ और स्पष्ट नहीं है।

आधुनिक समाजवादी विचारक प्रेमचंदजी को हिंदी का प्रमुख प्रगतिशील लेखक मानते हैं। सामाजिक जीवन से उनके घनिष्ठ संबंध को सभी स्वीकार करते हैं। जैनेन्द्रकुमार इससे भिन्न व्यक्तिवादी कलाकार हैं। हाल की उनकी रचनाओं में चरित्रों की ऐकांतिकता, जीवन के प्रवाह से पृथकता और दूरी अत्यधिक स्पष्ट हो गई है। समाजवादी विचारक जैनेन्द्र को जीवन की वास्तविकता से दूर जाते हुए लेखक के रूप में देख रहे हैं। कुछ समीक्षाओं में उनको प्रतिक्रियावादी रचनाकार कहा गया है। इनसे समीक्षकों का तात्पर्य जैनेन्द्रजी की उन साहित्यिक प्रवृत्तियों से है जिनमें वे सामाजिक मूल्यों की अवमानना कर स्वतंत्र और वैयक्तिक मनःतर्कवाद का निरूपण करते दिखाई देते हैं। जैनेन्द्रजी को सामाजिक जीवन से भागनेवाला या पलायनवादी भी कहा गया है। नैतिक आदर्शों को जैनेन्द्रजी के साहित्य में कोई स्थिर मान्यता प्राप्त नहीं है। हम रूढ़िबद्ध सामाजिक

नैतिकता के हामी नहीं हैं। परंतु हम उस मनोविज्ञान को अवश्य समझना चाहते हैं जो समस्त सामाजिक व्यवहारों पर एक प्रश्न-चिह्न लगाकर रह जाता है और बदले में कोई नया निर्देश या रचनात्मक सुझाव नहीं देता।

व्यक्तियों और पात्रों का चित्रण यदि एकदम ऐसी भूमि पर किया जाय जिससे सामाजिक नैतिकता का या प्रचलित व्यवहारों का कोई संबंध न हो, और फिर यह आशा की जाय कि वे पात्र और चरित्र सामाजिक व्यवहारों की कसौटी पर न परखे जायँ, बल्कि उनके लिए सब प्रकार की छूट होते हुए भी वे महान माने जाएं, तो यह एक अतिशय असाधारण मांग होगी। प्रश्न होता है कि ऐसी असाधारण मांग क्यों? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि किसी युग-विशेष में परंपरागत धारणाओं और सामाजिक आदर्शों के विरुद्ध विद्रोह करने की आवश्यकता हो सकती है और नए नैतिक मूल्यों का स्थापन किया जा सकता है। ऐसे क्रांति-युगों में कथाकार का यह धर्म हो जाता है कि वह क्रमागत सामाजिक मूल्यों के स्थान पर नए मूल्यों का निर्देश करे। परंतु इसका यह अर्थ नहीं होता कि वे नए मूल्य और आदर्श एकदम ही काल्पनिक और असामाजिक हों। विद्रोही कलाकार भी जिस नवीन सामाजिकता का निर्माण करता है, उसमें एक औचित्य और व्यवस्था रहा करती है। जैनेन्द्र जी का विद्रोह इस प्रकार का नहीं है। वे नवीन सामाजिक मूल्यों का निर्धारण नहीं करते; वे तो अपने पात्रों के समाज-विरोधी स्वरूप का एक रहस्यवादी दार्शनिकता के आधार पर समर्थन करते जाते हैं। इसे हम साहित्य-संबंधी स्वस्थ रचनात्मक दृष्टि नहीं कह सकेंगे। जिस विद्रोह में रचनात्मकता न हो, ऐसा साहित्यिक कार्य सच्चे अर्थों में क्रांतिकारी नहीं कहा जा सकता।

कतिपय मनोविश्लेषक यह कहते हैं कि जैनेन्द्रकुमार ने जिस प्रकार की सामाजिक आधाररहित साहित्य-सृष्टि की है, उसके मूल में स्वयं लेखक की पलायन वृत्ति, दुःखवादी (Sadistic) धारणा और अतृप्त वासना काम करती है। यह कहा जा सकता है कि इस पलायन वृत्ति को जैनेन्द्रकुमार ने एक दार्शनिक आवरण दे रक्खा है। उनके प्रमुख चरित्र अपने को दार्शनिक चोले में प्रकट करते हैं। त्यागपत्र की मृणाल स्थान-स्थान पर इस दार्शनिकता को लेकर प्रस्तुत होती है।

परंतु प्रश्न यह है कि क्या उक्त दार्शनिक आवरण से जैनेन्द्रजी की वास्तविक मनःस्थिति और उसके आधार पर निर्मित होनेवाली चरित्रों और पात्रों की वास्तविकता छिपाई जा सकती है ? जब पूर्ण रचना का अनुशीलन करने पर भी पाठक के हाथ कुछ नहीं लगता, तब इस प्रश्न की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि जैनेन्द्रकुमार की करुणा और उनकी संवेदना के चित्रण की असलियत क्या है। करुणा किसके लिए और क्यों ? यह प्रश्न उनकी रचनाओं में प्रायः कोई समाधान नहीं पाता। इन कारणों से समीक्षकों का यह आरोप कि जैनेन्द्रकुमार अत्यधिक व्यक्तिवादी, रहस्यात्मक तथा काल्पनिक उपन्यासकार हैं तथा उनके उपन्यासों का सामाजिक प्रभाव अत्यंत संदिग्ध है, अनुचित नहीं कहा जा सकता।

प्रेमचंद का साहित्य यत्र-तत्र दूसरी अति पर पहुंच गया है। वे एक सामाजिक उपदेष्टा और प्रचारक के रूप में उपस्थित होते हैं। व्यक्ति की मानसिक स्थितियों का चित्रण करने में वे उतने कुशल नहीं हैं। वास्तव में वह उनका मुख्य ध्येय ही नहीं है। यह भी कहा जाता है कि नारी-चरित्र का निर्माण करने में प्रेमचंदजी प्रायः सफल नहीं हुए। प्रेमचंदजी के आदर्शवादी लक्ष्य के अनुरूप न होने के कारण, अनेक साहित्यिक आवश्यकताओं की उपेक्षा हो गई है। प्रेमचंदजी के उपन्यासों में यत्र-तत्र बोझीलापन अधिक हो गया है। वे कहीं किसी विषय की चर्चा करने लगते हैं, तो उसे इतना विस्तार दे देते हैं कि वह पाठक के धैर्य का परीक्षक बन जाता है। वर्णनों के विस्तार द्वारा वे कथा को अत्यधिक खींच डालते हैं जिसमें एक प्रकार का असंतुलन दिखाई पड़ने लगता है। कला की दृष्टि से इन त्रुटियों को स्वीकार करना पड़ता है। प्रेमचंद के चरित्र-चित्रण में भी वर्गगत चित्रण की ही प्रमुखता है। उनके पात्र भिन्न-भिन्न वर्गों के प्रतीक बन जाते हैं। इसे भी सृजन की वास्तविक मौलिकता के लिए बाधक ही कह सकते हैं। परंतु इन अपवादों के रहते हुए प्रेमचंदजी का अनुभव-क्षेत्र विस्तृत है। पात्रों की बातचीत कौशल के साथ कराने की उनकी क्षमता असाधारण है; उच्च आदर्शों की ओर उनकी प्रवृत्ति अबाध है। वे हिंदी के महान् और असाधारण उपन्यासकार और कथालेखक का सर्वमान्य पद अधिकृत करते हैं। कला की दृष्टि से जैनेन्द्रजी की रचनाएँ उन अनेक दोषों से विमुक्त हैं जिनका

उल्लेख प्रेमचंदजी के संबंध में किया जाता है। फिर भी तत्त्व या निष्कर्ष की दृष्टि से इन दो कलाकारों में जो अंतर है उसके आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि प्रेमचंद की समकक्षता में जैनेन्द्र-कुमार को रखना किसी भी साहित्यिक मानदंड के अनुरूप नहीं होगा।

जैनेन्द्रजी के संबंध में दो बातें अक्सर बड़े आग्रह के साथ कही जाती हैं। एक यह कि जैनेन्द्रजी अपने जीवन-दर्शन में गाँधी जी के अनुयायी या गांधीवादी हैं और दूसरी यह कि कलाकार के रूप में वे आदर्शवादी हैं। अपनी असाधारण भावुकता के द्वारा वे सामाजिक जीवन का निरंतर परिष्कार करने की दिशा में अपनी लेखनी का व्यवहार कर रहे हैं और विशेषकर नारी-समाज के प्रति उनकी दृष्टि अत्यंत उदार है। नारी के प्रति इस महान् सद्भावना के कारण ही जैनेन्द्रजी के उपन्यासों की नारियाँ, वे चाहे जैसा भी सामाजिक व्यवहार करें, सदैव उदात्त ही बनी रहती हैं। कहा जाता है कि इसी कारण जैनेन्द्रजी के चित्रणों में नारी की परख उसकी सामाजिक स्थिति या आचरण से नहीं होती, वह संपूर्ण व्यावहारिकता के परे है और सदैव अनुपम गरिमा से मंडित है। किन्तु ये दोनों ही बातें हमें सुसंगत नहीं जान पड़तीं। गांधी जी अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में जितने बड़े आदर्शवादी और अध्यात्मवादी थे, अपने सामाजिक मंतव्यों में उतने ही कठोर साधना-प्रिय और नीतिवादी रहे हैं। उनकी सामाजिक नीतियों और आचरणों पर भावुकता की छाया नहीं थी। हल्की भावुकता से वे कोसों दूर थे। जैनेन्द्र की रचनाओं में जिन नारियों के दर्शन हमें होते हैं, वे गांधी जी की नारी-कल्पना से नितान्त भिन्न हैं। रचना के क्षेत्र में जैनेन्द्र न तो गांधीवादी हैं और न आदर्शवादी हैं। वे ऐकान्तिक, भावुक और कल्पना-जीवी लेखक हैं जो वास्तविकता के प्रकाश में धूमिल दिखाई देते हैं।

त्यागपत्र

'त्यागपत्र' श्री० जैनेन्द्रकुमार का अस्सी पृष्ठों का सामाजिक उपन्यास है। पुस्तक के छोटे आकार को देखकर प्रश्न होता है कि इसमें उपन्यास की सर्वसंमत विशेषताएं हैं या नहीं—इसे उपन्यास कहा भी जा सकता है, या नहीं। उपन्यास-कला की दृष्टि से यह प्रश्न आवश्यक हो सकता है, और आकर्षक भी; पर हमारी चर्चा के लिए परिभाषा की इस बारीकी में विना गए भी काम चल सकता है। हम देखते हैं कि पुस्तक में औपन्यासिक अनुक्रम या कथा का विकास भले ही प्रशस्त न हो, मृणाल नाम की एक नारी की संपूर्ण जीवन-झांकी प्रस्तुत की गई है, और चुने हुए दृश्यों का अंकन किया गया है। उसकी जीवन-कथा के साथ उसके जीवन-मर्म की, तात्त्विक और दार्शनिक निष्कर्षों के साथ, झलक दी गई है जिससे रचना मे बौद्धिकता का पुट पड़ गया है। सारी पुस्तक पढ़ जाने पर आकार की स्वल्पता की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता, बल्कि हमारे मन और मस्तिष्क एकाग्र हो उठते हैं और हम उपन्यास में चित्रित समस्या पर विचार करने लगते हैं।

मोटी कहानी तो इतनी ही है कि एक मध्यवित्त परिवार की लड़की मृणाल, अपने पिता के देहावसान के पश्चात्, अपने बड़े भाई और उसकी पत्नी के संरक्षण में रहने लगती है, और क्रमशः स्कूली शिक्षा प्राप्त करती है। वह अपने भतीजे प्रमोद से, जो वय में उससे चार-पाँच वर्ष ही छोटा है, विशेष आत्मीयता रखती है, और प्रमोद भी अपनी इस बुआ मृणाल से अतिशय स्नेह करता है। स्कूली शिक्षा समाप्त होने के साथ ही मृणाल का विवाह एक संपन्न, किन्तु वयस्क व्यक्ति से कर दिया जाता है, जिसके मन में मृणाल के प्रति अनुकूलता का भाव नहीं है। पारिवारिक प्रथा के अनुसार मृणाल अपने पतिगृह में ही रहने को बाध्य होती है। भाई के घर जाने पर उसे यह सीख दी जाती है कि वह पति को ही सर्वस्व मानकर उनकी आज्ञा का अनुवर्तन करे। पति के रुष्ट होने पर मृणाल भाई के घर आ नहीं सकती है और पति के घर रहना उसके लिए कठिन हो जाता है। पति द्वारा लांछित और तिरस्कृत होकर वह एक अलग मकान

में निरवलंब रहने लगती है। आश्रय की अनिवार्यता उसे एक तीसरे मनुष्य की संगिनी बनने को बाध्य करती है, परंतु यह मनुष्य भी ठीक अवसर पर मृणाल को निराश्रित छोड़कर चल देता है। उसके गर्भ से उत्पन्न एक बालिका शीघ्र ही कालकवलित हो जाती है। कुछ दिनों तक वह एक अन्य परिवार में रहकर बच्चों को पढ़ाती तथा अनेक प्रकार की परिचर्या करके उदर-पोषण करती है, किन्तु सामाजिक प्रवाद से आक्रान्त होकर वह इस स्थान से भी निकाल दी जाती है। इसके पश्चात् उसकी समस्त आयु चारों ओर ठोकर खाते बीतती है, तथा अन्त में उसके घुल-घुलकर मरने की सूचना प्राप्त होती है।

उपन्यास के आरंभ में ही मृणाल के आचरण के संबंध में नैतिक प्रश्न उठाया गया है, यह कि वह दोषिनी है या नहीं। लोक-प्रचलित धारणा और मर्यादा की दृष्टि से मृणाल का संपूर्ण चरित्र दोषावह कहा जा सकता है, पर लेखक ने ठीक इसके विपरीत धारणा व्यक्त की है और मृणाल को उच्चतम आदर्शों का प्रतीक बनाकर अंकित किया है। लोक-दृष्टि और लेखक की स्थापना के बीच विरोध की इतनी बड़ी खाई है कि सारा उपन्यास पाठक के लिए आदि से अंत तक एक असाधारण जिज्ञासा का विषय बना रहता है।

इस नैतिक प्रश्न के साथ आर्थिक और वर्गगत समस्या भी लेखक के चित्रण का अंग है जिसकी ओर उसकी विशेष दृष्टि दिखाई पड़ती है। हम देखते हैं कि मृणाल भद्र परिवार की लड़की है, परंतु परिस्थितियों के चक्र में पड़कर जब वह असहाय हो जाती है और गरीब समुदाय के बीच निर्धनता का जीवन व्यतीत करती है, तब वह अपनी नई परिस्थिति और नए निर्धन वर्ग के प्रति एक विलक्षण ममता रखने लगती है और उस वर्ग के समस्त व्यवहारों की पूरी-पूरी हिमायत करती है। वह किसी भी प्रलोभन पर संपन्न प्रमोद के घर आकर रहना स्वीकार नहीं करती, यद्यपि व्यक्तिगत रूप से ऐसा करना उसके लिए लाभजनक होता। पर वह वित्तहीन वर्ग से अपने को एकाकार कर लेती है और उसकी संपूर्ण विधि-व्यवस्था को सहानुभूतिपूर्वक अपनाती है।

नियति या भवितव्य का प्रश्न भी उपन्यास में प्रमुख बनकर आया है, परन्तु इसकी जो व्याख्या लेखक ने की है, वह साधारण नियतिवादिता या भाग्यवाद से बहुत कुछ भिन्न है। नियति या भाग्य को आशीर्वाद मान-

कर मृणाल प्रत्येक संकट का सामना करती है और प्रत्येक कठोर वास्तविकता को अपनी साधना का अंग बनाती है। इस संबंध के लेखक के विचार भी उपन्यास में नई जिज्ञासा की सृष्टि करते हैं और नये दृष्टिकोण का संकेत देते हैं।

इन समस्त प्रश्नों और समस्याओं का प्रवेश इस छोटी-सी पुस्तक में किस रूप में किया गया है, तथा उनका निरूपण करने में लेखक का उद्देश्य और उसकी मनोभावना क्या है, यह पुस्तक पर एक क्रमिक दृष्टि डालने पर ही जाना जा सकेगा।

पुस्तक के प्रारंभिक पृष्ठों में मृणाल के बाल्य-जीवन की एक हल्की झाँकी दी गई है। वह रूपवती और चंचल बालिका है। अपनी सखी शीला के साथ मिलकर वह अध्यापक और अध्यापिकाओं से नटखटी करती रहती है। एक बार शीला के कसूर पर स्वयं दंड स्वीकार करती है। चोट खाकर भी जैसे उसे चोट नहीं लगती। शीला के घर उसका आना-जाना होता है और घनिष्ठता हो जाती है। शीला का एक बड़ा भाई है, जिससे मृणाल का परिचय हो जाता है। मृणाल की भाभी और उसके भाई भी शीला के घर मृणाल के इस आवागमन और संपर्क से संतुष्ट नहीं हैं। सन्तुष्ट नहीं, वे इससे अप्रसन्न हैं और इसी कारण एक दिन भाभी के हाथ मृणाल को बेंतों की मार भी खानी पड़ती है।

प्रमोद जो मृणाल का भतीजा और बाल-सहचर है, घर और बाहर की इस परिस्थिति को देखता रहता है। उसे मृणाल का स्वभाव प्रिय है और वह सदैव मृणाल के कार्यों का समर्थन करता है।

मृणाल का भी प्रमोद के प्रति प्रेम क्रमशः बढ़ता जाता है और ज्यों-ज्यों वह घर में आवर्जना सहन करती है, त्यों-त्यों प्रमोद के अधिक निकट आ जाती है। एकाध स्थान पर ऐसा भासित होता है कि प्रमोद के प्रति मृणाल के प्रेम में कुछ मानसिक विपर्यय भी है, पर वह हल्की छाया घरेलू व्यवहार की प्रतिक्रिया-मात्र रहती है, उसमें किसी प्रकार की 'अनैतिक' गहराई नहीं आती।

अवस्था की वृद्धि के साथ मृणाल विवाह योग्य होती है और शीला के परिवार से संपर्क की आशंका मिटा देने के लिए उसका विवाह और भी शीघ्रता से कर दिया जाता है। मृणाल का यह पति संपन्न, किन्तु अशिक्षित और भोंड़ा है। स्वयं प्रमोद (जो एक बालक ही है) इस

संबंध से खिन्न और रुष्ट है। अवसर मिलते ही वह अपने फूफा, मृणाल के पति, का बाल-सुलभ उपहास करने से नहीं चूकता।

मृणाल पतिव्रत की शिक्षा लेकर अपने नए घर जाती है, पर पति-पत्नी के संबंध अच्छे नहीं रहते। मनस्विनी मृणाल एकाध बार पतिगृह से अपने मायके भी आती है, पर उसके भाई-भाभी, बँधी लीक पर चलने के कारण, मृणाल के इस कार्य को पसंद नहीं करते। मृणाल भी इस परिस्थिति को समझकर सदैव के लिए भाई का घर छोड़ देती है और यहीं से परंपरा और सामाजिक रूढ़ि के विरुद्ध उसका अटूट संघर्ष आरंभ होता है।

कुछ ही समय पश्चात् हम मृणाल को पति-परित्यक्ता के रूप में पाते हैं, यद्यपि परित्याग का कार्य अपर्याप्त और संदिग्ध आधार पर चित्रित है। मृणाल के पति यह समझते हैं कि विवाह के पूर्व मृणाल का संबंध किसी अन्य व्यक्ति (शीला के भाई) से रहा है, यद्यपि उन्हें इस बात की सूचना स्वयं मृणाल से ही मिलती है। पुस्तक में कहीं इस बात का संकेत नहीं है कि शीला के भाई से मृणाल का विवाहपूर्व संबंध किस कोटि का था !

मृणाल अब अकेली और निराधार है। वह सब ओर से परित्यक्त होकर 'भवितव्य'-वश जीवन का नया अध्याय आरंभ करती है। यह अध्याय देखने में पर-पुरुष-संगति या व्यभिचार का है, परंतु मृणाल इसे समाज की जड़ों में अपने को सींच देने का उपक्रम मानती है। अब तो उसके लिए 'सचाई' छोटा बनने में, निरीह बनने में, बलि बनने में है। जो कार्य साधारण परिस्थिति में निन्द्य और पतनोन्मुख समझे जाते हैं, मृणाल उन्हीं कार्यों की डोरी पकड़कर उच्चतम आदर्श पर पहुँचना चाहती है ! उसका व्यभिचार उसकी साधना है, उसकी पर-पुरुष-संगति उसकी जीवन-सेवा है ! जीवन-यापन के लिए व्यभिचार की आवश्यकता के संबंध में किसी को भी संदेह हो सकता है, परंतु लेखक इसे असाधारण सचेतन संकल्प का स्वरूप देकर अपनी संपूर्ण श्रद्धांजलि भेंट करता है ! सामाजिक रूढ़ि और मान्यता के विरोध में दुष्कर्म को सत्कर्म मानकर बरतना मृणाल की विशेषता है। वह असामान्य विद्रोह की मूर्ति बनकर उपस्थित होती है, यद्यपि उसका विद्रोह समाजव्यापी न होकर व्यक्तिगत है।

जीवन के अन्य सारे उपक्रम और परिपाटियाँ इस विद्रोही साधना की

तुलना में तुच्छ और त्याज्य हैं। प्रमोद की उच्चाभिलाषा, उसकी सहानुभूति, आदर्शवादिता और जजी भी मृणाल की विद्रोही ज्वाला और ज्योति के समक्ष निष्प्रभ और अर्थहीन है। मृणाल कर्मण्यता और अनुष्ठान की प्रतीक है, प्रमोद केवल सदभिलाषा का उदाहरण है। एक में समर्पण और बलिदान की पुकार है, दूसरे में एक थोथे गौरव का वृथा संभार।

दैन्य और दरिद्रता, सामाजिक वर्जना और विगर्हणा को स्वीकार करना ही सत्य है, सच्चा जीवन है। प्रमोद कहता है—"अज्ञात होकर सच्चा बनूं, झूठा बनकर नामवर होने में क्या रक्खा है! ओः, वैसी नामवरी निष्फल है, व्यर्थ है, निरी रेत है।"

मृणाल और प्रमोद का संपर्क और संबंध उपन्यास के अंत तक चलता रहता है। प्रमोद अपनी बुआ को वैयक्तिक विपत्ति से छुड़ाना चाहता है, पर मृणाल के सामने कोई व्यक्तिगत प्रश्न अब नहीं रहा। वह अपनी-सी लाखों प्रताडित नारियों की एकान्त प्रतिनिधि है।

पति द्वारा निर्वासित होने पर जिस व्यक्ति ने मणाल का भरण-पोषण किया, उसकी स्वार्थपरता को अच्छी तरह जानती हुई भी वह उसकी कृतज्ञ है, और उसे छोड़ना नहीं चाहती। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि मृणाल एक के बाद दूसरे व्यक्तियों से पति-पत्नी का संबंध क्यों स्थापित करती है और क्या किसी दूसरे मार्ग का अवलंबन वह नहीं कर सकती थी? इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि सामाजिक दृष्टि से दुष्कर्म में फँसी हुई नारी की स्थिति जितनी आकर्षक हो सकती है, और समाज के अपराध का जितना नग्न और नृशंस रूप सामने रख सकती है, दूसरी परिस्थिति में कदाचित् वह वैसा प्रभाव न डाल सकती। अतएव लेखक ने इस प्रकार की घटना-योजना की है। परन्तु ऐसी घटना-योजना हमें जीवन की किसी रचनात्मक दिशा में नहीं ले जाती साथ ही व्यभिचार के पथ पर मृणाल के चलने की अनिवार्यता पर हमें विश्वास नहीं होता।

एक स्थान पर, एक ही क्यों अनेक अवसरों पर, प्रमोद मृणाल को अपने घर ले जाने का आग्रह करता है। मृणाल की कष्टपूर्ण स्थिति उसे सह्य नहीं है। वह कहता है। "तुम यहीं रहोगी? इसी जगह? कब तक रहोगी?"

मृणाल कहती है—"अभी तो इसी जगह हूं। इस कोठरी में मैं न रहूंगी, कोई और रहेगा। ये कोठरियाँ तो आबाद ही रहेंगी। इनमें रहने लायक आदमी तो बहुत हैं।"

मृणाल का उत्तर अकाट्य-सा है। वह अपने व्यक्तिगत सुख-दु:ख को महत्त्व नहीं देती। वह प्रमोद का ध्यान समाज की स्थायी समस्या की ओर आकृष्ट करती है। प्रमोद या हमारा सुधारक किसी एक-दो या दस-बीस नारियों की दशा सुधार सकता है। पर प्रश्न तो इससे कहीं अधिक व्यापक और बड़ा है। वह समस्त अपमानित और तिरस्कृत अबला-समुदाय का प्रश्न है। परंतु प्रश्न यह है कि यह समस्या क्या मृणाल द्वारा ग्रहण की गई 'निष्क्रिय नीति' से हल हो सकती है ?

वर्गवाद की नपी-तुली सैद्धान्तिकता का आधार इस पुस्तक में नहीं लिया गया है। मृणाल सामाजिक पतन की निम्नतम स्थिति पर पहुँच कर भी कहती है—"एक बात जानती हूँ। वेश्यावृत्ति नहीं करने लगूंगी, इसका विश्वास है। जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता।" वर्गवादी लेखक इस प्रकार के निर्देश साधारणतः नहीं करते। परंतु मृणाल की यह आदर्शवादिता भी कुछ कम विलक्षण नहीं।

इसी स्थिति में मृणाल अपनी संपूर्ण विद्रोही प्रवृत्तियों की प्रेरणा अदृश्य ईश्वरीय शक्ति या भगवान से ग्रहण करती है ! वह अंधकारपूर्ण परिस्थिति में आशा की किरण और साधना का संबल ईश्वर के सहारे प्राप्त करती है। वह कहती है—"क्या होगा ! भगवान ही जानता है, क्या होगा। और कोई दूसरा आसरा नहीं है। पर भगवान सर्वान्तर्यामी हैं, सर्वशक्तिमान हैं। मुझे कोई और आसरा क्यों चाहिए।" हम देखते हैं कि मृणाल की यह ईश्वरनिष्ठा निरुद्देश्य-सी है; क्योंकि यह ईश्वर कर्तव्य का नहीं, निष्क्रियता का सहायक बन जाता है।

मृणाल की स्थिति से प्रमोद बार-बार विचलित होता है। वह आत्मनिर्णय करने में असमर्थ है। सोचता है, पतिगृह को छोड़कर गंदे व्यभिचार में रहनेवाली नारी पतिधर्म की बात करती है और उसको सुनता हुआ एक पढ़ा-लिखा मुझ-जैसा समझदार युवक उस नारी को लांछित नहीं करता, बल्कि उसके प्रति और खिंचकर रह जाता है। पर प्रमोद के इस रहस्यमय खिंचाव से हमारी बुद्धि का समाधान नहीं होता।

मृणाल की समाज-विद्रोही धारणा भी उसकी अपनी ही है। वह समाज का विघटन करके नहीं चलना चाहती, समाज को मानकर उसकी जड़ें सींचना चाहती है। वह प्रमोद को विद्रोह-पथ पर चलने से मना

करती है । उसका कथन है कि जो समाज में है समाज की प्रतिष्ठा कायम रखने का जिम्मा भी उन पर है । वह उनका कर्तव्य है । जो उसके उच्छिष्ट हैं, या उच्छिष्ट बनना पसंद कर सकते हैं, उन्हीं को जीवन के साथ नए प्रयोग करने की छूट हो सकती है । जैनेन्द्रजी के इस 'तत्त्वज्ञान' को समझना भी साधारण बुद्धि के बूते की बात नहीं ।

किन्तु साथ ही इस उच्छिष्ट वर्ग के 'महान् कर्तव्य' का ज्ञान भी मृणाल को है । वह अपने इस कर्तव्य के संमुख जीवन की समस्त सुख-सुविधा को तुच्छ समझती है । वह प्रमोद से कहती है— "सहायता का हाथ देकर क्या मुझे यहाँ से उठाकर ऊंचे वर्ग में जा बिठाने की इच्छा है ! तो भाई, मुझे माफ कर दो, मेरी वैसी अभिलाषा नहीं है ।" मृणाल के इस कथन में कष्टसहन के लिए कष्टसहन की भावना काम कर रही है जो सामाजिक दृष्टि से रचनात्मक उद्देश्य लिए हुए नहीं है ।

अंत में एक बार प्रमोद की भी परीक्षा वह ले ही लेती है । प्रमोद के मन में मृणाल के प्रति कितना गंभीर अनुराग है, इसका पता उस प्रसंग से लग जाता है जिसमें प्रमोद मृणाल से अपने संबंध को विना प्रकट किए राजनन्दिनी से अपना विवाह करना अस्वीकार कर देता है। दोनों का (मृणाल और प्रमोद का) संबंध प्रकट होने पर कन्या-पक्षवाले विवाह से मुंह मोड़ लेते हैं, परंतु प्रमोद पर इसका कुछ असर नहीं होता।

ऐसे श्रद्धालु प्रमोद की भी परीक्षा मृणाल ने ली और उसे कच्चा पाया । परीक्षा का स्थल इस प्रकार है —

प्रमोद के बार-बार घर ले चलने के आग्रह को सुनकर मृणाल ने कहा—'अच्छा तू ज़रूर ले चलेगा ?'

प्रमोद—'ज़रूर ले चलूंगा ।'

मृणाल—'सुन, ज़रूर ले चलेगा ?'

प्रमोद—'हां हां, कहता तो हूँ, ज़रूर ज़रूर ले चलूंगा ।'

मृणाल—'तो बता तेरे पास बहुत रुपया है ? कितना रुपया है ?'

प्रमोद—'रुपए क्या करोगी ?'

मृणाल—'क्या करूंगी, यह तो अभी नहीं जानती। पर पहले तो तेरे चित्त का भरम मिट जायगा कि मैं तेरी सहायता नहीं चाहती हूँ । रुपए के जोर से यह नरक-कुंड स्वर्ग बन सकता है, ऐसा तो मैं नहीं जानती, फिर भी रुपया कुछ तो कुछ काम आ सकता है ।'

प्रमोद ने रुपए नहीं दिए । केवल कुछ द्रव्य मृणाल की चिकित्सा के लिए वकील को दे आया और तब तक उसकी खबर न ली जब तक वह इस संसार में रही । और उसके मर जाने पर (विरक्तिवश) जजो से त्यागपत्र दे दिया । प्रमोद रुपए नहीं देता, यह तो उसको बात है, पर मृणाल रुपए मांगती क्यों है, इसका रहस्य भी लेखक ने स्पष्ट नहीं किया । क्या मृणाल की स्वात्मनिर्भरता की कमी रुपए माँगने में लक्षित नहीं होती ?

पुस्तक समाप्त करने पर निम्नलिखित प्रश्न हमारे संमुख उपस्थित होते हैं, जिनका कोई सारपूर्ण समाधान हमें नहीं प्राप्त होता ।

१. क्या मृणाल की असमान विवाह की समस्या के चित्रण के लिए यह आवश्यक था कि उसका शीला के भाई से विवाहपूर्व संबंध भी दिखाया जाता ? यदि दिखाना आवश्यक था, तो उक्त संबंध की पूरी जानकारी पुस्तक में क्यों नहीं दी गई, अनिश्चयात्मक संकेतों का क्यों प्रयोग किया गया है ? यदि लेखक का उद्देश्य यह प्रदर्शित करने का है कि मृणाल की विवाहपूर्व की स्थिति को (शीला के भाई से उसके संबंध को) भी समाज अपने ध्यान में न लाए, तो क्या लेखक समाज में एसी स्थिति को बांछनीय मानता है ? और वैसी अवस्था में क्या पुस्तक की मूल समस्या असमान विवाह की न होकर विवाहपूर्व प्रेम-संबंध की समस्या नहीं हो जाती ?

इस संपूर्ण प्रश्न को मैं समस्या के अस्पष्ट निरूपण का नाम दे सकता हूँ ।

२. दूसरा प्रश्न वही है जिसकी आंशिक चर्चा ऊपर एक स्थान पर की गई है—क्या मृणाल को क्रमशः अनेक पतियों की भोग्या चित्रित करना आवश्यक था ? क्या यह मृणाल-जैसी नारी के आत्मसम्मान की भावना के अनुकूल है ? क्या अधिक संमानपूर्ण उपायों का अवलंबन वह नहीं कर सकती थी ? इस प्रश्न का जो उत्तर मैंने ऊपर दिया है कि इससे मृणाल के आत्मसंमान की रक्षा भले ही न होती हो, पर उसकी दयनीय दशा और समाज का तत्संबंधी अपराध अधिक नग्न रूप में प्रस्तुत हो जाता है, यद्यपि अंशतः ठीक है, परंतु इससे मृणाल के व्यक्तित्व में जो एक निम्नता आ गई है, उसका परिहार नहीं होता । और इसके साथ ही एक नया प्रश्न और उपस्थित हो जाता है जो इस प्रकार है—

३. मृणाल क्रमशः नैतिक दृष्टि से गिरती हुई जिस नैतिकताहीन

समाज में पहुँच जाती है, उसके प्रति उसकी अनुरक्ति क्या मृणाल की ही मानसिक अधोगति का परिणाम नहीं है ? क्या मृणाल में इस गर्हित समाज के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के लिए उसकी समस्त सांस्कारिकता को समाप्त कर देना भी लेखक के लिए आवश्यक था ? दूसरे शब्दों में क्या संस्कारहीन मृणाल समाज-साधना का व्रत लेने के योग्य भी है, और क्या मृणाल के संमुख समाज-रचना का कोई वास्तविक कार्य कभी आया भी ?

४.इन पिछले दोनों प्रश्नों का संबंध रचयिता की निजी मनोवृत्ति से भी सहसा जुड़ जाता है और हम यह पूछने को बाध्य होते हैं कि मृणाल की संपूर्ण भावनामूलक 'दार्शनिक' उक्तियों में क्या सामाजिक सुधार की कोई रचनात्मक प्रक्रिया भी सम्मिलित है ? अथवा क्या मृणाल को प्रति बार अधिकाधिक दयनीय परिस्थितियों में पड़ी हुई दिखाना और अंत में उसके घुल-घुलकर मरने का उल्लेख करना हमारी मानसिक सहानुभूति को आवश्यकता से अधिक विक्षुब्ध करना नहीं है ? क्या कोई स्वस्थ कलाकार हमें भावना को इस उद्देश्यहीन गहराई में ले जाना आवश्यक समझता ?

५.मृणाल की संपूर्ण सामाजिक साधना और उसका जीवन-सेवा का व्रत किस रूप में परिणति प्राप्त करते हैं ? अपने आस-पास के दयनीय समाज से एक अनिर्दिष्ट सहानुभूति ही मृणाल की विशेषता कही जा सकती है। परंतु इस सहानुभूति का मूल्य और महत्व क्या है। क्या यह कोरी भावनात्मक स्थिति नहीं है और क्या इस भावना के मूल में कोई स्वस्थ प्रेरणा भी है ? वह कहती है कि जो समाज के उच्छिष्ट हैं, उन्हीं को जीवन के साथ नए प्रयोग करने की छूट हो सकती है ? प्रश्न यह है कि प्रति बार एक निम्नतर स्थिति में प्रवेश करने के अतिरिक्त मृणाल जीवन के साथ नया प्रयोग कौन-सा करती है? क्या उसकी निष्क्रियता, उसकी निरवलंब निरीहता, सामाजिक सांस्कारिकता का संपूर्ण विस्मरण और अंततः उसका घुल-घुलकर मरना ही उसका जीवन-प्रयोग है ? क्या मृणाल के इस अर्थहीन आत्मपीड़न को हम लेखक की तदनुरूप भावना की छाया नहीं कह सकते? और क्या इस भावना को पाठकों पर लादना साहित्यिक न्याय कहा जा सकता है ?

६.लेखक कहीं-कहीं मौलिक विचार देने का दावा करता है, परंतु

उसके विचारों में एक अतिरिक्त भावनामयता को छोड़कर सार वस्तु प्रायः कम ही रहती है । उदाहरण के लिए वह मृणाल से एक स्थान पर यह कहलाता है कि "वह वेश्यावृत्ति नहीं करेगी; जिसे तन दिया, उससे पैसा नहीं लेगी ।" प्रश्न यह है कि पैसे के लिए नहीं, तो किस लिए मृणाल इतने आदमियों को पतिरूप में वरण करती है ? मृणाल की वृत्ति में और वेश्यावृत्ति में एक बारीक भावना का अंतर भले ही हो, कोई वास्तविक विभेद दिखाई नहीं देता । इसी प्रकार जब मृणाल जीवन-संबंधी नया प्रयोग करने का अधिकार अपने लिए चाहती है, अथवा जब वह समाज की जड़ों में अपने को सींच देने की कस्द करती है, तब हम उस नए प्रयोग और उस नई सिंचन-प्रणाली के सक्रिय स्वरूप को देखने के अभिलाषुक होते हैं । परंतु इस विचार-मौलिकता का जो सक्रिय और स्पष्ट स्वरूप हम एक मौलिक विचारक और कलाकार की कृति में देखने को समुत्सुक रहते हैं, उसकी आंशिक पूर्ति भी इस उपन्यास द्वारा नहीं होती । हम केवल एक करुण भावना से दूसरी करुण भावना में भटकते रह जाते हैं ।

शेखर : एक जीवनी

'शेखर :—एक जीवनी' श्री अज्ञेय की रचना है। अब तक इसके दो भाग प्रकाशित हुए हैं। यद्यपि इसमें आत्म-जीवनी का आधार लिया गया है, किन्तु इसमें स्मृति-लेखन की नैसर्गिकता, विनोदवृत्ति, व्यंग्यात्मकता या दूसरे प्रकार का वैयक्तिक स्पर्श नहीं है। केवल घटनाएँ व्यक्तिगत जीवनी से ली गई हैं, किन्तु उनके चित्रण में इतनी गंभीरता, संलग्नता, वैज्ञानिक ऊहापोह और स्वतंत्र जीवन-दर्शन की योजना का प्रयास है कि पुस्तक आत्म-जीवनी की भूमि से हटकर एक वस्तुमुखी जीवन-कथा बन गयी है। किन्तु यह एक तटस्थ जीवनी भी नहीं है, क्योंकि इसमें लेखक के निजी विचारों और स्वनिष्ठा की गहरी छाप है।

इसे हम उपन्यास भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें एक ही पात्र का चरित्र चित्रित है और वह भी नितान्त एकरस। घटनाएँ और परिस्थितियाँ आती हैं और जाती हैं, किन्तु शेखर अपनी ही गति से चलता है। आरंभ से ही उसका चरित्र जिस साँचे में ढल गया है, अंत तक वही साँचा दिखलाई देता है! किन्तु जीवनी में बहुत-से स्थल औपन्यासिक भी हैं, विशेषत: दूसरे भाग में—जैसे लाहौर के कालेज-जीवन के दृश्य, जेल-जीवन का चित्र आदि। जीवनी में एक विशालता अवश्य है, किन्तु औपन्यासिक विशालता नहीं। घटनाओं, परिस्थितिओं और चरित्रों का संघर्ष किसी बड़े पैमाने पर नहीं पाया जाता।

'जीवनी' की मूलभूत प्रेरणा क्रान्तिकारी या विद्रोहात्मक है। क्रान्ति और विद्रोह किसके प्रति? 'जीवनी' में क्रान्ति और विद्रोह स्वयं

'अज्ञेय' जी की यह कृति हिन्दी में पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी है और इसमें कला और चित्रण-संबंधी ऐसी प्रौढ़ता है कि इसके महत्त्व पर संदेह नहीं किया जा सकता। परन्तु मेरे सामने प्रमुख प्रश्न यह रहा है कि कला और निरीक्षण-संबंधी लेखक की मार्मिकता और मनोविज्ञान की गहरी पैठ हमें ले कहां जाती है? केवल मनोरंजक और चमत्कारी कथा ही पर्याप्त है या उस कथा की प्रेरणा और उसके सामाजिक प्रभाव का आकलन करना भी हमारा कर्तव्य है?

अपना लक्ष्य है। यह एक मनोवृत्ति ही नहीं, एक स्वतंत्र जीवन-दर्शन है। क्रान्तिकारी बनाये नहीं जाते, जन्मजात होते हैं। बौद्धिक घृणा का भाव विकास का एक उपकरण है। विद्रोह किसी वस्तु या स्थिति के प्रति नहीं, संपूर्ण वस्तु और सारी स्थितियों के प्रति। सृष्टि के प्रति, क्योंकि वह अधूरी और अपूर्ण है; समाज के प्रति, क्योंकि वह संकीर्ण है और विकास का विघातक है। सभी संस्थाओं के प्रति, समस्त रीतियों के प्रति, जीवन-मात्र के प्रति विद्रोह 'क्रान्तिकारी' की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

विद्रोह के पश्चात् ? कुछ नहीं, क्योंकि निर्माण भी विद्रोह ही है, विद्रोह में ही निर्माण है। इसीलिए शेखर के विद्रोही व्यक्तित्व के प्रति लेखक को इतनी निष्ठा है। प्रकृति की अपूर्णता के विरुद्ध संघर्ष तथा समाज के बंधनों के विरुद्ध संघर्ष—शेखर की क्रान्तिकारी जीवनी की यही धारा है। किन्तु प्रकृति क्या कभी विद्रोह से पूर्ण होगी ? समाज की विधियाँ क्या इतनी निरंकुशता सहन कर सकेंगी, क्या व्यक्ति का विद्रोह समाज की नीवँ को नष्ट कर नया और उपयोगी निर्माण कर सकेगा ? क्या यह अत्यधिक व्यक्तिवादी और अहंवादी मत नहीं ?

हम देखते हैं कि इस पुस्तक में इस विद्रोह का परिणाम अति भयानक है जो शेखर के चरित्र को अत्यधिक आसक्तिपूर्ण, व्यक्तिवादी और यातनामय ही नहीं बनाता, उसे एक असामाजिक, नृशंस और घातक व्यक्तित्व के रूप में भी उपस्थित करता है। इतने उदात्त जीवन-दर्शन का ऐसा अनुदात्त परिणाम क्यों ? एक बड़े आदर्श के उपासक, अथवा एक समुन्नत जीवन के प्रयासी व्यक्ति का यह प्रतिफल क्यों ! लेखक ने 'जीवनी' में उन परिस्थितियों का चित्रण किया है जिनसे शेखर का सामना होता है और जिनके परिणाम-स्वरूप शेखर की विद्रोह-भावना में विषाद का गहरा पुट पड़ता जाता है और जो अन्त में उसे एक आत्म-हनन-कारी और पर-हननकारी व्यक्ति के रूप में उपस्थित करती हैं।

किन्तु शेखर के प्रति लेखक की आसक्ति उसके इस स्वरूप को नहीं देखने देती और वह इस स्थिति में भी शेखर के कार्य का समर्थन ही करता जाता है। लेखक में इतनी जबर्दस्त ईमानदारी है कि वह घटनाओं को ज्यों-का-त्यों रख देता है, किन्तु शेखर के प्रति उसकी

स्वनिष्ठा घटनाओं का सम्यक् विवेचन नहीं करने देती। यह स्वस्थ कला-निर्माण के कार्य में एक अमार्जनीय त्रुटि है।

'शेखर: एक जीवनी' का नायक दुःखान्त सृष्टि का उपयुक्त पात्र है, किन्तु लेखक उसके चरित्र की इस अनिवार्य दुःखात्मकता का मनोवैज्ञानिक उद्घाटन नहीं करता। शेखर अपनी परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप, आदर्शों की अपूर्ति-स्वरूप एक असफल पात्र है जिस असफलता में सामाजिक और प्राकृतिक प्रतिरोध ही कारण हैं। यदि इस संघर्ष का चित्रण यथाक्रम किया जाता, तो असफल होते हुए शेखर के प्रति हमारे हृदय में संवेदना जगनी चाहिये थी, और उत्तरोत्तर तीव्र होनी चाहिए थी, किन्तु लेखक तो असफल पात्र को अपनी अतिरिक्त सहानुभूति द्वारा दूसरा रंग देना चाहता है, जो उसका मोह–मात्र है।

इसी कारण 'शेखर' की चरित्र-कल्पना की मूलभूमि वैज्ञानिक होते हुए भी चरित्र के रूप में उसका निर्वाह नहीं हो सका है। हम शेखर की क्रमिक पराजय और मनोवैज्ञानिक विपर्यय की वास्तविक अनुभूति से अनभिज्ञ रह जाते हैं, और वही समझने को बाध्य होते हैं जो लेखक हमें समझाना चाहता है। लेखक के कथा-प्रवाह और उसके विचार-प्रवाह में जो अभिन्नता स्थापित होनी थी, उसकी हम प्रतीक्षा ही करते रह जाते हैं।

'जीवनी' में शेखर की विद्रोहभूमि बहुत कुछ व्यक्तिगत और काल्पनिक है। सामाजिक यथार्थ से उसका मेल नहीं खाता। यही कारण है कि जिस बौद्धिक या वैज्ञानिक सूत्र को लेकर लेखक चलना चाहता है, 'जीवनी' उसकी पूर्ति नहीं करती। शेखर का विद्रोह हमारे हृदय में गम्भीर सहानुभूति की सृष्टि न कर एक वैचित्र्य-मात्र की सृष्टि करता है, और जब हम शेखर को एक स्वनिष्ठ, क्रूर और असामाजिक व्यक्ति के रूप में देखते हैं, तब तो उसके प्रति तीव्र विरक्ति उत्पन्न होती है। किन्तु लेखक आदि से अंत तक उसके कार्यों का समर्थन करता जाता है, उसे 'आदर्श'–रूप में दिखाता जाता है।

लेखक मनोविज्ञान का पण्डित है, और उसने अपने पात्रों की मनोभावना का विश्लेषण बड़े समर्थ रूप में किया है, किन्तु शेखर के प्रति उसकी वैयक्तिक निष्ठा, कला-निर्माण और चरित्र-निर्माण दोनों ही कार्यों में बाधक सिद्ध हुई है।

'जीवनी' का आरम्भ शेखर के जन्म ही से होता है। जन्म की कहानी सुनी सुनाई है। 'अहन्ता' 'भय' और 'सेक्स' की तीन प्रारम्भिक वृत्तियों के उल्लेख का आधार मनोविज्ञान की कोई पुस्तक भी हो सकती है। इस प्रकरण के अन्त में तीन वाक्य लिखे हैं। 'प्रेम ने मनुष्य को मनुष्य बनाया'। 'भय ने उसे समाज का रूप दिया।' 'अहंकार ने उसे राष्ट्र में संघटित कर दिया।' इसी प्रकार के 'दार्शनिक' वाक्य 'जीवनी' के आरम्भ में आए हैं, जिनसे यह अंश उपन्यास की दृष्टि से बोझीला हो गया है।

शीघ्र ही शिक्षा का प्रकरण चल पड़ता है। सिस्टर और कान्वेन्ट और अध्ययन। किन्तु बालक शेखर का पढ़ना असम्भव है। कान्वेन्ट का त्याग घर पर आये अध्यापक से सिर लड़ा लेना, थुक्कू मास्टर की थुक्का-फजीहत और शिक्षा के प्रथम परिच्छेद का अन्त! इसका निष्कर्ष क्या? निष्कर्ष यह कि 'उसमें सहज बुद्धि की कमी नहीं थी, किन्तु इस बुद्धि की प्रवाह-गति का निर्देश करने वाली शक्ति संसार में नहीं थी।' ये 'जीवनी' के शब्द हैं। इससे जीवनी-लेखक की विद्रोह संबंधी कल्पना का पता लगता है। संसार अपूर्ण है, उसमें पूर्णता स्थापित करना ही 'विद्रोही' का कर्त्तव्य है।

शेखर अकेला है। अनुभव कर रहा है कि अकेला है। पिता के एक मित्र उससे पूछते हैं, 'पिता जी हैं?' वह कोई उत्तर नहीं देता। घण्टे भर बाद भी वह जहाँ का तहाँ खड़ा है। पिता के आग्रह-पूर्वक पूछने पर वह बोला 'लोग बुरे को देखते हैं, तभी उन्हें पता चलता है कि क्या अच्छा है। बुरा नहीं हो तो क्या पता लगे कि अच्छा क्या है? यह भी एक दार्शनिक की उक्ति होती, यदि शेखर की उक्ति न होती। 'व्यवहार' मात्र के प्रति असहनशीलता शेखर का स्वभाव है।

'ये सब मकान किसने बनाए?'–शेखर। 'लोगों ने और किसने'–मा। 'तब ईश्वर ने तो नहीं बनाए?–शेखर। 'बच्चा क्यों पैदा होता है?' 'विवाह किसलिए किया जाता है?' आदि प्रश्न बालक शेखर को व्याकुल किये रहते हैं।

पक्षियों का संसार! जंगल का प्रेम! आया और गया। शेखर बुद्धिवादी होता जा रहा है। 'तोते की तरह वह भी अनुभव से सीख चुका है कि पंख फड़फड़ाने से चोट लगती है। पर क्या उसकी आत्मा भी बद्ध है, क्या उसके भी चोट लग सकती है? क्या वह भी पंख नहीं फड़फड़ा सकती। वह आत्मा विचरती है अपने वनों में, जहाँ उसका स्वर्ग

है, अबाध।' क्या यह प्रकृति-प्रेम है ? नहीं अब यह एक 'विद्रोही' का पलायन है जो शेखर को प्रकृति से दूर लिए जा रही है।

'सहज' शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है। इस बार शेखर की बालसखी फूलों, जो नीच जाति की है, सहज शिक्षा का माध्यम बनता है। उसे अपनी नीच जातीयता पर गर्व करना सिखाया जाता है। शेखर फलों को पददलित देवी और उसकी शिक्षादात्री मा को पूजनीया मा मानने लगा ह। वह उन दोनों की तुलना यूरोप के यहूदियों से करता है जो 'नीचता' पर गर्व करना सीख कर ही बड़े होते हैं! क्या यह शेखर की प्रतिशोध-वृत्ति का सूचक नहीं ? दो एक और भी ऐसे दृश्य, और इस अवस्था का स्मृति-चित्र पूरा हो जाता है।

कुछ और बड़ा होने पर 'सौन्दर्य का प्राथमिक बोध'। Rhythm या लय का ज्ञान। महावीर जिन की नग्न मूर्ति और उसका शेखर पर प्रभाव। नग्नता की स्वीकृति और उसकी प्रतिक्रिया। उसमें अपराध-भावना का उदय होता है। वह मूर्तिशाला में छिप कर नग्न मूर्तियों को देखा करता है।

छ वर्ष की अवस्था में पुस्तक-रचना में व्यस्त। फूलों और पत्तियों की विवरण पुस्तक, किन्तु स्वागत का अभाव। इस प्रकार पहले साहित्यिक प्रयास का अन्त।

साहित्य-निर्माण पर शेखर के विचार-साहित्यकार को निर्माण करके और लाभ तो क्या! रचयिता होने का सुख भी नहीं मिलता, क्योंकि काम पूरा होते ही वह देखता है, अरे यह तो वह नहीं है जो मैं बनाना चाहता था। वह मानों क्रियाशीलता का नारद है, उसे कहीं रुकना नहीं है, उसे सर्वत्र भड़काना है, उभारना है, जलाना है और कभी शान्त नहीं होना है, कहीं रुकना नहीं है।' क्या यह सही है ? और सही है तो इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ तो यही है कि साहित्यकार कोई अभिशप्त व्यक्ति है जिसे आत्मतोष बदा ही नहीं। क्या यही 'अज्ञेय' जी का साहित्यिक विद्रोह है ? अशान्त और अहंकेन्द्रित मस्तिष्क की प्रतिक्रिया;

यहीं से शेखर के जीवन में नारियाँ आती हैं। सब से पहला शेखर की बहन सरस्वती है। बाढ़ का दृश्य। शेखर और सरस्वती मिलकर घर की दीवालों के छिद्रों से होकर घुसनेवाले जलको रोकने का व्यर्थ प्रयास करते हैं। घर में पानी भर आता है। इस क्षण दोनों भागकर ऊपरी मंजिल पर जाते हैं। इसी अवसर पर एक क्षण के लिए दोनों

की आँखों का मिलना, 'मूक समझौते में दोनों का साथ-साथ घर की ओर दौड़ना, इतना तो उसे याद है। फिर कब वह सरस्वती नहीं रही, बहन हो गई, कब उसे शेखर ने 'सरस' नाम देकर प्यार से उसे दुहराया, यह उसे याद नहीं।' वैज्ञानिक दृष्टि से पुरुष पहले नारी को नारी जानता है, पीछे समाज व्यवस्था उसे बहन समझने को बाध्य करती है, यही सीख दी गई है।

इसके कुछही दिनों के भीतर, एक दिन भाइयों का गंगा में तैरना देखकर आप भी कूद पड़ना और···डूबते डूबते बचना।··· और घर आकर मा से कहना 'मा तुम कब मरोगी ?' मनोविज्ञान का एक पश्चिमी पाठ !

दूसरी लड़की प्रतिभा से शेखर का परिचय भी ऊपरी ही है। जब तक वह अधिक घनिष्ठ हो सके, मिस प्रतिभा के घर के छूरी–काँटे और शेखर का तत्संबंधी अनभ्यास, इस बेजोड़ मैत्री का अन्त कर देता है।

शेखर का जीवन सूना हो गया है। इसलिए 'जीवन में जो कुछ आता है, वह उसके रस की अन्तिम बूँद तक निचोड़ लेना चाहता है। हँसी की बात होती, तो आवश्यकता से अधिक हँसता। घूमने निकलता तो पागल कुत्ते की तरह दौड़ता।·· उसके जीवन में झूठी तेजी आ गयी थी, गति का एक भ्रम, जब कि वह वास्तव में निश्चल खड़ा था।'

काल्पनिक प्रेम-पत्रों का लिखना इसी समय का प्रयोग है। 'मुक्ति की खोज में पहले वह उन वस्तुओं से उलझा जो स्थूल थीं। जिन्हें वह देख सकता था और उनसे हारकर वह कल्पना के क्षेत्र में गया।' यह 'जीवनी'–लेखक का विश्लेषण है। वह पतंग भी उड़ाने लगा। पिता बीमार हैं। उनके आदेश पर चपरासी ने बुलाया है। शेखर का उत्तर 'ठहरो हम जरा पतंग उड़ा लें।' यह लड़कपन की निर्द्वन्दता भी हो सकती है किन्तु यहां यह है –उपेक्षापूर्ण हठ। परिणाम–'छः बार छड़ी उठी और गिरी। छः बार शेखर के शरीर में एक रोमांच सा हो आया, पर वह हिला नहीं !'

शेखर के जीवन में गांधी जी और गांधीवाद का भी एक हल्का प्रभाव आया। हिंदी में नाटक-रचना का संकल्प और अधूरी सफलता।, अकस्मात् एक लड़के से अंग्रेजी में बातचीत न करने की जिद पकड़ लेने पर पिता की फिर फटकार। 'पहाड़ी चूहे' की उपस्थिति में पिता के यह पूछने पर कि बेटा 'अगर कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ लगाए तो क्या करो', शेखर का उत्तर 'मैं दोनों गाल पर लगाऊँ'–पिता से अकेले

में कहे गए 'दूसरा गाल भी फेर दूँ' वाले उत्तर का एकदम विरोधी। यहीं से गांधीवाद का खात्मा—शेखर की 'जीवनी' से। शेखर, मानो मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का पुतला हो; जीवन के अनुभव और आस्थाएं वहां स्थान ही नहीं पातीं !

माता और पिता के स्वभाव का तुलनात्मक विश्लेषण इसी स्थान पर किया गया है। सरस्वती का विवाह । शेखर का आश्चर्य, क्षोभ और विरक्ति । विवाह क्यों हो, यह शेखर का प्रश्न है।·· माता और पिता का झगड़ा । मा का घर छोड़कर दो मील दूर जंगल में जा पहुँचना । शेखर पर इसकी प्रतिक्रिया-मा से घृणा !

'जीवनी' की इस पृष्ठभूमि पर क्या प्रेम का पौधा भी पनप सकता है ? शेखर-शर्मीले शेखर के जीवन में 'शारदा' आती है । रोमान्स का आरम्भ 'Good gracious, such a big silly boy like you' की शब्दावली से होता है । शारदा अपनी मा के पास बैठकर वीणा बजा रही है, शेखर अपनी मा के साथ आया हुआ वीणावादन सुन रहा है। शेखर की प्रतिक्रिया –'उसे जान पड़ता है उस एक घन पुंज (शारदा के केश-कलाप) ने उन दोनों को घेर लिया है । उसे जान पड़ता है कि, शारदा के केशों का सौरभ उसके सारे शरीर को एक स्नेह भरे स्पर्श से छूता जा रहा है । किन्तु जहाँ वह छूता है, शरीर झुलस जाता है··और वह उन असुगन्धित केशों के स्वाभाविक सौरभ को पी रहा है, उसको जिसमें नीम के बौर की सी दबी-सी सुगन्ध आ रही है और उससे उसकी अन्तरात्मा जल उठी है।'

'जीवनी' के इन वाक्यों से शेखर की 'विद्रोही प्रेम-भावना' का परिचय मिलता है।

किन्तु इसी विद्रोह के वशीभूत हो वह शारदा से मिलने के लिए उसके स्कूल जाने के पथपर जा बैठता है । मुलाकात रोज होती है किन्तु दोनों अनबोले रहते हैं। अन्त में एक दिन स्पर्द्धा-भरी बातचीत होती है । एक टेनीसन की कविता की प्रेमिका है; दूसरा टैसों के काव्य का प्रेमी । किसी सुदूर वृक्ष पर शेखर ने S की आकृति बना रखी थी, कुल्हाड़े से पेड़ को काट-कूटकर । यह S शारदा का स्मारक था। शेखर ने शारदा को यह पेड़ और उसमें बना S अक्षर दिखाना चाहा । शेखर इस प्रदर्शन में पेड़ पर चढ़ भी गया और गिर भी पड़ा।

शारदा हँसती ही रही । 'और वह उठ कर पागल-सा तीव्र गति से एक ओर चल देता है ।' यह प्रथम प्रेम-लीला है !

महीने डेढ़ महीने बाद दोनों फिर मिलते हैं । 'वह आई मुरझाई हुई सी, खोई हुई सी । और एकाएक अविश्वास से खिल उठी । फिर अविश्वास तो बुझ गया, वह खिली रह गई ।····वह शेखर के पास बैठ गयी । दोनों चुप रह गए । शेखर कुछ कहना चाहता था, लेकिन 'जिसे अपनी भाषा में भी नहीं कहा जा सकता, जिसकी व्यंजना के लिए मौन भी एक रूखा उपाय है , उसे कैसे एक विदेशी भाषा में कहा जाय ।' !

'शेखर उसे 'गीतांजलि' सुनाने लगा । वह वैसे ही खोई हुई सी सुनती रही । On the day the lotus bloomed, alas ? my mind was straying and I knew it not.'

'तब धीमे स्वर में, टूटे वाक्यों में शारदा उसे बताने लगी कि कैसे वह तीन दिन तक उसे देखने आती रही और निराश हुई । और शेखर के हृदय में जो कृतज्ञता भर गयी उसे छिपाता हुआ वह चुपचाप गम्भीर बन बैठा रहा ।'

इस घटना के दूसरे ही दिन 'समाचार आया कि परीक्षा की तारीख बदल गयी है और शेखर को तत्काल जाना पड़ा ।' मद्रास छोड़कर वह लाहौर पहुँचा, जहाँ 'शारदा' न थी किन्तु 'शशि' थी ।

यह औपन्यासिक परिवर्तन 'जीवनी' की दृष्टि से अस्वाभाविक प्रतीत होगा ।

इसके अनन्तर 'जीवनी' में पहले से अधिक आकर्षण आ जाता है । उपदेशात्मक या दार्शनिक विषय अब छूट गए हैं, मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण अब कोई स्वतंत्र उद्देश्य नहीं रह गया, जीवनी अधिक वास्तविक और प्रवाहपूर्ण हो गयी है । शेखर के व्यवहारों में भी वह अतिरंजना नहीं रही जो उसकी 'जीवनी' को मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का रूप दे रही थी ।

'शशि' वही है जिसे शेखर ने तीन वर्ष की अवस्था में देखा था और अकारण ही सिर पर लोटा मार दिया था । किन्तु शशि रोई नहीं थी, शिकायत नहीं की थी, उसी दिन शेखर से मेल कर लिया था । आज वही शेखर उसी शशि के घर आया है । शशि की मा विद्यावती शेखर की संबंध की मौसी है । विनोद में शेखर शशि से बहन जी कहने लगा है—

इस विनोद में कुछ व्यंग्य भी है ही! शशि चिढ़ती है इससे शेखर चिढ़ाता है। किन्तु शेखर की भोजन-पान आदि की समस्त व्यवस्था शशि ही देखती है।

लाहौर से फिर मद्रास। किन्तु अब शारदा वहाँ नहीं है। यक्ष्मा से आक्रान्त एक दूसरी लड़की 'शान्ति' शेखर के पड़ोस में रहती है। इसके प्रति शेखर की सहानुभूति उमड़ उठी है, किन्तु 'शान्ति' शीघ्र ही यह लोक छोड़ जाती है।

शेखर का कालेज जीवन। आयु पन्द्रह वर्ष। स्थान मद्रास शहर। एकान्त शेखर के लिए कोई नई बात नहीं है। वह कालेज के होस्टल में भी अकेला है। वह सोचता है —जिनको वह मान सकता था, जिन जिन का वह आदर कर सकता था, वे सब उसके सामने घोर अपराधी हो गए थे, उस समय जब कि उसने पुस्तक पढ़ कर जाना था कि सन्तान की उत्पत्ति कैसे होती है। 'उसके माता-पिता, भाई-बहन, वह भी, शशि और हाँ शारदा भी उसी पाप-कर्म के द्वारा उत्पन्न हुए थे।'

यह धारणा उत्पन्न करने का अपराध पुस्तक-लेखक और समाज का है, किन्तु शेखर प्रतिकार का उपाय नहीं जानता, वह इस धारणा से बुरी तरह ग्रस्त हो चुका है।

मद्रास के कालेज-जीवन में 'कुमार' से परिचय और घनिष्ठता। शेखर अब भी उसी 'प्रेम-ज्वर' से आक्रान्त है। वह कुमार को पाकर जैसे एक आधार पा जाता है। उसी के साथ अक्सर घूमने जाता है। कुमार की आर्थिक सहायता भी करता है, किन्तु जिस प्रकार कुमार का सहायता लेना प्रवंचना से खाली नहीं, उसी प्रकार शेखर का सहायता देना भी। शेखर कुमार पर अपना आधिपत्य चाहता है। आर्थिक सहायता के बाद शेखर कहता है—'कुमार यदि मेरे अतिरिक्त तुम और किसी के हुए, तो मैं गला घोंट दूंगा।' शेखर की अस्वस्थता ज्यों की त्यों है।

कुमार से मैत्री टूटने पर अब शेखर अछूत—बालक-सुधारक संघ का सदस्य बन गया है। उसका संपर्क कालेज के अछूत विद्यार्थियों से है, जिनके प्रति पूरी उदारता दिखाकर शेखर अपनी चोट खायी अहं-भावना की परितृप्ति करता है। और 'एंटीगोनम क्लब', जो उसकी ओर छात्राओं को आकृष्ट करता है, किन्तु जिनका विनोद असह्य होने के कारण शेखर क्लब को तोड़ देता है।

पुन: एक औपन्यासिक घटना घटित होती है। शेखर अपने एक मित्र के साथ मद्रास से महाबलिपुर जाता है। अचानक उसे शारदा के पिता का नाम एक बँगले पर टँगा दीख पड़ता है। शारदा भी वहीं हैं। दोनों की दो दिन भेंट। किन्तु शारदा का खिंचाव। अब वह बड़ी हो गई है। शेखर की चेष्टाएँ व्यर्थ होती हैं। 'तुम्हें प्यार, मुझे खेद है कि मैंने तुमसे कभी बात भी की' शेखर के प्रति शारदा का अंतिम वाक्य। शेखर भी शारदा से छुट्टी पा लेता है।

जीवनी का दूसरा भाग शेखर के राजनीतिक जीवन और शशि-शेखर-संबंध का उद्घाटक है। ये ही दो इसके मुख्य विषय हैं। अब घटनाओं की उतनी असंबद्धता नहीं रही जितनी पहले भाग में थी। इस भाग में व्यापार की सघनता है। घटना-चक्र विशेषत: शशि और शेखर में केन्द्रित हो गया है। प्रारम्भिक दृश्यों में शेखर का लाहौर में अध्ययन और वहाँ के स्वच्छंद विद्यार्थी-जीवन के विवरण हैं। पर्पी और मणिका देवी और अन्य! किन्तु शेखर इस ओर आकृष्ट नहीं होता। उसके 'बन्धन' अधिक मजबूत हैं। उसकी सबल अहंनिष्ठा उसकी रक्षा करती है।

शशि के पिता का देहान्त हो जाता है। विद्यावती के सामने शशि के विवाह की समस्या है। शेखर के सामने कोई समस्या नहीं। 'वह दु:ख की छाया में रह कर, अपनी आत्मा शुद्ध कर रहा है।' एकदम निष्क्रिय है। शशि एक दिन उसे समझाती है 'दुख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। और किसी को नहीं।'

शेखर इस शिक्षा से लाभ उठाने की स्थिति में नहीं है। वह बहुत गहरे उतर चुका है, किन्तु शशि की यह बात सुन कर एक क्षण को अचम्भे में आ जाता है।

इसके पश्चात् एम० ए० की पढ़ाई और राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन के अवसर पर स्वयंसेवक-दल का संघटन और पहरेदारी। शेखर के सब कार्य नियम की पाबन्दी के साथ होते हैं। उसे स्वयंसेवकों के संघटन में किसी प्रकार की ढिलाई पसंद नहीं। इस कारण अधिवेशन के स्वयंसेवक सेनापति से उसकी पटती नहीं। आवेश के साथ आत्मप्रदर्शन की लालसा बढ़ चली है।

उत्साह के आधिक्य में शेखर रात भर भीग कर पहरा देता है।

रात को ही पुलिस के आदमियों से उसकी बातचीत, कहासुनी और फिर हल्की सी मारपीट हो जाती है । दूसरे दिन वह बन्दी बनाकर जेल भेज दिया जाता है । अब वह बंधन में है ।

बन्धन में जिज्ञासा जगती है । वह जेल के सब प्रकार के बन्दियों से परिचित होना चाहता है, विशेषतः फाँसी की सजा पाये कैदियों से उसकी मैत्री हो जाती है । इस अवसर पर कितने ही कैदियों के स्वभाव, चरित्र, विचार और जीवनी से वह परिचय प्राप्त करता है । जीवनी के दूसरे भाग का द्वितीय खंड, बन्दी जीवन के चित्रण में मार्मिक है । उसका पूर्ण विवरण हम यहां न दे सकेंगे । लेखक का सहानुभूति-पूर्ण हृदय प्रतिबन्ध ग्रस्त इस बन्दी-समुदाय में आकर जग उठा है । उसकी निजी वेदना साहचर्य पाकर दूर हो गई है । ईलियट का यह वाक्य—There is always a separation between the man who suffers and the artist who creates, and the greater the artist the greater the separation. यहाँ अपनी पूर्ति का अवसर पा गया है।

मुकदमे का फैसला हो गया । शेखर मुक्त कर दिया गया । वह जेल से बाहर निकला। उसे शशि से मिलना है, शशि का विवाह हो चुका है।

यहाँ से 'जीवनी;' अकेले शेखर की नहीं, शशि और शेखर की जीवनी है। साधारण पाठक इसमें इतना तन्मय हो जायगा कि वह परिस्थिति की वास्तविकता को और शशि तथा शेखर के व्यवहारों को तटस्थ दृष्टि से न देख सकेगा ।

शशि दु:खिनी है, शेखर दु:खी है । शशि में आवेश नहीं, शेखर में बड़ा आवेश है। शशि केवल शेखर का उन्माद दूर करना चाहती है किन्तु शेखर का उन्माद दूर नहीं हो सकता। वह बहुत प्रयत्न करती है। असामाजिक सीमा तक पहुंचती है । पति द्वारा परित्यक्त हो जाती है । अब वह और भी निराश्रित हो गयी, किन्तु शेखर को और भी बल मिला । संस्कार के लिए ? समाधान के लिए, ? शान्ति के लिए? नहीं, आत्म-प्रवंचना के लिये, विषाद-तृप्ति के लिए अहं-पूर्ति के लिए। यह कितनी विषम परिस्थिति है । किन्तु 'अज्ञेय' ने इसका चित्रण किस प्रकार किया है ?

यहाँ चरित्र-विश्लेषण की, तटस्थता की, सब से अधिक आवश्यकता थी, किन्तु यहीं लेखक सो गया है। कहा जा सकता है कि अब तो शशि शेखर के हाथों में आ गयी है। उसका परिणाम वही होना ही है जो होता है; किन्तु क्या पाठक को स्थिति की इस विषमता का पता लेखक ने दिया है ? नहीं, वह तो शेखर के चरित्र को अपना समर्थन देने में व्यस्त है।

शशि और शेखर कितने भी अभिन्न हों, वे पाठक के सामने दो व्यक्ति हैं। दोनों के क्रिया-कलाप जिन प्रेरणा-भूमिओं पर होते हैं, उनका परिचय पाठक को मिलना ही चाहिए। अन्यथा चरित्र की अभिज्ञता कैसे होगी ? जीवन-मूल्यों का निर्धारण किस प्रकार होगा ? रस-संचार के लिए अवकाश कहां रहेगा ? प्रश्न हो सकता है क्या जीवनी में भी रस-संचार अपेक्षित है ? मेरा उत्तर यह है साहित्यिक जीवनी में, अवश्य। अरिस्टॉटल ने 'इतिवृत्त' और 'कलाकृति' में—इतिहास और साहित्य में यही तो अन्तर बताया है कि एक वैयक्तिक वस्तु है और दूसरी सर्वजन संवेद्य रचना। यह संवेदनीयता साहित्य में किस प्रकार आती है ? लेखक की साहित्यिक जागरूकता द्वारा जो जीवन की ही जागरूकता का एक अंग है। शशि और शेखर के प्रसंग में क्या लेखक की साहित्यिक चेतना सम्पूर्ण सजग है ?

यदि वह सजग होती, तो शशि और शेखर की यह 'जीवनी' संभवतः कुछ दूसरे प्रकार लिखी जाती। यहां तो हम देखते हैं कि शेखर अति आश्वस्त होकर अपने सब कार्यों को बड़े अधिकार के साथ कर रहा है। किन्तु शशि के जीवन पर इस प्रकार अधिकार जताने का उसे क्या अधिकार है ? बदले में शशि की समर्पण-भावना का क्या मूल्य 'जीवनी' दे सकी है ? निरन्तर शशि जो निःस्वार्थ विपत्तियाँ उठाती उनकी शेखर की दाम्भिकता से क्या तुलना लेखक ने की है ? क्या लेखक इस वैषम्य को समझ भी सका है !

शेखर जिस प्रकार शशि को अपनी वस्तु समझता है, लेखक भी लगभग उसी प्रकार समझने लगा है ? शेखर उसे अपने घर लाकर रखता है, और क्रमशः अति परिचय से उसकी अवज्ञा बढ़ जाती है। अब तो शशि शेखर के हाथ में है। वह अपनी विलक्षण प्रेम-चेष्टाओं की प्रतिपूर्ति शशि को लेकर करता है। शशि यह सब स्वीकार

करती है। वह ज्यों-ही-ज्यों शेखर के उपचार का प्रयत्न करती है त्यों ही त्यों शेखर उसकी उपेक्षा करता जाता है। चरित्रों का यह तुलनात्मक स्वरूप क्या 'अज्ञेय' जी निरूपित कर सके हैं ?

सच तो यह है कि 'अज्ञेय' की दृष्टि में ही यह नहीं आया। शेखर शशि को अपनी समझता है और उसके 'समर्पण' को स्वीकार करता है। क्या यह एक निश्चेतन और पर-पीड़क व्यक्ति का कार्य नहीं ?

ज्यों-ही-ज्यों शशि विपन्न होकर शेखर की दृष्टि में गिरती जाती है, त्यों-ही-त्यों लेखक की दृष्टि में भी वह गिरती जाती है ! क्या मनोवैज्ञानिक और चित्रणात्मक तटस्थता यही है ? हम देखते हैं कि शशि यक्ष्मा से पीड़ित होकर अन्तिम साँसें गिनती है, और शेखर की भांति लेखक भी उसे अपने भाग्य पर छोड़ देता है। क्या कलाकार का दायित्व यही है ?

'जीवनी' का यह भाग मोहाच्छन्न सृष्टि है। यहां आकर सम्पूर्ण जीवनी पर एक दृष्टि डालिए तो वह नृशंस और उपेक्षा-पूर्ण दिखाई देती है। जो शेखर आरम्भ में सृष्टि की अपूर्णता दूर करने का महोद्देश्य लेकर चला था, उसकी यह गर्हणीय स्थिति किस प्रकार हुई ? किन्तु क्या लेखक भी इस स्थिति को गर्हणीय मानता है ? नहीं, वह उसमें ऐसी कोई वस्तु नहीं देखता !

यद्यपि शशि के जीवन की बहुत थोड़ी सामग्री जीवनी में उपलब्ध है, जिसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि शशि का शेखर के प्रति आत्मविसर्जन किस कसौटी पर आँका जाय–तो भी शशि के जीवन को विपत्तियों की ओर खींच ले जाने की शेखर की चेष्टाएँ अत्यधिक स्पष्ट है। इसका सम्बन्ध शेखर की 'विद्रोही मनोवृत्ति' से ही जोड़ा जा सकता है।

यदि लेखक की स्वनिष्ठा 'जीवनी' के निर्माण में बाधक न होती, और यदि लेखक 'जीवनी' के यथार्थ प्रवाह को तटस्थपद्धति पर दिखा सकता तो निश्चय ही जीवनी अधिक महत्त्वपूर्ण होती। शेखर का वास्तविक चरित्र दुःखान्त कला का उपकरण है, जिसके स्वरूप पर लेखक को ध्यान देना था। 'शेखर––एक जीवनी' की मूल प्रेरणा वैज्ञानिक है और आदर्शोन्मुखी। किन्तु जीवनी के विकास के साथ उक्त प्रेरणा गहरी न होकर क्षीण होती गयी है और अन्त में जीवनी-नायक के कार्य बहुत कुछ प्रतिक्रिया-

-त्मक हो गए हैं। किसी स्वस्थ केन्द्र से उसका लगाव नहीं रहा, किसी उच्च उद्देश्य के प्रति उसकी आस्था नहीं रही। एक विषण्ण वातावरण की सृष्टि होती है, और आशा का कोई सूत्र पाठक के हाथ नहीं लगता। असम्भव या दूर-निहित आदर्श में जो निगूढ़ श्रद्धा चाहिए, उसका अभाव ही लेखक को इस स्थिति पर ले गया है।

—

नई कहानी

नए युग की हिन्दी कहानियों के संबंध में दो बातें बड़े विश्वास के साथ और बहुत ही निर्विवाद भाव से कही जाती हैं। एक यह कि ये कहानियाँ आधुनिक पश्चिमी कहानियों से प्रभावित हैं और उन्हीं के आधार पर लिखी जा रही हैं। दूसरी यह कि इन कहानियों का प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य से कोई क्रमागत संबंध नहीं है। किन्तु, मुझे ये दोनों ही बातें सुविचारित नहीं जान पड़तीं और सहसा यह मान लेने का कोई कारण नहीं दीखता कि नई हिन्दी कहानियों की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है अथवा प्राचीन कथा-साहित्य से उनका कोई तात्त्विक साम्य नहीं है।

आरंभ में ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मेरा यह मत देश-प्रेम की किसी संकीर्ण भावना से प्रेरित होकर नहीं बनाया गया, न इसके मूल में प्राचीन-प्रियता की कोई अहेतुक धारणा ही है। साहित्यिक इतिहास के सभी विद्यार्थी यह जानते हैं कि प्राचीन भारतीय कहानियां अपने समय के सभ्य संसार में कितना प्रभाव रखती थीं और उनका कितना ऋण संसार के कथा-साहित्य पर है। यदि आज हिन्दी कहानियाँ पश्चिम से प्रेरणा ले रही हैं, तो यह पूर्ववर्ती ऋण का शोध ही माना जायगा। ऐसी अवस्था में हम विना किसी हिचक के वास्तविक स्थिति का उल्लेख कर सकते हैं।

इन नई कहानियों का प्राचीन कहानियों से असंबद्ध होना भी सिद्ध नहीं होता; यद्यपि विषय, शैली और उद्देश्य आदि में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। यह परिवर्तन तो परिस्थिति का परिणाम है, स्वाभाविक विकास का सूचक है। भारत ही नहीं, संसार के अन्य देशों के प्राचीन और नवीन कथा-साहित्य के बीच भी यही अन्तर दिखाई देता है। किन्तु, उसे परंपरा का टूटना या तात्त्विक संबंध-विच्छेद नहीं कहा जा सकता। फिर भी यदि कोई कहे कि आधुनिक कहानी, वह भारत की हो या किसी अन्य देश की प्राचीन कहानी से मूलतः भिन्न सृष्टि है, तो इसके लिए अधिक विश्वसनीय प्रमाणों की आवश्यकता होगी।

हिन्दी कहानी के वर्तमान विकास पर दृष्टि डालते ही 'नासिको-

पाख्यान' और 'रानी केतकी की कहानी' जैसी रचनाऐं सामने आती हैं जो अपने नाम से ही पुरानेपन की सूचना देती हैं। चमत्कार-पूर्ण और विस्मयोद्बोधक प्रणाली से किसी उपदेश-विशेष की योजना अथवा किसी मार्मिक जीवन-वृत्त का उल्लेख पुरानी कथाओं की विशेषता थी। इनके अतिरिक्त कहानी की तीसरी शैली वह थी जिसमें काल्पनिक घटनावली का मुख्य आकर्षण रहता था; मार्मिकता या उपदेश की योजना भी नहीं होती थी। इस प्रकार की कहानियाँ नव वय के बालकों के लिए अधिक आकर्षक होती थीं और इनमें राक्षसों या परियों की प्रधानता रहती थी।

ऊपर उल्लेख की गई दोनों कहानियों में यही प्राचीन कथा-शैली पाई जाती है—संपूर्ण जीवन-वृत्त को संक्षेप में उपस्थित करने का प्रयत्न पाया जाता है। समय, स्थान और वस्तु के चयन का, बाह्य जीवन की किसी स्थिति-विशेष अथवा आंतरिक जीवन की किसी वृत्ति-विशेष या रहस्य-विशष के उद्घाटन का प्रयास इन कहानियों में लक्षित नहीं होता। संपूर्ण जीवन अपनी स्थूलता में जिन तथ्यों को अभिव्यक्त करता है, उन्हें छोड़कर उसके विशेष अंगों, परिस्थितियों और पहलुओं की ओर ध्यान नहीं गया। कहानी के भीतर कथा-विकास के ही उपकरण न थे, कोरी वर्णनात्मक सामग्री भी जुड़ी हुई थी।

आगे चल कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके साथियों ने संपूर्ण जीवन-चर्या का पल्ला छोड़कर उसके प्रसंगों और प्रकीर्णक अंशों को अपनाया और उन्हें पृथक् वस्तु के रूप में स्वतंत्र सत्ता देकर या तो निबंध या निबंधात्मक कहानियां लिखीं, जो विस्मयात्मक और उपदेशात्मक उपकरणों के अतिरिक्त विनोद और व्यंग्य की विशेषताएँ भी रखती हैं। उनका आकार आधुनिक कहानी के उपयुक्त है, और उनमें अनावश्यक वस्तु-विस्तार भी नहीं है। 'कथा' में जो प्राचीन इतिवृत्त के ग्रहण की परिपाटी थी, उसके स्थान पर सामयिक सामाजिक जीवन की कल्पित 'कहानी' का उदय हो चला। भूत के स्थान पर वर्तमान काल का प्रयोग भारतेन्दु-युग की हिन्दी कहानी में ही प्रथम बार हुआ। यहीं से हिन्दी कहानी के नवीन स्वरूप का आरंभ होता है।

इस समय तक आधुनिक पाश्चात्य कहानी भी अपना निर्माण कर चुकी थी। हम कह सकते हैं कि वह भारतेन्दु-युग की कहानियों की अपेक्षा कहीं अधिक कलापूर्ण और विकसित भी थी। कहानी के लिए सब से आवश्यक

वस्तु है घटना-संबलित कथानक का ऐसा प्रसार, जो अपनी सीमा में, एक प्रभावशाली और असाधारण जीवनमर्म को पूरा-पूरा व्यक्त कर दे। ताने और बाने की भाँति कथा और जीवन-मर्म का एक ही में पर्यवसान हो जाना चाहिए। किसी ओर से असंगति, हेर-फेर या क्रम-भंग के लिए स्थान न रहे। साथ ही सारी कहानी किसी निर्णायक घटना-केन्द्र की ओर अनुधावित हो रही हो।

जीवन-मर्म या उद्देश्य ही कहानी का प्राण है और कथानक ही प्राण-स्थापक शरीर है, इसके अतिरिक्त कोई तीसरा तत्त्व कहानी के लिए अपेक्षित नहीं। वर्तमान कहानी जीवन-मर्म की प्रभावशाली व्यंजना के लिए एक अन्य तत्त्व की भी आकांक्षा रखती है—समय और स्थान के संकलन की। किन्तु इस प्रकार तो कहानी-कला के कुछ अन्य अंग भी आवश्यक होंगे जैसे देश, काल, पात्र आदि। किन्तु जहाँ तक मूल तत्त्वों का संबंध है वस्तु और उद्देश्य ही कहानी के साधन-साध्य हैं। इस दृष्टि से देखने पर प्राचीन युग से कहानियों का यही स्वरूप रहा है, यद्यपि शैली और विन्यास में बहुत से समयानुकूल परिवर्तन होते गए हैं।

वस्तु-चयन की दृष्टि से आज की कहानी वास्तविकता का अधिक सच्चा आभास देती है। पुरानी कहानी उद्देश्य को प्रमुख मानकर विस्मय-जनक कथा के सहारे अपनी उद्देश्य-व्यंजना कर देती थी उपदेश दे डालती थी; किन्तु नवीन कहानी शैली, वस्तु या साधनों को सजाने में अधिक व्यस्त रहती है, यद्यपि ऐसा करने में साध्य का ध्यान छूटता नहीं। सच तो यह है कि वर्तमान कहानी अधिक कलापूर्ण और विश्वसनीय रूप में अपना कार्य पूरा करती है।

वर्तमान कहानी का क्षेत्र भी अधिक व्यापक हो गया है। प्राचीन कहानी प्रायः नीति, व्यवहार, और मनोविज्ञान के मोटे रहस्यों को कथात्मक पद्धति से व्यक्त करती थी, और ऐसा करते हुए किसी न किसी अनुरंजक या विस्मयोद्बोधक कथानक को चुन लेती थी। अन्योक्ति की सी पद्धति रहा करती थी। किन्तु नवीन कहानी साध्य को साधक से, उद्देश्य को कथानक से, एकदम अभिन्न बनाकर चलती है और कभी-कभी तो जीवन घटना ही, कहानी की वस्तु ही, अपना साध्य आप बन जाती है। घटना के मर्म में ही उद्देश्य छिपा रहता है।

मूल-तत्त्वों की कमी के कारण—केवल वस्तु और उद्देश्य के ताने बाने

को एक में मिलाकर कहानी तैयार कर देने की सुविधा के कारण, शैली के प्रसाधन, जीवन-मर्म की महत्त्वपूर्ण योजना और इन दोनों के पारस्परिक सामंजस्य की ओर कहानी-लेखक पूरा ध्यान दिया करता है। वह किसी दैनिक जीवन की घटना और दृश्य को अपने कार्य के लिए अधिक उपयोगी समझता है, क्योंकि उससे यथार्थ की अनुभूति अधिक सरलता से हो सकती है, किन्तु कभी कभी असाधारण घटना या संभावित-कथानक की योजना भी कहानी-लेखक कर सकता है।

यह तो हुई वस्तु या कथानक की बात, उद्देश्य या जीवन-मर्म की अभिव्यक्ति में कहानी-लेखक का वास्तविक उत्तरदायित्व और उसकी क्षमता प्रकट होती है। दैनिक घटना को लेकर यदि नित्य प्रति का कोई दृश्य ही दिखा दिया गया, अथवा किसी ऐसे तथ्य को उपस्थित कर दिया गया जिसमें न कोई सूक्ष्म-दर्शिता है, न कोई तल-स्पर्शी प्रयोजन, तो ऐसी कहानी यथार्थ भले ही हो, श्रेष्ठ और स्मरणीय कदापि न होगी। जीवन-तत्त्वों की जितनी सूक्ष्म और असाधारण पहचान कहानी-लेखक को होगी, उसकी कला का उतना ही अधिक मूल्य होगा।

सूक्ष्मदर्शिता, अनुभव, और विवेक की व्यापकता और विशालता प्राचीन समय से ही कहानीकार के साधन-संबल रहे हैं। निरर्थक या स्वल्पार्थक कहानी बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकती। यही कारण है कि आज की कहानियों की बाढ़ में स्थायी और स्मरणीय सामग्री थोड़ी ही है। बहुत से नवसिखिए लेखक बिना किसी अनुभव या बहुज्ञता के, प्रेम-कहानियों के क्षेत्र में कलम चलाया करते हैं, इससे कहानियों के प्रति विवेकवान व्यक्तियों की श्रद्धा घट जाय तो आश्चर्य क्या है!

अनुभव और विवेक के संबंध में कुछ अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं; अनुभव अनेक क्षेत्रों का और अनेक श्रेणियों का हो सकता है, विवेक भी रुचि और योग्यता के अनुसार अनेक कोटियों का होता है। कहानियों में हम वर्तमान समय और समाज के अनुभवों को ही विशेष रूप से स्थान दे सकते हैं, अथवा ऐसे अनुभवों को स्थापित कर सकते हैं जो मनुष्य की स्थायी विशेषताओं और प्रवृत्तियों के लिए उपयोगी हैं। जिन कहानियों का आधार जितना ही व्यापक और सार्वजनिक अनुभव होगा, उनमें उतनी ही अधिक सांकेतिकता होगी और मानव-हृदय को वह उतना ही अधिक स्पर्श करेगा।

इसी प्रकार हमारे अनुभव का क्षेत्र मनुष्य की सद्वासनाएं या सुप्रवृत्तियाँ भी हो सकती हैं और असद्वासनाएं या कुप्रवृत्तियां भी । परिस्थिति भेद से मनुष्य की भावनाएं भी भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करती हैं । इन सूक्ष्म भेदों का परिदर्शन भी कहानियों का विषय बन सकता है । परिस्थिति और मनोविज्ञान का चित्रण करने वाली कहानियाँ इसी आधार पर लिखी जाती हैं । ज्ञान तो प्रत्येक क्षेत्र में एकरस है, किन्तु जीवन के असदंशों या परिस्थिति के वैचित्र्यों पर बहुत अधिक ज्ञान-प्रदर्शन संभवतः अधिक उपयोगी न होगा ।

ज्ञान के लिए ज्ञान या अनुभव, भारतीय दृष्टि में, कभी श्रेष्ठ स्थान नहीं पा सका । ज्ञान का भी कुछ आदर्श या उद्देश्य होना ही चाहिए। इसलिए भारतीय दर्शनों में ज्ञान का भी परिणाम मुक्ति या आनन्द ठहराया गया है । भारतीय कहानियाँ बहुत अधिक मनोवैज्ञानिक चर्चा अथवा परिस्थिति-चित्रण में—यथार्थवादी सृष्टि में—रुचि नहीं रखतीं । अतएव हिन्दी कहानियों में पाश्चात्य कहानियों की अपेक्षा वस्तुस्थिति या यथार्थ को छोड़कर आदर्श-स्थापन का प्रयास अधिक रहा है, यद्यपि वास्तविकता की अवहेलना करके नहीं ।

कहानियों के क्षेत्र में दूसरी भारतीय प्रवृत्ति यह रही है कि उसमें कोरे कल्पनात्मक अनुरंजन की अपेक्षा व्यावहारिक ज्ञान का अधिक संनिवेश हुआ है । 'सहस्त्ररजनी चरित्र' की सी काल्पनिकता भारतीय कहानियों में कम देखी जाती है । तिलस्म या जासूसी प्रवृत्ति का प्रायः हमारी कहानियों में अभाव रहा है । इसके स्थान पर सांसारिक अनुभवों का अधिक उपयोग उनमें किया गया है । भारतीय कहानियों ने प्रेम-चर्या तथा कल्पना-क्षेत्र में रमण की अपेक्षा विवेकपूर्ण जीवनानुभव को कहानियों में अधिक स्थान दिया है ।

मोटे तौर पर कहानी के कथानक और उसके उद्देश्य पर ऊपर की बातें कहने के पश्चात्, अब दोनों के सामंजस्य के प्रश्न को लीजिए। ताने-बाने की भाँति दोनों का एकरूप होना आवश्यक है, यह उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । वास्तव में कहानी की वस्तु या कथा और उसके उद्देश्य या जीवन-मर्म के सामंजस्य का अर्थ है दोनों की पृथक् सत्ता का लोप हो जाना । कहानी अपने में पूर्ण हो और जीवन मर्म भी अपने में पूर्ण हो । अथवा कहानी ही जीवन-चित्र और जीवन-चित्र ही कहानी

बन जाय। दोनों का अंतर जितना ही अप्रत्यक्ष होगा, कहानी उतनी ही सफल मानी जायगी। उसका प्रभाव उतना ही स्थायी होगा।

वस्तु और उद्देश्य के इसी अभेद के कारण कहानी की व्याख्या 'अर्थ-पूर्ण कथानक' कह कर भी की जा सकती है। इस प्रकार कथानक ही कहानी का एकमात्र आधार रह जाता है और इसी कारण कतिपय समीक्षक कहानी को 'अनुरंजक आख्यान' भी कहा करते हैं। इस प्रकार कहानी में रूप, शरीर या शैली की ही विशेषता परिलक्षित होती है। तभी कहानी-लेखक अपनी कथा को सजाने में, उसे चित्र की भाँति रूपों-रंगों से इस प्रकार सुसज्जित कर देने में कि वह अपने मर्म की व्यंजना आप ही कर सके, अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। जिस प्रकार चित्र में सारा खेल रेखाओं और रंगों का ही होता है, सारा प्रभाव साधनों पर ही अवलंबित रहता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ कहानी में व्यंजक और व्यंग्य का—कथा और उद्देश्य का—एकीकरण हो जाता है।

किन्तु कभी-कभी कुछ कहानियाँ उद्देश्य की इतनी प्रमुखता लेकर लिखी जाती हैं कि साध्य और साधन की समरूपता हो ही नहीं पाती। उद्देश्य अलग और कथानक अलग मारा फिरता है। ऐसे लेखकों को कहानी-कला का पल्ला छोड़ कर निबंध-लेखन का अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रकार जो लेखक उद्देश्य की कुछ भी चिंता न कर कहानी के वेश-विन्यास में अथवा चरित्रों के उद्घाटन में या जीवन-दशाओं के चित्रण-मात्र में अनुरक्ति रखते हैं, उन्हें उपन्यास-कला की पगडंडी पकड़नी चाहिए।

अब संभवतः कहानी की रूप-रेखा थोड़ी-बहुत स्पष्ट हुई होगी, किन्तु देश-काल, चरित्र और कथा के संकलन-संबंधी उपांगों की ओर भी दृष्टि-पात कर लेना आवश्यक है। उपांग हम इन्हें इसलिए कहते हैं कि ये कहानी के अनिवार्य अंग नहीं है और केवल साधन-रूप में, वास्तविकता का रंग लाने के लिए, इनका उपयोग किया जाता है। प्राचीन कहानियों में इन तत्त्वों के लिए कोई स्थान न था, और वर्तमान कहानी में भी ये गौण स्थान ही रखते हैं। इसलिए मैंने आरंभ में कहा भी है कि पुरानी कथा को आधुनिक कहानी से नितांत पृथक् या विजातीय वस्तु नहीं माना जा सकता।

उपन्यास में देश-काल और चरित्र आते हैं साध्य बनकर, किन्तु कहानी में इतना स्थान कहाँ कि देश, काल और चरित्र की स्वतंत्र व्याख्या की

जा सके। वहाँ तो किसी असाधारण परिस्थिति में किसी असाधारण परिणाम की ओर जानेवाली घटनाएँ और पात्र रहा करते हैं। कहानी में देश-काल का उपयोग उस चलित परिस्थिति की एक झाँकी दिखाने भर के लिए किया जाता है और पात्र का उपयोग भी परिणाम का साक्षात्कार कराने के निमित्त ही हुआ करता है। इससे अधिक इनका कोई उपयोग कहानी में नहीं हो सकता, और अधिकतर तो इतना भी उपयोग नहीं होता। प्रायः वास्तविकता का आलंकारिक 'भान' उपस्थित करने के लिए देश, काल और पात्र का विनियोग कहानियों में होता है।

कहानी सदैव परिणाम-प्रधान होती है और घटनाएँ ही उसकी संबल हैं। इसलिए कहानी में घटनाओं का आधार तो होगा ही। कहानी में घटनाओं की योजना और उनका आकर्षण नाटक के ढंग का होता है। कहानी इसलिए गत्वर कला सृष्टि है। उपन्यास में यह बात नहीं होती। नाटक की ही भाँति कहानी का मुख्य आकर्षण घटना प्रगति ही है। इस कारण चरित्र-प्रधान, देशकाल-प्रधान या कल्पना-प्रधान कहानी का नाम लेना कहानी-संबंधी तथ्य से दूर पहुँच जाना है। कहानी में प्रधान वह 'वस्तु' होती है जो आश्चर्य-कारक या असाधारण 'परिणाम' या 'प्रयोजन' की सिद्धि करती है। यह परिणाम या उद्देश्य कहानी की परिपूर्णता का द्योतक होता है और कहानी की 'चरम-सीमा' प्रायः परिणाम पर आकर ही संपन्न होती है।

इसी वस्तु-योजना को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कहानी में देश-काल-संकलन का प्रयोग किया जाता है। समस्त घटना परिणाम से संबद्ध और परिणाम की ओर अग्रसर होती है। उसके उत्थान और अवसान के बीच समय और स्थान का मंथर विधान नहीं हो सकता। समय का विस्तार अथवा स्थानों की विविधता तभी आ सकती है जब कहानी की वस्तु समय और स्थान के ही आधार पर विकसित हो रही हो। किन्तु यह अपवाद-स्वरूप कुछ ही कहानियों के लिए आवश्यक होगा कि कहानी का वस्तु-चित्र समय और स्थान के पायों पर खड़ा हो।

संक्षेप में आधुनिक कहानी की यही रूपरेखा है जो क्रमशः विकसित होकर पश्चिमी साहित्य में प्रतिष्ठित हुई है। भारतेन्दु के पश्चात हिन्दी कहानियाँ भी इसी पथ पर चल पड़ीं। किन्तु उन कतिपय भेदों को छोड़कर जो प्राचीन और नवीन कहानी के बीच घटित हुए थे, हिन्दी

कहानी भी अपने मूलस्वरूप से एकदम उच्छिन्न नहीं हुई। मैं तो कहूँगा कि हिन्दी कहानी अपनी प्राचीन उद्देश्य-प्रधान व्यावहारिक परम्परा के अधिक निकट रहती आई है और जब-जब उद्देश्य का विस्मरण हुआ है और कहानी अनिर्दिष्ट उद्देश्य लेकर लिखी गई है, तब-तब शैली और प्रभाव दोनों दृष्टियों से उसमें शिथिलता आई है। टाल्सटाय-जैसे श्रेष्ठ विचारक और जीवन-द्रष्टा ही श्रेष्ठ कहानी-लेखक भी हुए हैं; यद्यपि ऐसे लेखकों की भी कमी नहीं है जो बड़े विचारक होते हुए भी कहानी-निर्माण के कार्य में उतने दक्ष नहीं सिद्ध हुए।

अंग्रजी कहानियों का आरम्भ अंग्रेजी के उपन्यास-लेखकों ने ही किया था, इसलिए कहानी और उपन्यास के बीच का भेद बहुत दिनों तक अस्पष्ट ही रहा; किन्तु ज्योंही कहानी की स्वतंत्र-कला का आभास मिल गया, अंग्रेजी में भी 'विशुद्ध कहानी' का निमणि होने लगा। कला की दृष्टि से आधुनिक पाश्चात्य कहानी के सर्वश्रेष्ठ निर्माता फ्रांसीसी मोपासां, अनातोले फ्रांस और रूसी तुर्गनेव, चेखब आदि लेखक हैं जिनकी कला मार्मिक और परिणामदर्शी जीवनांश को छाँट-छाँट कर प्रदर्शित करने में अत्यंत कुशल है। ये सभी श्रेष्ठ कलाकार तो हैं ही, जीवन के प्रति इनकी अगाध आस्था है, साथ ही ये मनोविज्ञान और मानव-व्यवहारों के पंडित हैं और इनमें से कुछ अपने युग के श्रेष्ठ विचारक भी हैं।

इन सब गुणों का एक साथ संनिवेश नवीन हिन्दी कहानी-लेखकों में भले ही उस मात्रा में न हो जिसमें उक्त पाश्चात्य लेखकों में हैं, किन्तु दो बातें बहुत ही स्पष्ट हैं। एक यह कि हिन्दी में इन गुणों का विकास आशाप्रद है और यदि हिन्दी के पत्र तथा पाठक अनुवाद की चीजों को छोड़कर, और साथ ही 'सस्ती सामग्री' का तिरस्कार कर निरन्तर एक विशिष्ट बौद्धिक स्तर की कलापूर्ण कहानियों का आग्रह करते रहें, और 'प्रेम-कहानियों' का पिंड कुछ दिनों के लिए छोड़ दें तो हिन्दी कहानी फिर से भारतीय कहानियों की पुरातन कीर्ति प्राप्त कर सकती है। दूसरी बात यह कि हिन्दी कहानियों में स्वतंत्र कथा-शैली, स्वतंत्र विचार-दृष्टि और स्वतंत्र जीवन-चित्रण की सत्ता का अभाव नहीं है।

वर्तमान समय में, जब मशीन-पद्धति पर काती और बुनी कहानियाँ विदेशों से आकर हम पर छापा मार रही हैं, और जब हिन्दी कहानी-लेखकों के सम्मुख प्रचुर परिमाण में आनेवाली इस विदेशी वस्तु को हिन्दी

साँचा देकर खपाने में विशेष कठिनाई नहीं है, तब हिन्दी कहानीकार स्वतंत्र साधना और स्वतंत्र निर्माण के लिए क्यों और किस प्रकार उत्साहित हों? दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि संसार की मनुष्य जाति इसी समय अपना पार्थक्य दूर कर, एक-सी ही वस्तु-स्थिति का सामना कर रही है। उसके सामने एक-सा ही जीवन, एक-सी ही समस्याएँ, अतएव एक-सा ही समाधान उपस्थित है। ऐसी अवस्था में हिन्दी कहानियों की स्वतंत्र स्थिति को अवकाश कहां है और आवश्यकता भी क्या है? एक ही प्रकार का प्रचार-कार्य संसार भरके कहानी-साहित्य को करना है, इस समय मौलिकता की माँग असामयिक और व्यर्थ है।

किन्तु मेरे विचार से इस प्रकार की धारणा एकदम निराधार और भ्रामक ही नहीं, हिन्दी कहानी और साहित्य मात्र के लिए अतिशय हानिकारक भी है। संस्कृतियों का पोषण सदैव उनके मौलिक साहित्य से ही संभव है; आज के सांस्कृतिक विकास के लिए केवल प्रचारात्मक साहित्य से काम नहीं चल सकता। यदि आज मानवी-संस्कृतियाँ एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आ रही हैं, और यदि समान परिस्थितियाँ सभी राष्ट्रों के सामने उपथित हैं, तो उन राष्ट्रों की सृजनात्मिका शक्ति के पूर्ण उन्मेष द्वारा ही वे एक दूसरे के हृदय के समीप आ सकते हैं। केवल बाहरी एकरूपता तो राजनीतिक या सामाजिक परिस्थितियाँ ला सकती हैं, किंतु सांस्कृतिक सम्मिलन और एकीकरण तो उनकी साहित्य-सृष्टियों द्वारा ही घटित हो सकता है। राष्ट्रीय मनोभावों और जीवन-स्थितियों का प्रदर्शन उस राष्ट्र का साहित्य ही कर सकता है और तभी राष्ट्रीय संस्कृतियों का आदान-प्रदान और समन्वय भी संभव होगा। एक की नकल करके दूसरा राष्ट्र उसके प्रति अपना आदर-भाव नहीं प्रकट कर सकता, न नकल के द्वारा कोई दूसरी समस्या हल हो सकती है।

अनुकरण की वृत्ति ही असांस्कृतिक है, और उससे राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय कोई भी प्रश्न नहीं सुलझ सकता। हिन्दी कहानियाँ इस 'सांस्कृतिक साम्य' की मरीचिका में न अब तक पड़ी हैं, और न तब तक पड़ेंगी जब तक उनमें जीवन शक्ति वर्तमान है। सांस्कृतिक समन्वय तो समान साहित्यिक उत्कर्ष का परिणाम है, न कि साहित्यिक एकरूपता सांस्कृतिक साम्य का परिणाम। अतएव हिन्दी कहानी-लेखक अपने राष्ट्रीय अनुभव और प्रतिभा का उपयोग सदैव स्वतंत्र लेखन में ही करेंगे।

कहानी के क्षेत्र में अनुकरण की तीन भूमियाँ हो सकती हैं— एक तो कहानी की शैली का अनुकरण, दूसरी कहानी में प्रदर्शित जीवन-दृष्टियों या विचार-धाराओं का अनुकरण और तीसरी वास्तविक जीवन-चर्या का अनुकरण। शैली का अनुकरण तो किसी प्रकार क्षम्य हो सकता है, यदि हम उनकी शैलियों को अपने काम में लाते हुए अपनी शैलियाँ भी उनके संमुख प्रस्तुत कर सकें और आदान-प्रदान के कार्य में समर्थ हो सकें।

विचार-धाराओं और जीवन-दृष्टियों की समता भी किसी हद तक उपयुक्त कही जा सकती है, क्योंकि विचार स्वातंत्र्य और 'समान-मानवता' के इस युग में दार्शनिक समता अथवा विचार-साम्य वर्जित नहीं हो सकते; किन्तु मानव-जीवन की वास्तविक परिस्थितियों और रहन-सहन तथा वैयक्तिक या सामाजिक जीवन-चर्या अथवा नैतिक प्रतिमानों मे हम एक दूसरे की नकल किसी प्रकार नहीं कर सकते। इस क्षेत्र में नकल का अर्थ होगा हमारी स्वतंत्र-चेतना और राष्ट्रीय प्रकृति की पूर्ण उपेक्षा। साहित्य के लिए इससे बढ़कर खतरनाक दूसरी वस्तु नहीं हो सकती।

हिन्दी कहानियों में स्वावलम्बन और स्वतंत्र-विकास की प्रवृत्ति आरम्भ से ही रही है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पश्चिमी कहानी के विकसित स्वरूप के प्रति हम अनावश्यक रूप से लालायित नहीं हुए, और धीरे-धीरे अपनी मंजिल आप ही तय करते आए हैं। भारतेन्दु के पश्चात् कुछ दिनों तक बंगाली कहानी-लेखकों का प्रभाव हिन्दी पर दीख पड़ा, किन्तु प्रेमचंद और 'प्रसाद' की कहानियों के मौलिक स्वरूप में प्रकट होते ही यह कुहासा भी हमारे कहानी-क्षितिज से दूर हो गया।

कौशिक, सुदर्शन और ज्वालादत्त की कहानियाँ इस अर्थ में घटना-प्रधान और भावात्मक या सुधारात्मक ही कही जा सकती हैं कि उनके भीतर लंबे समय की योजना रहती है और पात्रों या चरित्रों का हृदय-परिवर्तन ही कहानियों का परिणाम होता है। हृदय-परिवर्तन भी किन्हीं मनोवैज्ञानिक संघर्षों द्वारा नहीं, बल्कि कहानी के सुधारात्मक आशय की पूर्ति मात्र के लिए। इन कहानियों का उद्देश्य जीवन के सूक्ष्म और मार्मिक पहलुओं का चित्रण न था, न इनमें परिस्थिति की वास्तविकता या मनोवैज्ञानिक गंभीरता ही थी। गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी भी बहुत अधिक स्थान और समय घेरती है

और कहानी के नवीन प्रतिमानों को देखते हुए विराट् या महाकथा (epic story) कही जा सकती है ।

लम्बी कहानियाँ 'प्रसाद' ने भी लिखी हैं और प्रेमचंदजी ने भी, किन्तु इन दोनों की कहानियों में 'उसने कहा था' की सी बोझिल विशालता नहीं है । 'प्रसाद' की कहानियों में वातावरण का चित्रण विशुद्ध 'कहानी' के लिए कुछ अधिक हो जाता है, किन्तु अतीत के वे कल्पना-चित्र विशुद्ध कहानी हैं भी नहीं । 'प्रसाद' की कहानियों में 'कहानी' की अपेक्षा वस्तु-अंकन की प्रवृत्ति अधिक है, जिसके कारण उनकी कहानियों में आवश्यक गत्वरता नहीं आ सकी है । अतीत को सजीव करने की चिन्ता में प्रसाद घटना-सूत्र के साथ शीघ्र गति से आगे नहीं बढ़ते, पाठकों को बिलमाते चलते हैं । उनकी कहानियाँ, इसलिए, काव्यत्व के साथ उपस्थित होती हैं । प्रसाद की कहानियों में उद्देश्य या प्रयोजन का तत्त्व उतना स्पष्ट नहीं है और न उस तत्त्व से बँधी हुई घटना-शृंखला ही वेगवती है । प्रसाद की कथाशैली में पर्याप्त आलंकारिकता भी है । सांस्कृतिक और भावनात्मक लेखक की दृष्टि से प्रसाद की कहानियाँ अनुपम हैं, किन्तु विशुद्ध कहानी के लक्षण उनमें पूर्णतः घटित नहीं होते ।

प्रेमचंद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक कहे जा सकते हैं । कहानी कहने की उनकी नैसर्गिक प्रतिभा, हिन्दी में ही नहीं, आधुनिक भारतीय साहित्य में बे-जोड़ है । प्रेमचंद हमें आदिम भारतीय कहानीकारों का स्मरण दिलाते हैं जिनके सभी गुण उनमें मौजूद हैं । कहा जाता है कि प्रेमचंद मनोविज्ञान के पारदर्शी पंडित नहीं थे, किन्तु भारतीय प्रतिभा सूक्ष्म और निगूढ़ मनोगतियों या मानसिक तथ्यवाद को ढूंढ़ते रहने में विशेषज्ञता का दावा कभी नहीं करती । किन्तु मन की मार्मिक गतियों की, और विशेषतः उसकी आदर्शोन्मुख प्रवाह-धारा की पकड़ प्रेमचंद में बड़ी विलक्षण है । प्रेमचंद की कथाशैली अतिरंजना-प्रधान है, इसलिए उसमें मनोविनोद का अंश बराबर रहता है । करुणा की अपेक्षा हास्य और व्यंग्य की भाव-सृष्टि प्रेमचंद अधिक सफलता से करते हैं । साधारण विवेक, अनुभव की प्रौढ़ता, आत्म-विश्वास, और कथा का स्वाभाविक सौंदर्य प्रेमचंद की ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें हिन्दी कहानियों का श्रेष्ठ निर्माता सिद्ध करती हैं । प्रेमचंद की सामाजिक दृष्टि अतिशय उदार और तथ्यपूर्ण है ।

उग्रजी हिन्दी के प्रथम और प्रमुख राजनीतिक कहानी-लेखक हैं। उनकी आरंभिक उत्साहपूर्ण मार्मिक दृष्टि से जब हम उनकी परवर्ती कहानियों की आस्थाहीन दृष्टि से तुलना करते हैं, तब आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उदीयमान लेखकों पर प्रतिकूल परिस्थिति का कैसा विघातक परिणाम पड़ सकता है, उग्रजी इसके उदाहरण हैं।

जैनेन्द्रकुमार की कहानियों से हिन्दी में एक नया उत्थान आरंभ हुआ। कला की दृष्टि से कहानी अधिक सुन्दर हो गई। एक ही दृश्य या केन्द्रीय घटना से जुड़े हुए कथानक की योजना करके समय और स्थान के संकलन का पूरा निर्वाह उन्हीं की कहानियों से प्रारंभ हुआ। प्रेमचंद की कथा-शैली में यह नाटकीय गुण इतना समृद्ध नहीं है। मार्मिक अवसरों और दृश्यों का चुनाव और प्रभाव की व्यंजना जैनेन्द्रजी की कहानियों में बड़ी कुशलता-पूर्वक की गई है। किन्तु यह तब की बात है, जब वे विचारक या दार्शनिक के रूप में ख्यात नहीं हुए थे। जब से उन्होंने यह नया बाना धारण किया, तब से उनकी कहानियों का वह समुन्नत स्वरूप बहुत कुछ ढूंढने पर भी नहीं मिलता।

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और बिहार के श्री राधाकृष्ण हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कहानी-लेखक हैं। स्त्री-लेखिकाओं में सुमित्राकुमारी, सुभद्राकुमारी, उषा देवी और चन्द्रकिरण की कहानियाँ प्रभावपूर्ण और सुपाठ्य हैं। कुछ नई प्रतिभाएँ उदय हो रही हैं और कुछ अकाल अस्त हो गई हैं। कहानी की वर्तमान पत्रिकाएँ नवीन लेखकों के लिए सबसे बड़ी बाधा हैं। पत्रिकाओं का प्रतिमान निम्न कोटि का है, क्योंकि उन्हें अर्द्धशिक्षित पाठकों के पास पहुँचना होता है। नए लेखक इस संहारक प्रलोभन से बचने के लिए उद्यत नहीं हैं। यदि यही मनोवृति बनी रही, तो कहानियों की दौड़ में हम विदेशों का मुकाबला और भी देर से कर सकेंगे।

हिन्दी कहानी का नवीनतम स्वरूप प्रचारात्मक है। इसके कुछ लाभ और कुछ हानियाँ बहुत ही स्पष्ट हैं। लाभ यह है कि कहानी बहुत ही नपी-तुली और अनावश्यक भार से रिक्त होती है। साथ ही यदि सामयिक जन-भावना के संघटन या स्फूर्ति-प्रदान और सामाजिक अन्याय के प्रतिशोध में सहायक होती है, तो उससे व्यावहारिक लाभ भी होता ही है। किन्तु कभी-कभी ये कहानियां अत्यन्त संदिग्ध, एकांगी

और वैयक्तिक मतों का प्रचार करने के निमित्त भी लिखी जाती हैं, विशेषकर प्राचीन इतिहास की उद्घाटक कहानियाँ। मत-प्रचार का कार्य, चाहे वह किसी श्रेणी का क्यों न हो, कथा के स्वाभाविक निर्माण में सहायक से अधिक बाधक ही होता है। सब से पहले वह हमारे अनुभव के क्षेत्र को संकुचित कर देता है। हमारी दृष्टि वास्तविक जीवन की ओर न जाकर मतवाद पर ही केन्द्रित हो जाती है और हम एक निर्णीत विचार को कहानी के साँचे में ढालने का कृत्रिम प्रयास करने लगते हैं।

हम मानते हैं कि आज का युग मतवादों और विचारों के प्रचार का युग है। कहानी-लेखक कमरे में बैठकर, पुस्तकों को पढ़कर, कहानी लिखने को बाध्य हैं। उनका संपर्क देश की जनता और परिस्थितियों से एकदम समीपी नहीं है। हम यह भी मानते हैं कि इन प्रतिबंधों के रहते हुए भी कुछ बहुत ही सुन्दर कहानियाँ हिन्दी में लिखी गई हैं। कहानी का माध्यम इस प्रकार के विचार-विज्ञापन के अनुकूल भी है। किन्तु जन-जीवन की बहुलता और व्यापकता, और जीवन के संपर्क-जन्य वास्तविक संवेदन इस प्रकार की कहानी में कहाँ से आ सकते हैं ? नवीनतम कहानियों में इसीलिए रचना-चमत्कार और बुद्धिवाद का प्राधान्य रहता है। प्रेमचंद की कहानियों में जो वास्तविक जीवन-संपर्क और सहानुभूति है अथवा 'प्रसाद' की कहानियों में ऐतिहासिक कल्पना की मनोरमता के साथ मानव-स्वभाव की विविधता और परिस्थितियों का जो वैचित्र्य है, वह नवीन कहानियों में बहुत ही विरल है। यशपाल और अज्ञेय आदि हमारी नवीन कहानी के प्रतिनिधि लेखक हैं। श्री राहुल और भगवतशरण की ऐतिहासिक कहानियाँ भी उल्लेखनीय हैं, यद्यपि उनमें उपदेशात्मक रूक्षता का दुर्गुण मौजूद है।

खंड ३

नाटक

नाटक की उत्पत्ति

नाटक की उत्पत्ति और उसकी आरम्भिक अवस्था के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक खोजें की हैं। प्रायः सभी इस बात से सहमत हैं कि आरम्भिक नाटक आदिम मनुष्यों की प्रसन्नता और आमोद का सूचक था। असाधारण सुख या आनंद की घटना से मनुष्य का नाच उठना आज भी देखा जाता है। प्रारम्भिक काल में, जब मनुष्य की वाक्-शक्ति का विकास भी नहीं हुआ था, सुख के ऐसे प्रसंग आते रहे होंगे जब मनुष्य अपनी प्रसन्नता को दबा सकने में असमर्थ होकर हर्ष के आवेग में नाच उठता होगा। उसके इस नृत्य में कला या सौंदर्य नाम की वस्तु नहीं रही होगी, क्योंकि उसका नाचना उसके वश में नहीं था। वह प्राकृतिक नृत्य था। आगे चलकर उस नृत्य में गति और लय की सुघरता आई होगी; मनुष्य ने अपने हर्ष प्रेरित अंग संचालन को देखने-सुनने लायक बनाया होगा। नाचने की प्रणाली या विधि बनी होगी। प्राकृतिक नर्तन में कला का योग हुआ होगा।

नाटकीय विकास की दूसरी स्थिति या अगला कदम वह है जब सामूहिक रूप से, विशेष अवसरों पर, नृत्य की परिपाटी चली। भारत में तथा ग्रीस में होने वाले इन आरंभिक उत्सवों का विवरण प्राप्त होता है। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये, अथवा नई फसल की खुशी मनाने के लिए, इस प्रकार के सामूहिक उत्सव किये जाते थे। नृत्य के साथ धीरे-धीरे गान भी जुड़ा और वाद्यों का भी प्रयोग किया जाने लगा। अब तक नाटकों में घटना या कथानक का तत्त्व नहीं आया था।

अतीत की किसी असाधारण, मार्मिक या महत्त्वपूर्ण घटना को लेकर उसका अनुकरण करने की प्रवृत्ति नाटकों के विकास में एक नया अध्याय जोड़ती है। आरंभ में ये अनुकरण बड़े मोटे तौर पर किये जाते रहे होंगे। घटनाओं के चुनाव का कोई प्रश्न न रहा होगा। आदि से अंत तक किसी दिवंगत व्यक्ति की जीवन-घटना को नाटक-रूप में उपस्थित करने की चेष्टा की गई होगी। इसीलिए एक ही व्यक्ति के जीवन की नाना घटनाओं पर लगातार कई दिनों तक नाटक होते रहते थे। नाटक का संकलन-संबंधी यह सिद्धान्त भारत और ग्रीस दोनों ही देशों में प्रचलित था कि नाटक में उतनी

ही घटनाएं दिखाई जायँ, जितनी एक दिन में घटित हुई हों। ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्धान्त नाटक के उस आरंभिक स्वरूप का आभास देता है जिसमें घटनाओं के चुनाव की कोई व्यवस्था न थी। वास्तविक घटना और उसका नाटकीय अनुकरण एक-से ही हों और एक-सा ही समय लें, यह सिद्धांत नाटकीय कला के उस अविकसित रूप का परिचायक था, जिसमें वास्तविक घटना और उसके कलात्मक निरूपण का अंतर स्पष्ट न था। आगे चलकर नाटक में नायक और उससे संबंधित घटनाओं को एक विशेष क्रम से रखने की आवश्यकता समझी गई। यही नाट्य संकलन का तत्त्व कहलाया। इस समय तक नाटक किसी एक स्थान पर सीमित न रहकर दूर-दूर तक यात्रा करते हुए होते थे और स्थान-परिवर्तन द्वारा बदलती हुई घटनाओं की सूचना देते थे। तब न कोई रंगमंच था, न नाटकीय विधान के कोई दूसरे साहित्यिक या कलात्मक अंग थे। अनुकृति का अत्यंत मोटा रूप ही तब तक प्रकट हो सका था।

नृत्य और गान के साथ घटनाओं का योग यद्यपि नाटकीय विकास में एक नया युग लाया, परन्तु यह नया युग भी अभी आरंभिक ही था। इसी के पश्चात् घटनाओं के साथ वार्ताओं या संलापों की भी योजना होने लगी और नाटकीय संवादों का श्रीगणेश हुआ। संवाद की अनुकृति में कहनेवाले की मुद्रा और उसकी कथन-शैली की ओर भी दृष्टि गई और साथ ही संवादों के चुनाव में उनके आकर्षक और प्रभावपूर्ण होने की आवश्यकता भी समझी गई। इस प्रकार एक ओर अभिनय-कला की ओर ध्यान गया और दूसरी ओर कथावस्तु के चुनाव में रमणीय स्थलों और आकर्षक संवादों को रखने का विधान हुआ।

हम देखते हैं कि इस अवस्था तक पहुंचकर नाटक के अनेक अंगों का उद्भव हो चुका था और उसके निर्माण में रुचि या कला का भी प्रवेश होने लगा था, परन्तु नाटक के इन अनेक अंगों के बीच संगति या समन्वय का कार्य अब भी शेष था। केवल नाच, गाना, कथानक और संवाद के होने से ही नाटक नहीं हो जाता। उसमें इन तत्त्वों का व्यवस्थित योग भी आवश्यक है। बहुतत्त्व में एकत्व स्थापित करने की भावना का भी उदय हुआ, और इस प्रकार नाटक के विकास में कलात्मकता की प्रतिष्ठा हुई। नाटक के विभिन्न अंगों में उसके नृत्य, गान, वाद्य, कथानक, चरित्र और संवादों में संतुलन स्थापित होने लगा। संतुलन की यह कलात्मक प्रेरणा थी, जिसने आगे चलकर नाटकों के अनेक भेद या प्रकार बनाए। किसी नाटक में गेय अंश की प्रधानता

हुई, किसी में संवाद ही प्रमुख हुए और किसी में घटनाओं की अनुकृति ही मुख्य थी।

इस प्रकार नाटक में जहां एक ओर उसके अंगों का सौंदर्य निखर रहा था, दूसरी ओर नाटकीय प्रभाव की भीतरी समस्या पर उसके मनौवैज्ञानिक पक्ष पर भी, ध्यान दिया जाने लगा। लोगों में यह जिज्ञासा आरंभ हुई कि नाटक का प्रभाव केवल उसके विभिन्न अंगों के समन्वय या एकीकरण पर ही अश्रित है अथवा कोई दूसरा तत्त्व भी है जो नाटक को इतना सुन्दर और प्रभावशाली बनाता है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए ही भारतीय नाटककार और नाट्य-विवेचक नाटक के उस मानसिक पक्ष की खोज कर सके जिसे उन्होंने 'रस' का नाम दिया और जिसे नाटक का मुख्य ध्येय या उद्देश ठहराया। नाटक की आत्मा रस है, रस आनंदात्मक अनुभूति है, ऐसे निष्कर्षों की भी सृष्टि होने लगी। रस का विषय क्रमशः विचारकों के हाथ में पड़कर अत्यंत गम्भीर और शास्त्रीय बन गया, परन्तु अपनी आरंभिक अवस्था में रस से नाट्य-दर्शकों की उस सुखात्मक मानसिक भावना का ही निर्देश हुआ था, जो नाटक को देखने पर उत्पन्न होती थी। केवल नृत्य और गान सुखकारक न थे, घटनाओं की अनुकृति में कला का आनंद था और संवादों के चुनाव में भी विशेष चमत्कार का बोध होता था। इस प्रकार नाटक के प्रभावात्मक अंगों का और उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष का भी संश्लेषण या समन्वय होने लगा और समन्वित रूप में नाटकीय 'रस' की प्रतिष्ठा हुई।

रस के स्वरूप का अधिक विकास होने पर नाटकों में कला या सौंदर्य की और भी प्रतिष्ठा हुई। प्रभाव की दृष्टि से नाटक में ऐसी घटनाओं और स्थितियों का ही चयन होने लगा जिसमें मानवीय भावों को विशेष रूप से जगाने का सामर्थ्य हो। पश्चिम में इस तत्व की उतनी स्पष्ट विवेचना नहीं हुई। परन्तु वहां भी दुःखान्त नाटक और सुखान्त नाटक 'ट्रेजडी' और 'कामेडी' के जो भेद प्रतिष्ठित हुए उनके मूल में समन्वित प्रभाव या रस का तत्त्व किसी न किसी रूप में रहा ही है।

इस प्रकार नाटक के बाह्य अंगों में एकत्व की कल्पना के साथ-साथ नाटक के, प्रभावजन्य अंतरंग प्रश्नों की भी मीमांसा हुई और दोनों पक्षों के विवेचन से नाटक में कलात्मकता का तत्त्व और भी विकसित हुआ। इसी समय नाटक के अभिनय की समस्या भी प्रस्तुत हुई और यह समझा जाने लगा कि अभिनय स्वतः एक कला है। सुंदर अभिनय द्वारा नाटकीय प्रभाव में अभिवृद्धि

होती है। अभिनय के द्वारा नाटक में अनुकृति की स्वाभाविकता का बोध कराया जाता है और यह भावना उत्पन्न की जाती है कि हम जो कुछ देख रहे हैं वह एक वास्तविक दृश्य है। अभिनय के तत्त्व का विकास नाटक में विषय-वस्तु-सम्बन्धी यथार्थता लाने में भी सहायक हुआ है।

परन्तु नाटकीय अनुकृति की स्वाभाविकता और वास्तविकता के विकास में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रंगमंच की रचना का है। रंगमंच का निर्माण नाटकीय विकास का कदाचित् सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। बिना रंगमंच की आवश्यकता का अनुभव किए जो नाटक एक स्थान से दूसरे स्थान की पैदल यात्रा करते हुए खेले जाते थे, वे कितने अपूर्ण और अविकसित थे, इसका उल्लेख हम कर चुके हैं। रंगमंच की स्थापना से नाटक का कलात्मक वैभव ऊंची स्थिति पर पहुँचा। वास्तविक जीवन-घटना और उसकी नाटकीय या कलात्मक अनुकृति का असली अंतर रंगमंच की प्रतिष्ठा से ही स्पष्ट हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि वास्तविक जीवन-व्यापार और उसका कलात्मक अनुकरण दो पृथक् वस्तुएं हैं जिनका सम्यक अंतर समझना कला या साहित्य की प्रमुख समस्या है। इस समस्या का जितना सुन्दर और निर्णयात्मक हल रंगमंच की प्रतिष्ठा द्वारा हुआ, उतना कदाचित् किसी दूसरे साधन द्वारा नहीं। नाटक में वास्तविक जीवन-घटना नहीं रहती, उसमें उसकी कल्पनात्मक सत्ता रहती है, यह बात सिद्ध करने के लिए रंगमंच प्रत्यक्ष प्रमाण बने।

रंगमंच से जहाँ एक ओर नाटक का साहित्यिक, कलात्मक या कल्पनात्मक स्वरूप स्पष्ट हुआ, वहां दूसरी ओर उसके उत्तरोत्तर विकास से नाटक में यथार्थ जीवन-दृश्यों को उपस्थित करने की, वास्तविकता का आभास उपजाने की, क्षमता भी बढ़ी। प्रारंभिक अवस्था में रंगमंच केवल मंदिर का कोई चबूतरा या कोई ऊंचा टीला ही रहा करता था, परन्तु एक स्थान पर अनेक घटनाओं और दृश्यों का अभिनय किया जाना स्वतः एक बड़ी चीज़ थी। इससे यह सूचित हुआ कि अनेक स्थानों और समयों में घटित हुई घटनाओं को एक स्थान पर और एक निर्धारित समय के अन्तर्गत दिखाया जाना संभव है। संभव ही नहीं इस प्रकार का प्रदर्शन ही वास्तविक नाटक है, यह अभिज्ञता भी उन प्रदर्शनों से उत्पन्न हुई।

रंगमंच की दृष्टि से नाटक का विकास मनोरंजक अध्ययन की वस्तु

है। इसकी आदिम अवस्था वह थी जब नाटक के लिये रंगमंच या प्रदर्शन-स्थल की आवश्यकता का ही बोध नहीं हुआ था। एक समन्वित दृश्य विधान के रूप में नाटक की सत्ता ही न थी। केवल नृत्य या गान आदि के लिए रंगमंच आवश्यक न था। जब उसमें जीवन-घटनाओं का अनुकरण किया जाने लगा, तब रंगमंच की आवश्यकता हुई। आरंभिक रंगमंच घूमते फिरते नाटकों के लिये कतिपय उपयोगी दृश्य उपस्थित करते रहे होंगे। उदाहरण के लिये विवाह के दृश्य को दिखाने के लिये यज्ञवेदी; नायक और नायिका के प्रेम विहार को प्रदर्शित करने के लिए किसी उपवन या वाटिका को ही उपयुक्त स्थल मान लेते थे। वही आरंभिक रंगमंच था। प्रकृति की भूमि में प्राकृतिक वस्तुओं के योग से ही मानव का आरंभिक रंगमंच बना था। क्रमशः उसमें दूसरे उपकरण भी आकर जुड़े।

रंगमंच के विकास में आगे की स्थिति तब आई जब एक ही स्थान पर, नाटक के विविध उपकरणों और साधनों को एकत्र कर अभिनय का कार्य किया जाने लगा। पश्चिम में प्रत्येक नाटक के आरंभ में कोरस या सम्मिलित नृत्य-गान की व्यवस्था थी; नाटक के बीच-बीच में भी ये कोरस हुआ करते थे। भारतीय नाटक में सूत्रधार, नान्दी, मंगलाचरण और भरतवाक्य आदि की योजना यह सूचित करती है कि विशुद्ध अनुकृति ही नाटक का मुख्य लक्ष्य न थी। उसका प्रधान कार्य मनोरंजन था। सूच्य और दृश्य वस्तुओं का भेद भी स्पष्ट न था और नाटक में ऐसे प्रकरण जुड़े हुए थे जिन्हें आज की नाट्यकला अनुपयोगी ही नहीं हास्यास्पद भी समझेगी। परंतु हमें स्मरण रखना चाहिए कि विशुद्ध दृश्य-काव्य के स्तर पर तब तक नाट्यकला प्रतिष्ठित नहीं हुई थी।

नाटक की इस आरंभिक और अविकसित अवस्था में भी उसके कई भेद या प्रकार प्रचलित थे। पश्चिम में दुःखात्मक या गंभीर और सुखात्मक या प्रहसन-मूलक नाटक प्रचलित हो गये थे। भारतवर्ष में नाटकों के अनेक भेद और प्रकार थे जिनका विकसित रूप हमें भरत के नाट्यशास्त्र और पीछे के नाटक-सम्बन्धी विवरणों में प्राप्त होता है। गद्यात्मक नाटक, गद्य-पद्य-मिश्रित नाटक और पद्यात्मक नाटक के भेद भी स्थिर होने लगे थे। विषय-भेद में भी धार्मिक और लौकिक आधारों पर नाटक की रचना होने लगी थी, किन्तु नाटक-सम्बंधी कदाचित सबसे प्रमुख भेद साहित्यिक नाटक और लोकनाटक अथवा जन-नाटकों का रहा है।

साहित्यिक नाटकों और जन-नाटकों की परंपरा बहुत कुछ स्वतंत्र रही है और दोनों का अलग-अलग विकास हुआ है। साहित्यिक नाटकों का लक्ष्य समाज के अभिजात वर्ग में—चुने हुए लोगों में—साहित्यिक मनोरंजन की सामग्री उपस्थित करने का था। उनकी भाषा संस्कृत होती थी तथा विषय और दृश्यावली का संचय अधिक कलापूर्ण दृष्टि से किया जाता था। लोक-नाटक उतनी अधिक कलात्मकता की ओर नहीं गये। उन्होंने जन-समाज की भावनाओं और अभिरुचियों का अधिक ध्यान रक्खा और साधारण साधनों से काम चलाया। उनकी भाषा लोक-भाषा थी और वे नाटक सामान्य जनता की सम्पत्ति थे।

इन दोनों धाराओं—लोक धारा और साहित्यिक या अभिजात धारा—में विकसित होने वाली नाट्यपरम्परा परस्पर आदान-प्रदान भी करती रही है। कभी लोक-नाटकों ने साहित्यिक नाटकों को प्रभावित किया और प्रेरणा दी और कभी साहित्यिक नाटकों के स्वरूप को लोक-नाटकों ने अपनाया। ऐसे नाट्य स्वरूपों का भी विकास हुआ जो उक्त दोनों परम्पराओं में स्वीकार किये गये। उदाहरण के लिए 'रास या रसायन' अथवा गीत-नाट्यों को लीजिये। ये मूलतः जन-समाज की वस्तु थे। क्रमशः राजदरबारों में इनका प्रवेश हुआ। पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो आदि ग्रंथ जो हिन्दी साहित्य के आरंभिक युग में रचे गये नाटकीय प्रदर्शन का स्वरूप लिये हुए थे। बीसलदेव रासो में तो स्पष्टतः सारा कथानक गेय और नाट्य प्रयोजन से बनाया गया है। यह बात दूसरी है कि अभिनय के अभाव में आज हम इन्हें पढ़कर ही संतोष करते हैं, परन्तु इसका अभिनय उस समय के राजदरबारों में होता रहा होगा, इसमें संदेह के लिये स्थान नहीं।

रास की परम्परा कितनी पुरानी है और देशभर में उसके कितने प्रकार के भेद पाये जाते हैं, यह अनुसंधान का विषय है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि यह जन-नाटकों का प्राचीन प्रकार था जिसका क्रमशः विकास हुआ और जिसे किसी सीमा तक साहित्यिक स्वरूप भी मिला। आज के साहित्यिक गीतिनाट्य प्राचीन रास की ही संतान कहे जा सकते हैं। रास का अपने मूलवर्ती स्वरूप के अन्तर्गत भी विकास हुआ है। आज भी पुरानी पद्धति की रासलीलायें देश के विभिन्न भागों में होती हैं। कुछ बड़ी-बड़ी कम्पनियां इस प्राचीन नाट्य परिपाटी को आज भी जीवित

रक्खे हुए हैं। जनता धार्मिक अवसरों पर अब भी रंगमंच-रहित रास का नाट्य देखती है। इस प्रकार एक ओर रासलीला का साहित्यिक विकास आधुनिक गीत-नाट्यों के रूप में हुआ है और दूसरी ओर उसका प्रचलन आरंभिक जन-नाटक के रूप में भी बना रहा है। साधारण जनता आज के सुसमृद्ध गीति-नाट्यों के निर्माण और प्रदर्शन का व्यय नहीं बर्दाश्त कर सकती। यही कारण है कि वह स्वल्प-साध्य रास या यात्रा के नाट्य स्वरूपों को अब भी चलाये जा रही है। वह गीति-नाट्यों के व्ययसाध्य आकर्षण और उसकी चमत्कार-पूर्ण भाव-भंगियों से दूर रहकर रास के अति प्राचीन लोक-नाट्य का अब भी उपयोग कर रही है। इसी प्रकार के अन्य प्राचीन नाट्य प्रकार भी हैं जिनके नवीन साहित्यिक संस्करणों के बन जाने पर भी पुरानी परिपाटी चलती जा रही है। जनता की आर्थिक स्थिति, उसकी परंपरा-पालन की प्रकृति के साथ-साथ उसकी अविकसित कला-अभिरुचि तथा अशिक्षा भी इसका कारण है। पुराने नाट्य प्रकारों की इस सरल-साध्यता का लाभ उठाकर तथा जनता में अब भी उन पुरानी पद्धतियों के प्रति मानसिक झुकाव देखकर कतिपय नये रचनाकार आज भी उसी शैली की रचनायें कर रहे हैं और नये विषयों का संनिवेश कर उन प्राचीन नाट्य प्रकारों का नया जीवन-दान दे रहे हैं। संभावना यह है कि इस प्रक्रिया से पुराने नाट्य स्वरूपों को एक नया स्थायित्व प्राप्त होगा। पुराने साँचे को कायम रखने के इस उद्योग में यदि लोक-नाटकों की सांस्कृतिक परंपरा का विकास होता रहे, तो प्राचीनता प्रेम का इससे बढ़ कर सदुपयोग और क्या हो सकता है?

पूर्वी और पश्चिमी नाट्य तत्त्व

१. पूर्वी तत्त्व

भरत के नाट्यशास्त्र में रंगमंच, अभिनेता, उनके वस्त्राभरण, संगीत, नृत्य, आंगिक वाचिक और आहार्य अभिनय आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। काव्य का स्वरूप, काव्य के भेद, रस और भाव की मीमांसा के साथ नाटकों के अनेक भेदोपभेदों की परिगणना की गई है। नाट्य साहित्य के सम्बंध में यह पहला उपलब्ध ग्रंथ है।

भरत के पश्चात् धनंजय का दशरूपक नामक ग्रंथ प्राप्त होता है। इसमें प्राय: वे ही विषय मिलते हैं जो नाट्यशास्त्र में हैं। किन्तु नाट्यशास्त्र के संपूर्ण विषयों का ग्रहण इसमें नहीं किया गया है और न उतना विस्तार ही आ पाया है। नाटक के चारों उपकरण वस्तु, नेता, रस और संवाद—इस ग्रंथ में विवेचित हुए हैं। धनंजय के पश्चात् विद्यानाथ की 'प्रताप रुद्रीय' और विद्याधर की 'एकावली' नामक रचनाएं नाटकों का विवेचन करती हैं। इस सम्बन्ध के सबसे अन्तिम लेखक विश्वनाथ कविराज हैं, जिन्होंने साहित्य-दर्पण नामक ग्रंथ में नाटकीय सिद्धान्त का उल्लेख किया है। साहित्य-दर्पण का एक अध्याय इसी विषय से सम्बन्ध रखता है। यह भी भरत के नाट्यशास्त्र की ही बातों को लेकर लिखा गया है, यद्यपि इसमें स्पष्टता नाट्यशास्त्र की अपेक्षा अधिक है।

नाट्यशास्त्र में नाटक को अनुकृतिमूलक काव्य माना गया है। इनमें व्यक्तियों के कार्यों, उनकी स्थितियों और मनोभावों का अनुकरण किया जाता है। अनुकरण का आधार इंगित, वाणी, वस्त्र और वेष-भूषा हैं। किन्तु केवल अनुकृति ही पर्याप्त नहीं है। अनुकृति का लक्ष्य है दर्शकों के मनोगत भावों के उन्मेष द्वारा काव्यरस की प्रतीति कराना। रस की निष्पत्ति ही भारतीय नाटक का प्रधान उद्देश्य माना गया है।

इसके अतिरिक्त नाटक के अन्य तत्त्वों में वस्तु, चरित्र (नायक) और संवाद भी हैं। नाटकों के अनेक भेद होते हैं, और उन्हीं के अनुसार कथा-

नक तथा पात्रों के भेद भी होते हैं। किन्तु रस का स्थान सभी नाटकों में रहता है। इससे यही सिद्ध होता है कि रस की सृष्टि ही नाटक-रचना का मुख्य उद्देश्य है।

नाटक का कथानक (वस्तु) तीन प्रकार का हो सकता है। प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। प्रख्यात कथानक किसी प्राचीन पौराणिक या ऐतिहासिक व्यक्ति से संबंधित होता है। उत्पाद्य नाटक में कवि अपनी कल्पना द्वारा पात्रों की सृष्टि करता है। मिश्र कथानक वह है जिसमें उत्पाद्य और प्रख्यात कथानकों का मिश्रण हो। किंतु इसमें इस बात का ध्यान रखा जाता है कि प्राचीन कथा में ऐसी काल्पनिक बातें न जोड़ी जायँ जिन से श्रोताओं के विश्वास को धक्का लगे और रस-भंग हो।

इन कथानकों में प्रख्यात कथानक ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। प्रायः सभी नाटककारों ने इसीका आश्रय लिया है। कालिदास को अपने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में दुष्यंत के चरित्र को महाभारत के दुष्यंत से कुछ भिन्न रखना पड़ा है। कवि ने अपनी कल्पना द्वारा दुष्यंत के चरित्र में केवल उन अंशों को परिवर्तित किया है जिनसे वह और भी उदात्त हो जाय। किसी प्रसिद्ध घटना को तोड़ मरोड़कर नहीं रक्खा गया। महाकाव्य में नायक के दोष भी दिखाए जा सकते हैं, जैसे—रामायण में बालि-बध का प्रकरण। किन्तु नाटक के सीमित आकार में नायक के दोष-दर्शन के लिए स्थान नहीं है। ऐसा करने से रस के निष्पन्न होने में बाधा पड़ती है।

कथानक को आधिकारिक और प्रासंगिक दो भागों में बाँटा गया है। आधिकारिक कथानक वह है जिसका सम्बन्ध नाटक के मुख्य कार्य या उद्देश्य से होता है, जिसकी प्राप्ति में नाटक के प्रधान नायक का हाथ रहता है। प्रासंगिक कथानक के दो भेद होते हैं—१ 'पताका' जिसमें प्रासंगिक कथानक अधिक विशाल होता है और स्थान विशेष से आरम्भ होकर नाटक के अन्त तक चलता है, जैसे रामायण में सुग्रीव का आख्यान। २. 'प्रकरी' का प्रासंगिक कथानक संक्षिप्त होता है और आरम्भ होने के पश्चात् शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, जैसे रामायण में जटायु का प्रकरण।

नाटक में कार्य की पांच अवस्थाएं होती हैं—आरम्भ, प्रयत्न प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। 'आरम्भ' में नायक अपनी लक्ष्य-प्राप्तिके

लिए इच्छा प्रकट करता है। 'प्रयत्न' में वह इष्टप्राप्ति के लिए गंभीर उद्योग करता है। प्राप्त्याशा में इष्ट की प्राप्ति और अप्राप्ति का द्वंद्व उस अवस्था पर पहुंचता है जहाँ प्राप्ति की सम्भावना हो जाती है। नियताप्ति में इष्ट को प्राप्त करने में केवल एक ही मुख्य बाधा शेष रहती है जिसके दूर होते ही कार्य को सिद्धि हो जाती है। इष्टसिद्धि की अवस्था को फलागम कहते हैं।

फल प्राप्ति के संबंध से वस्तु या कथानक को भी पांच भागों में विभक्त किया जाता है। इन्हें अर्थ-प्रकृति के नाम से अभिहित करते हैं। इन पाँचों अर्थ-प्रकृतियों के नाम हैं—बीज, विंदु, पताका, प्रकरी और कार्य। बीज से कार्य की उत्पत्ति होती है। यही मुख्य फल का हेतु है। विन्दु से कार्य का प्रसरण होता है। समाप्त होने वाली अवान्तर कथा को प्रधान कथा से जोड़ देना ही इसका मुख्य कार्य है। पताका और प्रकरी का उल्लेख ऊपर हो चुका है। कार्य नाटक का प्रधान साध्य है। इसीके हेतु समस्त उपकरण एकत्र किए जाते हैं। अर्थ-प्रकृतियों तथा कार्यावस्थाओं को जोड़ने के लिए आचार्यों ने पंच-संधियों की व्यवस्था भी की है। उनके नाम हैं—मुख संधि, प्रतिमुख संधि, गर्भ संधि, विमर्श संधि और निर्वहण संधि। मुख संधि में प्रारम्भ अवस्था और बीज अर्थ-प्रकृति का संयोग होता है। प्रयत्न अवस्था और विन्दु अर्थ-प्रकृति का मेल प्रतिमुख संधि में होता है। प्राप्त्याशा और पताका के योग को गर्भ संधि कहते हैं। नियताप्ति और प्रकरी का संयोग विमर्श संधि में होता है। फलागम और कार्य के संयोग को निर्वहण संधि कहते हैं।

वस्तु या कथानक के पांच भेद (जिन्हें ऊपर अर्थप्रकृति कहा गया है) नाटक के अंग-विन्यास के सूचक हैं। जिस प्रकार मनुष्य की आकृति और उसके अंगों की संगति होने पर ही उसका सौन्दर्य निखरता है, उसी प्रकार कथानक (या अर्थप्रकृति) की संगति पर नाटक में सम्यक आकर्षण आता है। कथानक के ये भेद नाटक के वाह्य सौन्दर्य के विधायक हैं। इससे भिन्न कार्यावस्था या व्यापार का तत्त्व नाटक को सजीव और सप्राण बनाने के उद्देश्य से नियोजित किया जाता है। वह नाटक का अंतरंग और गतिशील तत्त्व है। वस्तु-संघटन और व्यापार की समुचित योजना, दोनों मिलकर नाटक को पूर्ण कलात्मक उत्कर्ष देते हैं। कथानक-संबंधी

तीसरा तत्त्व संधियों का है। वस्तु (अर्थप्रकृति) और व्यापार (कार्यावस्था) के पांच भेदों के अनुरूप संधियों की संख्या भी पांच मानी गई है। नाटक के वे चमत्कारपूर्ण स्थल जो सहसा सहृदयों की दृष्टि आकृष्ट करते हैं, तथा जिन स्थलों से कथानक एक नवीन मोड़ या दिशान्तर प्राप्त करता है, संधि कहलाते हैं। संधियों के उचित संस्थान से वस्तु या कथानक की शोभा और व्यापार या कार्य की प्रगति में नया चमत्कार आ जाता है। इस प्रकार भारतीय पंडितों ने नाटकीय वस्तु के निर्णय और निर्माण के संबंध में तीन-तीन कसौटियाँ प्रस्तुत की हैं--तीन-तीन विधियाँ बताई हैं। वास्तव में वस्तु, कार्य तथा संधियों के अन्य अनेक भेद भी किए गए हैं, परंतु मुख्य ये ही पांच हैं।

कथानक के अन्य दो भेद भी किए जाते हैं, दृश्य और सूच्य। दृश्य का विचार हो चुका है। सूच्य का अर्थ है जो सूचित किया जाय। सूच्य कथाओं को अर्थोपक्षेपक भी कहा जाता है। युद्ध, हत्या, मृत्यु इत्यादि सूच्य कथाएँ होती हैं। विवाह, भोजन भी नाटक में नहीं दिखाए जाने चाहिए। सूच्य के पाँच विभाग किए गए हैं, विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका-अंकमुख और अंकावतार। सूच्य वस्तुओं के और भी भेद हैं, जैसे स्वगत, अपवारित, जनान्तिक और आकाशभाषित। भूत और भविष्य की कथाएँ जब मध्यम पात्र द्वारा सूचित की जायँ, तब उन्हें विष्कंभक के अंतर्गत समझना चाहिए। प्रवेशक में भूत और भविष्य की कथाओं की सूचना नीच पात्र देते हैं। नेपथ्य द्वारा दी गई सूचना चूलिका कहलाती है। किसी अंक के अंत में आगे के अंक में घटित होने वाली घटना की सूचना को अंकावतार कहते हैं। जब पिछले अंक के अंत में आए पात्र अगले अंक के आरंभ में अभिनय करते हैं, तब उसे अंकमुख कहा जाता है।

कथा का विचार करने के बाद पात्रों या चरित्रों पर भी विचार किया गया है। नाटक में प्रधान पात्र को नायक कहते हैं। स्वभाव भेद से इनके चार प्रकार होते हैं—धीरोदात्त, धीर ललित, धीर प्रशांत और धीरोद्धत। धीरोदात्त नायक उच्च कुल का वीर और उदार व्यक्ति होता है। धीर प्रशांत ब्राह्मण हुआ करता है। धीरोद्धत प्रतिनायक तथा नायक भी हो सकते हैं। यह स्वभाव से दर्पपूर्ण होता है। नायक का साथी पीठमर्द कहलाता है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' का मित्र सिंहरण पीठमर्द है।

नायिकाएँ तीन प्रकार की मानी गई हैं—स्वकीया, अन्या और गणिका।

आयु के हिसाब से स्वकीया नायिका के तीन भेद होते हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा (प्रौढ़ा)।

नायकों और नायिकाओं के संबंध के अनुसार नायिकाओं के आठ भेद होते हैं—स्वाधीनपतिका, वासक सज्जा, विरहोत्कंठिता, खंडिता, कलहान्तरिता विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका और अभिसारिका । अयत्नज, स्वभावज और अंगज, नायिका के तीन स्वाभाविक अलंकार होते हैं । नायक का अंतरंग मित्र और ब्राह्मण विदूषक होता है। कोई कवि या कलाओं का प्रेमी नायक का मित्र विट कहलाता है ।

दूत या प्रतिहार के अंतर्गत मंत्री आदि नाटक के पात्र आते हैं । कुमार सेनापति, न्यायाधीश भी नाटक के पात्र होते हैं।

प्रधान रानी का नाम महादेवी होता है। रानी न होने पर राजा की प्रेयसी स्वामिनी कहलाती है ।

रस दृश्य काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। रस भाव की आनंदात्मक अनुभूति है । इसे संस्कारशील व्यक्ति ही ग्रहण कर सकते हैं। नाटक में वीर और शृंगार रस प्रधान होते हैं और अद्भुत रस नाटकीय प्रभाव की सृष्टि के लिए लाया जाता है ।

वृत्ति—रसानुकूल प्रभाव उत्पन्न करने के लिए वृत्तियों के प्रयोग का विधान है। ये चार प्रकार की मानी गई हैं । कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। कैशिकी में नृत्य और गान अधिक होते हैं । इसमें पुरुष स्त्री दोनों भाग लेते हैं । शृंगार-प्रधान नाटकों में इसी वृत्ति का उपयोग होता है। वीर, अद्भुत और भयानक के अनुकूल सात्वती वृति है। आरभटी भयानक और रौद्र के लिए अधिक अनुकूल है । इसमें छल, जादू आदि की प्रधानता होती है । भारती वृत्ति केवल भाषा प्रयोग पर आधारित है। सभी रसों में इसका अनुकूल प्रयोग हो सकता है ।

नाट्याचार्यों ने उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रों के अनुकूल जो अलग-अलग भाषा-प्रकार का निर्देश किया है, उससे यही अर्थ निकलता है कि नाटक की भाषा पात्र के अनुकूल ोनी चाहिए । नृत्य के भी दो भेद हैं, तांडव और लास्य । नृत्य और गान भी रस के अनुकूल होने चाहिए। तांडव वीर रस का और लास्य शृंगार रस का नृत्य है ।

२. पश्चिमी तत्त्व

पश्चिमी परंपरा के अनुसार नाटक का प्रमुख तत्त्व 'वस्तु' है। अरिस्टोट्ल ने वस्तु-विन्यास की चर्चा बड़े विस्तार से की है। उसने यह बताया है कि वस्तु और चरित्र में वस्तु को क्यों प्रधानता दी जाती है। उसके मत में चरित्र तो व्यक्तियों का निष्क्रिय गुण है, किन्तु वस्तु मानव-जीवन का सक्रिय और गतिशील रूप है। नाट्य-वस्तु ही चरित्रों को प्रभावित करती और उनको स्वरूप देती है। वस्तु अथवा नाट्य-घटना ही चरित्रों के सुख-दुःख का कारण होती है। अरिस्टोट्ल के मतानुसार चरित्र के बिना नाटक बन सकता है, परंतु वस्तु के बिना उसकी सत्ता नहीं रह सकती। केवल चरित्र की सूचना देने वाले कुछ संवाद किसी नाटक में हो सकते हैं, परन्तु केवल उन संवादों से ही नाटक नहीं बनता। नाटकीय प्रभाव, सक्रियता और चरित्रों की सजीवता और गतिशीलता के लिए वस्तु का निर्माण होता है। वस्तु नाटक का सचेतन और गतिशील आधार है। वस्तु के अन्तर्गत ऐसी घटनाओं का संनिवेश भी किया जाता है जिससे नाटक में कौतूहल की वृद्धि होती है और दर्शकों को तदनुकूल आनन्द मिलता है। इन्हीं कारणों से नाटक में चरित्र की अपेक्षा वस्तु का महत्त्व अधिक होता है। इसकी पुष्टि के लिए अरिस्टोट्ल ने चित्र-कला का उदाहरण भी दिया है। यदि एक चित्र में अनेक रंग भर दिए जायँ, किन्तु उनमें सार्थकता एवं सामंजस्य न हो, तो वह रंगों की योजना व्यर्थ है। उसकी अपेक्षा केवल पेंसिल या खड़ियामिट्टी से चित्र की रूपरेखा प्रस्तुत कर देना अधिक सार्थक और प्रभावपूर्ण होगा। चित्र में रंगों की स्थिति चरित्र के स्थान पर होती है और रेखाओं की स्थिति वस्तु के स्थान पर। इससे सिद्ध है कि चरित्र की अपेक्षा वस्तु अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

नाटकीय वस्तु अपने में पूर्ण तथा निरपेक्ष होनी चाहिए। साथ ही उसका एक समुचित आकार अथवा विस्तार भी आवश्यक है। जिस प्रकार अत्यंत छोटी वस्तु अपना सौन्दर्य आँखों के सामने स्पष्ट नहीं कर पाती, तथा अत्यधिक विशाल वस्तु भी अपने सौन्दर्य को सीमा में नहीं बाँध पाती, उसी प्रकार नाटक का कथानक न अत्यन्त छोटा और न अत्यधिक विशाल होना चाहिए। उसका विस्तार हमारी स्मृतिशक्ति के अंतर्गत समा सकने योग्य हो। वस्तु की पूर्णता के लिए उसका आदि, मध्य और अंत निर्धारित होना चाहिए। आरम्भ उसे कहते हैं जो किसी पूर्ववर्ती घटना से कार्य-कारण-संबंध द्वारा मिला नहीं होता, पर

जिसके पीछे कार्य-कारण-सम्बन्ध द्वारा घटनाए जुडी होती है। उसके पूर्व मे घटनाओं की अपेक्षा नही होती, पीछे होती है। मध्य वह है जिसके पूर्व तथा पश्चात् दोनो ओर कार्य-कारण-परपरा से घटनाओ का योग आवश्यक जान पडता है। अन्त वह है जिसके पूर्व घटनाओ की शृखला सयुक्त होती है और वह उनका परिणाम प्रतीत होता है, साथ ही उसकी परवर्ती किसी घटना की अपेक्षा नही रहा करती।

मनुष्य अथवा जीवधारी के किसी भी अग के न्यूनाधिक होने से उसके सौन्दर्य मे त्रुटि आ जाती है, उसी प्रकार नाटक के सपूर्ण अगो का विन्यास भी आवश्यक होता है। इसके लिए नाटक की कथावस्तु का समुचित विस्तार अपेक्षित है तथा घटनाओ की शृखला उस विस्तार के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप से रक्खी जानी चाहिए। नाटकीय वस्तु का विस्तार ऐसा हो जिसमे सुखात्मक स्थिति से दुखात्मक और दुखात्मक से सुखात्मक स्थिति का परिवर्तन सभाव्य बन जाय।

नाटकीय वस्तु मे सकलन की आवश्यकता होती है। किसी मनुष्य के जीवन-व्यापी समस्त कार्यों को नाटक मे एकत्र कर देना कथावस्तु का सकलन नही है। एक चरित्र को लेकर आदि से अत तक उसकी जीवनी का दृश्य उपस्थित कर देना सकलित वस्तु का उदाहरण नही है। केवल कार्य-कारण शृखला से जुडी हुई घटनाओ को ही नाटकीय वस्तु का आधार बनाया जा सकता है। व्यापार की शृखला एकरस होनी चाहिए तथा समस्त घटनाए उस व्यापार के निर्माण में सहायक हो। नाटक की कथावस्तु जीवनी से भिन्न होती है, वह इतिहास से भी पृथक् है। इतिहास में केवल वास्तविक घटनाओं का समावेश होता है। नाटक में घटनाओ का सभाव्य रूप ग्रहण किया जाता है। इतिहास व्यक्ति-विशेष अथवा घटना-विशेष के पूरे विवरण को लेकर आगे बढता है, किन्तु नाटक के सकलन में घटनाओ के ऐसे इतिवृत्त की आवश्यकता नहीं होती। कहा जाता है कि इतिहास मे व्यक्ति और स्थान के नामो को छोडकर और कुछ भी 'सत्य' नही होता और काव्य तथा नाटक मे व्यक्ति और स्थान के नाम छोडकर सभी कुछ सत्य (अर्थात् तथ्यपूर्ण और मार्मिक) होता है। काव्य या नाटक की कथावस्तु के निर्माण में कलाकार की कल्पना कार्य करती है, किन्तु इतिहास-ग्रंथ के निर्माण में कल्पना का कोई विशेष हाथ नही होता।

अरिस्टोट्‌ल का मत है कि नाटकीय कथावस्तु में प्रासंगिक कथा अथवा अनावश्यक घटना-बाहुल्य की योजना न होनी चाहिए। कथानक का समरस होना आवश्यक है। यदि विभिन्न दिशाओं से भिन्न-भिन्न घटनाएं आकर नाटक में समाहित होना चाहेंगी, तो नाटक बोझीला और प्रभावहीन हो जायगा। उसकी एकाग्रता न रहेगी। कभी-कभी एक-एक पात्र को लेकर नाटककार उससे संबंध रखनेवाली घटनाओं को नाटक में स्थान देता है, इस प्रकार अनेक पात्रों से संबंध रखने वाली बहुत सी घटनाओं का संग्रह हो जाता है, जिससे वस्तु-सौन्दर्य में स्वभावतः त्रुटि आ जाती है।

नाटकीय वस्तु में कौतूहलवर्धक तथा चमत्कारपूर्ण प्रसंगों की अधिक आवश्यकता होती है। अतएव कथावस्तु के भीतर स्थिति-परिवर्तन तथा प्रत्यभिज्ञान के दृश्यों को स्थान दिया जाता है। कथानक के प्रवाह-क्रम में नवीन घटना-योग द्वारा आकस्मिक परिवर्तन की प्रणाली अत्यन्त प्राचीन है, किन्तु श्रेष्ठ नाटककार नियोजित घटना की स्वाभाविकता का ध्यान रखते हैं। उसमें अस्वाभाविकता नहीं आने देते। इसी प्रकार नवीन अभिज्ञान भी एकदम अप्रत्याशित या अकल्पनीय न होना चाहिए। इसी कारण श्रेष्ठ नाटक की कथावस्तु सीधी लीक पर चलने वाली न होकर किंचित जटिल तथा विस्मयकारक होती है। कौतूहल उत्पन्न करने के लिए आकस्मिक घटना-योजना का तत्त्व अत्यंत आवश्यक है।

स्थिति-परिवर्तन उपस्थित करनेवाली घटना के विषय में भी अरिस्टोट्‌ल का मत है कि वह नाटक में करुणा तथा भय के भावों की सृष्टि करने वाली हो। यह उस अवस्था में संभव नहीं है जब कोई सच्चरित्र व्यक्ति उन्नति से अवनति की ओर जाता दिखाया जाय या किसी दुष्ट को सुख की प्राप्ति हो। किसी नितान्त नीच व्यक्ति का आपत्तियों में पड़ जाना भी करुणा एवं भय का संचार नहीं कर सकता। किसी प्रसिद्ध, उन्नतमना व्यक्ति का किसी आकस्मिक भूल के कारण विषम परिस्थिति में फँस जाना ही इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। दुर्गुणी पात्र में भी यह बात घटित नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त योजना से करुणा अथवा भय की भावना का उदय न हो सकेगा। पात्र का उदात्तमना होना आवश्यक है, परन्तु वह चरित्र अत्यंत असाधारण या आदर्श भी नहीं होना चाहिए ; क्योंकि उस स्थिति में भी करुणा या भय की सृष्टि न होगी।

आकस्मिक प्रभाव-वैषम्य को अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानकर अरिस्टोट्ल ने इसकी विस्तृत विवेचना की है। दुःखान्त नाटक में स्थिति का यह परिवर्तन दो विरोधी पात्रों के बीच संभव नहीं। जब दो परिचित मित्र सहसा किसी चारित्रिक विपर्यय से इस प्रकार की घटना में नियोजित हो जाते हैं, तभी भय और करुणा की सम्यक् उत्पत्ति होती है। घटना का अनजान में ही घटित हो जाना संवेदना को और भी तीव्र बना देता है। वास्तविक स्थिति का ज्ञान होने पर महान् पश्चात्ताप का उदय भी नाटकीय प्रभाव के अनुकूल होगा। दुःखान्त नाटक के लिए सबसे अधिक प्रभावपूर्ण स्थिति-विपर्यय यही हो सकता है।

अरिस्टोट्ल का कथन है कि व्यक्ति में कुछ गुणों का स्थापन ही चरित्र का सूचक है। चरित्र की श्रेष्ठता उद्देश्य की महानता पर निर्भर है। अपने स्थान पर सभी के उद्देश्य महान् हो सकते हैं, इसी कारण चारित्रिक श्रेष्ठता के लिए कोई जातिगत बंधन नहीं है। औचित्य भी चरित्र के लिए आवश्यक वस्तु है। उचित पात्र में उचित गुण का सन्निवेश किया जाना चाहिए। नारी में पुरुष के गुण तथा पुरुष में नारी के गुण चित्रित करना औचित्य से परे की वस्तु है। जीवन की अनुरूपता भी स्वाभाविक चरित्र-चित्रण के लिये आवश्यक है। चरित्रगत विशेषताओं में वैषम्य सकारण तथा सनियम होना चाहिए। अकारण किसी चरित्र का उत्थान या पतन कलापूर्ण नहीं होता। चरित्र-निर्माण पात्र के कार्यों द्वारा होना चाहिए। पात्र के वक्तव्यों द्वारा भी चरित्र-चित्रण संभव है। अभिनय द्वारा भी चरित्र की विशेषता का उद्घाटन हो सकता है, परन्तु यह एक गौण उपक्रम है।

नाटक का अन्य तत्त्व पात्रों के संवादों में व्यक्त होने वाली देश-काल-संबंधी विचार-धारा है। पात्रों के प्रवचन कुछ अंश तक उनके चरित्र की सूचना देते हैं। परंतु नाटक के बौद्धिक पक्ष तथा देश-काल की स्थिति का आभास भी उनसे मिलता है। किसी भावना को उत्तेजित करने तथा किसी विषय का निर्देश करने के लिए यह तत्त्व काम में आता है। समस्त संवाद जो चरित्रनिर्माण में किसी प्रकार का सीधा सहयोग नहीं देता, इसी 'विचार' तत्त्व के अंतर्गत आ जाता है।

अरिस्टोट्ल ने नाटक की भाषा-योजना पर अत्यंत विस्तारपूर्वक लिखा है। संपूर्ण विवेचन के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा है

कि भाषा-योजना असाधारणता-समन्वित तथा स्पष्टता की विधायक होनी चाहिए। ये दोनों विरोधी गुण हैं। प्रायः सामान्य उक्तियां स्पष्ट होती हैं और असाधारण शब्द अस्पष्ट होते हैं। किन्तु नाटककार की संपूर्ण सफलता इन दोनों विरोधी तत्त्वों का समुचित सामंजस्य स्थापित करने में है। नाटक को साधारण भाषा से ऊंचा उठाकर कला की उच्च भूमि पर उपस्थित करके भी उसमें स्पष्टता की प्राणप्रतिष्ठा कर देना कलाकार की कुशलता का परिचायक है। लाक्षणिक भाषा का प्रयोग तथा रूपक आदि के प्रयोग भी आकर्षक होते हैं, किन्तु शर्त यह है कि वे नाटक की स्पष्टता और बोधगम्यता पर आवरण न डाल दें। नाटक दर्शकों की वस्तु है, यह कलाकार को कभी न भूलना चाहिए। कुछ अप्रचलित शब्द, रूपक, आलंकारिक उक्ति आदि नाटक की भाषा-योजना को असाधारण चमत्कार प्रदान करती हैं; किन्तु सरल और मधुर वाक्यों का प्रयोग ही उसे स्पष्ट बना सकेगा। नाटककार असाधारणता में स्पष्टता तथा स्पष्टता में असाधारणता को संनिहित कर ही सफलता प्राप्त करता है।

नाटक का पांचवां और अंतिम तत्त्व गीत है। इसके संबंध में अरिस्टोट्ल का मुख्य वक्तव्य यह है कि नाटकों के गीत नाटक के अभिन्न अंग होने चाहिए। वे ऊपर से जोड़े हुए नहीं हो सकते। निर्धारित स्थानों पर गीतों का होना आवश्यक है। विना इसके नाटक की सर्वांगता अपूर्ण ही रहेगी। स्पष्ट है कि अरिस्टोट्ल का यह निर्देश तत्कालीन ग्रीक नाटकों को आधार मान कर ही किया गया। नाटक में गीत की स्थिति और आवश्यकता पर भिन्न-भिन्न समयों में विचार बदलते रहे हैं।

भारतीय नाटक

संस्कृत साहित्य और विशेषतः संस्कृत नाटकों पर जिन पाश्चात्य विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उनमें ए० बेरीडेल कीथ का नाम विशेष ख्यात है। 'संस्कृत-नाटक' ('Sanskrit Drama') नामक उनका ग्रंथ अत्यधिक प्रामाणिक माना जाता है, और जहाँ कहीं प्राच्य साहित्य की चर्चा होती है, वहाँ संमान के साथ स्मरण किया जाता है। इस ग्रंथ में लेखक ने संस्कृत नाटकों का क्रमबद्ध विवरण दिया है और उनकी साहित्यिक विशेषताओं का विस्तृत विवेचन किया है। कीथ यह मानते हैं कि भारतीय नाटकों का स्वतंत्र विकास हुआ था, उन पर किसी दूसरे राष्ट्र की नाट्यपद्धति की छाप नहीं पड़ी है। यह बात दूसरी है कि कभी किसी संस्कृत नाटककार ने कहीं कोई बात यूनानी नाट्य-कला से ले ली हो, पर इस प्रकार का आदान अनुकृति नहीं कहा जा सकता।

भारतीय नाटक की स्वतंत्र विशेषता को स्वीकार करते हुए भी कीथ उनका प्रशंसक नहीं हैं। यूनानी नाटक की तुलना में वह भारतीय नाटक को महत्त्व नहीं देता। उनका कथन है कि भारतीय नाटक यूनानी नाटकों की भांति जन-समाज के लिए नहीं लिखे गये। उनका प्रसार जनता में नहीं हुआ। केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गों के मनोरंजनार्थ उनकी सृष्टि हुई, इसी उच्च वर्गीय ऐकान्तिक वातावरण में उनका प्रलचन हुआ। ब्राह्मण जाति आरंभ से ही आदर्शवादी थी। वस्तु और चरित्र का यथार्थ चित्रण उसकी प्रकृति के विरुद्ध होने के कारण असंभव था। केवल भाव-विशेष की सृष्टि साहित्य और नाटकों का लक्ष्य थी। कथानक का निर्माण इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए किया जाता था और प्रायः कोई सुप्रसिद्ध पौराणिक कथा ही इसके लिए उपयुक्त समझी जाती थी। कथा को ऐसे साँचे में ढाल लेते थे, जिसमें किसी रस-विशेष की सर्वांगीण अनुभूति करायी जा सके।

रसों में भी ब्राह्मण जाति के आदर्शों का बोलबाला था। ब्राह्मणों के सिद्धान्त के अनुसार कोई भी मनुष्य पूर्वजन्म के कर्मों के आनुसार ही इस जन्म में सुख-दुःख का भागी होता है। अतः भारतीय नाटकों में यूनानी

दुःखान्त नाटकों की भांति ऐसी शक्तियों और स्थितियों का चित्रण नहीं किया जा सका, जो स्वतंत्र हैं और जिन पर मानव बुद्धि का कोई वश नहीं। इसी कारण संस्कृत नाटक में किसी सत्पुरुष का भाग्य के दुर्दमनीय चक्र में पड़कर विफलताओं से टक्कर खाना और अंत तक भटकना नहीं दिखाया गया, न उसमें किसी खल-पुरुष का अंत तक विजयी होना चित्रित किया गया है।

संस्कृत नाटक सदैव सुखांत रहे हैं। वे ब्राह्मण विचारों की आदर्शवादी परंपरा पर चलते गये हैं। केवल वीर और शृंगार रस ही की सृष्टि नाटक में होती है, और घटना-चमत्कार की सृष्टि के लिए अद्भुत रस के प्रसंग भी आ सकते हैं। अद्भुत रस की योजना में भारतीय नाटककार बेखटके स्वर्ग और पाताल-लोक के संभव-असंभव दृश्य नाटकों में लाते रहे हैं। अस्वाभाविकता की ओर कभी उनका ध्यान नहीं गया।

कीथ के कथनानुसार भारतीय नाटक में चरित्र-सृष्टि के लिए भी यथेष्ट स्थान न था। चरित्रों का स्वतंत्र स्वरूप भी नाटक की रसात्मकता में बाधक ही हो सकता था; इसलिए पात्रों का चरित्र-चित्रण भी रसानुयायी ही रहा है। रावण का चरित्र एक दंभी और मूर्ख व्यक्ति का सा प्रायः सभी नाटककारों ने अंकित किया है। राम के महान् चरित्र के समीप वह किसी भी अवस्था में नहीं पहुँचता। संघर्ष की यथार्थता की अनुभूति कराने में संस्कृत नाटककार इसीलिए असफल रहे हैं। आदर्शवादी प्रकृति और रस-सृष्टि के लक्ष्य के कारण यह गड़बड़ी हुई है।

नाटक की शैली पर महाकाव्य की शैली का प्रभाव बराबर बना रहा—यही नहीं, प्रगीतात्मक मुक्तक पद्य, प्रकृति वर्णन और कथात्मक प्रकरण (Narration) भी भारतीय नाटकों में भरे हुए हैं। ये तीनों ही वस्तुएँ नाटकीयता के अनुकूल नहीं पड़तीं, किन्तु रसोद्रेक के लिए इनका उपयोग किया गया है। इसी प्रकार नृत्य, गान, वाद्य और अभिनय का प्रयोग भी रस-सृष्टि के ही लिए हुआ है।

'नाटक' में तो राजपरिवार और उच्चवर्गीय समाज के चित्रण का प्रतिबंध था ही, 'नाटिका' में भी सामान्य जीवन की वास्तविकता चित्रित न हो सकी। यद्यपि 'नाटिका' में और उससे भी अधिक 'प्रकरण' में मध्यवर्गीय समाज के चित्रण का अवकाश रहा है, पर वह चित्रण भी रूढ़ि के आधार पर ही हुआ। रति स्थायी-भाव के परम्पराप्राप्त प्रदर्शन के

लिए भवभूति ने 'मालती माधव' नामक प्रकरण---रूपक लिखा। 'प्रहसन' और 'भाण' नामक रूपक हास्य रस की सृष्टि के लिए थे---वह भी एक बँधी हुई लीक पर।

कीथ साहब ने भारतीय नाटक में ये मूलभूत दोष गिनाने के पश्चात् भारतीय नाटक की भाषा पर आपत्ति की है। आपका मत है कि संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के जो स्वरूप नाटकों में मिलते हैं, वे जन-भाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा-स्वरूप को समझना जनता के लिए असंभव था। केवल अल्पसंख्यक उच्च-पदस्थ वर्ग ही उस भाषा को समझ सकता था, और उसी के लिए वे नाटक रचे भी गये थे। इस प्रकार संस्कृत नाटक केवल एक अल्पसंख्यक वर्ग-विशेष की कलाभिरुचि और, हास्य और मनोविनोद के विषय रहे हैं। उसका संबंध सामान्य भारतीय समाज से नहीं था। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' तथा राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' में राजाश्रित समाज और दरबारी कवियों का जो स्वरूप दिखाया गया है, संस्कृत का नाटककार उसी श्रेणी का व्यक्ति था। वह सामान्य जनता और उसके जीवन के सम्पर्क में न कभी रहा और न कभी उस ओर उसका ध्यान ही गया।

ये आरोप कीथ साहब ने संस्कृत नाटकमात्र पर किये हैं, इसलिए इन आरोपों से न तो कालिदास बचे हैं और न उनकी कोई नाट्यकृति। अवश्य संस्कृत के अन्य नाटककारों की तुलना में कीथ ने कालिदास की श्रेष्ठता स्वीकार की है। उसने लिखा है कि कालिदास प्रसाद गुण-संपन्न वैदर्भी शैली के प्रधान नाटककार हैं। भास और मृच्छकटिककार शूद्रक की ही भाँति सरल भाषा का प्रयोग करते हुए भी कालिदास उक्त दोनों लेखकों से कहीं अधिक आकर्षक और परिष्कृत शैली में नाटक लिख सके। अश्वघोष से वे प्रभावित हुए थे; किन्तु उनकी सुरुचि और परिमार्जना उनकी अपनी वस्तु है। अश्वघोष में वह बात नहीं। परवर्ती लेखकों की कृत्रिम आलंकारिकता का भद्दा प्रदर्शन कालिदास में नाम को भी नहीं है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के पञ्चम अंक में तो वे संस्कृत नाटककारों की वस्तु-वर्णनात्मक काव्यशैली को छोड़कर विशुद्ध नाट्य-व्यापार की ही योजना करने में सफल हुए हैं।

कालिदास में व्यञ्जना-पद्धति का बड़ा सुन्दर स्वरूप विकसित हुआ। भवभूति जिसका वर्णन करने में श्लोक के श्लोक लगा देते हैं, कालिदास

उसे एक छोटे-से आधे वाक्य में पूरा कर देते हैं। भाषा के प्रयोग में भी कालिदास की सूक्ष्मदर्शिता प्रकट हो जाती है। सिपाही की भाषा, मछुए की भाषा, स्त्रियों की भाषा—सबके सूक्ष्म भेदों की ओर उनकी पैनी दृष्टि गई थी। भवभूति की भाषा में यह बारीकी नहीं मिलती।

शृंगार रस की उद्भावना में कालिदास अद्वितीय हैं। किशोर-हृदय में रति की स्थापना से लेकर उसके विकास और परिपाक की समस्त अवस्थाओं का चित्रण करने में वे सिद्धहस्त हैं। वियोग-शृंगार और करुण-रस की कोमल भावना 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के चतुर्थ अंक में जैसी प्रस्फुटित हुई है, वह अपने ढंग की अनुपम है। शकुन्तला के कण्व के आश्रम से विदा होते समय का यह दृश्य है। वृक्ष और लता-गुल्म भी शकुन्तला के वियोग से विक्षुब्ध दिखाये गये हैं। कालिदास में प्रकृतिचित्रण भी उच्च कोटि का पाया जाता है। हास्य रस की योजना में भी कालिदास कहीं भद्दापन नहीं आने देते। नृत्य और संगीत कलाओं के भी वे ज्ञाता थे।

कालिदास के नाटकों में कीथ ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' को सर्वोच्च पद प्रदान किया है। उनके दो अन्य नाटक 'मालविकाग्निमित्र' और 'विक्रमोर्वशीय' कला की दृष्टि से 'शाकुन्तल' की बराबरी नहीं कर सकते। कीथ ने—'अभिज्ञान शाकुन्तल' की श्रेष्ठता दिखाते हुए लिखा है कि महाभारत की मूल कथा तो बहुत ही सीधी-सादी है। उसे कालिदास ने अपने नाटक में रूपों-रंगों से सुसज्जित कर दिया है। महाभारत की कथा इस प्रकार है कि शकुन्तला के आश्रम में दुष्यन्त आये। कुमारी शकुन्तला अपने उच्च वंश का वर्णन दुष्यन्त से करती ह। दुष्यन्त विवाह का प्रस्ताव करते हैं। शकुन्तला चतुर नारी की भाँति यह वचन उनसे उसी समय ले लेती है कि उसीका लड़का राज्याधिकारी होगा। दुष्यन्त इसे स्वीकार करते हैं और शकुन्तला से मिलकर अपनी राजधानी वापस जाते हैं। शकुन्तला को पुत्र उत्पन्न होता है। कुछ काल पश्चात् माता और पुत्र दुष्यन्त के यहाँ उपस्थित होते हैं। साथ में आश्रम के साधु भी हैं। राजा दुष्यन्त राजनीतिज्ञता का परिचय देते हैं—शकुन्तला को पहचान कर भी नहीं पहचानते। शकुन्तला कठोर अभिशाप की धमकी और अपने उच्च कुल की बार-बार दुहाई देती है। अंत में आकाशवाणी होती है कि शकुन्तला दुष्यन्त की परिणीता पत्नी है और उसका पुत्र राज्याधिकारी है। यही दुष्यन्त को अभीष्ट था। वे अपनी पत्नी और पुत्र को ग्रहण करते

हैं—यह कहते हुए कि आकाशवाणी की ही वे प्रतीक्षा कर रहे थे, अब शकुन्तला के पुत्र को युवराजपद देने में कोई आपत्ति न हो सकेगी।

कहाँ यह मोटी कथा और कहाँ 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में उसका सँवारा हुआ अनुपम स्वरूप! नाटक की लज्जावती नायिका अपने उच्च कुल का निर्देश करने में भी हिचकती है। उसकी सखियाँ तक स्पष्ट नहीं कह सकतीं। नवोढ़ा शकुन्तला का नवोदित प्रेम अनुपम क्षमता के साथ चित्रित किया गया है। दुष्यन्त का शकुन्तला को न पहचानने की मोटी कथा महाभारत में आई है, उसे सुन्दर और सार्थक बनाने के लिए कालिदास ने दुर्वाशा के शाप की योजना की है। और शाप भी अकारण नहीं है, शकुन्तला के प्रेमोन्माद का फल है—कर्त्तव्य की सूचना का स्थायी स्मारक है। अस्वीकृति के समय नाटक में शकुन्तला का व्यवहार अत्यन्त शिष्ट और प्रसंगानुकूल है। नारी और बनवासिनी नारी के लिए सर्वथा समीचीन है। दुष्यन्त का चरित्र सदोष नहीं है; अतः उसे अन्त में शकुन्तला, उसकी परिणीता भार्या, मिलनी चाहिए। इसीलिए शाप की रक्षा भी हुई और अन्त में अँगूठी मिल जाने पर अभिज्ञान भी हुआ। यहाँ से अन्त तक का दृश्य पवित्र प्रेम की तपोमयी ज्योति से ज्योतित है—न केवल दुष्यन्त के पक्ष में, शकुन्तला से पक्ष में भी। और अन्तिम मिलन नारी और पुरुष का—सुन्दर वीर बालक उपहार के साथ—स्वर्गीय अनुपमता लिए हुए है।

केवल कथा में तथा नायक-नायिका के चित्रण में ही विशेषता नहीं है। कालिदास की कला नाटक के अन्य पात्रों की सृष्टि में भी देखी जाती है। कण्व का चित्रण दुर्वाशा के विपरीत, एक सरल सन्तानहीन साधु का वात्सल्यमय स्वरूप दिखाता है। इसी प्रकार मारीच के चित्रण में भी कवि की सुन्दर कला प्रदर्शित हुई है। शकुन्तला की सखियाँ अनसूया और प्रियंवदा कवि की कोमल लेखनी की उपज हैं—अनसूया अनुभूति-प्रवण और गंभीर है, प्रियंवदा मिष्टभाषिणी और हँसमुख। इसी प्रकार शारंगरव और शारद्वत के चित्रणों में भी संन्यासी स्वभाव की दो पृथक्-पृथक् विशेषताएँ परिलक्षित हुई हैं।

अद्भुत रस की योजना के लिए अलौकिक दृश्य 'विक्रमोर्वशीय' की भाँति सीमा के बाहर नहीं गये। केवल एक स्थान पर नाटक के अन्त में स्वर्ग में शकुन्तला का आश्रम दिखाया गया है। प्रतीकात्मक दृष्टि से भी शकुन्तला और दुष्यन्त का यह स्वर्गीय मिलन अत्यन्त स्वाभाविक है

अंगूठी के खोने और फिर से मिल जाने की योजना भी कथा-सूत्र में सुन्दर विधि से गुम्फित हुई है। किसी अंश में कोई त्रुटि नहीं दिखाई देती।

किन्तु, इतनी प्रशंसा कर चुकने के पश्चात्, कीथ साहब को सहसा यूनानी नाटक फिर याद आ गये और वे एक बार फिर भारतीय नाटकों पर विरक्त हो उठे। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की मृदुल कल्पना, और रचना भी उनका परितोष न कर सकी। पश्चिम को पूर्व से श्रेष्ठता दिये बिना कैसे काम चलता! फलतः बहुत कुछ अप्रासंगिक रूप में और ऊपर की प्रशंसा से किसी प्रकार मेल न खाने वाली बातें कीथ साहब के मुँह से निकल पड़ीं। वे कहते हैं:—

"कालिदास की रचना अत्यन्त प्रशंसनीय है; किन्तु इस तथ्य को भुला देना अनुचित होगा कि उनके नाटकों में तथा काव्यों में जीवन और भाग्य की महान् समस्याएं उपस्थित नहीं हुईं। जर्मनी के महाकवि गेटे ने कालिदास के संबंध में प्रशंसा के जो महान् शब्द लिखे हैं और अँगरेजों में भी सर विलियम जॉन्स ने कालिदास की जो तुलना शेक्सपियर से की है, वे ठीक हैं; किन्तु अपने समय की ब्राह्मण जातीय विशेषताओं के अनुयायी होने के कारण कालिदास की रचना में जो अनिवार्य संकीर्णता आ गयी है, उसकी ओर से हम अपनी आँखें नहीं मूंद सकते। कालिदास को यह विश्वास था कि एक न्यायकारिणी अदृष्ट सत्ता का अस्तित्व है, जो सृष्टि पर शासन करती है। अतः वह संसार के दुःखों और वैषम्यों से भरे भयावह स्वरूप को नहीं देख पाया, बहुसंख्यक मनुष्यों की आर्त्त जीवनी के प्रति सहानुभूति से प्रेरित न हो सका और संसार में फैले हुए व्यापक अन्याय की ओर दृष्टि न दौड़ा सका। वह अपनी ब्राह्मण-दार्शनिकता के संकुचित दायरे से ऊपर न उठ पाया। फिर भी हम कृतज्ञ हैं (किसके?) कि सिद्धान्तों से अवरुद्ध होते हुए भी कालिदास ने 'शकुन्तला' जैसी स्थायी गुणों वाली और लोकव्यापी प्रभावशाली रचना की, जो निष्प्रभ अनुवादों में भी संसार द्वारा एक महान् कलाकृति स्वीकार की जा चुकी है।"

ये पंक्तियाँ अपनी कथा आप ही कहती हैं। कीथ का हृदय 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से अभिभूत है, फिर भी उसकी लेखनी जो कुछ लिख जाती है उसका उत्तरदायित्व किस पर है? उसका उत्तरदायित्व है पूर्व और

पश्चिम के बीच नीच-ऊंच का कृत्रिम भेद करनेवाली साम्राज्यवादी मनोवृत्ति पर। दूसरे क्षेत्रों से यह मनोवृत्ति चाहे जब हटे, साहित्य-क्षेत्र से इसका शीघ्र से शीघ्र दूर होना अत्यावश्यक है। जब तक यह मनोवृत्ति है, तब तक कीथ जैसे विद्वानों की लेखनी भी परस्पर विरोधी तथ्यों का निरूपण करने को बाध्य रहेगी। विद्या के क्षेत्र में यह बात शोभनीय नहीं है।

संस्कृत नाटकों के स्वरूप पर कीथ का जो मत ऊपर उद्धृत है, वह उसके पांडित्य का परिचायक है; किन्तु भारतीय नाटकों के इस स्वतंत्र स्वरूप में जो विशेषताएँ हैं, उनकी ओर कीथ की निगाह नहीं गयी और न तब तक जा सकती है जब तक यह वैषम्य बना है। पाश्चात्य और प्राच्य नाटक के इस स्वतंत्र स्वरूप में भेद होते हुए भी दोनों की अपनी अलग-अलग विशेषताएं भी हैं। कीथ की दृष्टि केवल त्रुटियों पर गयी है, किन्तु उसने पाश्चात्य नाटक और विशेषतः यूनानी नाटक की स्थूल संघर्ष में टिकने वाली भावना में कोई त्रुटि नहीं देखी। पाश्चात्य विद्वानों के ही प्रामाणिक ग्रन्थों में यूनानी नाटक की इस स्थूलता का (Force against force की मूल भित्ति का) उल्लेख किया गया है। यदि एक में एक प्रकार की त्रुटियाँ हैं, तो दूसरे में दूसरे प्रकार की। किन्तु, सच पूछिए तो यह बहुत कुछ पूर्व और पश्चिम की अपनी-अपनी प्रकृति है। एक दूसरे के दोष-दर्शन की अपेक्षा यदि तटस्थ और वैज्ञानिक दृष्टि से दोनों के गुणों और विशेषताओं का अनुशीलन किया जाय, तो साहित्य का ही नहीं, मनुष्यता और मानव-संस्कृति का कहीं अधिक कल्याण हो सकता है।

यहां संक्षेप में हम यह उल्लेख करना चाहते हैं कि कीथ साहब ने संस्कृत नाटकों की जो त्रुटियां प्रदर्शित की हैं, उनमें अतिरंजना अधिक है और तथ्य को जानने का प्रयत्न कम। संस्कृत और भारतीय नाटकों का सुखान्त होना भारतीयों की काल्पनिक दृष्टि का परिणाम है, जो जीवन के कठोर यथार्थ और वास्तविकता से अपरिचित रही है, कीथ का यह कथन भारतीय नाटक के लिए अन्यायपूर्ण है। भारतीय नाटक सुखात्मक और दुःखात्मक दृश्यों के प्रदर्शन में समान अभिरुचि और सामर्थ्य रखता है। स्वयं भारतीय नाटक इसके प्रमाण हैं। भारतीय नाटक दुःखान्त नहीं होते, इसका यह अर्थ नहीं कि दुःख, करुणा या जीवन की कुरूप वास्तविकता से वे अपरिचित होते हैं। वास्तव में

संस्कृत नाटक करुणा, संवेदना और जीवन-संघर्ष की भावना से भरे हुए हैं। नाटक की परिसमाप्ति सुख में होने का अर्थ इतना ही है कि भारतीय नाटक अपने दर्शकों की भावना का ध्यान रखता है और उन्हें प्रेक्षागृह से प्रसन्नतापूर्वक और खुशी-खुशी घर भेजने का शिष्टाचार बरतता है। यह भारतीय नाटक की एक विधि, व्यवस्था या शैली-मात्र है। इसका इससे अधिक अर्थ लेना अप्रासंगिक और अनुचित है।

भारतीय नाटकों की यह सुखान्त व्यवस्था नाटक पर भारतीय दर्शनों के शासन या अधिकार की परिचायक है, यह कहना भी वास्तविकता से दूर जाना है। भारतीय दर्शन परलोक और पुनर्जन्म को मानते हैं, पर वे यह कहीं नहीं कहते कि इस संसार में भले का परिणाम सदैव भला ही होता है। संसार की कठोर और कटु वास्तविकताओं और अनर्थों की स्वीकृति ही भारतीय दार्शनिकों को पुनर्जन्म का विश्वास कराती है। ऐसी अवस्था में भारतीय दार्शनिकता दुःखान्त नाट्य सृष्टि का विरोध क्यों करेगी? यह बात कहीं सुनने में नहीं आई कि भारतीय दर्शन सुख की काल्पनिक प्रतिष्ठा के लिए सत्य की अवहेलना करते हैं। सच तो यह है कि भारतीय दर्शन सुख और दुःख दोनों को एक ही श्रेणी की वस्तु मानते हैं और उनमें कोई तात्विक अंतर नहीं देखते। ऐसी अवस्था में वे सुखान्त या दुःखान्त नाटकों की सृष्टि में कोई अनावश्यक विरोध क्यों देखने लगे! इस संबंध में ध्यान देने की बात यह भी है कि काव्य और साहित्य के संबंध में भारतीयों की यह सदा से धारणा रही है कि वह आदर्शात्मक वस्तु है, केवल जीवन की साधारण वास्तविकता की अनुकृति नहीं है। यह आदर्शवादी धारणा और दृष्टिकोण ही भारतीय नाटकों को कुरूप और भोंड़े यथार्थ के स्थान पर ऊँची भावनात्मक और आदर्शात्मक प्रेरणा देता रहा है। परन्तु यह आदर्शात्मकता इस हद तक कभी नहीं गई कि वह मानव-जीवन की वास्तविकता और उसके अनिवार्य संघर्षों और दुःखों की अवहेलना करे। जीवन के सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष भारतीय नाटककारों की दृष्टि में सदैव रहे हैं।

भारतीय नाटककार 'रस' को काव्य की आत्मा मानते हैं और रस को अलौकिक आनन्द-स्वरूप कहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि रस के आग्रह से नाटक में केवल सुखात्मक दृश्य ही दिखाए जा सकते हैं।

ऐसा समझना रस के तत्त्व और स्वरूप से अनभिज्ञता सूचित करना है। 'रस' तो काव्यानुभूति का दूसरा नाम है, वह अनुभूति सुखात्मक दृश्यों पर अवलंबित रह सकती है और दुःखात्मक दृश्यों पर भी। रस का सम्बन्ध काव्यानुभूति और काव्यकला से है। जीवन के किसी क्षेत्र की सीमा बाँधना और उसे काव्य के लिए वर्जित या वहिष्कृत करना, 'रस' के विधायकों का काम नहीं है। 'रस' की सत्ता किसी नीतिवाद पर भी प्रतिष्ठित नहीं, जिसमें जीवन के सत् और असत् दो स्थूल पक्ष हो जाते हैं और रस का आस्वाद सत् पक्ष या नैतिकता पर आश्रित हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह निर्देश कि 'राम' के काव्यात्मक निरूपण में ही पाठकों या श्रोताओं को रस मिलता है, रावण के निरूपण में नहीं, कदाचित् ऐसे ही नीतिवाद पर आश्रित है। परन्तु प्राचीन भारतीय आचार्यों की 'रस'-धारणा इतनी सीमित और स्थूल नहीं थी। ध्वनि-सिद्धान्त के आग्रह से काव्यमात्र में 'रस' की सत्ता सिद्ध होती है। काव्य में राम और रावण, सत् और असत् सुख और दुःख सभी कल्पना और अनुभूति के विषय बन कर आते हैं—अतएव वे सभी काव्यजगत् में आस्वाद्य हैं। रस-सिद्धान्त की यह व्यापकता कीथ साहब की तत्सम्बन्धी धारणा से एकदम विपरीत पड़ती है। उनका मत है कि 'रस' भारतीय दार्शनिक मतवाद का अनुचर है, पर हमारी दृष्टि में रस, अतिशय स्वतंत्र, सार्वजनिक तथा अव्याहत काव्यतत्त्व है।

भारतीय नाटकों के चरित्र-चित्रण और वस्तुविन्यास-संबंधी कीथ साहब के आक्षेपों के उत्तर में हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि भारतीय नाटक रस या भावानुभूति को अपना मुख्य तत्त्व मानता है, चरित्र-निर्देश उसके लिए अपेक्षाकृत गौण वस्तु है, और वस्तु-विन्यास और भी ऊपरी तथ्य है। ठीक इसके विपरीत पश्चिमी नाटक वस्तु या कथानक को नाटक का सर्व प्रमुख तत्त्व मानता है और चरित्र-चित्रण को दूसरा स्थान देता है (यद्यपि इन दोनों की प्रमुखता के प्रश्न को लेकर भी वहां पर्याप्त मतभेद है)। रसात्मक आस्वाद या सौन्दर्य-बोध को पश्चिमी नाटक बहुत दिनों तक स्वतंत्र तत्त्व मानते ही न थे। इसका कारण यह है कि काव्य की रसात्मक या सौन्दर्य-विधायिनी सत्ता की स्वतंत्र प्रतीति पश्चिम में बहुत बाद को हुई और काव्यानुभूति एक विशिष्ट आध्यात्मिक

तथ्य है, यह निर्णय तो और भी नया है । भले ही अरिस्टोट्ल ने 'कला' के रूप में एक स्वतंत्र वस्तु व्यापार का निर्देश किया हो, पर उस कला-वस्तु का तात्त्विक स्वरूप क्या है, इसकी जानकारी यूरोप में बहुत बाद को हुई । भारत में 'रस' सिद्धान्त की स्थापना द्वारा काव्य के आनन्दात्मक (सौन्दर्यमूलक) स्वरूप की अभिज्ञता बहुत पहले हो चुकी थी । इसीलिए भारतीय नाटककार रस को नाटक की आत्मा मानकर अन्य तत्त्वों को उसका अनुवर्ती साधक या सहायक मानते रहे हैं ।

आज भी भारतीय नाट्य धारणा ही अधिक तात्त्विक और तथ्यपूर्ण कही जा सकती है । नाटक में चरित्र-चित्रण और स्वभावनिरूपण अंततः साधन ही है, साध्य नहीं । मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य को सूक्ष्म विशेषताओं का चित्रण कितना ही मार्मिक क्यों न हो, काव्य में वस्तु-चित्र मात्र है । वह काव्योपयोगी तभी होगा जब कवि या नाटककार की मूलवर्ती भावसत्ता या कला का अंग बन कर आवे, काव्य में अंतर्भुक्त हो जाय । मानवप्रकृति की यथार्थवादी खोज अंततः विज्ञान का विषय है । पश्चिमी विचारक भले ही उसे काव्य के लिए सब कुछ मान लें, परंतु वह सारी मार्मिकता और वैज्ञानिकता कवि-कल्पना का समुचित अंग न होने पर निरी निरर्थक भी हो सकती है, इस अनिवार्य तथ्य को भी स्वीकार करना ही होगा । वस्तु या घटनाओं की स्वाभाविकता या अस्वाभाविकता के संबंध में भी यह जान लेना चाहिए कि देवताओं और स्वर्ग आदि का नाटक में अवतरण उतना अस्वाभाविक नहीं जितना समझा जाता है । आखिर देवता-गण रंगमंच के अंतर्गत मनुष्य रूप में आते थे, और मानवीय वृत्तियों का ही प्रदर्शन करते थे । स्वर्गलोक भी रंगमंच के ही भीतर सजाया जाता था । साधारण मनुष्यों से वे कुछ अधिक सौम्य रूप में उपस्थित किए जाते थे और स्वर्ग भी मनोरम भू-खंड का ही स्वरूप ग्रहण करता था । अतएव देवता और स्वर्ग के नामों से ही अस्वाभाविकता की कल्पना कर लेना उचित नहीं । नाटक में नाट्य वस्तु की कल्पना और उसकी अवतारणा किस रूप में की गई है, यह प्रश्न प्रमुख है । नाटक की वस्तु का ऊपरी रूपरेखा की अपेक्षा उसका कल्पनात्मक ग्रहण कैसा हुआ है, यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। वस्तु के नाम रूप और उसके ऊपरी स्वरूप के आधार पर कुछ निर्णय करना जड़ मशीन को चेतन मनुष्य से बढ़ कर मानने के समान अज्ञतापूर्ण है । अंत में सिद्ध यही होता

है कि कविकल्पना और काव्यात्मक अनुभूति ही सब कुछ है, और वस्तु तथा चरित्रचित्रण आदि उसके उपकरण या प्रसाधन-मात्र हैं। यदि कवि की कल्पना पर किसी प्रकार का बंधन नहीं लगाया जा सकता, तो वस्तु और चरित्र की कोई सुनिश्चित रूप-रेखा भी निर्धारित नहीं की जा सकती। अतः वस्तु और चरित्र की अपेक्षा रस अथवा भावानुभूति को प्रमुख तत्त्व मानना साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा संगत है।

वर्तमान युग विज्ञान और यथार्थवाद का है। काव्य और नाटक की शैलियाँ विज्ञान और यथार्थ का आधार ले रही हैं। रंगमंच पर अनेक ऐसी वस्तुओं और पदार्थों का प्रदर्शन किया जा रहा है, जो पूर्व काल में संभव नहीं था। कला में यथार्थवादिता और वास्तविकता का प्रभाव बढ़ रहा है। ऐसी अवस्था में भारतीय नाटकों का प्राचीन विधान आज के समीक्षक को कल्पना-प्रधान और अवास्तविक प्रतीत हो, यह असंभव या अस्वाभाविक नहीं। भारतीय नाटक आज समय के अनुसार अपना स्वरूप परिवर्तन भी कर रहा है।

रंगमंच की दृष्टि से भी भारतीय नाटक को पश्चिम से बहुत कुछ सीखना और बहुत कुछ ग्रहण करना है। समय की दौड़ में हम जितना पिछड़ चुके हैं उसकी पूर्ति तो हमें करनी ही होगी। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपनी पूर्ववर्ती और प्राचीन परंपरा को बेकार मानकर उसे एक किनारे रख दें। उसका उचित उपयोग हम करेंगे। जहां तक सैद्धान्तिक विवेचन का प्रश्न है, भारतीय आचार्यों का नाटक-संबंधी सैद्धान्तिक विवेचन अनेक अंशों में मान्य और प्रामाणिक है। हमें अपनी प्राचीन परंपरा की पूरी जानकारी होनी चाहिए। तभी हमें उसका समुचित गर्व और गौरव होगा।

नाटकों में संस्कृत भाषा और प्रगीतों के प्रयोग पर भी कीथ साहब ने आक्षेप किया है। भाषा के संबंध में कोई क्या कह सकता है! उस समय के सभ्य समाज की वही भाषा थी। साधारण जनता संस्कृत नाटकों का उपयोग नहीं कर सकी, यह हमारा दुर्भाग्य रहा है। परंतु यह तो एक अनिवार्य स्थिति थी। ग्रीक और लैटिन भाषाओं का साहित्य भी प्राचीन यूरोप में कितने लोगों द्वारा समझा जाता था? प्राकृत और अपभ्रंश के प्रयोगों को संस्कृत के साथ जोड़ कर भारतीय नाटककारों ने फिर भी सामान्य जनता के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय दिया था। क्या ग्रीक और लैटिन नाटककरों ने इतना भी किया?

नाटक में प्रगीत काव्य का संनिवेश कोई बुरी वस्तु नहीं है। प्राचीन नाटक प्रायः भावपूर्ण और काव्यात्मक होते थे। उनमें प्रगीत-मुक्तक बड़ी स्वाभाविकता के साथ और प्रभाववृद्धि के उद्देश्य से जुड़े रहते थे। नाटक की कथावस्तु का उनसे कोई विरोध नहीं था। भारतीय नाटक नाट्य व्यापार को तीव्र और गतिशील बनाने के पक्ष में उतने न थे। वे नाटक में रमना जानते थे, घटनाओं के साथ दौड़ लगाना नहीं।

'प्रसाद' के नाटक

(सामान्य विशेषताएँ)

'प्रसाद' के नाटकों को हम ऐसी श्रेणी में नहीं रख सकते जो स्वतंत्र नाटकों की श्रेणी कहला सके, अर्थात् जिसमें पात्र, घटना तथा वस्तु का विन्यास पूर्णतः स्वाधीनरूप में किया गया हो। शेक्सपियर के नाटकों अथवा उसकी 'ट्रेजिडी' के पात्र यदि ऐतिहासिक हैं, तो भी गौणरूप में। किन्तु प्रसादजी ने कुछ पूर्व-निश्चित घटनाओं या कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों को लेकर अपनी नाट्यरचनाएँ की हैं।

कला यदि मानव-कल्पना का परिणाम है तो स्वतंत्र कल्पना में जो इतिहास-संबंधी या अन्य प्रतिबंध लगेंगे, वे बाधा ही उपस्थित करेंगे।

प्रसादजी के नाटक ऐतिहासिक कोटि के भीतर आते हैं, वे कल्पना प्रधान नाटकों की कोटि से भिन्न हैं। प्रसाद के नाटक काल्पनिक और स्वतंत्र नहीं, वे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक हैं। केवल 'एक घूंट' और 'कामना' नाटकों में प्रसादजी ने इतिहास का कोई प्रतिबंध नहीं रखा, उनके पात्र ऐतिहासिक नहीं हैं। किन्तु बंधन वहां भी है, 'कामना' और 'एक घूंट' प्रतीकात्मक नाटक हैं। उनमें मानव-वृत्तियों का वह संघर्ष नहीं है जो स्वतंत्र नाटक में हो सकता है।

यही कारण है कि प्रसाद के नाटक आलंकारिक कोटि में ही परिगणित होंगे। ऐतिहासिक नाटककार विशुद्ध नाट्य-रचयिता की कोटि में नहीं आ सकता। वह ऐतिहासिक पात्रों को ऐतिहासिक घटनाओं के अनुसार ढालने का प्रयत्न करता है। उसे अतीत की घटनाओं का अनुवर्तन करना पड़ता है। जिस निर्माण में पूर्ण स्वतंत्रता न हो, वह अवश्य ही एक प्रतिबंध के रूप में उपस्थित होता है। प्रसाद ने अपने नाटकों में इतिहास का बंधन स्वीकार करते हुए भी ऐसे पात्रों और चरित्रों की योजना की है जो ऐतिहासिक नहीं हैं। नाटकों में ऐतिहासिक घटनावाली के अतिरिक्त जो अनुरंजकता आई है, वह बहुत कुछ इसी स्वतंत्र कल्पना का परिणाम है। प्रसाद ने ऐतिहासिक घटनाक्रम का बोझ स्वीकार करते हुए भी अपने पात्रों को सजीव और व्यक्तित्व-

संपन्न बनाया ह । उनके सभी पात्र अपनी विशेषता रखते हैं। नाटकीय पात्रों में यह व्यक्तित्व-स्थापन या चरित्र-निरूपण का प्रयत्न हिन्दी नाटकों के विकास की एक ऐसी कड़ी है, जो हिन्दी के नाटककारों में प्रसाद जी का स्वतंत्र स्थान निर्धारित करतो हैं।

ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते हुए भी देश के तत्कालीन संपूर्ण राष्ट्रीय वातावरण का भी उन्होंने निर्माण किया है। वहां भी युग की वस्तु से भिन्न कोई वस्तु वे नहीं लाए हैं। उनके नाटकों में इसी कारण एक भास्वरता और सम्पन्नता है।

उन्होंने ऐसे चरित्र रचे हैं जो ऐतिहासिक परिस्थिति को चित्रित कर सकें और साथ ही जिनमें नाटकीय चरित्र बनने की क्षमता है। उन्होंने काल्पनिक पात्रों का ऐतिहासिक पात्रों से योग किया है। प्रसादजी कवि थे, इसलिए वस्तुविन्यास उनकी विशेषता नहीं है। चरित्रों की सजीवता और बहुरूपता उनका सर्वप्रथम गुण है। व्यक्ति के चित्रों के अंकन में उन्हें अधिक सफलता मिली है। चरित्र निर्माण-संबंधी उनकी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने सभी पात्रों में अलग व्यक्तित्व-योजना का ध्यान रखा है।

देश और काल का चित्रण करने में प्रसादजी ने पात्रों का प्रयोग किया है। तत्कालीन युगों की सामाजिक और सांस्कृतिक विकास-धाराओं का चित्रण प्रसादजी ने किया है। यही कारण है कि उनके नाटक पात्र-बहुल हैं।

उनके सभी नाटक सांस्कृतिक हैं, वे देश की समृद्धि के प्रतिरूप हैं। उनमें केवल यथातथ्य चित्रण नहीं है, वे केवल इतिहास का चित्रण करने वाले नाटक नहीं हैं, उनका सांस्कृतिक पक्ष भी है। उनमें वर्तमान और भविष्य की छाया विद्यमान है। कोरे ऐतिहासिक नाटककार के लिए यह कार्य संभव नहीं होता। प्रसाद में चरित्र-निर्माण द्वारा भविष्य में भी उनकी छाया फेंकने का सामर्थ्य था। उनके पात्र मृत अतीत के निर्देशक नहीं हैं, वर्तमान के लिए भी वे सन्देश लिए हैं।

नाटक में एक ही मुख्य घटना-प्रवाह रहता है। यदि नाटक दुःखान्त है, तो दुःखान्त घटना को लक्ष्य बना कर नाटक रचा जायगा। इसी प्रकार सुखान्त नाटक का लक्ष्य भी सुखान्त घटना की योजना करना होता है। नाटक एक ही मूल घटना में केंद्रिन्त होगा, नाटक का आरंभ और

चरम विकास एक ही सूत्र में बंधा होना चाहिए। यह तभी संभव है जब लेखक सर्वथा ऐतिहासिक बंधनों में न बँधा हो; उसमें निर्माण की स्वतंत्रता के लिए स्थान हो।

प्रसादजी का आदर्श स्वतंत्र नाटकीय कृति प्रस्तुत करने का नहीं है। जीवन के मर्म को लेकर जो कुछ उन्हें कहना था वह उन्होंने अपनी कविता में यथास्थान कहा है। इनके नाटक इतिहास को चित्रित करने के लिए हैं। ऐतिहासिक नाटकों के प्रतिबंधों को ध्यान में रखकर प्रसादजी को नाटक लिखने पड़े हैं।

अभिनय की विशेषताओं से भी नाटकों की सृष्टि बँधी होती है। नाटककार को रंगमंच की सुविधा के अनुसार चलना पड़ता है। रंगमंच का क्रमशः विकास होता चला आया है। इसी के अनुसार नाटकीय कला भी परिवर्तित होती चली गई है। नाटक को दर्शकों को यथार्थता का आभास देना है, नाटक इसी मुख्य लक्ष्य को ध्यान में रखकर सामने आते हैं। वास्तविकता की ओर नाटक बढ़ता है। आज का साहित्यिक नाटक जीवन का यथार्थ चित्र होता है, उसके अभिनय में कोई ऐसी बात नहीं होती जिससे मालूम पड़े कि वह अभिनय है। यथार्थ का बोध करने वाली वस्तु-योजना ही नाटक में स्थान पा सकती है। परन्तु प्रसादजी के नाटक यथार्थवाद की इस पद्धति का अनुसरण नहीं करते।

परन्तु साथ ही यदि हम ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत के नाट्यशास्त्र के आधार पर प्रसादजी के नाटकों की व्याख्या करने लगेंगे, तो भी समय के अनिवार्य प्रवाह की उपेक्षा करनी होगी। प्रसादजी ने ध्यान रखा है कि उनके नाटक आधुनिक युग और आधुनिक रंगमंच के अनुकूल हों। यदि उनके नाटक नई नाट्यशैली का पूरी तरह अनुवर्तन नहीं करते, तो वे पुराने नाट्य-प्रकार के अनुकरण से भी दूर हैं।

इनके नाटकों के कोई एक लक्ष्य या केन्द्र नहीं रहता जिस पर सारी घटनाएं केन्द्रित हों। ये Biographical अथवा जीवनी-प्रधान नाटक हैं और प्रत्येक नाटक में एक व्यक्ति के ही नहीं, परन्तु अनेक व्यक्तियों की जीवन-घटनाएं हैं। इन नाटकों की घटनाएं उपन्यास का अच्छा विषय बन सकती थीं।

ऐतिहासिक नाटकों के दो प्रतिबंध होते हैं—प्रथम कला-सम्बन्धी और

दूसरा इतिहास-सम्बन्धी। यदि कोई नाटककार इन दोनों का सामंजस्य स्थापित कर सकता है, तो वह पूर्णतः सफल ऐतिहासिक नाटककार होगा। नाटकों में व्यापार-संकलन प्रधान कार्य है। ऐतिहासिक नाटकों में समय, स्थान और कार्य संकलन का बराबर ध्यान रखना पड़ता है, परन्तु प्रसादजी के नाटकों में सर्वत्र ऐसी बात नहीं है। उनके नाटकों में औपन्यासिक गुण अधिक हैं। उपन्यासों का मुख्य कार्य अनेक चरित्रों का वर्णन करना है। इसके अतिरिक्त उपन्यासकार पर समय की परिधि का उतना प्रतिबंध नहीं रहता। नाटक में अनेक स्थान होने से प्रभाव बिखर जाता है। अतः स्थान और घटनाओं का केन्द्रीकरण करने में भी इस प्रकार से पूर्ण सफलता मिलनी कठिन होती है।

प्रसादजी के नाटकों को देखने से यह ज्ञात होता है कि वे दुःखान्त घटना को अपने नाटकों में स्थान नहीं देते। इसका कारण यह है कि भारतीय नाट्य-परंपरा को वे तोड़ नहीं सके। स्कंदगुप्त का सारा उपक्रम विफलता की ओर दौड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। स्कंदगुप्त के मार्ग में कठिनाइयां इतनी विराट् हैं कि स्कंदगुप्त का चरित्र इन विरोधी परिस्थितियों के समकक्ष खड़ा होकर हमारा दयापात्र बन जाता है। सदैव कठिनाई ही उसके सामने खड़ी दीखती है और उसकी विजय की आशा नहीं रह जाती। अंतिम अंक में स्कन्द की समस्त आशाओं पर पानी फिर चुका है और उसका समस्त प्रयास विफलता में परिणत हो चुका है, फिर भी प्रसादजी ने अन्तिम दृश्यों में उसकी विजय दिखाई है।

स्कंदगुप्त की विफलता वास्तविक विफलता है। स्कंदगुप्त नाटक में प्रत्येक अंक के बाद उसकी पराजय देखते हुए हमें यह भान नहीं होता कि वह सफल होगा। यह योजना कला की दृष्टि से उत्कर्षमूलक नहीं है। यह हमें उनकी पूर्व की कृतियों में नहीं मिलता, परंतु यह इतने प्रौढ़ नाटक में मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि वे नाटक को सुखान्त बनाना चाहते थे। उन्होंने भारतीयता की रक्षा के लिये ही यह योजना की, भारतीय परंपरा का त्याग वे नहीं कर सके।

प्रसादजी के नाटकों की एक अन्य विशेषता है उनका देश-प्रेम-संबंधी भाव, जिसे उन्होंने अतीत का आधार लेकर अंकित किया है। वे द्विजेंद्रलाल राय की भाँति मध्ययुगीन पात्रों तक ही सीमित नहीं रहे हैं। उन्होंने सुदूर अतीत के पात्रों को भी स्थान दिया है और वहाँ भी

पौराणिक की अपेक्षा ऐतिहासिक युगों की घटनाओं का चयन किया है। प्रसादजी ने पौराणिक आख्यान को अधिक नहीं अपनाया। यदि वे ऐसा करते, तो वह कदाचित् अधिक प्रामाणिक भूमि पर न आ पाते। उनके नाटकों में अतीत युग की भारतीय वीरता और संस्कृति की इतिहास-संमत व्याख्याएं और चित्र मिलते हैं।

प्रसादजी के नाटकों की एक अन्य विशेषता है उन युगों की सामाजिक और दार्शनिक विचारधाराओं के निर्देश करने की। दर्शन को प्रसादजी ने सर्वत्र अपने साथ रखने का प्रयत्न किया है। उनके नाटकों में भी दर्शन है। कहीं-कहीं उनकी दार्शनिकता उनकी नाटकीय कलात्मकता में विघ्न भी उपस्थित करती है, फिर भी उन्होंने उत्कृष्ट दार्शनिक भावना को नहीं छोड़ा। उन्होंने एक ही पौराणिक नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' लिखा है, किन्तु उसमें भी विशेष प्रकार का दार्शनिक संघर्ष है। 'चंद्रगुप्त' में चाणक्य और दाण्ड्यायन प्रसादजी के दर्शन को उपस्थित करते हैं। प्रेममूलक दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए प्रसादजी ने नारी-चरित्रों का निर्माण किया है। 'अजातशत्रु' और 'विशाख' में बौद्ध दार्शनिकता की झलक मिलती है। 'ध्रुवस्वामिनी' में सामयिक समस्या अर्थात् विच्छेद की समस्या प्रस्तुत की गई है। उनके समस्त नाटकों में बौद्धिक उपक्रम और दार्शनिक अंतर्धारा व्याप्त है।

प्रसादजी ने 'कामना' नाटक में मानवीय मनोवृत्तियों को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। मनोवृत्तियों को चित्रित करने का उनका प्रयास संस्कृत के प्रबोध-चंद्रोदय नाटक के पश्चात् सबसे महत्त्वपूर्ण है।

प्रसादजी के नाटकों का देश-काल पर्याप्त विस्तृत है। किस युग में किन संप्रदायों का उद्भव और विकास हुआ; धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा जीवन-संबंधी अन्य परिस्थितियां कैसी थीं; इसका पूरा आभास उनके नाटकों में मिलता है। इतिहास के आधार पर ही तत्कालीन संस्कृति का निर्माण होता है। इतिहास के उत्थान के युग में संस्कृति का भी उत्थान होता है और ऐतिहासिक ह्रास के युग में संस्कृति का भी अधःपतन हो जाता है। प्रसादजी ने इतिहास के संपूर्ण स्वरूप को अपनाया है। और नाटकीय कला का ध्यान रखते हुए इन सभी ऐतिहासिक अंगों का उल्लेख और संकेत किया है।

प्रसादजी के पात्र देश और काल की भूमि पर दृढ़ रूप से स्थापित प्रतीत होते हैं। उनकी सत्ता ऐकांतिक नहीं है। अतएव प्रसादजी के नाटक हमारी संस्कृति के अध्ययन के लिये भी उपयोगी हो गए हैं। इतिहास से संस्कृति का समन्वय प्रसादजी के नाटकों की प्रमुख विशेषता है। संस्कृतिक का आभास इतिहास के माध्यम द्वारा देते हुए प्रसादजी ने अपने नाटकों में एक सुन्दर सांस्कृतिक धारा का निर्माण किया है जिससे भारतीय संस्कृति के प्रवाह का परिचय मिलता है। ऐसा करते हुए प्रसादजी ने समय-समय पर परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं की है। वरन् भिन्न-भिन्न नाटकों में सांस्कृतिक स्थितियों का यथार्थ रूप देखते हुए भी उस अंतर्धारा का लोप नहीं होने दिया है जिसे हम भारतीय संस्कृति की विकासोन्मुख धारा कह सकते हैं। प्रत्येक नाटक में प्रसादजी ने मुख्य पात्र या नायक को उस युग की सांस्कृतिक समस्याओं का प्रतीक माना है और उसके माध्यम से नवीन सांस्कृतिक निर्माण की सूचना दी है। यही कारण है कि प्रसादजी के नायक आदर्शवादी हैं। वे भिन्न-भिन्न युगों की सांस्कृतिक स्थिति और विकास के प्रतिनिधि स्वरूप हैं।

प्रसादजी के नाटकों की काव्यात्मकता भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शैली और वस्तु दोनों में प्रसादजी के नाटकों में काव्यत्व दृष्टिगोचर होता है। उनकी शैली काव्यात्मक है और पात्रों द्वारा कथित संवादों में भी काव्य की प्रमुखता है। उनमें काव्य-भावना की विशेषता है। किसी कथन को सीधे तरह और निरलंकार रूप में कहने की शैली को प्रसादजी ने नहीं अपनाया। उनके नाटकों में काव्यात्मक वातावरण की पूरी मात्रा रहती है। वर्तमान नाट्य-शैली के अनुसार नाटकों में अधिक से अधिक यथार्थवादिता आवश्यक समझी जाती है। भाषा का स्वरूप भी सामान्य बोल-चाल का आभास देने वाला रहा करता है। प्रसादजी ने अपने नाटकों को यथार्थवादी भूमि पर नहीं रक्खा, उनकी शैली में चमत्कार तथा काव्यात्मकता है। शैली की विशेषता के साथ ही प्रसादजी के संवाद भी भावात्मक हैं, बौद्धिक नहीं; उनमें कोरी बौद्धिकता, सम्भाषणपटुता या उक्ति-वैचित्र्य नहीं है। इस दृष्टि से यद्यपि उन्होंने अपने नाटकों का माध्यम गद्य ही रक्खा है, परंतु वह गद्य कवित्व के अधिक समीप है। पाश्चात्य नाटकों में पद्य

दुःखान्त सृष्टियों के लिए उपयोगी माना गया है, परन्तु प्रसादजी ने अपने सुखान्त नाटकों में भी इसी पद्धति को अपनाया है । यह प्रसादजी की अपनी विशेषता है ।

प्रसादजी के संपूर्ण नाटक मनोवैज्ञानिक आधार लिए हुए हैं । उनका 'कामना' नाटक मनोवृत्तियों की स्वरूपगत विशेषता का उद्घाटन और चित्रण करता है । 'संतोष' और 'विवेक' ये दोनों मनोभाव विनोद और विलास के संघर्ष में प्रदर्शित किए गए हैं । प्रसादजी ने इन वृत्तियों का व्यक्तीकरण करके घटनाओं के विरोध और संघर्ष द्वारा संतोष और विवेक नामक वृत्तियों का उत्कर्ष दिखाया है । मनोवृत्तियों पर नाटक लिखने का उनका यह प्रयास उनकी मनोवैज्ञानिक रुचि का परिचायक है ।

प्रसादजी के नाटकों में चरित्र-चित्रण प्रधान होने का कारण उसके अंगभूत मनोवैज्ञानिक पक्ष का सुन्दर निरूपण है । आरंभिक नाटकों की अपेक्षा उनके प्रौढ़ नाटक इस विशेषता से अधिक समन्वित हैं । मानवजीवन के विविध स्वरूपों और पक्षों के प्रतिनिधि रूप में प्रसाद जी ने अनेक पात्रों की रचना की है । उनके नाटकों में पात्रों की बहुलता के दो कारण हैं । पहला कारण यह है कि ऐतिहासिक स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए अधिक पात्रों की आवश्यकता स्वाभाविक थी; और दूसरा कारण यह है कि मनोवैज्ञानिक विशेषताओं का चित्रण करने के लिए पात्रों की बहुलता आवश्यक थी ।

इन दोनों कारणों से प्रसादजी के नाटकों में वैविध्य और पूर्णता आ गई है, यद्यपि अभिनय की दृष्टि से यह बहुलता कहीं-कहीं बाधक भी बन जाती है । प्रसादजी ने अपने नाटकों में समय की अवधि बड़ी रक्खी है । उनके नाटक कई वर्षों की घटनाओं का समावेश करते हैं । इसका कारण यही है कि प्रसाद जी इतिहास के चित्रणों को प्रस्तुत करना चाहते थे और साथ ही दीर्घ समय के अन्तर्गत चरित्रों की मनोवृत्ति में होने वाले परिवर्तनों का निरूपण भी करना चाहते थे । सारांश यह कि प्रसादजी के नाटकों का समस्त स्वरूप इस आधार पर स्थित है कि उसमें देश, काल और पात्र की अनकविधि, रूपरेखा सरलता से चित्रित की जा सके । थोड़े-से समय और पात्रों के अन्तर्गत नाटकीय गुणों का अधिक विकास

सम्भव था, पर प्रसादजी ने अपने लिए वह मार्ग नहीं अपनाया। मुख्यतः मनोवैज्ञानिक चित्रण की अपनी शक्ति का परिचय देने के लिए उन्होंने पात्र-बहुल और समय-बहुल नाट्यसृष्टि की है।

विशेषतः नारी-चित्रण में प्रसादजी की क्षमता प्रकट हुई है। प्रसादजी की नाटकीय नारियों का अनुशीलन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने नारी की आदर्श कल्पना के अतिरिक्त उसकी आकर्षक और विकर्षक, रमणीक और भयावह कल्पना भी प्रस्तुत की है। नारी के चित्रण में प्रसादजी की यह विविधता इसलिए हमारा ध्यान अधिक आकृष्ट करती है कि उनकी अधिकांश नारियाँ कल्पना-प्रसूत हैं, इतिहास के उल्लेखों में वे प्राप्त नहीं। अतएव वहां प्रसादजी की अनुभूति और कल्पना को अधिक खुला क्षेत्र मिला है। दूसरी बात यह है कि उनकी नारी पुरुषों की भांति वर्गगत प्रतीक या प्रतिनिधि बनकर नहीं आई। नारियों में वैसा वर्ग-निरूपण नहीं है जैसे पुरुषों में कोई राजा, कोई सैनिक, कोई संन्यासी और कोई कवि आदि हैं। नारी-मनोविज्ञान और नारी-चरित्र के उद्घाटन में प्रसादजी को पुरुष-चित्रण की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

'प्रसाद' के कुछ प्रमुख नाटक

विशाख

'विशाख' एक प्रेम-कथा को नाटक का स्वरूप देने का प्रयत्न है। यदि हमें यह ज्ञात न होता कि इसका कथानक प्राचीन इतिहास से लिया गया है, तो कदाचित् हम इसकी ऐतिहासिकता का ध्यान भी न कर पाते। उस समय के रहन-सहन, घटनाओं और वातावरण आदि को चित्रित करने के कारण ही नाटक ऐतिहासिक कहा जाता है, केवल नाटक के पात्रों के नाम और उनकी प्रेमचर्चा को देखकर ही नहीं। विशाख नाटक में ऐतिहासिक परिपूर्णता की कमी है। ऐसी प्रेम-कथा (जैसी विशाख में है) किसी भी युग में सम्भव थी। सामान्य प्रेम-कथा को इसमें एक प्राचीन आवरण देने का प्रयास-मात्र है। एकमात्र प्राचीन ऐतिहासिकता इसमें ब्राह्मण और बौद्ध मतों के तुलनात्मक स्वरूप के प्रदर्शन में मिलती है। दूसरी कोई वस्तु ऐसी नहीं जिससे इतिहास का स्वरूप स्पष्ट हो सके। इसके कथानक में एक स्त्री और उसके दो प्रेमियों की कथा है, जो प्राय: सभी प्रेम-गाथाओं में रहा करती है। ज्ञात होता है कि लेखक अभी अपनी निर्माणावस्था में है।

एक राजा और सामान्य नागरिक के बीच का द्वंद्व इसमें दिखाया गया है। राजा लोग किस प्रकार अपनी शक्ति और पद का दुरुपयोग कर किसी नारी को अपने वश में किया करते थे, इसका एक सामान्य चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक में कोई एसी वस्तु नहीं जिसे प्रसादजी की मौलिक सूझ कह सकें। संघर्ष का आधार प्रेम-कथा ही है। साथ में राजकीय षड्यंत्रों की योजना की गई है, जो जासूसी प्रकार की है। इसमें प्रसादजी की किसी प्रौढ़ कल्पना का प्रवेश नहीं हो पाया। आगे चलकर प्रसादजी ने नाटकों में जो विशेषताएँ रक्खी हैं, वे इस नाटक में उपलब्ध नहीं। जो वस्तु छोटी कहानी के अंतर्गत आ सकती थी उसे नाटक के अंतर्गत विस्तार देकर रखने का प्रयत्न किया गया है।

जनमेजय का नागयज्ञ

इस नाटक में एक अन्य प्रकार की त्रुटि है। इसमें महाभारत-युग

के पश्चात् आर्य और अनार्यों के बीच चलने वाले जातिगत संघर्ष का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके कुछ पात्र तो आर्य जाति के प्रतिनिधि हैं, कुछ अनार्य जाति के और कुछ पात्र दोनों की मिश्रित सृष्टि हैं। यह नाटक उस काल का है जिस समय आर्य और नाग जातियों का संघर्ष चल रहा था। दो जातियों के संघर्ष को चित्रित करने के लिए नाटक की अपेक्षा उपन्यास का माध्यम अधिक उपयुक्त होता, क्योंकि जातीय विशेषताओं और वैषम्यों का सम्पूर्ण विवरण उपन्यास में दिया जा सकता था।

इस नाटक में पात्रों की अधिकता हो गई है और कथानक उपन्यासों जैसा हो गया है। पूर्ववर्ती घटनाओं का आभास देने के लिए श्रीकृष्ण और अर्जुन को ला रक्खा है। जहाँ श्रीकृष्ण आर्य-जीवन की व्याख्या अर्जुन के सामने उपस्थित करते हैं, वहाँ लम्बे-लम्बे प्रकरण हैं और दार्शनिकता भर गई है। प्रसादजी को इस नाटक में यथेष्ट सफलता नहीं मिली। कथानक बिखरा हुआ है, अलग-अलग दृश्यों में नाटकीयता है, परंतु सम्पूर्ण नाटक में प्रभावान्विति बहुत कुछ न्यून है।

अजातशत्रु

यह प्रसादजी का प्रथम सफल नाटकीय प्रयत्न कहा जा सकता है। प्रथम प्रयत्न की महत्त्वाकांक्षा और अपरिपक्वता दोनों ही इसमें दिखाई पड़ती हैं। कथानक तीन स्थलों में प्रसरित है—मगध, कोशल और कौशाम्बी। तीनों स्थलों में घटना-चक्र इस नाटक में स्थान पाते हैं। तीनों में परिस्थितियाँ आगे बढ़ती हैं तथा तीनों की परिस्थितियों का एक ही व्यापार में सन्निवेश है।

अजातशत्रु में न केवल उस युग की राजनीतिक परिस्थिति की अभिव्यक्ति है, वरं उस युग के दार्शनिक मतवाद का प्रभाव भी स्पष्ट है। वह गौतम बुद्ध का युग था, इस कारण इस नाटक का नायक बुद्ध के व्यक्तित्व की समता नहीं कर सका। यही नहीं, महात्मा बुद्ध की शिष्या मल्लिका का चरित्र भी अजातशत्रु से कहीं अधिक प्रभावशाली है। नाटककार उस युग की सम्पूर्ण स्थिति सम्मुख रखना चाहता है, पर नाटक के नायक को इसी कारण प्रमुखता नहीं दे पाता। नाटक में नायक का जो स्थान होना चाहिए वह उसे नहीं मिल सका।

अजातशत्रु गौतम और मल्लिका दोनों से प्रभावित है। यद्यपि

आरम्भ में वह उनका विरोधी था, परन्तु क्रमशः उनके महत्त्व को स्वीकार कर उनका अनुवर्ती बन जाता है। ऐसी स्थिति में गौतम और मल्लिका प्रमुख पात्र के रूप में उपस्थित होते हैं, किंतु यह वस्तु-विन्यास-सम्बन्धी एक त्रुटि है।

प्रसादजी ने इस नाटक में आकर्षक और कौतूहलवर्धक घटनाओं को अधिक मात्रा में रक्खा है। विदूषक के हास्य रस के संचार के लिए दो-तीन दृश्यों की योजना की गई है। यह नाटक प्रसादजी की प्रयोगकालीन कृति है।

मुख्य संघर्ष तो मगध के अंतर्गत ही चल रहा है। पिता और पुत्र का विरोध राजनीतिक परिवर्तन में सहायक होता है, परंतु इस संघर्ष में पद्मावती को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इस प्रकार पद्मावती द्वारा संघर्ष का यह सूत्र कौशाम्बी पहुंचता है। कौशाम्वी में भी राजनीतिक परिस्थिति डाँवाडोल हो रही थी, उदयन की अनेक दुरभिसंधियां मागंधी द्वारा की जा रही थीं। मागंधी उदयन को पद्मा-वती के विरुद्ध भड़काने की चेष्टा में संलग्न थी। कोशल में विरुद्धक और उसके पिता प्रसेनजित एक दूसरे के विरोधी बनकर षडयंत्रों की सृष्टि कर रहे थे।

इस परिव्याप्त संघर्ष को एक केन्द्रीय संघर्ष में परिवर्तित करने की चेष्टा की गई है। सभी स्थलों के अलग-अलग संघर्षों के साथ मुख्य संघर्ष की योजना करने में लेखक को पर्याप्त सफलता नहीं मिली है। संघर्ष का विकास दिखाते-दिखाते लेखक इतना आगे बढ़ जाता है कि सहसा अंतिम अंक में उसे कथानक को समेटना और संघर्ष की समाप्ति कर देना कठिन हो जाता है। परिस्थितियाँ और पात्र जब स्वाभाविक विकास में आगे बढ़ते हैं, तब उनको सम्हालना और दूसरी दिशाओं में मोड़ना उसके लिए असम्भव-सा हो जाता है। फलतः नाटक का तीसरा अंक अस्वाभाविक रूप से समाप्त होने के लिए वाध्य हुआ है। यदि प्रसादजी ने इस नाटक को चार अंकों में समाप्त किया होता, तो संभवतः उठाए हुए संघर्ष की स्वाभाविक समाप्ति हो सकती।

इस नाटक में प्रत्येक मुख्य पात्र का दूसरा विरोधी पात्र उपस्थित हैं, जैसे गौतम का देवदत्त, बंधुल का विरुद्धक, विम्बसार और वासवीः छलना और अजातशत्रु! केवल मागंधी और मल्लिका स्वतंत्र पात्र के

रूप में आई हैं । चारित्रिक दृष्टि से मागंधी एक विलक्षण नारी है। कथानक में उसका चरित्र विलक्षणता की सृष्टि करता है। मल्लिका का चरित्र नाटक की नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है । नाटक के सभी घटनाओं के परिवर्तन का केन्द्र वही है। इसका कोई विरोधी पात्र नहीं है । मुख्य पात्रों के विरोधी पात्र रखने की पद्धति नाटक के विकास की आरम्भिक पद्धति है । ऐसा ज्ञात होता है कि कथानक में संघर्ष लाने के लिए इन विरोधी पात्रों की रचना की गई है । मल्लिका और मागंधो के चरित्र ही इसके अपवाद हैं ।

इस नाटक में वैषम्य या संघर्ष का पल्ला भारी है और संतुलन की कमी है। यह समस्त वैषम्य बिखरा हुआ है । प्रत्येक स्थान में एक वैषम्य की योजना की गई है । वैषम्य का तत्त्व एक मुख्य व्यापार को लेकर नहीं है । यह नाटक की अपरिपक्वता का प्रमाण है । विरोध का समाहार इस नाटक में ठीक-ठीक नहीं हो सका।

नाटक में कई अनावश्यक दृश्यों को भी स्थान मिला है। विदूषक आदि के दृश्य ऐसे ही हैं। सूच्य अंशों को दृश्य रूप में रखने की त्रुटि भी रह गई है । नायक को प्रमुख रूप से सामने नहीं लाया जा सका। नाटककार ने अजातशत्रु को नायक बनाकर उसके नायकत्व का निर्वाह नहीं किया । मल्लिका और गौतम की समकक्षता पर अजातशत्रु का चरित्र-विकास नहीं दिखाया गया है । हास्य रस की योजना प्रभावशालिनी नहीं है।

नाटक का अंतिम अंक हल्की और छिछली भावात्मकता से भर गया है । चरित्रचित्रण का लोप-सा हो गया है । तीसरे अंक में लेखक अत्यधिक भावुक बन गया है। उसे किसी तरह नाटक में आरंभ किए संघर्षों को समाप्त करना है । ऐसा प्रतीत होता है कि चरित्र-विकास की स्वाभाविक शृंखला को नाटककार इस अंक में भूल बैठा है ।

प्रसादजी ने इस नाटक में रस की योजना को इतना महत्त्व नहीं दिया जितना भारतीय नाटककार दिया करते हैं । चरित्रचित्रण और परिस्थितियाँ नाटककार का ध्यान अधिक आकर्षित करती हैं । केवल रस की विशेषता रखने वाले नाटकों में स्थिति और कार्य की वास्तविकता का आभास कठिनाई से मिल पाता है। प्रसादजी के पूर्व हिन्दी नाटकों का अधिकतर लक्ष्य किसी रस-विशेष की अवतारणा करना रहता था । आदि से अंत तक एक ही रस के विभाव अनुभाव आदि रहते थे ।

परिस्थितियाँ और जीवन-दशाओं का बाहुल्य और उनकी वास्तविकता का चित्रण करने वाला नाटककार भाव-चरित्र और मनोविज्ञान की प्रमुखता देकर केवल किसी भाव-विशेष की सृष्टि के लिये संपूर्ण प्रसंग का उपयोग नहीं करेगा।

प्रायः रस को प्रधानता देने वाले नाटककार चरित्र का ध्यान नहीं रखते, किंतु प्रसादजी ने पात्रों और परिस्थितियों की बहुलता को स्थान दिया है। प्रसादजी के इस नाटक में अनेक रसों का सम्मिलन इसी कारण हुआ है। वीर, शांत, हास्य आदि अनेक रसों की योजना बहुमुखी वस्तु-निर्देश और चरित्र-चित्रण की प्रमुखता का स्वाभाविक परिणाम है।

स्कंदगुप्त

यह मानते हुए भी कि स्कंदगुप्त का वस्तु-विन्यास आदर्श वस्तु-रचना का उदाहरण नहीं है, और प्रारम्भिक तीन और अंतिम अंकों की धारा समन्वित नहीं हो पाई है, यह कहना होगा कि इस नाटक की कला-क्षमता उनके अन्य नाटकों की अपेक्षा ऊँची है। प्रसादजी ने इसमें कथानक की ऐतिहासिक और राजनीतिक घटनाओं का योग पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन-घटनाओं से करना चाहा है। इसीलिए नाटक के कथानक में इन दोनों घटना-समूहों का पारस्परिक संघात मिलता है। सभी पात्रों का एक पक्ष भारतीय राजनीति के परिवर्तन में देखा जाता है और दूसरा व्यक्तिगत पार्श्वभूमि पर। एक तरह से सारा वस्तु-विन्यास दो स्तरों पर चलता है जिससे नाटक में अधिक स्वाभाविकता आई है। प्रसादजी ने कदाचित् यह पहली बार समझा कि कोरी राजनीतिक या ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर नाटक में मानवीय मनोभावना की स्वाभाविकता नहीं आ सकेगी; इसीलिए स्कंदगुप्त में पात्रों के सामाजिक जीवनचित्रण के साथ उनकी वैयक्तिक रुचि और सत्ता को प्रदर्शित किया है। स्कंदगुप्त के वस्तु-विन्यास की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें कार्य या व्यापार का तत्त्व सम्यक् वेग से आगे बढ़ता है। इस विशेषता द्वारा आदि से अंत तक एक आकर्षण की सृष्टि और निर्वाह हुआ है। कथानक के भीतर अनेक चरित्रों की स्थापना हुई है और वह स्थापना केवल ऐसी नहीं है कि जो कवि द्वारा ऐतिहासिकता की पूर्ति करने के लिए लाकर रखी गई हो। नाटकीय चरित्रचित्रण घटनाओं की स्वाभाविक गति के अंतर्गत हुआ है, केवल संवादों या पात्रों की भरती के लिए नहीं।

यद्यपि स्कंदगुप्त के कथानक में भी दो विरोधी घटना-चक्र काम में लाए गए हैं, पर वे घटना-चक्र ऐसे स्थूल रूप में नहीं आए जैसे 'अजातशत्रु' में। यहाँ पर वर्गगत चरित्रों के साथ-साथ व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण की परिपाटी अधिक व्यापक रूप में आई है। भटार्क, शर्वनाग, प्रपंचबुति-जैसे खल चरित्रों में भी मनोवैज्ञानिक अंतर अच्छे ढंग से उपस्थित किया गया है। चरित्रचित्रण में पूर्ण नाटकीय विस्तार और व्यापकता लाई गई है, काश्मीर से लेकर लंका तक के पात्र इसमें हैं। कवि, सेनापति, धार्मिक चरित्र तथा नारियों की भिन्न प्रवृत्तियों के चित्रण में चरित्रों की विविधता का पूरा प्रवेश है। कुछ पात्र अतिरिक्त पात्र कहे जा सकते हैं जिनके छोड़ने से नाटक की विशेषता में कदाचित् अधिक अंतर नहीं आता। प्रख्यातकीर्ति, गोविन्दगुप्त तथा मुद्गल को आसानी से छोड़ा जा सकता था। मुद्गल नाटक के कथानक के विकास में अपरिहार्य पात्र नहीं है। यदि हास्य लाने के लिए पात्रों की अलग से योजना की जाय तो कहना पड़ता है कि यह कला की दृष्टि से सुसंगत नहीं है। ब्राह्मणों तथा बौद्धों का झगड़ा नाटक के लिए अधिक आवश्यक नहीं है। प्रख्यातकीर्ति नाटक के कथानक का अभिन्न अंग नहीं है। पहले दो अंकों में घटना-क्रम इतने सुलझे रूप में आगे बढ़ा है कि अंतिम अंकों की शिथिलता खटकने लगती है। दो अंकों में व्यापार का यथेष्ट विकास हो जाता है। तीसरे अंक में भी घटनाओं का प्रभाव बना रहता है। परन्तु चौथे और पांचवें अंकों में नाटक के उदात्त रूप को बनाए रखने में नाटक की कथा पूर्णतः समर्थ नहीं है। चौथा और पाँचवाँ अंक तो घटनाओं और पात्रों को अंतिम विजय की ओर ले जाने का साधन मात्र है। इतिहास की सत्यता नाटकीय परिपाक का स्थान नहीं ले सकी।

स्कंदगुप्त में भी ऐतिहासिक सत्य को अधिक प्रमुखता दी गई है जिससे नाटक का कला-पक्ष उतना प्रभावशाली नहीं बन पाया। 'स्कंदगुप्त' में चरित्र-चित्रण का आधार विरोध है, पर स्थूल विरोध नहीं। पुरगुप्त और स्कंदगुप्त एक दूसरे के अकारण विरोधी नहीं है। उनके विरोध में चरित्रगत मौलिक विषमता कारण है। उनका विरोध सजीव विरोध है। अनंत देवी के चरित्र को इस नाटक के नारियों के चरित्र में एक विशेष चरित्र माना जा सकता है। विजया तथा देवसेना के चरित्रों में भी विरोध है। परंतु परिस्थितियों को इस प्रकार रखा गया है कि इन दोनों का विरोध नाटक

में आद्यंत आकर्षक बना रहा है । विजया और देवसेना दोनों के चरित्रों में अलग-अलग आकर्षण है। स्कंदगुप्त जैसा पात्र इन दोनों की ओर स्वल्प या अधिक मात्रा में झुका रहता है और दोनों के बीच चुनाव करने में उसे देर लगती है। यह इस बात की सूचना देता है कि नाटककार के चरित्र-चित्रण में मानव-स्वभाव का स्वाभाविक और कलात्मक प्रदर्शन हुआ है । देवसेना तथा विजया के चारित्रिक संघर्ष को दिखाने में नाटककार विशष सफल हुआ है । इन दोनों पात्रों को भला और बुरा कहकर दो बँधी बँधाई कोटियों में नहीं रक्खा जा सकता ।

पाश्चात्य नाटकों का वस्तुविन्यास विरोध के आधार पर होता है। विरोध मध्य में चरम सीमा पर पहुँचता है और अंत में उसकी परिसमाप्ति होती है। दुःखांत नाटक का आरम्भ विरोध से हुआ करता है और अंत दुःख में होता है । विरोध का चरम सीमा पर पहुँच जाना कथानक की परिसमाप्ति का सूचक नहीं होता, वह दुःखांत घटना की ओर मोड़ लेने का परिचायक होता है। इस स्वाभाविकता का पालन दुःखांत नाटक में ही किया जा सकता है ।

भारतीय नाटकों में इस प्रकार का क्रम नहीं रखा गया, क्योंकि वे सुखान्त होते हैं और फलप्राप्ति के लिए उद्योग आरम्भ से होता है। उद्योग का विकास प्राप्त्याशा की ओर से फल की ओर जाता है। सुखांत नाटक की यही पद्धति है। स्कंदगुप्त नाटक को परिणाम में सुखांत बनाया गया है, पर उसका वस्तु-विन्यास दुःखांत नाटक की पद्धति पर रचा गया है। यह वस्तु-विन्यास-संबंधी त्रुटि स्कंदगुप्त में स्वीकार करनी पड़ती है ।

चंद्रगुप्त

जहाँ तक चरित्रों के निर्माण तथा नाटकोपयोगी विशेषताओं का प्रश्न है, वहाँ तक स्कंदगुप्त अधिक सुन्दर कहा जा सकता है । स्कंदगुप्त में घटनाओं के बीच में संघर्ष की भावना अधिक प्रबल है और ऐसी स्थितियों की योजना की गई है जो अधिक नाटकीय हैं। स्कंदगुप्त को श्रेष्ठता प्रदान करने वाली दूसरी वस्तु है चरित्रचित्रण का व्यक्तिगत पक्ष तथा उसका उत्थान-पतन। घटनाओं का भी उसमें पर्याप्त उत्थान-पतन दिखाया गया है । विरोध का तत्त्व स्कंदगुप्त में अधिक प्रमुख रूप से चित्रित हुआ है ।

इसके विपरीत चंद्रगुप्त नाटक में, चाणक्य के महाकाव्योचित व्यक्तित्व के कारण विरोध पक्ष बहुत कुछ दुर्बल हो गया है। नाटक तथा महाकाव्य में स्वाभाविक अंतर होता है। नाटक में उत्थान-पतन को अधिक स्थान मिलता है। तभी उसकी नाटकीयता प्रस्फुटित होती है। इस दृष्टि से चंद्रगुप्त में महाकाव्य का औदात्य अधिक है, नाटक का संघर्ष कम। उसके नायक चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त परिस्थितियों से ऊपर उठे हुए हैं जिससे संघर्ष का पूरा विकास नहीं हो पाया है। अलक्षेन्द्र की रणनीति और वीरता भी इस नाटक में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित नहीं हो पाई है।

इस नाटक का कथानक वर्षों का समय ले लेता है। यह भी महाकाव्य के अनकूल वस्तु-विन्यास कहा जा सकता है। वीर रस प्रधान नाटकत्व 'चंद्रगुप्त' में उपस्थित हुआ है। इसमें स्थितियों का वास्तविक वैषम्य नहीं है। ऐसी घटनाएं नहीं हैं जो हमारी दृष्टि को निर्णय के सम्बंध में उलझाए रखें। 'स्कंदगुप्त' में यह विशेषता पूरी मात्रा में आई है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में चरित्रगत वैविध्य नहीं है, जैसा कि स्कंदगुप्त में है। स्कंदगुप्त में एक दार्शनिकता-मिश्रित वीरत्व पाया जाता है जो अधिक नाटकीय है। चन्द्रगुप्त के चरित्र में वीरत्व और कोरा वीरत्व है। उसमें किसी प्रकार की मनोवैज्ञानिक और नाटकीय अभिसंधि के लिए स्थान नहीं है। चन्द्रगुप्त की वस्तु-योजना स्कंदगुप्त की अपेक्षा अधिक शिथिल है। चन्द्रगुप्त में काल-संकलन का अभाव खटकता है। 'चन्द्रगुप्त' का सा प्रत्येक अंक में नया वस्तु-विन्यास 'स्कंदगुप्त' में नहीं है। वहाँ घटनाएँ लक्ष्य की ओर समगति से आगे बढ़ती हैं। वस्तु का समुचित विभाग और संधियों की योजना 'स्कंदगुप्त' में अधिक स्पष्ट रूप में हुई है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में नायिका का प्रश्न भी जटिल रह गया है। कार्नेलिया नाटक के आरंम्भ में आकर अंत में बस एक बार अपने दर्शन देती है। नायिका को नाटक में जो प्रमुखता मिलनी चाहिए वह उसे नहीं मिल पाई। चन्द्रगुप्त में प्रमुखता अलका की है। नायिका की जो क्रमानुगत परिभाषा है, उसके अनुसार कार्नेलिया को नायिका

पड़ेगा। कल्याणी समस्त नाटक में पर्याप्त दूर तक नाटक की संभावित नायिका बनने का उपक्रम करती हुई दिखाई देती है, किंतु न जाने क्यों वह सहसा आत्महत्या कर लेती है। कल्याणी के चरित्र-चित्रण के आधार पर उसकी आत्महत्या अस्वाभाविक-सी प्रतीत होती है। ऐसा

ज्ञात होता है कि यह केवल कार्नेलिया के नायिका पद को स्थापित करने का प्रयास है। कल्याणी और कार्नेलिया के चरित्रों में एक ही चरित्र को दो भागों में विभाजित करने का सा कृत्रिम प्रयत्न किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार के सम्मुख स्वयं एक समस्या थी, जिसका निर्णय वह संतोषजनक रीति से नहीं कर पाया।

चाणक्य के जीवन में उसकी अतिमानवीय बौद्धिकता के साथ उसकी प्रेमवृत्ति को प्रदर्शित करने का प्रयोग भी किया गया है। इन विरोधी प्रकृतियों के बीच स्वाभाविक और कलात्मक सामंजस्य पूरी तरह स्थापित नहीं हो पाया। राक्षस का चरित्र भी 'मुद्रा राक्षस' के राक्षस की समकक्षता पर चित्रित नहीं हुआ है। अलक्षेन्द्र, नन्द या राक्षस इन तीनों के बीच प्रति-नायकत्व किसको दिया जाय, यह प्रश्न भी अनिश्चित-सा है। यदि अलक्षेन्द्र को प्रतिनायक माना जाय तो वह तीसरे अंक के अन्त में प्रयाण कर जाता है। नन्द केवल चतुर्थ अंक तक रहता है। नाटक के अन्त तक वह भी नहीं चलता। कदाचित् इसी समस्या को सुलझाने के लिए प्रसाद जी ने अलक्षेन्द्र के प्रतिनिधि सिल्यूकस द्वारा अलक्षेन्द्र की स्मृति जागृत रखने की चेष्टा की है। राक्षस का विरोधी चरित्र उतनी प्रमुखता पर नहीं आ पाया है कि उसे नाटक का प्रतिनायक कहा जा सके। नंद की भी यही स्थिति है और अलक्षेन्द्र भी प्रतिनायक की परिभाषा पूरी नहीं करता। वास्तव में 'चन्द्रगुप्त' चरित्र-प्रधान नहीं काव्योपजीवी नाटक है। उसमें भावप्रवणता का पक्ष मुख्य है। उसमें स्कंदगुप्त की भाँति अनेक चरित्रों, परिस्थितियों और अनेक रसों का योग नहीं है। चन्द्रगुप्त में वीर रस का आद्यंत प्रवाह है। 'स्कन्दगुप्त' में पराजय और करुणा का वातावरण दूर तक व्याप्त है। चन्द्रगुप्त में ऐसा नहीं है। विजया, देवसेना, जयमाला के आने से स्कन्दगुप्त में शृंगार रस का अच्छा वातावरण तैयार हुआ है। चन्द्रगुप्त नाटक में अलका का सम्बंध नाटक के नायक से नहीं, उपनायक से है और चन्द्रगुप्त के नाटकीय जीवन में ऐसे अवसर कम हैं जिनमें वह शृंगारिक भावना का आलम्बन बनकर आया हो। अलका भी आदि से अंत तक वीर नारी के रूप में ही चित्रित हुई है।

सुवासिनी के आने से चन्द्रगुप्त नाटक में शृंगार रस की सृष्टि हुई है, पर यह रस नाटक की मुख्य भूमि पर नहीं आया है। स्कन्दगुप्त में शृंगार, वीर, करुण रस नाटक की मुख्य भूमि पर आ जाते हैं।

किसी भी अच्छे नाटक के लिए यह दोष ही है कि नायिका की स्थिति सुव्यवस्थित न होने पाए। नाटक के पूरे प्रवाह में प्रमुख पात्रों का संस्थान होना चाहिए, यदि ऐसा नहीं होता तो किसी पात्र की सापेक्षिक प्रमुखता में संदेह हो जाता है। प्रकरी और पताका के अन्तर्गत प्रासंगिक कथाएं आ सकती हैं, पर मुख्य कथा आदि से अन्त तक बनी रहनी चाहिए। यदि मुख्य पात्र 'प्रकरी' और 'पताका' अंशों में लाकर वहीं समाप्त कर दिए जायँ तो वह नाट्य-वस्तु की त्रुटि ही कही जायगी।

'चन्द्रगुप्त' के चार अंकों में प्रत्येक अंक एक ही स्थान पर केन्द्रित हो गया है। एक अंक को एक स्थान पर केंद्रित करने की पद्धति के कारण कुछ पात्रों की उद्भावना उसी अंक में होती है और अन्त भी उसी अंक में होता जाता है। नाटक-संविधान में यह व्यवस्था त्रुटिरहित नहीं कही जा सकती।

प्रसादजी अपने नाटकों के वस्तु-विन्यास पर पूर्ण अनुशासन नहीं कर पाए हैं। यह त्रुटि कवि-नाटककार प्रसाद के लिए अधिक आश्चर्य-जनक नहीं। वस्तु-संघटन का कार्य प्रसाद की मुख्य विशेषताओं में नहीं आता। प्रसाद का वस्तु-विन्यास पूर्णतः कलात्मक और निर्दोष नहीं बन पाया।

ध्रुवस्वामिनी

ध्रुवस्वामिनी को प्रसादजी ने नए प्रयोग के रूप में लिखा है। यह उनकी सामान्य नाट्य-कला का अन्तिम विकास नहीं है। उनके नाटकों की मुख्य विशेषता चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में आकर अपनी सीमा पर पहुँच गई है।

ध्रुवस्वामिनी नवीन शैली का प्रयोग है। प्रसादजी पर आरोप किया जा रहा था कि उनके नाटक काव्य-रूपक हैं। उनके संवादों में कृत्रिमता का आरोप किया जाता था। यह कहा जाता था कि उनके संवादों में चमत्कार, वाग्वैदग्ध्य और जवाब-सवाल की कमी है। यथार्थवादी लोगों ने इसे अवगुण माना है। यद्यपि प्रसादजी ने अपनी शैली का निर्माण कर लिया था, परन्तु वे नवीन सृष्टि की योजना से विमुख नहीं थे। ध्रुव-स्वामिनी में उन्होंने यथार्थवादी सम्वाद, रंगमच और प्रणाली अपनाई है। कथोपकथन स्वाभाविकता के अधिक समीप हैं। इसमें पाश्चात्य रीति से चमत्कार-प्रधान रचना का उपक्रम किया गया है।

आज के नए नाटकों में समस्या की प्रमुखता रहती है। ये नाटक प्रधानतः बुद्धि-प्रधान होते हैं। समस्त उपक्रम किसी एक समस्या का सर्वांग चित्रण करने का रहा करता है। बर्नार्ड शा के अनेक नाटक किसी एक समस्या को लेकर चलते हैं। यही वस्तु हमें ध्रुवस्वामिनी में प्रेरणा के रूप में दिखाई देती है। परन्तु ध्रुवस्वामिनी का स्वरूप समस्या-नाटक के स्वरूप से भी भिन्न है।

वास्तविक समस्या-नाटक में केवल एक घटना द्वारा समस्या का चित्रण नहीं किया जाता। प्रसाद के ध्रुवस्वामिनी नाटक में समस्या हैं अवश्य, किन्तु वह नाटक समस्या-नाटक नहीं है। समस्या नाटक का बौद्धिक होना पहली शर्त है और नाटक की सारी विचार-धारा किसी एक समस्या को केन्द्र बनाकर चलती है। समस्या-नाटककार विशुद्ध दार्शनिक या विचारक कलाकार हुआ करता है। प्रसादजी विचारक कलाकार के रूप में उपस्थित नहीं हुए हैं। प्रत्येक बड़ा लेखक अपनी स्वतंत्र शैली बनाता है। वह क्रमशः प्रौढ़ होती है और प्रौढ़तम रचना उसकी प्रतिनिधि रचना कही जाती है। ध्रुवस्वामिनी में प्रसादजी ने एक नया प्रयोग किया है। वह उनकी अन्तिम रचना है, परन्तु उनकी श्रेष्ठतम कृति नहीं।

खंड ४

गद्य

एक निबंध-पुस्तक

'दैनन्दिनी' मेरे आत्मीय मित्र श्री सुन्दरलाल त्रिपाठी की रचना है। यह उनके पिछले पांच-सात वर्षों के डायरी-लेखन का संग्रह है। दैनन्दिनी या डायरी नित्यप्रति नहीं लिखी गई, न इसमें डायरी का संक्षिप्त आकार ही स्वीकार किया गया है। डायरी की-सी असंवद्ध, बहु-वस्तु-व्यापी और प्रकीर्णक चर्चा भी इसमें नहीं है। यह निबंधाकार कृति है, जिसमें अधिकतर एक दिन की, किन्तु कहीं-कहीं दो-तीन या अधिक दिनों की घटनाएं भी एक ही निबंध में एकत्र कर दी गई हैं।

इन अपवादों के रहते इसका 'दैनन्दिनी' नाम कहाँ तक सार्थक या संगत है ? इस प्रश्न पर सभी पाठक अपनी-अपनी दृष्टि से विचार करेंगे। मेरा अपना निवेदन यह है कि किसी लेखक के लिए यह आवश्यक क्यों हो कि वह प्रतिदिन अपनी डायरी लिखे ही ? सप्ताह में एक बार, महीने में एक बार अथवा वर्ष में ही एक बार लिखी गई वस्तु भी दैनन्दिनी कहला सकती है, यदि उसमें किसी दिन-विशेष की घटना का, किसी मार्मिक घड़ी के चिन्तन का—किसी भी दैनिक प्रतिक्रिया का—उल्लेख किया गया हो। डायरी के इन मूल नियमों की पूर्ति 'दैनन्दिनी' के निबंध करते हैं, अतएव इनके आकार या प्रकार का प्रश्न उठाना अधिक उचित न होगा।

'दैनन्दिनी' में एक से अधिक दिन की चर्चा एक स्थान पर जहाँ-कहीं की गई है, मिति का स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है। साथ ही, ऐसा उन्हीं स्थानों पर किया गया है, जहाँ कई दिन की घटनाएँ मिलकर एक प्रसंग का निर्माण करती हैं। 'दैनन्दिनी' में इस नियम का पालन भी प्रायः सर्वत्र मिलता है कि जिस दिन की घटना है उसी दिन वह लिख ली गई है। यत्र-तत्र डायरी पिछड़ कर भी लिखी गई है, किन्तु ऐसे अवसर कम हैं और लेखक ने उनके लिए खेद-प्रकाश भी किया है। ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक डायरी और निबंधलेखन के सम्मिलित आदर्श की पूर्ति करती है, जो हिन्दी में सर्वथा नवीन प्रयास है।

यहाँ यह निवेदन करना भी आवश्यक है कि पुस्तक में डायरी के

सब अंश संग्रहीत नहीं हैं। कुछ राजनीतिक चर्चाएँ तथा कुछ व्यक्तिगत भाव-निवेदन अलग रख लिए गए हैं, जो अन्यत्र प्रकाशित होंगे; किंतु डायरी का मुख्य भाग, जो साहित्यिक विषयों से संबद्ध है, यहाँ आ गया है।

पुस्तक की विषय-चर्चा के साथ आगे बढ़ने के पूर्व लेखक की जीवनी, प्रकृति और परिस्थिति का परिचय भी आवश्यक है। यों तो वर्तमान साहित्य-समीक्षा में रचयिता का व्यक्तिगत परिचय देने की प्रथा ही चल गई है, किंतु कुछ कृतियाँ ऐसी होती हैं जिनके कर्त्ता का प्रासंगिक परिचय दिए विना किसी प्रकार काम ही नहीं चलता। 'दैनन्दिनी' भी ऐसी ही एक कृति है। इसकी असाधारण शैली, मनोभावना और विचार-पद्धति का मर्म जानने के लिए सुन्दरलालजी की निजी चर्चा अपेक्षित है।

सुन्दरलाल माता-पिता के युग्म संतानों में ज्यष्ठ हैं। वे और उनके अनुज मन्नालाल एक ही दिन उत्पन्न हुए थे। उनके कई अन्य छोटे भाई भी हैं। 'दैनन्दिनी' के विवरणों से प्रतीत होता है कि उनके पितामह कानपुर जिले के 'तिवारियों के बँगला' गाँव के जमीदार थे और आसपास के जिलों में व्यापार करते थे। अच्छे संगीतज्ञ और बलिष्ठ व्यक्ति थे। इनके गुणों का वर्णन करते हुए सुन्दरलाल 'दैनन्दिनी' में लिखते हैं—

"बाबा अपने सर्वोपरि थे। उन्हें अमान्य करने वाला बस्तर में (जहाँ वे व्यापार-क्रम से गये थे) कोई उत्पन्न नहीं हुआ। साधारण जनता की कौन कहे, बाबा के श्री-चरणों में बस्तर के महामहिम, अभिजात, सोमवंशीय महाराज स्वर्गीय राजन्य भैरवदेव तथा प्रतिष्ठापन्न अमात्यों के मस्तक अवनत रह आए थे।"

अपने पिता के संबंध में सुन्दरलालजी के विशेषण और भी मार्मिक हैं, "संस्कृत के साधारण ज्ञाता, हिन्दी के मर्मज्ञ, जाति, समाज एवं राष्ट्र-नीति के वेत्ता, अभिजात, अप्रतिद्वन्द्वी, सुसंपन्न, सर्वमान्य, सर्वोपरि, उदात्त, आवेगमय, वेदनाकातर, कोमलप्राण, निस्वः प्रकृति, प्रत्ययिक नागरिक पितृदेव।"

पिता और पितामह की इस परंपरा से प्रभावित प्रथम पुत्र सुन्दरलाल के पैतृक उत्तरदायित्व का पता ऊपर की पंक्तियों से लग जाता है। लेखक की आभिजात्य-भावना पुस्तक की पंक्ति-पंक्ति से प्रकट होती है। सुन्दरलालजी अपने संपूर्ण मनोबल के साथ इस आभिजात्य रक्षा में तत्पर दिखाई देते हैं।

व्यावहारिक परिस्थितियाँ सदैव उनके प्रतिकूल रही हैं। अतएव महत्वरक्षा के प्रयत्न में उन्हें अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इस संघर्ष में सुन्दरलालजी का स्वास्थ्य उनका साथ नहीं दे पाया और वे प्रायः शरीर से रुग्ण रहने लगे। शारीरिक अस्वास्थ्य की क्षति-पूर्ति भी उनकी मनस्विता को ही करनी पड़ा, जिसके परिणाम-स्वरूप उनके लेखन में असाधारण प्रांजलता आ गई। उनकी शैली युग की सामान्य शैलियों से भिन्न हो गई और उनके भावों और विचारों में अंतर्निहित वेदना का प्रभाव व्याप्त होने लगा।

अंग्रेजी की साधारण और बँगला-हिन्दी की विशिष्ट शिक्षा प्राप्त सुन्दर लाल जी जीवन में कर ही क्या सकते थे! वस्तर की समृद्धि उनका साथ न दे सकी और वे लखनऊ में आकर एक साधारण-सी नौकरी करने लगे। अतीत और वर्त्तमान के बीच सामंजस्य-स्थापन का कार्य उनके लिए आसान नहीं था।

इस समय की अपनी स्थिति के संबंध में वे लिखते हैं—

"अश्वारोहण की वांछा से घोड़े को मलना और उसकी लीद उठाना सीखने के अनुरूप साहित्य साधना के अर्थ में लखनऊ के एक प्रकाशक की चाकरी करता था मैं।" किन्तु अश्व की नंगी पीठ पर बैठकर सर-पट एक बार मन उछालकर दौड़ने की 'लालसा' इतनी प्रबल हुई कि 'नौकरी-रूपी तपः-साधना या गर्दभ-वृत्ति इने-गिने दिन ही चली'। शीघ्र ही वे लखनऊ की किरानीगिरी छोड़कर 'स्वतंत्र' लेखक बन बैठे।

यद्यपि सुन्दरलालजी की मनस्विता ही विजयिनी रही, किन्तु इसका मूल्य उन्हें किसी न किसी रूप में चुकाना ही पड़ा। वे युग के लोक-प्रिय लेखक न हो कर 'अश्व की नंगी पीठ पर बैठकर सरपट एक बार मन उछालकर दौड़ने वाले' लेखनी-वाहक बन गए, वे अपने लेखन में जिस प्रकार किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं, उसी प्रकार उनके लेखन के प्रति भी कोई उत्तरदायी बनने को तैयार नहीं। वे एक प्रतिनिधि लेखक नहीं हैं, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उनका लेखन विशिष्टता-रहित है। सच तो यह है कि युग की सामान्य धारा से पृथक् होकर उनकी विशिष्टता और भी प्रत्यक्ष हो गई है।

सुन्दरलालजी की लेख-शैली हठात् पाठक को अपनी ओर खींचती है—अपनी असाधारणता के बल पर। वे पग-पग पर नवीन प्रतीत होते हैं,

यद्यपि उनके शब्द और भाषा-प्रयोग प्राचीनता के अधिक निकट हैं। सुन्दरलालजी अपने लेखों में अतिरंजना की सृष्टि करते हैं और कहीं-कहीं अत्यन्त आर्द्र और भावुक दीखते हैं। कुछ निबन्धों में एक सूक्ष्म और प्रखर समीक्षक के रूप में उपस्थित होते हैं, किन्तु शिष्टता का अत्यधिक ध्यान रखने के कारण उनकी प्रखरता प्रमुख नहीं होती।

इस आरंभिक उल्लेख के पश्चात् हम 'दैनन्दिनी' की वस्तुचर्चा में प्रवेश कर सकते हैं। 'दैनन्दिनी' में अनेक विषय अनेक प्रकार से आए हैं। आरम्भ में कुछ व्यक्तिगत, आत्मीय और पारिवारिक चर्चा है जिसमें लेखक की वेदना-कातर भावुक लेखनी स्पष्ट हो उठी है। आगे चल कर शरच्चन्द्र और गांधीजी पर दो निबन्ध मिलते हैं, जो भावापन्न, चंचल और कुशल लेखनी की सृष्टि हैं। एक में लेखक की अनुकूल और दूसरी में प्रतिकूल विचार-धारा होते हुए भी दोनों निबंध सुन्दरतम लेखन के उदाहरण हैं।

इसके पश्चात् अधिकांश लेख हिन्दी के साहित्यिकों की चर्चा में लिखे गए हैं, जिनमें उनकी कृतियों की भी समीक्षा की गई है। यहाँ लेखक के संमुख परिस्थिति कुछ कठिन रही है, क्योंकि सुन्दरलालजी हिन्दी साहित्यिकों के प्रति बहुत अच्छी धारणा नहीं रखते। ऐसी अवस्था में उन्हें अपनी टिप्पणियाँ ऐसे ढंग से करनी पड़ी हैं कि कहीं भी विरोध प्रत्यक्ष न हो पावे। फिर भी लेखक अपनी बात किसी-न-किसी रूप में कह ही गया है।

प्रत्येक निबंध में विषय-चर्चा के साथ प्रासंगिक उल्लेखों और विवरणों की भरमार है जिससे 'दैनन्दिनी' में सुन्दर अनुरंजकता आ गई है और कोरा विषय-विवेचन अपनी शुष्कता खो बैठा है। कहीं भी लेखन इति-वृत्तात्मक नहीं हुआ है जो सुन्दरलालजी की साहित्यिकता का सब से सुन्दर प्रमाण है। लेखक की व्यक्तिगत छाप प्रायः सब लेखों में मौजूद है जिससे ये निबन्ध ललित साहित्य की श्रेणी में ऊँचे स्थान के अधिकारी हैं।

'दैनन्दिनी' के कुछ उद्धरण भी अप्रासंगिक न होंगे। पुस्तक के आरम्भिक लेखों में की गई व्यक्तिगत और पारिवारिक चर्चा, शैली और मनोविज्ञान, दोनों ही दृष्टियों से, उल्लेखनीय है। शैली की दृष्टि से लेखक इनमें पर्याप्त आलंकारिकता ले आता है, किन्तु मनोविज्ञान के पारखी इनमें लेखक की मानसिक स्थिति का दिग्दर्शन कर क्षुब्ध हुए

बिना न रहेंगे। शैली के चमत्कार और मन की अवसन्न दशा के बीच सीमा-रेखा खींच कर, इन लेखों के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करना कठिन कार्य है। फिर भी कुछ उद्धरण देख लेने चाहिएँ—

अपने अल्पजीवी भागिनेय विद्यापति की स्मृति में वे लिखते हैं—

'शिरा-शिरा और अवयव-अवयव के कोमल विशाल सृजन में, नाम की महिमा से मूर्त, सिद्ध कवि हैं न विद्यापति! आवेग-विह्वल आर्द्र, अपलक, विपुल, निविड़ नेत्रों से, एक भंगी से विच्छेद कष्ट का विश्वजनीन, कठिन मूक रहस्य, शायद मुझसे उद्घाटित कर रहे हो विद्यापति!'

अन्यत्र, वे फिर लिखते हैं—'राधा की तन्मयता, मीरा की एकनिष्ठता, वैष्णव कवियों की निविड़ता, सुनता हूं अध्यात्म का सौध है। सो चाहे जो हो, किन्तु निर्विवाद तुम इन सब से परे, ऊँचे, रहस्यमय, सीमातीत, वर्णनातीत, वेदनामय, कोमल, सुन्दर दीख पड़ते हो साधक! एक निमिष के 'स्नैप' के अवसर के तुम इतनी ममत्ववेदना से युक्त—इतने निविड़—इतने शाश्वत हो।'

पता नहीं आधुनिक मनोविज्ञान-वेत्ता इन पंक्तियों के लेखक को क्या कहेंगे? किन्तु साहित्यिक दृष्टि से भावनात्मक और अतिरंजित लेखक का ही प्रतिमान इन्हें कहा जायगा।

एक स्थान पर कुमारी 'स' के संबंध में उन्होंने लिखा है—'कर्मण्या कर्तव्य-चिन्ता मग्न, भुवन विमोहन, घन-गहन-केशपाश शिरोरत्न के पीछे सँजोए, छंद की पराकाष्ठा-सी मधुर, मादक मंद गति वादन के सहित वन-कुसुम सी पूत, प्रिय कुमारी 'स' अपना थर्मामीटर लोशन भरी शीशी में रख मेरे संमुख आई—मानो यह छोटी लोशन की शीशी बता रही थी.....!

इन पंक्तियों की शब्दावली बाण की 'कादम्बरी' के जोड़ की है, किन्तु इन की भावना-धारा से कादम्बरी की भावधारा की तुलना कदाचित् नहीं की जा सकती। दोनों का साहित्यिक सौन्दर्य एक ही भूमि पर प्रस्फुटित नहीं हुआ।

एक प्रसंग में वर्षा की आगमनी पर वे इस प्रकार लिखने लगे हैं—"शिशु-सी अनजान-अकपट और जब तुतलाती-सी, मुसकाती-सी, नंगी, मटमैली-सी, जब आने को होती है वह कलिका-सी, किशोरी-सी—कुछ मुकुलिता-सी और कुछ विकसिता-सी, आने को होती है जब वह लजीली-सी, यौवना-सी, परिणीता-सी, और जब प्रस्फुटिता-सी, प्रौढ़ा-सी,

तब उसे इसीलिए शायद डरना, सकुचाना या सोचना पड़ जाता है।"

वर्षा का यह वर्णन इतना अंतरमुख है कि इसकी अलंकृत शब्दावली और चित्रात्मकता का आनंद दुष्प्राप्य-सा हो जाता है। फिर भी ये लेख अत्यंत कला-प्रधान और आलंकारिक हैं और लेखक की साहित्यिक शक्तिमत्ता सूचित करते हैं, इसमें संदेह नहीं।

इन आरंभिक निबंधों से आगे बढ़ने पर दो प्रमुख लेख शरच्चन्द्र और गांधीजी पर लिखे गये हैं जिनमें से एक में शरच्चन्द्र को अपराजेय कथाशिल्पी की आख्या दी गई है और व्रतोद्यापन की वृत्ति से उनका स्मृति-तर्पण किया गया है। दूसरे निबंध में गांधीजी की 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' धारणाओं और मंतव्यों पर प्रकाश डाला गया है। एक निबंध विशुद्ध भावात्मक और दूसरा तर्कपूर्ण, कुशल और सौम्य विवेचन का उदाहरण है।

दोनों के दो निदर्शन दिये जाते हैं, जिनसे दो विभिन्न शैलियों में लिखे गये दो लेखों की समान श्रेष्ठता का आभास मिलता है—

शरच्चन्द्र—"उपन्यास-शिल्पी शरच्चन्द्र में अपूर्व साहस था। उन्होंने पापविद्ध और असुंदर को त्याग और सहिष्णुता की अक्षत महिमा से मण्डित किया है; समाज-धर्म के ऊपर न्याय-धर्म को प्रतिष्ठित किया है—उस न्याय धर्म को जिसके सम्मुखीन होकर प्रेम का मान-अभिमान, विरह-मिलन नितान्त क्षुद्र और लघु-चंचल दिखाई पड़ता है। महाप्राण शिल्पी शरच्चन्द्र ने घृणित और असुंदर को जिस श्री और सम्पद् से अलंकृत किया है, वह कल्प-सुन्दरी के चरण-कमल में अम्लान आभा दान करेगा।"

गांधीजी—"आई संध्या। गांधीजी वायुसेवन के लिए निकले। वही दृश्य। पार्श्ववर्ती व्यक्ति एवं बापू की भुजाओं का आश्रय जगज्जननी के प्रतीक रूप बहनों का व्यूह कैसे भेदन करूँ। सशंक मैं बापू के पद-संचालन के निकट पहुँचा ही था कि उनके दाहने पैर की चप्पल मेरे बाएँ पैर से दब गई। बापू यदि गिर पड़ते तो मुझे सम्भवतः आत्मग्लानि से डूब मरने को भी स्थान न मिलता। किन्तु आश्रयदात्री बहनें सावधान थीं। एक पल रोषारोप की भ्रूभंगिमा से उन्होंने मुझे सचेष्ट किया। बापू बेचारे उस समय थके-हारे आँखें मूँद कर चलते हैं। इसीलिए उन्हें इस समय आश्रय की विशेष आवश्यकता होती है।"

हिन्दी के सुन्दरतम निबंधों में इन दोनों की गणना की जा सकती है। ऊपर के उद्धरण इसका कुछ थोड़ा आभास देते हैं।

इसके आगे हिन्दी साहित्यिकों पर लिखे गये संस्मरण, निबंध और चर्चाएँ हैं जिन्हें पढ़ने पर प्रकट होता है कि सुन्दरलालजी हिन्दी के लेखकों के प्रति बहुत अच्छी धारणा नहीं रखते। किन्तु प्रत्यक्ष विरोध के स्थान पर कलापूर्ण शैली से यह धारणा व्यक्त की गई है। लेखक का यह अपोहन-गुण विशेष उल्लेखनीय है। बात कह भी दें और कोई समझ भी न सके कि वह कही गई या नहीं, कही गई तो कहाँ और कितनी !

प्रसिद्ध लेखक श्री उदयशंकर भट्ट की कविता 'सफलता के सैंतालीस वर्ष, विफलता के सैंतालीस वर्ष' पर सुन्दरलालजी की टिप्पणी देखिए:—

"'उ' महाशय ने अपनी एक और कविता 'जन्म-दिन' सुनाई। शिथिल मस्तिष्क मैंने केवल यह समझा कि कवि ने अपना सैंतालीसवाँ वर्ष अतिक्रम किया है। अवश्य रचना सुनकर मुझे स्फुरण प्राप्त हुआ और सूर्य के समान शाश्वत ज्योति के कवि रवि ठाकुर के 'जन्म-दिन' की चिन्ता मेरे मानस में विकीर्ण हो उठी।"

'उ महाशय' और 'सूर्य के समान शाश्वत ज्योति के कवि रवि ठाकुर'—नाम-निरूपण में ही वाक्य-रत्न का मूल्य खुल गया है ! फिर रवि ठाकुर की 'जन्म-दिन' कविता का पूरा रूपान्तर देकर तो उन्होंने 'उ' महाशय के विषय में कुछ कहने को रक्खा ही नहीं।

इसी प्रकार 'साकेत'—वासी श्री रामकुमार वर्मा जी ('र' महाशय) के 'हिमहास' पर सुन्दरलालजी का वक्तव्य देखिए—

"कवि सोचता है कि 'पहलगाम' अनन्त काल से अपनी माँ की गोद में है। तब क्या उसका शैशव अनन्त शैशव है? कवि पहलगाम का अनन्त शैशव देखकर प्रभु से अपने अनन्त यौवन की कामना करता है और मैं प्रभु के अकिंचन प्रतिनिधि के अधिकार से कहना चाहता हूँ, हाँ कवि, तुम कवि-कुल-गुरु कालिदास, चंडीदास, विद्यापति, केशव कवि अथवा रवि ठाकुर का-सा कुछ लिखो, तुम्हारी वांछा सिद्ध होगी।"

'अकिंचन अधिकार' का कैसा 'समृद्ध उपयोग' किया गया है !

'सरस्वती'-संपादक श्री देवीदत्त शुक्ल की चर्चा सुन्दरलालजी ने पुलीस-डायरी के ढंग पर आरंभ की है। संभवतः वे शुक्लजी को साहित्यिक न्यायालय के हवाले करना चाहते हों। आप लिखते हैं—

"मैं जब प्रेस में प्रविष्ट हुआ, तब वहाँ मैंने 'सरस्वती' के सम्पादक-द्वय, 'हल', 'बालसखा' और 'दीदी' के सम्पादक, 'अभ्युदय' के सम्पादक तथा 'देशदूत' के सम्पादक को उपस्थित पाया। आरंभिक शिष्टाचार के सहित ही मेरी दैनन्दिनी की चर्चा चल पड़ी।"

"मैंने एक पृष्ठ सामने रक्खा—'अभिजात-निवास...।'आपत्ति आरंभ हुई—यह 'अभिजात' क्या है? और 'निवास' से आपका क्या मतलब है? मेरी बात मानी नहीं गई और कोश-प्रयोग के पश्चात् स्थिर हुआ कि 'अभिजात' का अर्थ ठीक है, पर 'निवास' के सहित उसका प्रयोग अनर्गल है। 'अभिजात' हिन्दी के प्रयोग का शब्द नहीं है।"

इसी प्रकार 'प्रतिवेशिनी', 'आतिथेयी' आदि शब्दों और 'अभियान', 'सो लेकिन' आदि प्रयोगों पर देवीदत्तजी से जो बातचीत हुई, "दैनन्दिनी" के एक निबंध में दर्शनीय है।

श्री तेजनारायन काक के 'पाषाण और निर्भर' की समीक्षा काफी कड़ाई के साथ की गई है, पर यहाँ भी सांकेतिक प्रणाली से ही। मेरे ऊपर भी सुन्दरलालजी ने एक फब्ती कसी है, किन्तु मैं उनका कृतज्ञ हूं कि इतने से ही मैं छुट्टी पा गया। डायरी-लेखक की कलम को रोक कौन सकता है। वे लिखते हैं—

'पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी', 'एम०ए०' सम्मेलन के मनोनीत सभापति थे। परंतु महाशय, पता नहीं क्यों, मेरे अनेक पत्र पढ़ कर भी समझ बैठे थे कि सम्मेलन कानपुर में होगा। मैंने उन्हें तार दिया और पत्र लिखा कि इक्कीस को मैं स्वतः काशी पहुँच कर उन्हें लिवा ले जाऊँगा।'

'पंडित' और 'एम० ए०' शब्दों पर लेखक का विशेष आग्रह है; किन्तु मामला यहीं तक सीमित रहा। उन्हें यह पता नहीं कि मैंने हरदोई में होने वाले कवि-सम्मेलन को कैसे समझा कि वह कानपुर होगा। कवि-सम्मेलनों से परिचित पाठक शायद मेरी नासमझी का पता बता सकें! अन्यों को वह सुन्दरलालजी की भाँति, बेपता ही रहेगी।

इसी प्रकार की अन्य मनोरंजक टिप्पणियाँ दैनन्दिनी में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं।

प्रश्न यह अवश्य होता है कि हिन्दी-लेखकों के प्रति सुन्दरलालजी

की यह विमनस्कता क्यों ! कुछ तो इसलिए कि बहुत-से हिन्दी-लेखक सुन्दरलालजी की रुचि और साहित्यिक माप के नीचे पड़ते हैं, किन्तु कुछ इसलिए भी कि सुन्दरलाल स्वतः एक अंतरमुख व्यक्ति हैं। वे अत्यंत एकान्तजीवी और एक हद तक असामाजिक प्राणी हैं ! अपनी विलक्षण वैशिष्ट्य-भावना के कारण वे हिन्दी-लेखकों के बीच सुख-पूर्वक बैठ नहीं पाते ।

युग-प्रवाह से पृथक् रहने वाले लेखक के संमुख यह विपरीत परिस्थिति स्वभावतः रहा करती है। सुन्दरलालजी के भाषा-प्रयोग हिन्दी की साहित्यिक चर्चाओं में टीका-टिप्पणी के विषय बन चुके हैं। प्रायः लोग उनकी शब्दावली को कौतूहल की वस्तु समझने के आदी हो गए हैं। इस विपरीत परिस्थिति का आक्रमण सुन्दरलालजी ने बहुत कुछ सतर्क होकर सहन किया है ।

यदि कोई निम्नतर प्रतिभा का व्यक्ति होता, तो वह या तो क्षेत्र में आता ही नहीं, अथवा उसे छोड़कर चला गया होता। तीसरी संभावना यह थी कि वह प्रगतिशील धारा के विरोध में इस प्रकार आ पड़ता कि लोग उसे सहन ही न कर सकते। सुन्दरलालजी इन तीनों ही विसंभावनाओं से ऊँचे उठ सके हैं। आज वे लोकप्रिय लेखक भले ही न हों, किन्तु हिन्दी के एक संमानित लेखक का पद ग्रहण करने में सर्वथा समर्थ हैं।

सुन्दरलाल एक असाधारण प्रतिभा के व्यक्ति हैं। वे अपने निश्चय के दृढ़ और किसी हद तक हठी भी हैं। साहित्यिक अध्ययन, और साहित्य की पहचान में वे बड़ी सुन्दर दृष्टि रखते हैं ।

ठीक वही बात जो प्रसिद्ध अंग्रेज निबंधकार चार्ल्स लैम्ब (Charles Lamb) के संबंध में कही गई है "वह राजपथों को छोड़ कर एकान्त गलियों में चलना पसंद करता है (He prefers by-ways to high-ways)" सुन्दरलालजी के संबंध में भी कही जा सकती है। सुन्दर लाल और लैम्ब के लेखन में—प्रकृति,परिस्थिति और जीवन-चर्या में भी—बड़ी हद तक साम्य है। 'दैनन्दिनी' के निबंध लैम्ब के निबंधों से बहुत मिलते-जुलते हैं।

लैम्ब की निबंध-शैली का अनुकरण तो हिन्दी में कई लेखकों ने करना चाहा, पर वे यह न समझ सके कि लैम्ब की शैली के मूल में उसका व्यक्तित्व काम करता है। शैली का अनुकरण तो सभी कर सकते

हैं, किन्तु व्यक्तित्व का अनुकरण कोई कैसे करेगा! यही कारण है कि वे लेखक बहुत चेष्टा करने पर भी लैम्ब के निबंधों का अनुकरण न कर पाए और विना चेष्टा किए ही—शायद विना लैम्ब का नाम जाने ही सुन्दर लाल जी हिन्दी के लैम्ब बन गए हैं।

लैम्ब भी संयोगवश एक दफ्तर का किरानी था और सुन्दरलाल भी 'माधुरी-कार्यालय, लखनऊ में किरानी रह चुके हैं। लैम्ब की ही भाँति उनका निजी और पारिवारिक जीवन भी व्याधि-शून्य नहीं है—'सियाटिका' रोग की चर्चा 'दैनन्दिनी' में जगह-जगह की गई है। कोमल-प्रकृति, सांसारिक प्रपंचों से विमुख, संत्रस्त, क्षीण-स्वास्थ्य, दुर्बल शरीर, किन्तु अत्यंत मनस्वी, सीमा में वाचाल, सूक्ष्म विवेचक और सहृदय साहित्यिक सुन्दरलाल लैम्ब के ही हिन्दी-प्रतिरूप हैं।

साहित्य-निर्माण में भी वही शैली और बहुत कुछ वैसी ही मनोभावना। लैम्ब का साहित्य, शैली की दृष्टि से, पुरानी टकसाल का है, सुन्दर लाल जी का भी। सहसा उसके लेखन की ओर भी किसी की दृष्टि नहीं जाती। किन्तु इसी के साथ यह भी निर्विवाद है कि लैम्ब अंग्रेजी साहित्य का एक अद्वितीय निबंध-लेखक है। उसके निबंधों में आत्म-जीवनी और समीप की विषय वस्तुओं का हार्दिक और कलात्मक ग्रहण है! 'दैनन्दिनी' के निबंधों की भी प्रायः ऐसी ही विषय-वस्तु और शैली है यद्यपि लैम्ब के निबंध अधिक वातावरण-प्रधान और वस्तुमुखी हैं जब कि सुन्दरलाल जी के निबंधों में थोड़ी-अधिक भावुकता और काव्यात्मक प्रकृति है।

'दैनन्दिनी' के निबंधों की ओर मैं हिन्दी के पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहता हूँ। ये निबंध साधारण श्रेणी के नहीं हैं। इनमें उच्च कोटि की कलात्मक विशेषता है। भले ही सब निबंध एक ही धारा में न लिखे गये हों, और भले ही उनके साथ तादात्म्य स्थापित करने में एक-सी सुगमता न हो, किन्तु एक बार आत्मीय भावना से प्रवेश करने पर इनमें वह संवेदनीय सामग्री मिलेगी जो हिन्दी के निबंध-साहित्य में बहुत ढूँढ़ने पर भी नहीं प्राप्त होती।

'दैनन्दिनी' के अधिकांश निबंध बड़ी ही मनोरम और परिष्कृत भावना से लिखे गए हैं। उनमें भावुकता और शैली-चमत्कार के साथ ही विवेचना और मार्मिकता भी कम नहीं है। उनकी शैली में व्यंग्य और गूढ़ोक्ति का अच्छा पुट है। मानव-स्वभाव के प्रति सहानुभूति और मानव-महत्व की

स्वीकृति से ये लेख आकर्षक हैं। साहित्य के मर्म की परख करने में रचना सक्षम है। 'कर्मवीर नहीं 'कर्मभीरु' सुन्दरलालजी की यह कृति हिन्दी के लिए एक सुंदर उपहार है। इससे हिन्दी-निबंध-साहित्य की श्रीवृद्धि हुई हैं। डायरी के साँचे में निबंध-लेखन की यह नई शैली है, जो भविष्य के लिए उत्तम संभावनाएं रखती है। मैं अपने स्नेहवान और कला-मर्मज्ञ मित्र की इस कृति का सहर्ष स्वागत करता हूं।

एक प्रतिनिधि गद्य-रचना

किसी रचना को युगप्रवर्तक या युगान्तरकारी मानने के लिए उसमें कुछ गुणों का होना आवश्यक है। उसमें इतनी प्रचुर नवीनता होनी चाहिए कि वह अपने युग की अन्य रचनाओं से भिन्न और पृथक् प्रतीत हो। साथ ही उसमें इतनी प्रभावशालिता भी होनी चाहिए कि वह अपनी नई पद्धति का निर्माण कर सके, और युग की प्रवृत्तियों को अपनी ओर मोड़ कर नए विकास का संचालन कर सके। युगांतरकारी रचना नए विचार और नई अनुभूति के साथ नई शैली की सृष्टि करती है जिससे उसका स्वतंत्र स्वरूप और व्यक्तित्व बनता है। ऐसी रचना प्रायः ललित साहित्य के अन्तर्गत कविता, उपन्यास या नाटक आदि में हुआ करती है, पर विचारात्मक साहित्य में भी ऐसी रचना हो सकती है, और कभी-कभी तो केवल भाषागत नवीनता भी युगप्रवर्तन का श्रेय ग्रहण करती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि युगप्रवर्तक रचना आकार में विशाल हो, छोटे आकार की रचनाएँ भी युगागम की सूचना दे सकती हैं। उदाहरण के लिए वर्तमान काव्य में 'प्रसाद' जी की 'आँसू' या सुमित्रानंदन पंत की 'पल्लव' रचना आकार में बड़ी नहीं है, फिर भी उनसे नए युग का प्रवर्तन होता है। युगप्रवर्तन-कारिणी रचना अधिकतर दो प्रकार की होती है, एक वह जो साहित्यिक क्षेत्र में क्रांति करती है और नए साहित्य-युग की प्रतिनिधि होती है। दूसरी वह जो साहित्य की अपेक्षा सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र को अधिक प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए 'निराला' जी का मुक्त-वृत्त साहित्यिक क्रान्ति का प्रतीक है और गुप्तजी की 'भारत-भारती' साहित्य से अधिक सामाजिक प्रवर्तन की कृति है। परंतु ये दोनों प्रकार एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं और प्रायः मिले-जुले रहा करते हैं। वास्तव में महान् साहित्यिक रचना वह है जो साहित्यिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों को प्रभावित करती है।

इस भूमिका पर रखकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल-रचित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ देखने पर प्रकट होता है कि यह शुक्लजी की एक प्रतिनिधि रचना है। यह उनके प्रौढ़ काल की कृति है।

शुक्लजी की प्रवर्तक रचनाएँ उनकी 'तुलसी' और 'जायसी' की समीक्षा पुस्तकें हैं और उनके वे निबंध हैं जिनमें साहित्यिक विषयों का विवेचन है और जिनमें उनके स्वतंत्र विचारों की छाप है। ये रचनाएँ सन् '२० से '२८ तक प्रकाशित हो चुकीं थी और इन्होंने शुक्लजी के वास्तविक प्रवर्तन-कार्य को पठित जनता के संमुख उपस्थित कर दिया था।

उनका 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' सन् '३० के आसपास प्रकाशित हुआ जब उनकी लेखनी में प्रौढ़ता आ गई थी और जब हिन्दी जनता उनके विचारों से अवगत हो चुकी थी। जहाँ तक नवीनता का प्रश्न है, शुक्लजी के इस ग्रंथ में वह युगान्तरकारी नवीनता नहीं है जो उनकी आरंभिक कृतियों में पाई जाती है। परंतु इसमें शुक्लजी का संकलित और धारावाहिक पांडित्य अवश्य प्राप्त होता है। एक इतिहास-ग्रंथ के रूप में यह हिन्दी की संभवतः सबसे पहली प्रौढ़ कृति है।

यहाँ हमें स्वीकार करना होगा कि विशुद्ध इतिहास-लेखक की तथ्य संग्रहकारिणी प्रतिभा और प्रवृत्ति शुक्लजी में अधिक नहीं है। वे मुख्यतः एक साहित्यिक विचारक और चिन्तक हैं। उनका संबंध व्यक्तियों की जीवनी, उनकी कृतियों के क्रमिक निर्माण तथा अन्य इतिवृत्तों से अधिक न था। तिथियों का निरूपण करने में उनकी विशेष रुचि न थी, कोरे अनुसंधान या घटना-ज्ञान के क्षेत्र से भी उनका अनुराग न था, अतएव इतिहास के ये पहलू उनके ग्रंथ में प्रमुख होकर नहीं आ सके हैं।

प्रभावशालिता की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि साहित्य के विद्यार्थियों और पाठकों में इस ग्रंथ का प्रसार अवश्य हुआ है, परंतु इसका जितना उपयोग हिन्दी की छात्र-परीक्षाओं के लिए किया गया है उतना साहित्यिक मनन, अनुशीलन और विचार-विनिमय के लिए नहीं। इस इतिहास-ग्रंथ के निर्माण के पश्चात् कोई दूसरा इस प्रकार का ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ, जिसमें आंशिक या पूर्ण रूप से शुक्लजी के विचारों की छाप हो अथवा जिसमें इस ग्रंथ को आधार बनाकर नए विचारों का प्रकाशन किया गया हो। परंतु इस बात से पुस्तक की प्रभाव-हीनता सिद्ध नहीं होती, हिन्दी साहित्यिकों की उपेक्षा और अकर्मण्यता भी इसका कारण हो सकती है।

यहाँ मैं पुस्तक के कुछ महत्त्वपूर्ण गुणों की चर्चा करूँगा। सब से पहले शुक्लजी के ऐतिहासिक काल-विभाजन को लीजिए। हिन्दी साहित्य का

इतिहास हिन्दी-भाषी जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिनिधि है और उनकी चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होता गया है, यह मार्मिक सूझ शुक्लजी की है। इसके आधार पर उन्हें हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन करने में बड़ी सुविधा हुई है। इसके पूर्व हमारे साहित्य का विभाजन आदि काल, पूर्व मध्यकाल, उत्तर मध्यकाल और आधुनिक काल के विभागों में किया जाता रहा है। परंतु वह काल-विभाजन अनिर्दिष्ट था और किसी साहित्यिक प्रवृत्ति पर आधारित न था। शुक्लजी ने वीरगाथा काल, भक्तिकाल, रीतिकाल और गद्य काल में हिन्दी साहित्य के इतिहास को विभाजित कर उसका एक वास्तविक आधार उपस्थित किया। इन मुख्य विभागों के अन्तर्गत उनके अन्तर्विभागों का भी स्पष्ट और व्यवस्थित निरूपण उन्होंने किया। किसी काल की मुख्य प्रवृत्ति का निर्देश करने के साथ ही अन्य आनुषंगिक प्रवृत्तियों का उल्लेख करने में भी उन्होंने तत्परता दिखाई, जिससे उनका इतिहास-ग्रंथ विभिन्न कालों की साहित्यिक सृष्टियों का संतुलित दिग्दर्शन करा सका। अन्य इतिहास ग्रंथों में साहित्यिक धाराओं का इतना स्पष्ट और सर्वांगीण निरूपण नहीं है। काल-विशेष के अन्तर्गत विभिन्न उपधाराओं और उत्थानों का परिचय देने में शुक्लजी की मार्मिक दृष्टि सदैव उनके साथ रही है।

इस ग्रंथ में शुक्लजी की दूसरी विशेषता युग-विशेष के ग्रंथ-भंडार में से विशुद्ध साहित्यिक रचनाओं को ढूंढ निकालने की है। साहित्यिक और असाहित्यिक का भेद जानना हो तो कोई शुक्लजी के इस इतिहास से जानें। साहित्य के इतिहास-लेखन में यह चुनाव कितने महत्त्व का है, यह वे ही जान सकते हैं जिनके संमुख कभी ऐसी समस्या आई हो। शुक्लजी के संमुख यह समस्या आई थी और विकट रूप में आई थी। हिन्दी के आदिकाल के साहित्यिक विकास में नाथों और सिद्धों की असाहित्यिक परम्परा सैकड़ों नामावलियों के साथ उपस्थित थी। अनेक साम्प्रदायिक ग्रंथ अंबार लगाकर इकट्ठे थे। यदि शुक्लजी की स्वच्छ साहित्यिक दृष्टि उनका यथार्थ स्वरूप आंकने में कुछ भी कोर-कसर करती तो हमारा साहित्यिक इतिहास एक भ्रामक परम्परा का शिकार बन जाता और हम साहित्य-असाहित्य के भेद से वंचित रहकर भ्रम में ही भटकते रहते। आधुनिक काल का इतिहास लिखने में भी इस अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता थी। विशेषत: आधुनिक गद्य के अन्तर्गत कितने ही

प्रकांड पंडित अपने पोथी-पत्रे लिए उपस्थित थे। सैकड़ों समाचारपत्र-सम्पादक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और शास्त्रीय लेखक, पुरातत्त्व की खोज से लेकर नारी-अधिकार का पुरस्कार करनेवाली सहस्रों कृतियाँ, साहित्यिक कहलाने के लिए होड़ लगा रही थीं। यदि वे सब हमारे साहित्यिक इतिहास में स्थान पा जातीं, तो वास्तविक साहित्यिक कृतियों के लिए उसमें जगह ही न रह जाती और वे अपने स्वाभाविक अधिकार से भी वंचित रहतीं। परन्तु शुक्लजी ने इस संपूर्ण जमघट में से सच्ची साहित्यिक वस्तु का जिस निपुणता से चयन किया, वह उन्हीं के योग्य था। उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास की स्वस्थ परम्परा स्थापित की जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

एक अन्य प्रासंगिक विशेषता इस ग्रंथ की यह है कि इसमें हिन्दी साहित्य के साथ उसकी आधारभूत हिन्दी भाषा के स्वरूप और उसके विकास को भी अच्छी तरह पहचाना और प्रदर्शित किया गया है। आरम्भिक युग में जब प्राकृताभास अथवा अपभ्रंश की शब्दावली हिन्दी के साथ-साथ लगी चल रही थी, और उसके स्वतंत्र स्वरूप को आवृत कर रही थी, शुक्लजी ने उसकी यथार्थ छान-बीन की है। विद्यापति की भाषा का परिचय देते हुए उन्होंने उनकी दोनों प्रकार की पद्धतियों का उल्लेख किया है; एक वह जिसमें वे परम्परागत प्रयोगों से आकृष्ट होकर पुरानी पदावली का प्रयोग कर रहे थे और दूसरी वह जिसमें उन्होंने हिन्दी के अपने स्वरूप का विकास किया है। हिन्दी भाषा के माधुर्य के लिए यदि वे सूर की प्रशंसा करते हैं तो उसकी व्यापकता के लिए वे तुलसी का उदाहरण रखते हैं। छंदों और तुकों की पूर्ति के लिए किया गया भाषागत अनाचार उन्हें पसन्द नहीं है। रीतिकाल के कवियों की भाषा रूढ़ि में बंध रही थी, अतएव शुक्लजी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के भाषा-आदर्श को उपस्थित किया है जिन्होंने जन-समाज में प्रचलित भाषा का फिर उत्थान किया। शुक्लजी कृत्रिम और दुरूह भाषा के स्थान पर जीवित और प्रचलन प्राप्त भाषा के हिमायती थे। वे हिंदी की स्वतंत्र सत्ता का आग्रह रखते थे। ग्रामीण, प्रान्तीय या स्थानिक प्रयोगों के पक्षपाती न होकर वे भाषा का सर्वसामान्य रूप चाहते थे। हिन्दी पर किसी अन्य भाषा का प्रभाव, चाहे वह फारसी का हो या संस्कृत का ही क्यों न हो, उन्हें इष्ट न था। इससे हिंदी के प्रति उनके असीम

अनुराग के साथ ही भाषा-सम्बंधी उनकी स्वस्थ विवेचना का परिचय मिलता है।

अब मैं इस इतिहास-ग्रंथ में पाए जानेवाले कुछ मुख्य साहित्यिक गुणों का विवरण दूंगा जिन्हें सुविधा के लिए तीन-चार भागों में रखकर देखा जा सकता है। पहली वस्तु आदिकाल और आधुनिक काल के अध्यायों में की गई साहित्यिक और भाषागत शोध की है जिसमें शुक्ल जी ने अपेक्षाकृत अधिक परिश्रम किया है। सिद्धों और योगमार्गियों की परम्परा से कबीर का संबंध स्थापित करने में शुक्लजी को उक्त सम्प्रदायों को पूरी छान-बीन करनी पड़ी है। इसी प्रकार आधुनिक काल में गद्य का विकास दिखाने में उन्हें हिन्दी गद्य की उत्पत्ति और प्रगति पर उपलब्ध सामग्री का पूरा अनुशीलन करना पड़ा है। सूफियों तथा वैष्णव मत-प्रवर्तकों की सैद्धांतिक स्थिति के साथ सूफी और वैष्णव काव्यधाराओं का धारावाहिक संबंध भी उन्हें दिखाना पड़ा है। इन क्षेत्रों में किया गया शुक्लजी का कार्य महत्त्वपूर्ण है, परंतु इसे और भी अधिक प्रामाणिक और परिपुष्ट रूप में, सम्पूर्ण विवरणों के साथ, उपस्थित करने की आवश्यकता है। यह कार्य स्वतंत्र अनुसंधान और खोज द्वारा हो सकता है। इतिहास-ग्रंथ में इसका जितना उल्लेख शुक्लजी ने किया है, उससे अधिक के लिए वहां स्थान न था।

दूसरी साहित्यिक विशेषता इतिहास के प्रत्येक अध्याय में उस युग के साहित्य के प्रमुख लक्षणों और प्रवृत्तियों के निरूपण की है। वास्तव में इस ग्रंथ का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग यही है। स्वयं शुक्लजी ने लिखा है कि यह पुस्तक कुछ जल्दी में तैयार की गई है, इसलिए इसमें बहुत-से व्यक्तियों के नाम छूट गए हैं। इस जल्दी की पूर्ति उन्होंने विभिन्न युगों के साहित्य के सामान्य परिचय द्वारा की है। इसके अतिरिक्त यहीं शुक्लजी को अपने समस्त साहित्यिक और दार्शनिक विचारों और धारणाओं को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रखकर उपस्थित करने का अवसर मिला है। इसे उन्होंने स्पष्ट और सुव्यवस्थित रूप में रक्खा है। इससे उनके सच्चे आचार्यत्व के साथ-साथ हिंदी की परिपुष्ट विचार-परम्परा की प्रतिष्ठा हुई।

इन विवेचनों में शुक्लजी ने यह प्रदर्शित किया है कि सगुण भक्ति-द्वारा ही हिंदी काव्य के विकास के लिए सर्वाधिक उपयोगिनी थी और

उसमें भी राम-भक्तिधारा सर्वाधिक व्यापक तथा जीवन के अनेक सात्विक संबंधों और परिस्थितियों के प्रदर्शन के लिए उपयुक्त थी। इसी सगुण रामभक्ति का आश्रय लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि हुए। निर्गुण भक्ति में वे उतना प्रसार और व्यापकता नहीं देखते, रहस्यवाद को वे काव्योपयुक्त वस्तु नहीं मानते। शुक्लजी के इन निर्देशों में हमें काव्य की उस परम्परा का आभास मिलता है जो वर्णनों की विशदता और सर्वांगता में श्रेष्ठ काव्यत्व देखती है। हमें शुक्लजी के इन निरूपणों को देखकर पश्चिमी 'क्लेसिक' आचार्यों के निरूपण याद आते हैं जिनसे शुक्लजी की साहित्यिक दृष्टि का बहुत कुछ साम्य था।

इतिहास की तीसरी साहित्यिक विशेषता के अंतर्गत शुक्लजी द्वारा की गई कवियों और उनकी कृतियों की वैयक्तिक समीक्षा ली जा सकती है। हम कह चुके हैं कि शुक्लजी की रुचि और प्रवृत्ति कवियों की जीवनी और उनकी रचनाओं के क्रमिक विकास के अनुसंधान की ओर अधिक न थी। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वे कवियों और उनकी कृतियों की साहित्यिक विशेषताओं को परखने में पश्चात्पद या उदासीन रहे हैं। अवश्य उन्होंने अपने पूर्व निरूपित सिद्धांतों के आधार पर प्रत्येक कवि को परखना चाहा है, जिससे उनकी समीक्षा और उनका विश्लेषण सर्वत्र वस्तून्मुखी नहीं हो सका है। कवि की प्रवृत्ति और परिस्थिति के साथ उसके काव्य की परख नहीं की गई है। इस कारण शुक्लजी की समीक्षा में एक से ही पैमाने दिखाई देते हैं और बार-बार एक से ही शब्दों का प्रयोग होने लगा है। देशकाल के प्रभावों से उत्पन्न कला की विविधता की वे उपेक्षा कर गए हैं। उदाहरण के लिए विहारी, सेनापति और पद्माकर जैसे भिन्न प्रतिभा वाले कवियों को एक ही तुला में रखकर तौलना यद्यपि कला-समीक्षा के लिए न्यायसंगत नहीं है, परंतु शुक्लजी इसमें कोई त्रुटि नहीं देखते। इस कारण कहीं-कहीं किसी के संबंध में कोई अतिरंजित या असंतुलित धारणा भी व्यक्त हो गई है। उदाहरण के लिए घनानंद के संबंध में उनका यह वाक्य कि 'इनकी-सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ।' विचारणीय अवश्य है; क्योंकि घनानंद की भाषा को सूर और तुलसी-जैसे प्रशस्त कवियों की काव्यभाषा के समकक्ष रखना किसी अंश तक असंतुलित कथन ही कहा जायगा।

अन्त में मैं इस इतिहास-ग्रंथ के वर्तमान युग के संबंध में अपनी धारणा व्यक्त कर यह वक्तव्य समाप्त करूँगा। वर्तमान युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके समसामयिक साहित्यिकों की चर्चा जितने सुन्दर रूप में की गई है, परवर्ती द्विवेदी-युग के साहित्यिक विकास का परिदर्शन उतनी सहानुभूति और तटस्थता के साथ नहीं किया गया। उसके आगे के साहित्यिक उत्थानों का परिचय देने में शुक्लजी यूरोप के नवीन साहित्यिक वादों और कला-परिपाटियों की चर्चा करने लगे हैं और हिन्दी के इस विकास को अंग्रेजी की अनुकृति-मात्र मानने के पक्ष में हैं। यह एक अनोखी सूझ है जिसके लिए पर्याप्त प्रमाण मौजूद नहीं हैं। शुक्लजी के विवरणों से यह आभास मिलता है कि हमारा आधुनिक काव्य यूरोपीय अनुकृति पर ही चल रहा है। यह एक ऐसा आरोप है जिसे हम सम्यक् प्रमाण के अभाव में स्वीकार नहीं कर सकते। परंतु यहां भी हमें शुक्लजी के असाधारण पांडित्य और प्रभावशाली विवेचन का लोहा मानना पड़ता है। ऐतिहासिक तथ्य-स्थापन की दृष्टि से यह अंश असमाधानकारक और आरोपित प्रतीत होता है, परंतु इससे पूरे ग्रंथ के परिपूर्ण विवेचन और तथ्यनिरूपण में कमी नहीं आती। नए युग का साहित्यिक इतिवृत्त लिखने के लिए आज नवीन प्रयत्न की आवश्यकता अवश्य है, पर शुक्लजी का इतिहास अपनी प्रौढ़ता, और पांडित्य में युग-विशेष का प्रतिनिधित्व अवश्य करता है। उनकी साहित्यिक दृष्टि और प्रतिभा सुव्यवस्थित और स्वतंत्र रूप में अभिव्यक्त हुई है।

खंड ५

समीक्षा

नई समीक्षा

साहित्य-शास्त्र का ह्रास उन्नीसवीं शताब्दी तक पूरा हो चुका था। उसका नया जन्म यद्यपि भारतेन्दु-युग में ही हुआ, किन्तु समीक्षा का व्यवस्थित विकास बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही मानना चाहिए। इस प्रथम उत्थान को समीक्षा का द्विवेदी-युग कहा जाता है। स्वयं द्विवेदीजी के अतिरिक्त पं० पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबंधु और रामचन्द्र शुक्ल इस युग के प्रमुख समीक्षक थे। साहित्य के संस्कार की प्रवृत्ति इसी समय दिखाई दी और स्वभावतः इस युग की समीक्षा ने सुधारवादी रूप ग्रहण किया।

उस समय रीति-शैली के काव्य का ही हिन्दी में सबसे अधिक प्रचलन था। थोड़ी मात्रा में नवीन शैली की रचनाएं भी होने लगी थीं, किन्तु तुलना में वह रीति-काव्य से बहुत कम थी। पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा का आधार मुख्यतः रीति-कविता है; यद्यपि थोड़ा बहुत नवीन साहित्य पर भी उन्होंने प्रकाश डाला। ठीक जिस मात्रा में ये दोनों काव्य-प्रकार उस समय प्रचलित थे, उसी अनुपात में शर्माजी ने उनका विवेचन किया। इस दृष्टि से शर्माजी अपने समय के प्रतिनिधि समीक्षक भी कहे जा सकते हैं।

क्रमशः नवीन साहित्य की मात्रा, परिमाण और शक्ति बढ़ती गई और रीति-काव्य का अंत होता गया। रीति के प्रभावों से द्विवेदी युग की समीक्षा को पूरी मुक्ति नहीं मिली।

प्राचीन काव्य का मोह भी इस युग में बना रहा। यदि हम नवीन समीक्षा पर इस दृष्टि से विचार करें कि विशुद्ध साहित्यिक आधार पर प्राचीन साहित्य और नवीन साहित्य का समन्वय कब हुआ, अर्थात् कब समीक्षा की एक ऐसी सत्ता प्रतिष्ठित हुई जिसमें नवीन और प्राचीन साहित्य एक ही तुला पर रख कर देखे गए, तो हम कहेंगे कि वह समय द्विवेदी-युग के उपरांत ही आया। स्वयं शुक्लजी का झुकाव नवीन की अपेक्षा प्राचीन की ओर अधिक था।

जिस तरह शुक्लजी और उनके पूर्ववर्ती समीक्षक प्राचीन साहित्य

की ओर इतना अधिक झुक गए थे कि वे नवीन साहित्य की विशेषताओं को पूरी तरह परख नहीं सके, उसी प्रकार आज की नवीन समीक्षा प्रचलित साहित्य की ओर इतनी आकृष्ट है कि न केवल प्राचीन साहित्य की उपेक्षा हो रही है, बल्कि साहित्य की कोई सार्वजनीन और स्थिर माप बनने में भी बाधा आ रही है। यह स्वाभाविक है कि द्विवेदी-युग में नवीन साहित्य का पल्ला हल्का होने के कारण समीक्षकों की दृष्टि उसके गुणों की ओर न जा सकी। किन्तु इस बात का कोई कारण नहीं दीखता कि आज के नए समीक्षक प्राचीन और नवीन समस्त साहित्य को समदृष्टि से न देख सकें?

साहित्य की कोई अपनी स्थायी कसौटी क्यों नहीं बन रही? क्यों हम अपनी विशेष दृष्टियों से साहित्यिक कृतियों की समीक्षा करते हैं? इसका कारण केवल हमारे संस्कार नहीं हैं, वे अनेक मतवाद भी हैं, जो नई समीक्षा में प्रवेश कर चुके हैं। इन मतवादों में अत्यधिक उलझ जाने के कारण साहित्यिक विवेचन की कोई स्वतंत्र परम्परा नहीं बन पा रही।

यहाँ हम धारावाहिक रूप से यह देखना चाहते हैं कि हिन्दी की नवीन समीक्षा किन आरम्भिक परिस्थितियों को पार कर आज की भूमि पर पहुँची है, और किस प्रकार वह भविष्य-पथ की ओर अग्रसर हो रही है। उसने कितना साधन-संबल संग्रह कर लिया है और उसकी सहायता से वह आगामी परिस्थितियों का कहां तक सामना कर सकती है?

शर्माजी (पं० पद्मसिंह शर्मा) की समीक्षा में सुधार का मुख्य विषय रचना-कौशल था। रीति-काव्य में, जो शर्माजी के समय में प्रचलित काव्य-प्रवाह था, रीतिबद्ध शृंगारिकता तो थी ही, रचना-कौशल का भी पूरा योग था। शर्माजी ने शृंगारिकता को छोड़कर रीति-काव्य के दूसरे गुणनिर्माण-कौशल को अपनाया; उसी की छान-बीन की। शर्माजी के समय के साहित्यिक निर्माण में रचना-कौशल की कमी थी। कदाचित् इसीलिए शर्माजी की समीक्षा का मुख्य आधार काव्य-कौशल बना, जो सामयिक साहित्य-स्थिति के सुधार में भी एक सीमा तक सहायक हुआ। नवीन सुधार का विषय काव्य-आत्मा नहीं, काव्य-शरीर था। काव्य अनुभूति की अपेक्षा कविता की कारीगिरी पर समीक्षकों की अधिक दृष्टि गई थी; पर यह भी सुधार का ही एक अंग था।

काव्य-शरीर के अंतर्गत भाषा, पद-प्रयोग, उक्ति-चमत्कार और चित्रण-कौशल आदि आते हैं, इन्हीं की ओर शर्माजी की दृष्टि गई। यदि यह प्रश्न किया जाय कि काव्य-शरीर और काव्य-आत्मा में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, तो मोटे तौर पर यही कहा जा सकता है कि सूर और तुलसी का काव्य आत्मा स्थानिक है और बिहारी तथा देव का काव्य-शरीर स्थानिक। पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा काव्य-शरीर का आग्रह करके चली, देव-बिहारी को आदर्श बना कर आगे बढ़ी।

सुधार की पहली सीढ़ी शरीर-सम्बन्धिनी होती है, और उसका अपना मूल्य भी कुछ कम नहीं होता। अंग्रेजी की उक्ति है कि शुद्ध शरीर में ही शुद्ध आत्मा रह सकती है, यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं कि शुद्ध शरीर में सदैव शुद्ध आत्मा ही रहती है। शर्माजी ने काव्य-शरीर के सौठव्व के सभी पहलू स्पष्ट किए हैं और उनकी सभी सम्भावनाएँ उद्घाटित कीं। काव्य-समीक्षा के लिए उनका कार्य अपनी सीमा में महत्त्व रखता है और यह सिद्ध करता है कि शरीर के ही सुधारने से मन और आत्मा नहीं सुधरते।

नवीन काव्य-धारा के संबंध में शर्माजी का मत मुक्तक काव्य के—बिहारी और देव आदि के—काव्य प्रतिमानों से ही प्रभावित था। नवीन कविता किस आदर्श को ग्रहण करे, इस विषय पर उनके संस्कार रीति-शैली से ही परिचालित हुए थे। फलतः नवीन काव्य की गति-विधि पर न तो उनकी सम्मति का विशेष मूल्य था और न प्रभाव ही। हिन्दी के लिए उन्होंने हाली का आदर्श ग्रहण करने की सिफारिश की, किन्तु नवीन हिन्दी कविता उस साँचे में नहीं बैठ सकती थी।

द्विवेदी-युग का नवीन काव्य आदर्शात्मक काव्य था। उसके मूल में नवयुग की भावना का विन्यास था। छायावाद की कविता तो और भी अधिक आत्माभिमुखी थी। उसके लिए देव और बिहारी के साँचे कहाँ तक ठीक उतर सकते थे, यह आज का सामान्य व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है।

मिश्र-बंधुओं की समीक्षा में देश-काल के उपादानों का संग्रह हुआ और कवियों की जीवनी पर प्रकाश पड़ा, किन्तु वह सब उल्लेख नाम-मात्र का था, समीक्षा की दृष्टि में कोई विशेष परिवर्तन न हो पाया। सब कुछ होते हुए मिश्र-बंधु रीति-काव्य का मोह न त्याग सके, न उन्होंने काव्य के

भाव-पक्ष को कोरी कलात्मकता से पृथक् करके देखा। रीति-काव्य और रीति-ग्रंथों का उनकी समीक्षा पर अमिट प्रभाव है।

द्विवेदीजी ने समीक्षा के जीवन्त पहलू, उसके आत्म-पक्ष पर पूरा ध्यान दिया, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी छत्र-छाया में नवीन-धारा के कवियों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। संपूर्ण त्रुटियों के रहते हुए युग-काव्य का पोषण करना द्विवेदीजी का ही काम था और वे युग-द्रष्टा साहित्यिक और समीक्षक के पद को गौरवान्वित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। 'हिन्दी नवरत्न' पर अपना मत देते हुए उन्होंने एक ओर सूर और तुलसी-जैसे संत कवियों के काव्य को शृंगारी कवियों से पृथक् और ऊंचा स्थान देने की सिफारिश की, और दूसरी ओर भारतेन्दु-जैसे नई शैली के स्वदेश-प्रेमी कवि को सम्मानित पद प्रदान किया। समीक्षा की एक सुन्दर रूप-रेखा द्विवेदीजी ने प्रस्तुत की, यद्यपि उसमें रंग भरने, उसे प्रशस्त और शास्त्रीय मर्यादा देने का कार्य पं० रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपन्न हुआ।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन भी इस युग के मुख्य समीक्षकों में हैं जिन पर रीति-पद्धति की पूरी छाप पड़ी है। द्विवेदीजी अपनी समीक्षा में काव्य-विषय को महत्त्व देते हैं, भले ही शैली का सौन्दर्य अथवा भावात्मकता उसमें न हो। मिश्रजी और दीनजी विषय की अपेक्षा काव्य-शैली को मुख्य ठहराते हैं, उन्हें विषय के महत्त्व अथवा काव्य की वास्तविक भावात्मकता से प्रयोजन न था। द्विवेदी-युग की समीक्षा के ये दो अतिवादी छोर हैं जिनके बीच कोई सामंजस्य स्थापित न हो पाया।

शुक्लजी अपनी समीक्षा में मिश्रबंधुओं अथवा शर्माजी की अपेक्षा द्विवेदीजी के अधिक निकट थे। उन्होंने काव्य-विषय के महत्त्व का आरम्भ से ही ध्यान रखा और सामाजिक व्यवहार की पृष्ठ-भूमि पर काव्य की भाव-सत्ता को स्थापित किया। यही शुक्लजी का काव्यात्मक लोकवाद है, जो कि उनका मुख्य साहित्यिक सिद्धान्त है। काव्य में भाव की सत्ता व्यवहार-निरपेक्ष भी हो सकती है, शुक्लजी इसे स्वीकार नहीं कर सके।

काव्य की आत्मा की ओर उनकी दृष्टि गई, किन्तु आत्मा के स्थूल पक्ष-व्यवहार या नीति पर ही वह टिक रही। काव्य-विषय का आग्रह उन्हें "यहि मँह रघुपति नाम उदारा' के प्रवर्तक तुलसीदास के समीप ले गया।

तुलसीदास के काव्यात्मक महत्त्व पर दो मत नहीं हो सकते, किन्तु इतना स्वीकार करना होगा कि गोस्वामीजी कवि के साथ ही अपने युग के एक धर्म-संस्थापक, सुधारक और संस्कारक भी थे। उनके काव्य में उपदेशात्मक तथ्य कम नहीं है।

विशुद्ध काव्यात्मक भाव-संवेदन की अपेक्षा नैतिक भाव-सत्ता की ओर शुक्लजी का झुकाव कहीं अधिक था, यह उनके समीक्षा कार्य से लक्षित होता है। भारतीय रस-सिद्धांत को उन्होंने मुख्य समीक्षा-सिद्धांत माना, किन्तु रस के आनन्द-पक्ष पर—उसके संवेदनात्मक स्वरूप पर—उनकी निगाह नहीं गई। साहित्य-समीक्षा को सैद्धान्तिक आधार देने वाले प्रथम समीक्षक शुक्लजी ही थे, किन्तु रस-सम्बन्धी उनकी व्याख्या भाव-व्यंजना या अनुभूति पर आश्रित न होकर एक नैतिक और लोकवादी आधार का अवलंबन लेती है।

इस सम्बन्ध में उनका 'साधारणीकरण' का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। काव्य में इसकी एक अबाध धारा न मान कर वे वस्तु या विषय-चित्रण के आधार पर उसकी कई भूमियाँ मानते हैं। रामचरित मानस के तीन पात्रों का उदाहरण देकर वे कहते हैं कि राम के चित्रण में पाठक या श्रोता की वृत्ति रमती है, रसानुभव करती है। रावण के चित्रण में वह रसानुभव नहीं करती और सुग्रीव आदि पात्रों के चित्रण में अंशतः रस लेती है। यह अनोखी उपपत्ति काव्य की समस्त क्रमागत विवेचना के विरुद्ध है तथा शुक्लजी की नैतिक काव्य-दृष्टि की विज्ञापक है।

रस और अलंकार—भाव-पक्ष और शैली-पक्ष का पृथक्करण और आत्यंतिक विच्छेद शुक्लजी का दूसरा सिद्धान्त है। विभावपक्ष और अलंकार पक्ष, काव्य-भावना और अभिव्यंजना को दो पृथक् प्रक्रियाएँ मानने के कारण शुक्लजी उनके समन्वय की कल्पना भी नहीं कर सके। न तो भारतीय साहित्याचार्य और न क्रोचे-जैसे नवीन सिद्धान्त-स्थापक वस्तु और शैली में इस प्रकार का कोई भेद स्वीकार करते हैं।

काव्य में प्रकृति-वर्णन के एक विशेष प्रकार का आग्रह करते हुए शुक्लजी काव्य के स्थायी वर्ण्य-विषयों और वर्णन-प्रकारों का मत सामने लाए हैं। काव्य की देश-काल-परिच्छिन्न शैलियाँ और उनकी प्रेरक परिस्थितियां शुक्लजी को मान्य नहीं, रागात्मक वृत्ति का एक ही नित्य और स्थिर स्वरूप मानने के कारण शुक्लजी काव्य के देश-कालानुरूप

स्वरूप की उपेक्षा कर गए हैं। इसीलिए वे नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि अनेक काव्यांगों के स्वतंत्र रूपों की ओर भी अधिक आकृष्ट नहीं हुए।

सामान्य नैतिकता का ही नहीं, क्रमागत भारतीय समाज-पद्धति और वर्णव्यवस्था का भी प्रभाव शुक्लजी की समीक्षा पर देखा जाता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था का एक समाज-पद्धति के रूप में समर्थन करना एक बात है और उसे काव्यवैशिष्ट्य का हेतु मान लेना दूसरी बात है। शुक्लजी काव्य के नैतिक आदर्श के कारण भावनावान कवि सूरदास के प्रति जो मत व्यक्त कर गए हैं, उनसे शुक्लजी की समीक्षा-संबंधी नीतिवादी दृष्टि का परिचय मिलता है। स्थूल व्यावहारिक सम्बन्धों का प्रबंध-काव्य के साँचे में उल्लेख न करने के कारण नवीन भावात्मक और दार्शनिक काव्य से भी वे विरक्त रहे हैं।

एक नवीन और उदात्त काव्यादर्श का निर्माण शुक्लजी ने अवश्य किया, जिसके अंतर्गत हिंदी के प्राचीन और नवीन साहित्य का आरंभिक विवेचन सुन्दर रूप में किया जा सका और हिंदी समीक्षा की एक पुष्ट परिपाटी भी बन सकी, किंतु हम यह नहीं कह सकते कि शुक्लजी की सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षायें भारतीय या पाश्चात्य साहित्यानुशीलन की उन्नततम कोटियों तक पहुँच सकी हैं। साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक समीक्षा का प्रथम चरण शुक्लजी ने पूरा किया।

उनके कार्य का ऐतिहासिक महत्त्व है। भारतीय काव्य-समीक्षा के पुनरुज्जीवन का प्राथमिक प्रयास उन्होंने किया। काव्य-आत्मा के नैतिक स्वरूप की उन्होंने पूर्ण प्रतिष्ठा की, किंतु काव्य का निर्विशेष स्वरूप जिसमें वस्तु और प्रक्रिया, रस और अलंकार, भाव और भाषा के बीच पूर्ण तादात्म्य की खोज होती है, शुक्लजी की समीक्षा में उपलब्ध नहीं। पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के बहुत थोड़े और एक विशेष अंग पर ही उनकी दृष्टि गई, जो व्यापक नहीं कही जा सकती।

हिंदी साहित्य का महान् उपकार हुआ, किंतु विशुद्ध साहित्यिक सिद्धांत की वह प्रतिष्ठा, जो पूर्व और पश्चिम, नवीन और अतीत की काव्य सम्पत्ति को पूर्णतः आत्मसात कर सके और जिसके द्वारा सभी काव्य-शैलियों, काव्यांगों और कलात्मक स्फूर्तियों का सम्यक् आकलन हो जाय—काव्य-साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या और काव्य-सिद्धांतों का तटस्थ अनुशीलन—शुक्लजी की कार्यपरिधि में नहीं आता।

इसी समय आचार्य श्यामसुन्दर दास की 'साहित्यालोचन' और श्री बख्शी की 'विश्व साहित्य' पुस्तकें प्रकाशित हुईं। साहित्यालोचन में काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विविध साहित्यांगों की पहली बार सुन्दर व्याख्या की गई, और 'विश्व साहित्य' में यूरोपीय और विशेषकर अंग्रेजी साहित्य की एक मोटी रूप-रेखा प्रस्तुत की गई। इनमें से प्रथम ग्रंथ का हिंदी साहित्य-समीक्षा पर अभीष्ट प्रभाव पड़ा और साहित्य को नैतिक सीमा से ऊपर उठाकर भावात्मक कलावस्तु के रूप में देखने की अपूर्व प्रेरणा पैदा हुई।

शुक्लजी का समीक्षा-कार्य पांडित्यपूर्ण होता हुआ भी वैयक्तिक रुचियों का द्योतक है। कदाचित् इसी कारण वह मार्मिक है, किंतु वस्तुगत और वैज्ञानिक नहीं। बाबू श्यामसुंदर दास का 'साहित्यालोचन' उतना मौलिक नहीं, किंतु वह साहित्य और उसके अंगों की तटस्थ, ऐतिहासिक तथा वास्तविक व्याख्या का आरंभिक प्रयत्न अवश्य है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शुक्लजी के नैतिक और व्यवहारवादी कलादर्श की अपेक्षा वह अधिक साहित्यिक है।

इसी समय नवीन साहित्य का नवोन्मेष हो रहा था और उसकी व्याख्या करने वाले समीक्षक भी क्षेत्र में आ रहे थे। नवीन काव्य में आत्माभिव्यंजना का प्राधान्य था और उसमें प्रगीत शैली का आधार ग्रहण किया गया था। इसीके अनुरूप नवीन समीक्षा भी जीवन और कला का ऐक्य तथा वस्तु और शैली का सामंजस्य ले कर चली। नवीन प्रगीत-काव्य की संगीतात्मकता और लय से प्रभावित होकर नए समीक्षकों ने प्रथम बार काव्य की आध्यात्मिक या भावमूलक सत्ता का अनुभव किया।

शुक्लजी प्रभृति पूर्ववर्ती समीक्षक काव्य-विषय को महत्त्व देते थे और आलंबन का साधारणीकरण आवश्यक बताते थे। किंतु नई समीक्षा, जो विशुद्ध काव्यानुभूति के आधार पर प्रतिष्ठित हुई, काव्य मात्र को आत्मा की प्रक्रिया स्वीकार करने लगी। काव्य की रसात्मकता का अर्थ है—उसकी लोकोत्तर भावनामयता। रस का आनंद अलौकिक आनंद इसी अर्थ में है कि वह नैतिक और व्यावहारिक भावभूमियों को आत्मसात कर भी उनके परे पहुंच जाता है।

भारतीय राष्ट्र की इस जागृति के काल में नवीन कविता जो सुंदर संवेदना, दार्शनिक आभा, कल्पना की अपूर्व छटा तथा मधुर भाषाअर

अभिव्यंजना लेकर उपस्थित हुई, उससे हिन्दी समीक्षा-काव्य की उच्चतम भावभूमि का प्रथम बार परिदर्शन कर सकी। बँगला में रवींद्रनाथ और हिंदी में नवीन रहस्यवादी दार्शनिक सौंदर्यचेता कवियों ने काव्य को उच्चतम भावना-भूमि पर पहुँचाने का प्रयत्न किया। फलतः नवीन समीक्षा में भी नई उमंग उत्पन्न हुई और काव्य का सौन्दर्य नैतिक आवरण को नांघकर आत्मपरक भावसत्ता का परिचायक बन गया।

काव्यानुभूति के साथ संगीत का संयोग भी इस युग में बना रहा। संगीत का इतना गहरा प्रभाव पड़ गया था कि इस युग की गद्य भाषा भी ध्वन्यात्मक हो गई थी। प्रसाद के नाटक, निराला के उपन्यास और पंत की गद्यभूमिकाएं ऐसी ही भाषा के उदाहरण हैं। प्रगीतात्मक काव्य का इतना प्रसार था कि साहित्य के आख्यानात्मक और नाटकीय अंग भी अपनी विशेषता छोड़कर कल्पना की भूमि में रमने लगे थे।

एक अतिरिक्त सौंदर्य-संवेदना इस युग की रचनाओं पर अधिकार करने लगी थी, जिससे विशुद्ध भाव-व्यंजना का मार्ग एक सीमा तक अवरुद्ध होने लगा था। कतिपय समीक्षकों ने इसी कारण इस युग को सौंदर्य या कलाप्रधान-युग कहा है; किन्तु यह आंशिक सत्य ही है। वास्तव में एक सांस्कृतिक उत्थान, एक अभिजात चेतना और अलंकृति (जो मध्यवर्ग की संपन्नता की परिचायक थी) इस युग के काव्य में देखी जाती है।

काव्य का अनुभूति-पक्ष इस काल की काव्य-समीक्षा में प्रमुख रीति से प्रदर्शित हुआ और समीक्षकों ने अनुभूति के मानसिक आधार की विवेचना करने का यथेष्ट प्रयत्न किया। विशुद्ध काव्यात्मक अनुभूति या भावयोग की खोज की गई तथा काव्य-समीक्षा को मानसिक संवेदना का आधार दिया गया। प्रथम बार एक मापरेखा बनी जिससे प्राचीन और नवीन, भारतीय और पाश्चात्य साहित्य एक ही आधार पर रखकर देखे जा सके। समीक्षक भी एक उदात्त दार्शनिक भावना और व्यापक कलाभिरुचि से परिचालित थे।

हिंदी-समीक्षा के लिए यह युग-प्रवर्त्तक कार्य था, क्योंकि इसी आधार पर हिंदी साहित्य विश्व-साहित्य का अंग कहलाने का दावा कर सकता था। साहित्य की एक ऐसी वास्तविक चेतना उत्पन्न हुई जिसमें देशगत और कालगत बंधनों के लिए स्थान न था। इस नवीन समीक्षा-युग की यह विशेषता उल्लेखनीय है।

मध्यवर्गीय आदर्शवाद के इस नवीन साहित्यिक प्रवाह के फलस्वरूप काव्य-साहित्य के विविध पक्षों की सुन्दर विवेचना होने लगी, और यदि इस प्रवाह में कोई व्यवधान न आता, तो कदाचित् साहित्यिक मूल्यांकन के मानों में स्थिरता आती और उसकी एक स्थायी परम्परा भी बन जाती; परंतु इसी समय कुछ ऐसी समीक्षाएं भी होने लगीं जिनमें साहित्य के वस्तुपक्ष की नितान्त उपेक्षा थी और विवेचन तथा सौंदर्यनिर्देश का कहीं नाम न था। यह प्रभाववादी समीक्षा रचनाओं के प्रति लेखक की वैयक्तिक प्रतिक्रिया को भावात्मक शब्दावली में व्यक्त कर देती थी। इस व्यक्तिवादी कवित्वपूर्ण समीक्षा में एक नैसर्गिक त्रुटि यह थी कि यह बुद्धि का समाधान नहीं कर सकी। यह अतिशय अंतर्मुख और भावुक शब्दावली कदाचित् अपने 'समीक्षा' नाम को भी सार्थक न कर पाई। इसके फलस्वरूप हिंदी-समीक्षा में एक अनिश्चयात्मकता फैल चली और इसी समय सामाजिक क्रांति के अभिलाषी साहित्यिकों ने उस पर हमला कर अपने नए मत की स्थापना का प्रयत्न किया।

समीक्षकों का यह वर्ग इस मत के प्रचार में लगा कि हिंदी का नवीन काव्य पूंजीवादी सभ्यता का प्रतिनिधि है और उस पर उक्त सभ्यता के एक युग-विशेष की ाप है। मानव-इतिहास को मार्क्स ने जिन कतिपय कालों में विभाजित किया है, उसी मापदंड को लेकर नए समीक्षक हिंदी कविता पर अपने प्रयोग करने लगे। प्रभाववादी वैयक्तिक समीक्षा के विरोध में यह दल हिन्दी में आया था। वे समीक्षक जब काव्य का देशकाल-निर्बाधरूप मानते थे और जब विशेषता प्रदर्शन के स्थान पर केवल निजी उद्‌गार व्यक्त कर रहे थे (यह भी एक असाहित्यिक पद्धति ही बन गई थी), तब नया समीक्षक-दल इसके विरुद्ध नवीन कविता को पूंजीवादी कविता कहने लगा। यह दूसरी अति थी।

दोनों ही दिशाओं से साहित्य-विवेचन में असाहित्यिकता आने लगी। पहला मत काव्य की मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक और भावात्मक विशेषताओं के निरूपण में असमर्थ था। समीक्षक प्रभावाभिव्यंजक हो गए थे और अपनी रुचि-विशेष के अनुशासन में आकर साहित्य की कोई तटस्थ या वस्तुगत व्याख्या न कर सके। दूसरी ओर क्रांतिवादी समीक्षकों की व्याख्याएं एक नपे-तुले उद्देश्य को लेकर होती थीं, जो साहित्यिक दृष्टि से अधूरी और अवास्तविक कही जा सकती हैं।

छायावाद-युग के आरम्भ में काव्य की सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विशेषताओं के निरूपण द्वारा हिन्दी में साहित्य-समीक्षा की जो स्वस्थ परंपरा बनने की सम्भावना हो चली थी (जैसी परंपरा अंग्रेजी साहित्य और सभी समृद्ध साहित्यों में है, जिसका होना साहित्यिक समृद्धि के लिए अनिवार्य भी है और जिसके बिना साहित्य की अपनी मर्यादा बन ही नहीं सकती), उस आशा पर पानी फिरने लगा और वाद-प्रधान समीक्षा का प्राधान्य होने लगा। यह स्पष्ट है कि सुन्दरतम साहित्यिक रचनाओं में सार्वजनिकता होती है, युग का प्रतिबंध या वाद का वितंडा नहीं होता। काव्य-क्रिया कोरी भौतिक वस्तु नहीं है, वह मानव-कल्पना की सृष्टि है। वह क्रमागत मानव-संस्कृति की परिपूर्णता की परिचायक है। वह मानव सभ्यता के विकासक्रम में प्रतिष्ठित मानव-भाव-संवेदना का आधार लिए रहती है।

यह असत्य नहीं कि कवि भी मनुष्य है और अपने युग की स्थितियों तथा प्रवृत्तियों का उस पर भी प्रभाव पड़ता है। ये दोनों मत नितान्त विरोधी नहीं हैं। एक काव्य के मानसिक और कलात्मक गुणों की व्याख्या करता है और काव्य को सभ्य मानव की सार्वजनिक सम्पत्ति मानता है, किसी वर्ग-विशेष की विरासत नहीं। इसके विरुद्ध दूसरा पक्ष कवि या लेखक को वर्ग-विशेष का प्राणी मानकर उसकी रचना को उसकी वर्ग-स्थिति से ही संबद्ध मानता है।

दोनों ही दृष्टियों में विभेद बढ़ता ही गया है। एक ओर नवयुग की मनोवैज्ञानिक समीक्षा अपनी दृढ़ साहित्यिक भित्ति को त्याग कर केवल काव्य-प्रभाव की अभिव्यंजना करने लगी, और दूसरी ओर नए समीक्षक साहित्यिक कलात्मक और सांस्कृतिक विशेषताओं का एक वाद-विशेष के लिए तिरस्कार करने लगे।

किन्तु दोनों पक्षों में सतर्क समीक्षकों का एक दल ऐसा भी है जो काव्य की व्यावहारिक समीक्षा में इतना अतिवादी नहीं बना। साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जिन नवीन कवियों का स्वागत एक पक्ष के समीक्षकों ने किया था, दूसरे पक्ष के समीक्षकों ने अपनी सामाजिक व्याख्याओं द्वारा उन्हीं कवियों के महत्त्व को स्वीकार किया। इन दोनों दलों के समीक्षकों में पक्ष-भेद अवश्य है, किन्तु नितान्त विच्छेद नहीं।

कट्टरता का परिणाम दोनों ओर अनिष्टकारी हुआ; हिन्दी काव्य-

समीक्षा के सामने संकट उत्पन्न हो गया कि वह इस वाद-वितंडा में पड़कर कहीं अपने महान् उद्देश्य से स्खलित न हो जाय। प्रभाववादी समीक्षक अत्यंत वैयक्तिक सीमाओं पर पहुंच गए और केवल हृदय की क्षणिक प्रतिक्रिया को समीक्षा के नाम से प्रकाशित करने लगे।

दूसरी ओर परिस्थितियों और काव्य-रचनाओं की सापेक्षता का आग्रह भी साहित्यिक मर्यादा को पार कर गया है और साहित्य में प्रचारात्मक दृष्टि का प्राबल्य हो उठा है। प्रचारक समीक्षकों ने सामाजिक विकास के अस्त्र के रूप में साहित्य की व्याख्या की और स्वभावतः उग्ररूप में साहित्यिक गुणों पर प्रहार किया। इस उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रिया में काव्य की शिष्ट समीक्षा के लिए स्थान ही नहीं रह गया।

फिर भी इस वर्गवादी समीक्षा का अपना उपयोग भी था। हिन्दी की कविता का सामाजिक आधार क्षीण हो रहा था, और कविगण अपने निराशावादी ऐकान्तिक तराने अलापने लगे थे। उनकी रचनाओं पर अतिरिक्त विषाद की छाया पड़ रही थी। इससे नवीन काव्य-धारा की रक्षा करनी थी। अब भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वह मार्मिक प्रहर आ गया था, जब कवियों के संवेदनशील हृदय और समीक्षकों की मर्मग्राहिणी दृष्टि नवीन समाजवादी आंदोलन का साथ देने को तत्पर थी। इन्हीं कारणों से प्रगतिवादी धारा का बल बढ़ता गया।

प्रभाववादी और प्रगतिवादी समीक्षा का द्विमुखी संघर्ष ही हमारे साहित्य के सम्मुख नहीं है। एक तीसरी समीक्षा-पद्धति भी धीरे-धीरे सिर उठा रही है। वह प्रगतिवादी सामाजिक काव्य-सिद्धान्त के विपरीत पक्ष को उपस्थित कर रही है। इस वर्ग के समीक्षक यह सिद्धान्त उपस्थित करने लगे हैं कि काव्य वास्तव में सामाजिक चेतना का विषय नहीं है, वह कवि की अन्तःचेतना की अभिव्यक्ति है। वर्तमान कवि सामाजिक वैषम्य से आक्रान्त हैं, और कल्पना-जगत में आत्मतृप्ति चाहते हैं। कविता उनकी आत्मतृप्ति का साधन है।

यह समीक्षक-वर्ग साहित्य के सामाजिक पक्ष को महत्त्व देने के बदले कवि–व्यक्ति की मानसिक तृप्ति का पैगाम लेकर चला है। बिना मानसिक कुंठा, अतृप्ति या मनोग्रंथि के काव्य-कर्म आरंभ ही नहीं होता। काव्य का मुख्य प्रयोजन कवि का मानसिक समाधान पहले है, पीछे और

कुछ। ऐसी धारणाएँ बड़े आग्रह के साथ उपस्थित की जाने लगीं। जीवन के सामाजिक और वैयक्तिक पक्षों का परस्पर समन्वय न होने पर ही इस प्रकार की नितान्त विरोधिनी और बहुत अंशों में असांस्कृतिक धारणाएं उत्पन्न होनी और फैला करती हैं। वर्तमान साहित्य-जगत में ये सभी विरोधी मत और प्रवाद उपस्थित हैं। इतने से ही हमारी समीक्षा की वर्तमान विषमतापूर्ण स्थिति का परिचय मिल जाता है। किन्तु इससे यह भी सूचित होता है कि वर्तमान अतिवाद स्वस्थ समीक्षा-सिद्धान्त का पद नहीं ग्रहण करते, वे एकांगी और अपूर्ण हैं।

सामाजिक परिस्थितियों को सहसा बदल देना हमारी शक्ति में नहीं है, किन्तु इतना हम कह सकते हैं कि साहित्य-समीक्षा के स्वस्थ विकास में इन अतिवादों के खतरे को हमें समझना चाहिए। आज की हमारी समीक्षा-दृष्टि नवीन साहित्यिक मतवादों के ही विचार-विमर्श में लगी हुई है। साहित्य के व्यापक आदर्श जिनमें नवीन और प्राचीन साहित्यिक सामग्री का हमारी सांस्कृतिक और कलात्मक निधि के रूप में ग्रहण हो सके, हमारी चिन्तना से दूर होते जा रहे हैं। उस पर फिर से दृष्टिपात करना होगा और अपनी समीक्षा-दृष्टि को स्वस्थ, सर्वांगीण तथा सुसंगत स्वरूप देना होगा। यह ध्यान रखना होगा कि हमारे साहित्य की सांस्कृतिक और कलात्मक परंपरा का लोप न हो जाय।

सैद्धान्तिक दृष्टि से हिन्दी-समीक्षा अब तक वैज्ञानिक या शास्त्रीय स्थिति पर नहीं पहुँच सकी है, यद्यपि प्रयोगों और प्रणालिओं के आविष्कार हो रहे हैं। विकास की दृष्टि से अभी हिन्दी-समीक्षा अंग्रेजी-समीक्षा की सी परिपूर्ण नहीं है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि यद्यपि नवयुग की हिन्दी-समीक्षा की आरंभिक अवस्था की परिचायक थी, किन्तु व्यक्तित्व और कार्य की दृष्टि से अब तक नए समीक्षक उनकी समता पर नहीं आ सके हैं। जब तक हिंदी में समीक्षा की विविध प्रणालियों और सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण न होगा और उनके समन्वय या त्याग-ग्रहण द्वारा समीक्षा की विशुद्ध साहित्यिक परंपरा की प्रतिष्ठा न होगी, तब तक नई समीक्षा का कार्य अधूरा ही रहेगा।

शुक्लजी की अपेक्षा नई समीक्षा में साहित्य के ऐतिहासिक विकास और सामाजिक प्रेरणा-शक्तियों, शैली-भेदों और कला-स्वरूपों की परख

अधिक व्यापक और मार्मिक हैं, इसमें सन्देह नहीं । शुक्लजी की नैतिक और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा नए समीक्षकों की सौंदर्य-अनुभूति और कलाप्रधान दृष्टि—एक निश्चित प्रगति है, किन्तु सहसा नए वादों के प्रवेश के कारण समीक्षा की प्रगति में एक अवरोध भी उपस्थित हो गया है ।

समीक्षा-क्षेत्र में अच्छे समीक्षकों की कमी नहीं है । विविध मतों और दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करनेवाले विवेचक मौजूद हैं । मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक समीक्षा, प्रभाववादी समीक्षा, देश, काल और परिस्थिति की सापेक्षता में साहित्य का निरूपण करनेवाली प्रगतिवादी समीक्षा, अन्तश्चेतना-निरूपक समीक्षा, सभी अपना-अपना काम कर रही हैं । इन सब धाराओं के सहयोग से नवीन समीक्षा का निर्माण हो रहा है । प्रतिभाएं अनेक हैं, किन्तु सम्यक् दृष्टि अपेक्षित है । आशा है वह भी हमारी समीक्षा को अब प्राप्त होगी ।

छायावादी काव्य-दृष्टि

नई कविता की भाँति नई आलोचना भी द्विवेदी-युग से छायावाद-युग में आकर नया रूप-रंग धारण कर चुकी है। उसकी वेश-भूषा में ही नहीं, आकृति-प्रकृति में भी अंतर आ गया है। उसकी नई शैली और नवीन मान्यताएँ हो गई हैं। अपने नए व्यक्तित्व के अनुकूल वह अपना स्वतंत्र सैद्धान्तिक अस्तित्व भी ढूंढने लगी हैं। संक्षेप में नई समीक्षा पुरानी समीक्षा से भिन्न नए साँचे में ढल रही है।

यह ठीक है कि नवीन समीक्षा अब तक अपनी निश्चित शास्त्रीय परिपाटी नहीं बना सकी है, अभी वह निर्माणावस्था में है। अब तक उसकी कुछ प्रवृत्तियाँ ही प्रकाश में आई हैं, उन्हीं के आधार पर उसे परखा जा सकता है। यह भी ठीक है कि इस युग के विभिन्न आलोचकों की आलोचना-दृष्टि में भी पर्याप्त अंतर है। वे सभी अपनी-अपनी दृष्टियों से साहित्यिक तथ्यों का निरूपण कर रहे हैं। हिन्दी-जैसे अभ्युदयशील साहित्य में यह दृष्टि-भेद स्वाभाविक है, किन्तु अनेक दृष्टियों से की गई इस युग की आलोचनात्मक चेष्टाओं में बड़ी हद तक एक एकतानता भी है जिसकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

साहित्य की परिभाषा को ही लीजिए। एक संस्कृतज्ञ समीक्षक जानकी वल्लभ शास्त्री लिखते हैं—'सत्य मौन है, वाणी मुखर। सत्य नित्य निर्मल है, वाणी संस्कार-परिष्कार की अपेक्षा करने वाली ...। सत्य संपूर्ण रूप से कभी भी व्यक्त नहीं किया जा सकता...। अधिक से अधिक सत्य को व्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील महामनस्वियों की पवित्र तथा परिष्कृत वाणी ही का नाम साहित्य है।'

साहित्य की इस व्याख्या में हमें वर्तमान युग की आदर्शवादी दार्शनिक चेतना की स्पष्ट झलक मिलती है। यही चेतना रचनात्मक साहित्य में व्याप्त हुई और आलोचनात्मक साहित्य में भी। साहित्य की इस व्याख्या में हम नवयुग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब पाते हैं। संक्षेप में यह व्याख्या सांस्कृतिक और प्रसरणशील साहित्य की माप-रेखा है। इस

प्रकृति का आभास अवश्य मिल जाता है। यह व्याख्या अनिर्दिष्ट भले ही हो, संकीर्ण और असंयत नहीं है।

'संकीर्ण, और 'असंयत' शब्दों से मेरा क्या आशय है, यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। जानकीवल्लभजी की इस व्याख्या के साथ पंडित रामचंद्र शुक्ल की वह परिभाषा लीजिए जिसमें वे कहते हैं कि जगत ब्रह्म की (या सत्य की) अभिव्यक्ति है और साहित्य-जगत के नाना भावों की अभिव्यक्ति है। शुक्लजी ने सत्य और साहित्य के बीच में जगत और उसके नाना भावों का मध्यवर्ती तत्व ला रक्खा है जबकि जानकीवल्लभ साहित्य का सीधा संबंध सत्य या आध्यात्मिक तत्व से जोड़ देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि जानकीवल्लभ की अपेक्षा आचार्य शुक्ल की व्याख्या एक अर्थ में 'संकीर्ण' है।

साहित्य का जगत् से संबंध जोड़ देने के कारण शुक्लजी साहित्य के नैतिक और व्यावहारिक आदर्शों की ओर इतना अधिक झुक गए कि उसके विशुद्ध मानसिक और भावमूलक स्वरूप का स्वतंत्र आकलन न हो पाया। नवीन आलोचना से ही इस कार्य का आरंभ होता है, इसलिए स्वभावतः अभी इसका स्वरूप सब लोगों को स्पष्ट नहीं हुआ। कुछ लोग इस नवीन साहित्य-युग को सौन्दर्यवादी और नवीन समीक्षा को कलावादी समीक्षा कहते हैं। केवल सौन्दर्य के लिए सौन्दर्य अथवा कला के लिए कला का सिद्धान्त आधुनिक हिन्दी साहित्यिकों का नहीं है, यह स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है।

जानकीवल्लभजी की उपर्युक्त व्याख्या इसके प्रमाण में उपस्थित की जा सकती है। यह व्याख्या साहित्य में बिना किसी मतवाद का आग्रह किए भी उसके मनोवैज्ञानिक सौष्ठव और परिष्कार का आग्रह करती है। स्पष्ट ही यह व्याख्या साहित्य के कल्पनात्मक और मानसिक उत्कर्ष को प्रधानता देती है और कला के लिए कला का समर्थन नहीं करती। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि यह व्याख्या असंयत नहीं है।

कला के लिए कला और रस की अलौकिकता का सिद्धांत मानने वाले प्रायः साहित्य की असंयत व्याख्या करते हैं। नवीन आलोचकों ने ऐसा नहीं किया। रस को अलौकिक वस्तु मान लेने पर साहित्य की एक ऐसी स्वतंत्र सत्ता हो जाती है जिस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं रह जाता। क्रमशः जीवन के लिए अल्प महत्त्व की बातें साहित्य में प्रधानता

कलावाद और भारत में अलौकिक रसवाद, रीतिबद्ध और जीवन निरपेक्ष साहित्य के निर्माण में कारण बने। नए समीक्षक इस खतरे से अपरिचित नहीं हैं।

यहीं हम साहित्य की इस व्याख्या के संबंध में उन साहित्यिकों का आक्षेप भी उपस्थित कर देना चाहते हैं, जो मार्क्स-दर्शन के व्याख्याता और प्रगतिवादी हैं। ये लोग साहित्य के मनोवैज्ञानिक और कलात्मक सौष्ठव की अपेक्षा उसमें अभिव्यक्त वर्गवादी सिद्धान्त को अधिक महत्त्व देते हैं और वर्गवाद के आधार पर ही साहित्य का नया मापदण्ड स्थिर करना चाहते हैं। यह मतवादी प्रवृत्ति पूर्व युगों में भी अनेक रूपों में दिखाई देती रही है, किन्तु यह साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में कभी स्वीकार नहीं की गई।

हम यह नहीं कहते कि साहित्य में नवीन जीवन का विन्यास नहीं होगा अथवा नवीन प्रेरणाएँ प्रवेश नहीं करेंगी। यदि साहित्य किसी पूर्व परंपरा में ही बँध जाय, तो वह साहित्यिक दृष्टि से भी अवनत ही होगा। किन्तु नवीन जीवन-धाराओं में निमज्जित होकर भी साहित्य अपना विशिष्ट स्वरूप—अपना मनोवैज्ञानिक और कलात्मक उत्कर्ष—कभी नहीं छोड़ सकता।

यहाँ हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि कोई भी भारतीय साहित्यिक वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और भवभूति, सूर और तुलसी, कबीर और जायसी अथवा किसी भी विशिष्ट कवि की अवहेलना यह कहकर नहीं कर सकता कि वे सामंतवादी या राजसत्तावादी युग के प्रतिनिधि थे और वह युग अब बीत गया। वास्तव में सभी महान् कवि जातीय भावों और संस्कृति के प्रतिनिधि होते हैं, किसी विशेष वाद के नहीं। सामाजिक जीवन में नए परिवर्तन होने पर भी महान् कवियों की भाव और कला विभूति अपना आकर्षण नहीं खोती। वह स्थायी साहित्य और संस्कृति का अंग बन जाती है।

अस्तु, जानकीवल्लभजी की उपर्युक्त व्याख्या स्थायी साहित्य का स्वरूप निर्देश करती है, वह साहित्य और जीवन के विकास पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाती। नित्य नवीन भावधाराओं को ग्रहण करने में वह पश्चात्पद नहीं है।

उदारता के कारण ही यह व्याख्या पूर्णतः स्वरूप-निर्देशात्मक भी नहीं बन सकी। यह केवल इंगित का काम देती है, बड़ी हद तक अनिर्दिष्ट भी है। इसमें साहित्य के उन तत्वों का निर्देश नहीं किया गया जो उसके स्वरूप के विधायक हैं और जिनके विना साहित्य अपनी संज्ञा भी नहीं प्राप्त करता। यह एक प्रकार की त्रुटि भी है, किन्तु इसका कारण ऊपर बताया जा चुका है।

आरंभ में ही कहा जा चुका है कि नवीन आलोचना अभी पूर्णतः शास्त्रीय स्वरूप नहीं धारण कर सकी है, अब तक उसकी कुछ प्रवृत्तियाँ ही प्रत्यक्ष हुई हैं। इन प्रवृत्तियों के ही आधार पर हमें नवीन समीक्षा के स्वरूप का परिचय मिल सकता है। ऊपर मैंने इसके मूलभूत मनोवैज्ञानिक और भावात्मक स्वरूप का उल्लेख किया है। अब यहाँ हम उन सूत्रों को देखना चाहते हैं जिनके आधार पर समीक्षा का यह स्वरूप प्रतिष्ठित हो सका है।

सबसे पहले यह बात दिखाई देती है कि नवीन समीक्षा रस और अलंकार की शैली को छोड़ स्वतंत्र मार्ग ग्रहण कर चली है। श्री रामचंद्र शुक्ल यद्यपि इस प्राचीन समीक्षा-परंपरा का यथेष्ट परिष्कार भी कर गए और उसकी संभावनाओं का उज्वल चित्र भी दिखा गए, किन्तु नवीन समीक्षकों ने इसका अधिक उपयोग नहीं किया। इसका कारण यह नहीं था कि नवीन समीक्षक उस परंपरा से अपरिचित थे, किन्तु स्वच्छन्द अनुभूति-प्रवाह और अभिव्यक्ति के स्वतंत्र सौन्दर्य में रस और अलंकार-परंपरा के वर्गीकरणों को वे भूल ही गए। उनका ध्यान सांस्कृतिक मनोभावनाओं और उनकी मनोरम अभिव्यक्तियों ने इस प्रकार आकृष्ट कर लिया कि उसके स्थूल स्वरूप-निर्देश को वे अधिक महत्त्व न दे सके। किन्तु इतना निश्चय है कि साहित्य के कल्पना-पक्ष, उसकी अनुभूति और कला-विशिष्टता को परखने में यह युग पिछले युगों से पिछड़ा नहीं रहा।

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि यह नवयुग भारत में अभूतपूर्व राजनीतिक और सामूहिक हलचल का था। गांधी जी के सामूहिक सत्याग्रह आंदोलन ने एक अनोखे आत्मविश्वास का वातावरण उपस्थित कर दिया था। नूतन प्रेरणाओं के फल-स्वरूप देश में जो अनुपम जागृति फैली, उससे न केवल साहित्य में नवीन भावोद्रेक की धारा व्याप्त हुई, नई स्वच्छन्द शैलियों का भी विन्यास और विकास हुआ।

इन नवीन रचनाओं में बाहरी ढाँचे की अवहेलना भी थी। अलंकारों का आधिक्य नहीं था। नवीन स्वरलहरी का उल्लास था। प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं का तिरस्कार भी था। इन्हीं की ओर स्वभावतः समीक्षकों का ध्यान गया।

विषय नवीन भी थे और प्राचीन भी, किन्तु भावना सब में एक-सी ही स्वच्छन्द और वेगवती थी। स्वच्छन्दतावादी आंदोलन की प्रकृति के अनुसार यह साहित्य प्राचीन दर्शन, इतिहास और पुराण के क्षेत्र में भी नया अन्वषेण करने गया। संस्कृत भाषा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कवियों और लेखकों ने उसकी विशिष्टताएँ भी स्वतंत्ररूप से अपनी रचनाओं में ग्रहण कीं। इसी कारण इस काल की भाषा में संस्कृत का प्राचुर्य था। भाषा की लाक्षणिकता और अभिव्यक्ति की कल्पना-प्रचुर शैलियाँ इस युग के नए आविष्कार हैं। यह नवीन अलंकृत और रमणीक अभिव्यंजना-शैली अपनी स्वतंत्र विशेषता रखती है।

कवियों ने नवीन शिक्षा-दीक्षा भी ग्रहण की। अंग्रेजी भाषा की अभिव्यक्तियों और प्रयोगों का भी अच्छा प्रभाव देख पड़ा। लेखकों की ग्राहिका बुद्धि ने और उनकी नव सांस्कृतिक रुचि ने अभिव्यंजना को पाश्चात्य शैली से भी सज्जित करने की चेष्टा की। जितने नए शब्द और प्रयोग संस्कृत और अंग्रेजी से इस युग में गृहीत और निर्मित हुए और जितने स्वतंत्र आविष्कार भाषा के क्षेत्र में किए गए, उतने इसके पूर्ववर्त्ती कदाचित् किसी युग में नहीं हुए थे। भाषा की समृद्धिशीलता भी साहित्य की ही समृद्धिशीलता का अंग है।

काव्य से संगीत का संबंध दृढ़तर हो गया। गद्य और पद्य दोनों में नए स्वरों का संधान और नई शैलियों का निर्माण प्रचुर मात्रा में हुआ। लेखकों की शैलियाँ भी क्रमशः समुन्नत होती गईं।

कुछ कवि अन्यों की अपेक्षा अधिक भावुक और सौन्दर्यप्रभावी हैं। उदाहरण के लिए चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' या स्वयं 'प्रसाद' जी। कुछ अन्य कवि अधिक सजग कौशल, पाण्डित्य और प्रयोग-बाहुल्य लिए हुए हैं। उदाहरण के लिए 'निराला' जी; कुछ कवि उत्कृष्ट कल्पना-प्रतिभा लेकर आए, जैसे पंत जी; कुछ अन्य करुणा का ऐकान्तिक सौष्ठव लेकर चले, जैसे महादेवी जी; इसी प्रकार विभिन्न कवियों की विभिन्न व्यक्तिगत विशेषताएँ होते हुए भी इनकी युगगत प्रेरणाओं में बड़ी हद तक साम्य रहा है।

साम्य और वैषम्य के इन सूत्रों को सुलझाने में नई समीक्षा को पर्याप्त समय लगाना पड़ा। पूर्ववर्त्ती साहित्यिक निर्णयों और विवेचनों का विरोध भी करना पड़ा, नई स्थापनाएँ भी करनी पड़ीं। द्विवेदी जी से आरंभ होने वाले नवीन साहित्य का नया विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया। प्रबंध और मुक्तक की काव्य-परिपाटियों पर भी विवाद चला। प्रगीत की नई परिपाटी हिन्दी में आई। नवाविष्कृत मुक्त छंद पर भी बड़ी हलचल रही। इन व्यस्तताओं के कारण नई समीक्षा विस्तृत सैद्धान्तिक विवेचनों में अब तक नहीं जा सकी।

किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि नए समीक्षक सामयिक साहित्य की समीक्षा तक ही सीमित हैं। उन्होंने प्राचीन साहित्य का भी अध्ययन-अनुशीलन किया है, तथा साहित्य-सिद्धांतों पर भी निबंध लिखे हैं। पुराने कवियों में सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, और विद्यापति आदि नए समीक्षकों को अधिक आकृष्ट कर सके हैं; क्योंकि वे भाव-प्रधान और वास्तविक कवि हैं। नए समीक्षकों की रुचि भी उनके अनुकूल है। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि इस क्षेत्र में भी नवीन समीक्षा ने बहुत कुछ नया कार्य किया है।

जहाँ एक ओर नए समीक्षकों ने विशुद्ध प्रेम-प्रगीतों को प्रबंधमूलक रचनाओं और उनमें प्रदर्शित नीतिवाद से पृथक् और उच्चतर स्थान देने की चेष्टा की है, वहीं दूसरी ओर भक्ति के नाम पर रचित भाव-रहित शुष्क या अति शृंगारी काव्य को भी उन्होंने अलग कर दिया है। काव्य की परीक्षा काव्यात्मक और मनोवैज्ञानिक आधारों पर की गई। साथ ही नए समीक्षकों ने भक्ति की पुरानी, अतिवादी अथवा कोरी भावनात्मक उपपत्तियों को भी पहचाना और उनसे दूर रहे। उदाहरणार्थ शवरी, सुदामा, विदुर, द्रौपदी आदि के आख्यानों में भक्ति की अनन्यता के प्रदर्शन के लिए काव्य का भावात्मक और मनोवैज्ञानिक आधार निर्बल कर दिया गया है, इसे उन्होंने परखा। स्थान-स्थान पर भक्तों के आत्मविस्मरण आदि का जो दृश्य दिखाया गया है, नवीन समीक्षक उसके समर्थन तक नहीं गए। गोपिकाओं की मानलीला में निहित रहस्यवाद की असामाजिकता का उन्होंने निर्देश किया। किन्तु जहाँ विशुद्ध और भावमय चित्रण हैं, वहाँ केवल नीति और ऐकान्तिकता के नाम पर उनका विरोध नहीं किया गया और न उन चित्रणों को अनीतिवादी वताया गया है।

इस प्रकार क्रमशः छायावादी समालोचना नए साहित्यिक तथ्यों पर पहुँचने लगी है। वह केवल प्रभाववादी नहीं है, विश्लेषण-प्रधान और सैद्धान्तिक भी है। कोरी प्रभाववादी आलोचना सैद्धान्तिक नहीं हो सकती। विश्लेषण केवल भावों या काव्य के अंतरंग का ही नहीं किया गया है, काव्य के वस्तु-संघटन और रचना-कौशल आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

संक्षेप में यही कार्य है जो नवीन छायावादी समीक्षा ने किया है और अब भी करती जा रही है। ध्यान देने की बात यह है कि पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती दोनों ही समयों के लेखक इस समीक्षा का पृथक्-पृथक् कारणों से विरोध कर रहे हैं। किन्तु अब यह समीक्षा अपनी शैली और अपनी मापरेखा का बहुत कुछ निर्माण कर चुकी है और अपने भविष्य के संबंध में बहुत कुछ विश्वस्त है।

नवीन समीक्षा की प्रगति

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक हिन्दी समालोचना अपने नए रूप में अवतरित नहीं हुई थी। तब तक वह लक्षण-ग्रंथों में रसों, अलंकारों, नायकों और विशेषकर नायिकाओं की सूची-मात्र बनी हुई थी। वैसे रस और अलंकार, नायक और नायिका—साहित्यिक समालोचना के आधार-भूत तत्त्व ये ही हैं, पर जिन लक्षण-ग्रंथों की बात मैं कह रहा हूँ, उनमें इन तत्त्वों की मीमांसा बहुत ही स्थूल दृष्टि से की गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्यिक शास्त्र अथवा साहित्य-अनुशासन का कार्य इन लक्षण-ग्रंथों से नहीं सध सका। अनुशासन तो दूर, साहित्य का साधारण मार्ग-निर्देश अथवा अच्छे-बुरे की पहचान तक ये नहीं करा सके। इन्हें साहित्य-समीक्षा की सृष्टि किस अर्थ में समझा जाय, यह भी एक समस्या ही है।

साहित्यिक ह्रास के युग में आलोचना का भी ह्रास हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व जो दशा साहित्य की थी, वही इन लक्षण-ग्रंथों की भी। दोनों ही संस्कारहीन, परम्पराबद्ध और अन्तर्दृष्टि-रहित हो रहे थे। जिस प्रकार के लक्षण-ग्रंथ हिन्दी में उस समय प्रस्तुत किये गये, उन्हें देख कर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन लक्षण-ग्रंथों का प्रस्तुत किया जाना किसी भी समुन्नत साहित्य-युग में संभव न था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से स्थिति में परिवर्तन हो चला। आंखें खुलीं, और यह आभासित हुआ कि रस किसी छंद-विशेष में नहीं है, वह तो मानव-संवेदना के विस्तार में है। नायक-नायिका कवि की कल्पना में निर्माण होने के लिए नहीं हैं, वे तो प्रगतिशील संसार की नानाविध परिस्थितियों और सुख-दुःख की तरंगों में डूबने-उतराने और भुलकर निखरने के लिए हैं, और काव्य-कला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई में है, शब्द-कोष के पन्ने उलटने में नहीं।

यह प्रकाश हमें इस बार पश्चिम से मिला। सुनने में यह बात आश्चर्यजनक मालूम देती है, पर यह सच है कि तुलसीदास का महत्त्व हमने डाक्टर ग्रियर्सन से सीखा। उसके पहले गोसाईं जी के 'मानस' का

एक धार्मिक ग्रंथके रूप में आदर अवश्य था, पर काव्य तो बिहारीलाल, पद्माकर और केशवदास का ही उत्कृष्ट समझा जाता था। उससे पहले क्या, उसके पीछे भी हमारे साहित्य में ऐसे अन्वेषकों की कमी नहीं थी, जिन्होंने 'बिहारी' की होड़ में 'देव' को तोला रखा, पर कबीर, मीरा, रसखान और जायसी के लिए मौन ही रहे। रीतियुग के ये 'अप-टू-डेट' हिन्दी प्रतिनिधि हैं।

ठीक इसके विपरीत पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य में रीति-परम्परा के घोर विरोधी और कट्टर नैतिकता के पक्षपाती होकर आए। उन्होंने सामयिक आदर्शों को प्रधानता दी, और पुराने कवियों की तुलना में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्योत्थान की सराहना की। इस अग्रगामिता का प्रसाद द्विवेदी जी को यह मिला कि कई बार प्रस्ताव किए जाने पर भी विश्वविद्यालयों ने उन्हें सम्मानित डिग्री देना अस्वीकार कर दिया। परन्तु प्रथम बार साहित्य में जीवन की वास्तविकता का आवाहन करनेवाले आचार्य द्विवेदी जी को इतिहास ने अमर पद दिया है।

द्विवेदी जी के समकालीन पंडित पद्मसिंह शर्मा भी आलोचना के क्षत्र में काम कर गए हैं। शर्मा जी बिहारी की काव्य-कला के बड़े प्रशंसक थे। वे उर्दू-फारसी के भी पंडित थे और हिन्दी में उन्हें उर्दू-फारसी का मुकाबला कर सकने वाला काव्य-चमत्कार कहीं मिल सकता था, तो बिहारी में ही। उनका झुकाव काव्य-सज्जा और चमत्कार की ओर अधिक था। वे शब्दों के अद्भुत शिल्पी और अभिव्यंजना-सौंदर्य के परम प्रवीण पारखी थे। उनकी पैनी दृष्टि हिंदी-साहित्य-समीक्षा के एक पक्ष-विशेष के विकास में स्मरणीय रहेगी।

इसी समय अध्यापक श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' ग्रंथ हिन्दी में प्रकाशित हुआ, जिसमें साहित्य-संबंधी कुछ सैद्धान्तिक व्याख्याएँ की गई थीं, और नाटक, उपन्यास तथा कहानी आदि साहित्यांगों का स्वरूप-निर्देश करते हुए निबंध लिखे गए थे, जिनका बड़ा ही मार्मिक प्रभाव हिन्दी-आलोचना पर पड़ा। पश्चिमी और भारतीय साहित्य-तत्त्वों की आरम्भिक तुलना 'साहित्यालोचन' में सुन्दर ढंग से की गई है।

हिन्दी समीक्षा की इसी आरम्भिक और नवचेतन अवस्था में पंडित

रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हुआ। उन्होंने रस और अलंकार-शास्त्र को नई मनोवैज्ञानिक दीप्ति दी और उन्हें ऊँची मानसिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार रस और अलंकार हिन्दी समीक्षा से बहिष्कृत हो जाने से बचे। दूसरे शब्दों में, शुक्लजी ने समीक्षा के भारतीय साँचे को बना रहने दिया। यही नहीं, उन्होंने इस साँचे के लिए यह दावा भी किया कि भविष्य की हिन्दी समीक्षा का निर्माण इसी आधार पर होना चाहिए।

यह दावा करते हुए शुक्लजी ने रस और अलंकार आदिकों को लक्षण-ग्रंथों वाले निःशक्त रूप में न रहने देकर उन्हें नवीन प्राणों से अनुप्राणित कर दिया। उन्होंने उच्चतर जीवन-सौंदर्य का पर्याय बना कर 'रस और अलंकार पद्धति' का व्यवहार किया। जहाँ तक उनकी प्रयोगात्मक आलोचना है, उन्होंने तुलसी और जायसी जैसे उच्चतर कवियों को चुना और उनके ऊँचे काव्य-सौंदर्य के साथ रस और अलंकार का विन्यास करके रस-पद्धति को अपूर्व गौरव प्रदान किया। और साथ ही उन्होंने काव्य की स्थापना ऐसी ऊँची मानसिक भूमि पर की कि लोग यह भूल ही गये कि रसों और अलंकारों का दुरुपयोग भी हो सकता है।

शुक्लजी ने अपनी उच्च काव्य-साधना के बल पर समीक्षा की जो शैली निर्धारित की, वह उनके लिए ठीक थी। वे स्वतः तुलसी, सूर और जायसी जैसे कवियों की ही प्रयोगात्मक समीक्षा में प्रवृत्त हुए, जिससे उनकी आलोचना के पैमाने आप ही आप स्खलित होने से बचे रहे। उत्थानमूलक आदर्शवादी विचारणा से उनका कभी संपर्क नहीं छूटा।

किन्तु शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास भी लिखा है, और यहां उन्हें सभी प्रकार के कवियों से संपृक्त होना पड़ा है। यहां हम देखते हैं कि शुक्लजी ने कतिपय व्यक्तिगत रुचियों और मतों का आग्रह किया है, अतएव वे सब कवियों के साथ पूर्ण तटस्थता नहीं बरत सके हैं। कथात्मक साहित्य को उन्होंने मुक्तक-रचना की तुलना में श्रेष्ठता दी है, क्योंकि काव्य में जीवन की नाना परिस्थितियों और प्रसंगों के चित्रण में वे काव्यत्व देखने के अभ्यासी थे। निर्गुण मत के प्रथम कवि कबीर की अपेक्षा वे सगुण मत को श्रेष्ठ और काव्योपयुक्त समझते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि शुक्लजी की व्यक्तिगत अभिरुचि काव्य-सबंधी निष्पक्ष माप में सर्वत्र सहायक नहीं हुई।

वर्तमान साहित्य की प्रेरक शक्तियों, नवीन व्यक्तित्वों और नए

विकास के अनुरूप उनकी रचनाओं की वास्तविक छान-बीन करने में भी शुक्लजी एक प्रकार से उदासीन ही रहे। वे अभिव्यक्ति की प्रणालियों तक ही पहुँचे, अथवा अपनी बँधी-बँधाई दार्शनिक धारणाओं के आधार पर सम्मतियाँ देते गये। नवीन विश्लेषण और नए साहित्य की वास्तविक विकास-दिशा के अध्ययन में शुक्लजी ने अधिक समय नहीं लगाया।

विश्लेषण का समारोह, ऐतिहासिक विकास-प्रदर्शन और मनोवैज्ञानिक तटस्थता शुक्लजी में उतनी न थी जितनी सामान्य रूप से साहित्य-मात्र और विशेष-रूप से बीसवीं शताब्दी के नवोन्मेषपूर्ण और प्रसरणशील साहित्य के लिए अपेक्षित थी। तथापि हिन्दी समीक्षा को शास्त्रीय और वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित करने में शुक्लजी ने जो युग-प्रवर्तक कार्य किया, वह हिन्दी के इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेगा।

शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी समीक्षा कई दिशाओं में आगे बढ़ी है। कितने ही नए समीक्षक क्षेत्र में आए हैं और कार्य कर रहे हैं। नवीन साहित्य के मूल्यांकन में नवीन समीक्षकों ने हाथ बटाया है, और आज हिन्दी के प्रमुख कवियों, नाटककारों और औपन्यासिकों आदि पर विचार-पूर्ण निबन्ध और पुस्तकें उपलब्ध हैं। प्राचीन साहित्य का अनुशीलन तथा शोध-संबंधी कार्य भी अग्रसर हुआ है। यह भी हमारे वर्तमान समीक्षा-साहित्य का एक अंग है। स्वर्गीय डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल और श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी इस क्षेत्र के समीक्षक थ और हैं। नए साहित्य के समीक्षकों की भी अनेक शैलियाँ हैं और उनकी समीक्षा-दृष्टियों में भी पर्याप्त भेद है। कुछ समीक्षक अधिक भावुक और कल्पना-प्रवण हैं। वे अपनी समीक्षा में भी काव्यात्मक शैली का प्रयोग करते हैं और अपनी मानसिक प्रतिक्रिया को सुन्दर कल्पनाओं और रूपकों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। ऐसे समीक्षकों की समीक्षा में विषय के स्वरूप और उसके भेद-उपभेदों को ग्रहण करने में सहायता भले ही न मिलती हो, पर समीक्षकों की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया का मनोरंजक अध्ययन अवश्य हो जाता है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की समीक्षाएँ इसी श्रेणी की कही जा सकती ह। डाक्टर रामकुमार वर्मा की समीक्षाओं में भी काव्यात्मकता का सौन्दर्य है, यद्यपि उन्होंने वास्तविक विश्लेषण की ओर भी प्रयत्न किया है। कुछ अन्य समीक्षकों ने ऐतिहासिक विकास-क्रम को ध्यान में रखते हुए कवियों की विशेषताओं का विवरण दिया है। उन्होंने रचनाओं तथा

रचनाकारों के मानसिक तथा उनके काव्यात्मक सौन्दर्य को भी परखने की चेष्टा की है। कवियों के मानसिक विकास के साथ उनके रचना-सौन्दर्य की प्रगति का उन्होंने धारावाहिक आकलन किया है। उदाहरण के लिए 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' नामक मेरी. पुस्तक में कवियों की मनोवैज्ञानिक और कलात्मक विशेषताओं को सामयिक पृष्ठभूमि पर परखने की चेष्टा की गई है।

इधर कुछ समय से वादों या विशेष मतों की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिसके कारण हिन्दी समीक्षा कई संप्रदायों में विभक्त होती जा रही है। एक ओर डाक्टर रामविलास शर्मा और श्री शिवदान सिंह जैसे समीक्षक हैं, जो मार्क्सवादी विचार-पद्धति को अपना कर समीक्षाएँ लिख रहे हैं। डाक्टर रामविलास आरंभ में ऐतिहासिक विकास और साहित्यिक सौन्दर्य का ध्यान रख कर समीक्षाएँ लिखा करते थे, परंतु हाल की उनकी समीक्षाओं में अधिक कट्टरता आ गई है। अब वे समस्त काव्य को पूंजीवादी और क्रान्तिवादी काव्य की दो श्रेणियों में विभक्त करने के पक्षपाती हो गए हैं। इस प्रकार की समीक्षा-दृष्टि हमारे काव्य के वास्तविक विकास को परखने में कहाँ तक समर्थ हो सकेगी, यह संदेहास्पद है। समस्त काव्य को दो कठघरों में बंद करने की चेष्टा मेरे विचार से कृत्रिम और साहित्यिक आकलन के लिये अनुपयोगी है।

साहित्य-समीक्षा की इस एकांगी प्रवृत्ति के प्रतिक्रिया-स्वरूप समीक्षकों का एक अन्य वर्ग साहित्य के सामाजिक पक्ष की नितान्त अवहेलना कर उसे रचनाकार की अन्तर्वृत्ति और अन्तश्चेतना की स्वप्नाभिव्यक्ति मानने का पक्षपाती हो गया है। स्वप्नवादी समीक्षक साहित्य के लिए एक असाधारण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का निर्देश करने लगे हैं। श्री इलाचन्द जोशी तथा श्री नगेन्द्र इसी प्रकार का समीक्षात्मक अनुशीलन कर रहे हैं। श्री नगेन्द्र मानसिक कुण्ठा को काव्य का प्रेरक बताते हुए लिखते हैं कि 'यह कुण्ठा जितनी ही विवशता-जन्य यानी व्यक्तिगत परिस्थिति के प्रतिकूल होगी, उतनी ही अधिक मन में घुमड़न पैदा करेगी और फिर यह घुमड़न उतने ही अधिक दिवा-स्वप्नों की सृष्टि करेगी।' नगेन्द्रजी की इस उपपत्ति को यदि सत्य मान लिया जाय और साहित्य को दिवा-स्वप्न ही समझा जाय, तो हमें साहित्य को सार्वजनिक और सांस्कृतिक वस्तु मानने के अपने भ्रम को दूर कर देना पड़ेगा!

हम कह सकते हैं कि हमारे साहित्य-निर्माण में जिस प्रकार की प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर हो रही हैं, हमारी साहित्य-समीक्षा पर भी उनका प्रभाव पड़ रहा है । परंतु समीक्षा की सार्थकता बदलते हुए साहित्यिक प्रयोगों और प्रणालियों के पीछे-पीछे चलने में ही नहीं है । हमें साहित्य का नेतृत्व और नियंत्रण भी करना होगा । स्वस्थ विचार-पद्धति, स्वस्थ मनोविज्ञान, स्वस्थ सामाजिकता तथा सुव्यवस्थित कलात्मक अभिरुचि ही हमारी साहित्य-समीक्षा के आवश्यक गुण हो सकते हैं।

संतोष की बात है कि हमारी वर्त्तमान समीक्षा में ऊपर कही हुई अतिवादी प्रवृत्तियों के होते हुए भी ऐसे समीक्षकों की कमी नहीं है जो किसी वाद के वशवर्त्ती न होकर स्वतंत्र साहित्य-समीक्षा में प्रवृत्त हैं और हमारे काव्य-साहित्य के विविध अंगों और प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन करा रहे हैं। ऐसे समीक्षकों की स्वस्थ उद्भावना हमारे साहित्य के विकास में सहायक हुई है और भविष्य में भी होगी । श्री अज्ञेय और श्री प्रभाकर माचवे आदि ऐसे ही समीक्षक हैं ।

साहित्य के विविध अंगों में से किसी एक या दो को अपना कर विशेषता-समन्वित समीक्षाएँ प्रस्तुत करने वाले समीक्षक भी हिन्दी में हैं। अध्यापक श्री शिलीमुख हिन्दी के उपन्यास और कहानी-साहित्य के विशेषज्ञ समीक्षक हैं । प्रगीत-काव्य, नाटक तथा अन्य साहित्यांगों पर विश्लेषण-प्रधान पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं । उदाहरणार्थ डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद की 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' नामक पुस्तक हिन्दी के एक प्रमुख नाटककार के नाटकों पर प्रकाश डालती है । कुछ समीक्षक शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण कर समीक्षाएँ लिखते हैं और सैद्धान्तिक चर्चाएँ करते हैं । श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, श्री गुलाबराय तथा श्री कन्हैयालाल पोद्दार आदि इसी प्रकार के शास्त्रज्ञ समीक्षक और लेखक हैं । काशी विश्वविद्यालय के संस्कृत अध्यापक श्री बलदेव उपाध्याय की ऐसी ही एक पुस्तक 'भारतीय साहित्य शास्त्र' अभी-अभी प्रकाशित हुई ह ।

हमारी समीक्षा का भविष्य उन प्रतिभा-सम्पन्न और अध्ययनशील तरुण लेखकों पर अवलंबित हैं जो समय और समाज की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों को पहचानते हैं, साथ ही जो साहित्य की अपनी परम्परा और विशेषता का ज्ञान रखते हैं । सामाजिक जीवन-विकास के साथ-साथ काव्य-पद्धति और काव्य-स्वरूप की अंतरंग और प्रशस्त अभिज्ञता रखने वाले

दृष्टि-सम्पन्न लेखकों के हाथों में ही हमारा समीक्षा-साहित्य सुरक्षित रह सकता है। संतोष और प्रसन्नता का विषय है कि ऐसे उदीयमान और प्रौढ़ समीक्षकों की एक अच्छी टोली हिन्दी में आज भी उपस्थित है, जो अपना उत्तरदायित्व समझती है और जो साहित्यिक साधना में संलग्न है। ये नए लेखक हिन्दी के दूरवर्ती क्षेत्रों में बिखरे हुए हैं। उत्तर प्रदेश में श्री शिवनाथ, श्री रामलाल सिंह, श्री विजयशंकर मल्ल, बच्चन सिंह गंगाप्रसाद पांडेय, सत्येन्द्र, अमृतराय और नरोत्तम नागर, मध्य प्रांत में श्री माचवे, श्री कमलाकांत पाठक और श्री विनय मोहन शर्मा, बिहार में श्री जानकी बल्लभ शास्त्री, डाक्टर देवराज, श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र, श्री नलिन विलोचन शर्मा, राजस्थान में श्री कन्हैया लाल सहल, श्री देवराज उपध्याय, देहली और पंजाब में श्री अज्ञेय और बलराज साहनी, बंगाल में श्री मोहन सिंह सेंगर आदि तरुण और वयस्क समीक्षकों के रहते हुए हिन्दी समीक्षा अपने भविष्य के प्रति पूर्णतः आश्वस्त हो सकती है।

नई समीक्षा-प्रणाली

साहित्य की आलोचना करते हुए आज हमारा ध्यान साहित्य के कतिपय सुनिश्चित और सुस्पष्ट आधारों पर जाया करता है। आज की आलोचना के ये आधार अनिवार्य और अकाट्य-से हो गए हैं।

परिस्थितियाँ

इस आधार की पहली रेखा है आलोच्य वस्तु के देश-काल, प्रचलित परिस्थितियों, सामयिक समस्याओं और विचारणाओं का अध्ययन और निरूपण। यह है काव्य के चूना, मिट्टी और गारा की नियोजना। इसे कोई कितना ही कम महत्त्व क्यों न दे, आज का कला-समीक्षक इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। इसी उपादान से शिल्पी ने अपने लिए सामग्री चुनी है, फिर इसकी उपेक्षा की भी कैसे जायगी! इमारत की मजबूती और शिल्पी की दक्षता की परीक्षा इसी आधार पर की जा सकती है कि अपने युग की कच्ची सामग्री (Raw material) लेकर कलाकार कौन-सी कीमती चीज बना गया; अस्त-व्यस्तता और अव्यवस्था को किस रूप में व्यवस्थित कर गया; कोई सुन्दर या प्रियदर्शी वस्तु दे गया या केवल भानमती का कुनबा जोड़ गया। इन सब का निर्णय विना उसके मूल उपकरणों की जाँच किए नहीं हो सकता। प्रत्येक कलाकार अपने युग की प्रगतियों का विधायक भी है और उसकी सीमाओं से बद्ध भी। यह उसका क्षर अंश है। यह क्षर अंश कितना सबल और परिपुष्ट है, युग की परिवर्तनशील संस्कृति के स्वस्थ निर्माण में यह कहाँ तक सहायक हो सका है, यह काव्य के ऐतिहासिक आधार की विवेचना किए विना स्पष्ट नहीं हो सकता। यह है काव्यालोचन के नवीन आधार की पहिली रेखा।

कुछ लोग काव्य के इस क्षर अंश को—उसके स्थूल उपकरण को—स्वीकार नहीं करते। कवि की अक्षरता और काव्य के शाश्वत स्वरूप के प्रति उनकी जो आसक्ति है, वही उन्हें इसके क्षर अंश को स्वीकार नहीं करने देती। किन्तु यह एक भ्रामक मनःस्थिति का द्योतक है। किसी भी श्रेष्ठ कवि में सौन्दर्य की शाश्वत कला की प्रतिष्ठा हमें मिल सकती है। किन्तु क्या इसका यह भी अर्थ है कि उन सभी कवियों के प्रेरक उपकरण भी

एक से ही हैं। यह तो हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि कोई भी दो महान् कवि एक से उपादानों को लेकर नहीं चलते, सब में विचारों की कुछ न कुछ भिन्नता दिखाई देती है। सब की सौन्दर्य-सामग्री अपनी-अपनी विशेषता रखती है। सब अपने-अपने युग के भाव, भाषा और साधन-प्रसाधनों से प्रभावित हुए हैं। ऐसी अवस्था में काव्य के अक्षर सौन्दर्य और उसके क्षर उपकरणों में परस्पर वैपरीत्य देखना सम्यक् दृष्टि का लक्षण नहीं है।

काव्य के इस परिवर्तनशील ऐतिहासिक अंग की उपेक्षा आज की समीक्षा में किसी प्रकार नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि समय इतनी तेजी से बदलने का आभास देता है और समय से भी अधिक काव्य-शैलियाँ इतनी बहुमुखी हैं और विवेचना की शब्दावली इतने प्रबल वेग से परिवर्तित हो जाया करती है कि दो प्रकार की भ्रांतियाँ खूब आसानी से फैल सकती हैं। एक तो यह कि हम पूर्वयुग की अभिव्यक्ति ही सब कुछ मानकर बैठ जायँ और आगे बढ़ने से इनकार कर दें और इसके विपरीत दूसरी यह कि पूर्ववर्त्ती काव्य की एकदम ही अवहेलना करने लगें। इन दोनों खतरों से बचने के लिए और काव्य-विवेक को संयमित बनाने के लिए ऐतिहासिक अन्वेषण आज अनिवार्य हो गया है।

इस ऐतिहासिक अध्ययन की जहाँ अपनी सुस्पष्ट उपयोगिताएं हैं, वहाँ इसके दुरुपयोगों से भी हमें सावधान रहना चाहिए। जहाँ तक यह अध्ययन कवि और काव्य की वास्तविक कलात्मक समीक्षा में सहायक हो अथवा जहाँ तक यह काव्य-रचनाओं में प्रकट होने वाले युग के सांस्कृतिक प्रवर्तनों का परिचय करा सके, वहाँ तक इसकी वास्तविक उपयोगिता है। किन्तु जब यह अध्ययन स्वयं अपना लक्ष्य बन जाता है अथवा किसी प्राचीन सांस्कृतिक या दार्शनिक परिपाटी से ऐसा रूढ़ संबंध स्थापित कर लेता है जिससे काव्य-विवेचना का वास्तविक संबंध नहीं, तब वह कला आलोचना के लिए सहायक नहीं, बाधक बन जाती है। हिन्दी में ऐसे ही आलोचकों का आधिक्य है जो किसी समय-विशेष के काव्य में पाए जाने वाले सांस्कृतिक और दार्शनिक स्मृतिचिह्नों के हाथ अपने को सिपुर्द कर चुके हैं। ऐसे आलोचक सांस्कृतिक विकास और काव्यालोचना के मार्ग में अनाकांक्षित अवरोध उत्पन्न करते हैं।

यहाँ मैं एक उदाहरण देकर इस विषय को और भी स्पष्ट करना

चाहूँगा। श्री मैथिलीशरणजी के काव्य को लीजिए। उसमें हमें प्राचीन रूढ़ियों को बदलने का एक उमक्रम आरंभ से ही मिलता है। इस पर बहुत-से प्राचीनता-प्रेमी यह कहेंगे, जैसा कि वे कहते भी हैं कि मैथिली-शरणजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के पृष्ठपोषक नहीं हैं। उन्होंने जिन चरित्रों की अवतारणा की है वे क्रमागत मान्यताओं के प्रतिकूल हैं। इसके विपरीत वे नए प्राचीनता-प्रेमी, जो गुप्तजी के पश्चात् होने वाले काव्यो-त्थान को देख चुके हैं, यह कहने का साहस करते हैं कि गुप्तजी ही प्राचीन संस्कृति के अवशेष प्रतिनिधि हैं। इन दोनों ही आलोचना-श्रेणियों में सच्चे ऐतिहासिक अध्ययन और सांस्कृतिक विकास की जानकरी का अभाव दीखता है। कम-से-कम वे तटस्थ दृष्टि से विचार नहीं कर रहे। इससे भी अधिक चिंतनीय बात यह है कि इस ऐतिहासिक अध्ययन का प्रयोग गुप्तजी के काव्य की कलात्मक मीमांसा में नहीं किया जा रहा, उनके आरंभिक प्रयासों और खड़ी बोली के शैशव-काल की सृष्टियों को इस रूप में उपस्थित किया जा रहा है मानो गुप्तजी किसी समृद्ध कला—युग के कवि हों। कला की जो छोटी-छोटी सहज सौन्दर्य-भंगिमाएँ उनमें हैं, महाकाव्य के निर्माण की जो अनिवार्य अक्षमता उनमें है, कथा के सूत्र के सहारे भावनाओं का उद्रेक करने की जो प्राथमिक कला उनकी है, काव्य की जो सीमित किन्तु निर्दिष्ट शक्ति उनकी है, इतिहास के प्रकाश में उसका अनुसंधान, विवेचन और मूल्य निर्धारण हमें करना चाहिए। किन्तु हम प्रायः आदर्श, मर्यादा, चरित्र-चित्रण जैसे शब्दों के मोह में पड़कर काव्य के लिए अल्प-महत्त्व के विषयों का अनीप्सित और अनावश्यक विस्तार करने लगते हैं, मानो यह इजहार कर देते हैं कि काव्य-विवेचन में ऐतिहासिक अनुशीलन को किस रूप में लिया जाय, यह भी हम नहीं जानते।

संक्षेप में हम फिर कहेंगे कि इतिहास के आलोक में हमें कवि की कृति की ऐसी भूमिका तैयार करनी चाहिए जिससे साहित्य और संस्कृति के विकास में उस कवि के स्थान और उसकी सच्ची देन का परिचय मिल जाय और उसी भूमिका पर खड़ी हुई कवि के व्यक्तित्व और उसकी कलाकृति का स्वरूप ठीक तरह से देखा जा सके।

शैलियाँ, वाद और जीवन-दृष्टि

यह तो हुई समीक्षा के आधार की पहली रेखा। काव्यालोचना की दूसरी रेखा है काव्यवस्तु की परीक्षा और काव्य के साँचों, शैलियों और बंदिशों आदि

का अध्ययन और उद्घाटन। काव्य-वस्तु की परीक्षा से मेरा मतलब उस सारी सामग्री की जाँच से है जो उस कृति में नियोजित की गई है। यह सामग्री किस रूप में है, किस क्रम से और किस उद्देश्य से उसकी नियोजना की गई है; क्या हम उसे कुछ विशिष्ट वर्गों, विचार-धाराओं, भाव-धाराओं या वादों में विभक्त कर सकते हैं, काव्यवस्तु की परीक्षा में ये सब प्रश्न हमारे सामने आते हैं। एक उदाहरण लेकर देखिए। प्रायः कहा जाता है कि प्रेमचंद और गोर्की के उपन्यासों की कथा-वस्तु में बहुत बड़ा साम्य है। किन्तु जब हम उन दोनों की कथा-सामग्री को देखते हैं, तब उसका सबूत हमें नहीं मिलता। गोर्की में वर्ग-चेतना सुस्पष्ट है और वर्गों का संघर्ष दिखाना ही उसके अधिकांश साहित्य का लक्ष्य है। किन्तु प्रेमचंद की कथावस्तु न तो संघर्ष के आधार पर नियोजित है और न उसका लक्ष्य वर्गों के द्वन्द्व को सामने रखना है। उन्होंने समाज और व्यक्ति के अनेक-मुखी जीवन का खाका खींचा है, किन्तु वर्ग-संघर्ष के या सामाजिक क्रांति के उद्देश्य से नहीं, कम-से-कम वह उद्देश्य उभर कर सामने नहीं आया। इस कारण हम प्रेमचंद और गोर्की की उपन्यासवस्तु को एक ही वर्ग में नहीं रख सकते। यदि औपन्यासिक वस्तु में अधिक समानता होती तो भी दोनों का साहित्यिक उत्कर्ष भिन्न ही होता।

प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही उद्देश्य को लेकर एक ही अथवा भिन्न-भिन्न साहित्यकार काव्यवस्तु का भिन्न प्रकार से प्रयोग करते हैं। कहीं वे रोमांचक प्रेम-कथाओं का आश्रय लेते हैं, कहीं व्यंग्यात्मक शैली अपनाते हैं और कहीं आदर्शात्मकता की ओर झुक जाते हैं। कहीं बौद्धिक अंश की और कहीं भावात्मक अंश की प्रधानता देखी जाती है। कहीं जीवन के स्थूल अंशों को उपादान बनाते हैं और कहीं उसके रमणीय अंशों को। आधुनिक साहित्य की यह बहुरूपता देखकर हमें आश्चर्य हो सकता है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि इन बहु-रूपी काव्य-वस्तुओं का विन्यास एक ही समय में और एक-सा ही उद्देश्य लेकर हुआ है। ऐसी अवस्था में कथावस्तु की सजग परीक्षा, उनकी प्रेरक शक्तियों और लक्ष्यों का सुस्पष्ट निर्देश और भी आवश्यक हो जाता है।

हमारी नई कविता, छायावाद या रहस्यवाद कहलाती है। ये वाद आध्यात्मिक घेरे के अंतर्गत हैं, इसलिए प्रायः यह समझ लिया जाता है कि इस कविता का हमारे सामयिक जीवन से कुछ संबंध ही नहीं है।

किन्तु काव्य-वस्तु की जाँच करने पर स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक काव्य की शैली छायात्मक या रहस्यात्मक है, किन्तु इसमें सामयिक प्रेरणाएँ, विचारणाएँ और प्रगतियाँ भी कुछ कम मात्रा में नहीं। इसलिए एक ओर जहाँ हम अपने कुछ छायावादी मित्रों की भाँति यह मानने को तैयार नहीं हैं कि छायावाद या रहस्यवाद ही उत्कृष्ट काव्य का एकमात्र पर्याय है और उसका अंत होने पर काव्य का भी अंत हो जायगा, वहाँ दूसरी ओर नवीन काव्यवस्तु को देखते हुए यह भी कहने का साहस नहीं किया जा सकता कि छायावादी काव्य नवीन जीवन से असंबद्ध है और केवल 'असीम के स्वप्न' देखता रहा है।

कल्पना का प्राधान्य और सौन्दर्य-सृष्टि की सूक्ष्मता आदि नवीन काव्य के कुछ ऐसे गुण हैं जो उसे स्मरणीय रक्खें, किन्तु इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कल्पना ही काव्य है अथवा आज की कविता में ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई है। काव्य के उपादान समय के साथ सदैव बदलते रहे हैं, इसलिए हमारे कवि-मित्रों को यह आशंका न होनी चाहिए कि काव्य-वस्तु के बदल जाने पर, अथवा 'हँसिया-हथौड़ा' के संकेतों से सूचित की जाने वाली नई जीवन-प्रगति का पल्ला पकड़ते ही काव्य की इतिश्री हो जायगी। ऐसा समझना असाहित्यिक होगा। काव्य किन्हीं विशेष कला-शैलियों या जीवन-अवस्थाओं का गुलाम नहीं है। वे वस्तुएं, विचार-धाराएँ या जीवन-अवस्थाएँ वहीं तक आवश्यक हैं, जहाँ तक वे काव्य-निर्माण में सहायक हैं।

न नवीन और न प्राचीन काव्यवस्तु या विचारधारा ही काव्य की कोई कसौटी हो सकती है, इस संबंध में काव्य किसी प्रकार की सीमाएं नहीं स्वीकार कर सकता। प्राचीन काव्यवस्तु के उदाहरण स्वरूप पवित्रतम राम-कथा को ही लीजिए। आज भी इस कथा के अंशों को लेकर रूढ़िबद्ध पवित्रता का पाठ पढ़ाया जा रहा है, किन्तु उससे क्या काव्य की कोई विशेषता सिद्ध होती है? इसी प्रकार नवीन विचार-धाराओं और काव्य-वस्तुओं को लेकर भी रचनाएँ हो रही हैं, किन्तु क्या वे सब की सब श्रेष्ठ काव्य कही जा सकती हैं? उदाहरण के लिये श्री सुमित्रानंदन पंत के नए काव्य-प्रयोगों को लीजिए। यद्यपि उसमें बदलते हुए समय के संस्कार मिलते हैं, किन्तु उन्हें नए प्रवर्तक काव्य की पदवी देना संभव नहीं है। उनमें या तो कोरा सिद्धांत-निरूपण दिखाई देता है या उनमें अवास्तविक काव्यानुभूति दिखाई देती है।

यहां मेरा मतलब नवीन विचार-धारा या नए दर्शन के संबंध म 'हाँ' या 'न' करना नहीं है। मेरा कहना इतना ही है कि कोई भी विचार-धारा, कोई भी दर्शन, अथवा कोई भी जीवन-परिस्थिति जब तक अपने साथ एक अनिवार्य आस्था, एक ज्वलंत विश्वास, लेकर नहीं आती, तब तक वह इसी प्रकार के कृत्रिम काव्य का सृजन करती रहेगी, जो 'आज और है और कल और'।

नई काव्य-धारा अपने अंतरंग अक्षय श्रोतों को जब नई जीवन-भूमि से उत्सर्जित करेगी—अभी ही उसके चिह्न दिखाई दे चुके हैं और आगे अधिकाधिक दिखाई देंगे—तब हम यह अच्छी तरह समझ सकेंगे कि वास्तविक क्रांतिकारी काव्य में और कृत्रिम कला-प्रदर्शन में क्या अंतर है !

साँचे, शैलियाँ और बंदिशें भी काव्य का अंग हैं और इनका भी अपना अलग महत्त्व है। उदाहरण के लिए गोर्की और प्रेमचंदजी को ही फिर से लीजिए। गोर्की के उपन्यासों की टेकनीक जितनी सुगठित, प्रौढ़ और सप्रयोजन है, साथ ही साँसों की भांति जैसी सहज और बेपहचान है, प्रेमचंदजी के उपन्यासों की वैसी नहीं। श्रेष्ठ कलाकार अपनी कलावस्तु को जिन सूत्रों के सहारे सहज आकर्षक, विश्वसनीय और अनिवार्य बना देता है, दूसरे नहीं बना पाते। प्रेमचंदजी की कहानियों में ये बंदिशें उनके उपन्यासों से अधिक चुस्त बनकर आई हैं। काव्य-साहित्य के इन प्रकारों और प्रणालियों का अध्ययन भी साहित्य-समीक्षा के लिए अपेक्षित है।

काव्य-संवेदना

किन्तु काव्य-समीक्षा का मुख्य आधार वह तीसरी रेखा है जो समय, स्थिति, विचार-धारा, काव्यशैली आदि के अनेकानेक भेदों के रहते हुए भी काव्य की एक अपनी माप बनाने का प्रयास करती है। अवश्य यहाँ भी सृजन के विशाल या लघु परिमाण के आधार पर कवि के महत्त्व का लेखा-जोखा शेष रह जाता है, किन्तु काव्य-गुण की श्रेष्ठता के आधार पर इनकी एक पंक्ति बनायी जा सकती है। इस युग में जब क्षण-क्षण में काव्य की माप-रेखाएँ बदलती रहने का आभास दे रही हैं, बहुत से लोगों को संदेह हो सकता है कि काव्य की स्थिर माप की यह धारणा कितने दिन ठहरेगी; किन्तु युगों, समाजों, संस्कृतियों आदि के बदल जाने पर भी और काव्य-शैलियों में, विचार-धाराओं में तथा साहित्यगत मान्यताओं में उथल-पुथल मचे रहने पर भी हम इस विश्वास को नहीं

छोड़ सकते कि कला का अपना आधार और सौष्ठव तब तक विलुप्त न होगा जब तक मानव-सभ्यता विनष्ट नहीं हो जाती। इसी आधार के रहते हम सभ्य संसार के प्राचीन और नवीन श्रेष्ठ कवियों को, उनकी विभिन्न विचार-धाराओं, कथाक्रमों और परिस्थितियों के अशेष रूपान्तरों के ऊपर जाकर, एक श्रेणी में रखते हैं। इसी के बल पर हम सूर और तुलसी के काव्यगत सौन्दर्य को बिहारी, मतिराम या पद्माकर की पहुंच के ऊपर, बहुत ऊपर, रखने का साहस करते हैं और यह आशा मिटने नहीं देते कि इस स्थिर सत्य को कोई भी नवागत काव्यवाद टस-से-मस नहीं कर सकेगा। इसी की बुनियाद पर हम विभिन्न कवियों की विभिन्न कृतियों का, विभिन्न समयों के साहित्यिक सृजनों और एक ही कवि की विभिन्न रचनाओं का तारतम्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। कोई ईश्वरवादी हो या अनीश्वरवादी, व्यक्तिवादी हो या अव्यक्तिवादी, सोशलिस्ट हो या असोशलिस्ट—उस पर 'लेबल' चाहे जो लगा हो—हम उसकी सारी कृतियों का काव्य-सौन्दर्य अनुभव कर सकते हैं। यहाँ तक कि उसकी एक रचना को दूसरी रचना से ऊपर या नीचे रख कर देख सकते हैं। क्या यह बिना काव्यगत स्थायी या स्थिर माप के संभव है! अथवा क्या व्यक्तिगत रुचि, संस्कार या मापहीनता इसके आड़े आ सकती है!

मैं पूरे आग्रह के साथ यह कहना चाहूँगा कि यह माप कदापि माप-हीनता नहीं है। यह काव्यालोचना का शीर्षफल है, जो निरंतर काव्याभ्यास द्वारा और अत्यंत परिमार्जित, सजग, सूक्ष्म और व्यापक चेतना के योग से प्राप्त होता है। अवश्य इसमें काव्यगत उन समस्त उपकरणों का आकलन भी सम्मिलित है जिनका ऊपर विवरण दिया गया है, किन्तु यहां उन सबका समाहार या समापवर्त्तन कर लिया गया है। यहाँ विचार-धाराएँ, काव्यशैलियाँ और बंदिशें आदि सब अपना पृथक् अस्तित्व खोकर उन सबसे निर्मित होने वाले काव्य-सौन्दर्य में परिणत हो जाती हैं, जिसका सम्यक् 'संवेदन' ही काव्यालोचना का प्राण है। संसार की सभी श्रेष्ठ कला-कृतियों में यह 'संवेदन' अपनी पूर्ण परितृप्ति प्राप्त करता है, किन्तु इसके सूक्ष्मतम अशेष भेदोपभेदों की भी अवहेलना नहीं की जा सकती।

आप कह सकते हैं कि इस शाश्वत संवेदन में काव्य-विवेचन के वे बहुत-से पहलू छूट जाते हैं जिनका अन्य दृष्टियों से बहुत बड़ा मूल्य है। उदाहरण के लिए इसमें कवि द्वारा नियोजित घटनाओं के नैतिक पक्ष पर

कुछ भी विचार नहीं हो पाता। बाल्मीकि ने सीता के निर्वासन-प्रसंग का अपने काव्य में स्थान दिया है। राम के चरित्र पर इस निर्वासन को क्या प्रतिक्रिया होती है, उनका यह कार्य कहाँ तक उचित या अनुचित है, इस पर परस्पर अत्यंत विरोधी विचार प्रकट किए गए हैं। किन्तु काव्यसंवेदन में इनका कुछ भी स्थान नहीं। इस शंका का सीधा उत्तर यह है कि बाल्मीकि ने स्वयं और सीता द्वारा भी राम को इस कृत्य पर उन्हें खूब आड़े हाथों लिया है, किन्तु काव्योत्कर्ष की दृष्टि से सीता या राम के नैतिक पक्ष-विपक्ष का प्रश्न नहीं उठता। संपूर्ण प्रसंग जिस असाधारण भावोत्तेजना की सृष्टि करता है और उस स्थिति की जैसी मार्मिक व्यंजना कवि की वाणी करती है, वही 'काव्य-संवेदन' को मापक होती है। सभी नैतिक और बौद्धिक पक्षों-विपक्षों का काव्यात्मक समाहार ही संवेदना का विषय है। कला-विवेचना की इस विशेषता को हमें स्वीकार करना ही होगा।

काव्य के भीतर कैसा मर्मपूर्ण मानव-जीवन का स्वरूप निहित है और कला की सीमा में उसका कैसा मनोरम और प्रभावशाली विन्यास किया गया है, ये दोनों ही सूत्र 'काव्य-संवेदन' द्वारा हमारे हाथ में आ जाते हैं। अवश्य ही यहां अपार मानव-जीवन में से कोई एक हो बौद्धिक या नैतिक लीक नहीं पकड़ी जा सकती। आज के साहित्य में इतने विभिन्न वाद-प्रवाद, इतनी अनेकमुखी विचारधाराएँ, इतने किस्म-किस्म के काव्य-साँचे और उनमें इतने प्रकार के भेदोपभेद निकलते जा रहे हैं और उनमें से एक-एक भेद या विचारधारा की द्योतक इतने विभिन्न मूल्यों (अवश्य ही कलात्मक मूल्यों) की कला-सृष्टियाँ सामने आ रही हैं कि हम केवल उन विभिन्नताओं के अध्ययन तक सीमित नहीं रहना चाहेंगे। ऐसा करने पर हम श्रेष्ठ कलाकार और अपर में क्या अन्तर है, यह समझ नहीं सकेंगे। इस प्रकार रचनाकारों के संबंध में अन्याय हो जायगा। कहीं आधुनिकतम जीवन-वस्तु को लेकर भी कला की दृष्टि से निकृष्ट रचनाएं सामने रखी जा रही हैं, और कहीं बड़ी समुन्नत टेकनीक के भीतर कोरी आलंकारिकता छिपी मिलती है। इसीलिए हमें इस असाधारण, विरल और कुछ अंशों में रहस्यात्मक संवेदन-प्रणाली का प्रयोग करना पड़ता है।

दो अन्य रेखाएँ

संक्षेप में यही काव्यालोचना की तीन रेखाएं हैं। इन तीन रेखाओं के

स्थान पर एक चौथी और एक पाँचवीं रेखा अभी हाल से और जोड़ी जाने लगी हैं, जिन्हें हम उपयुक्त शब्दों के अभाव में 'मार्क्स रेखा' और 'फ्रायड रेखा' कह सकते हैं। कुछ अंशों में ये दोनों रेखाएं एक दूसरे के विपरीत दीख पड़ती हैं, किन्तु ये दोनों ही अपने को विज्ञान-सम्मत बताती हैं। एक का क्षेत्र बाह्य-जगत् है और दूसरी का अन्तर्जगत् (अन्तर्जगत् का भी वह अंश जो अन्तश्चेतन है)। इस दृष्टि से दोनों में समन्वय ढूंढ़ निकालना आसान नहीं। मार्क्स का सिद्धांत साहित्य में जिस प्रकार प्रयुक्त हो रहा है, उसे प्रायः साहित्यिक प्रगतिवाद के नाम से पुकारते हैं। यह तो स्पष्ट है कि मार्क्स का यह सिद्धान्त सामाजिक जीवन से संबंध रखता है, कला-विवेचन से नहीं। किन्तु वर्ग-संघर्ष के आधार पर उसने जिस समाजतंत्र का निरूपण किया, वह भविष्य का इतना सुन्दर स्वप्न था कि स्वभावतः पूर्वकाल की सारी सामाजिक और सांस्कृतिक योजनाएं उसके सामने फीकी जान पड़ीं। जब तक संसार में यह वर्ग-रहित समाज स्थापित नहीं हो जाता और जब तक उसके साथ ही अनिवार्य रूप से आने वाली पुरुष और नारी की पूर्ण आर्थिक और वैयक्तिक स्वतंत्रता प्रतिष्ठित नहीं हो जाती, तब तक सच्चे सांस्कृतिक उत्थान का युग कभी आया था या आ सकता है, यह अपने हृदय से कोई भी प्रगति-वादी नहीं मानता ! प्राचीन साहित्य और धर्म आदि को वे इसी दृष्टि से देखें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ! उनकी निगाह में वर्गवादी युग की सारी सृष्टि ही मूलतः दूषित है। इस भयानक एकांगी दृष्टि से देखने पर अब तक के साहित्य में कुछ भी सुन्दर नहीं दीख पड़ता। जिनकी कुछ कलात्मक अभिरुचि है, वे यदि प्राचीन काव्य में कहीं कुछ सौन्दर्य देखते भी हैं, तो हठात् उन्हें उस समाज की याद आ जाती है जो वर्गवादी समाज था ! वे विवश होकर उसकी ओर से मुंह फेर लेते हैं, अथवा ऐसी नुक्ताचीनी करते हैं जिसे सच्ची काव्य-समीक्षा में कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। सच्चे अर्थ में ये ही लोग प्रगतिवादी हैं और इनकी सारी सांस्कृतिक आशाएं भविष्य में अटकी हैं। इसलिए ये एक विवादग्रस्त जीवन-सिद्धान्त को काव्य-कसौटी बना लेने की अक्षम्य गलती करते हैं। काव्य का क्षेत्र भावों और मानव के चिर दिन की अनुभूतियों और कल्पनाओं का क्षेत्र है और वाह्य-जगत् के आर्थिक या सैद्धांतिक विभेदों के रहते हुए भी मनुष्य मनुष्य है, उसके आदर्श और उसकी

मानवीयता सभी सभ्य युगों में एक-सी ही ऊँची रह सकती है और साहित्य में वे ही आदर्श और वही मानव-स्वभाव प्रतिफलित हुआ करता है, यह मानने को आज का प्रगतिवादी तैयार नहीं। मार्क्स से भी अधिक ये मार्क्स के प्रगतिवादी अनुयायी कला के प्रति ऐसी भ्रान्त धारणाएं बनाए हुए हैं। यदि ये जान-बूझकर प्रचारात्मक नहीं हैं, तो मार्क्सवादियों का यह काव्यकला-विरोधी सिद्धान्त और धारणा आश्चर्यजनक ही कही जायगी! मैं यह नहीं कहता कि सभी प्रगतिवादियों की यही धारणा है, पर प्रायः इस तरह के विचार आए दिन देखने-सुनने में आते हैं।

मार्क्सवादी सामाजिक-आर्थिक सिद्धान्त का जब काव्य अथवा साहित्य म प्रयोग किया जाता है, तब उसकी स्थिति बहुत कुछ असंगत और असाध्य-सी हो जाती है। अत्यंत स्थूल रूप में मार्क्स-मतवादी पक्ष यह है कि साहित्य और कलाएँ या तो वर्गहीन समाज की सृष्टि हैं, या वे वर्गवादी समाज की सृष्टि हैं। समाजवाद की प्रतिष्ठा के पूर्व का संपूर्ण साहित्य वर्गवादी या पूँजीवादी साहित्य है, अतएव वह मूलतः दूषित है। केवल वह साहित्य श्रेष्ठ और स्वागतयोग्य है जिसपर पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की छाया नहीं पड़ी। मार्क्सवादियों की यह उपपत्ति सभी दृष्टियों से थोथी और सारहीन सिद्ध होती है। पहली आपत्ति तो यही है कि इसमें साहित्यिक वस्तु के विवेचन का रंचमात्र भी प्रयास नहीं है। केवल समाजवादी साहित्य और पूंजीवादी साहित्य के दो कठघरे बना कर मानवसमाज की संपूर्ण भावनात्मक और सांस्कृतिक संपत्ति को एक या दूसरे में बंद कर दिया गया है। पहला कठघरा दूषित और अपवित्र है, दूसरा कठघरा पूज्य और पवित्र। मानव के सामूहिक और सांस्कृतिक विकास के साथ इस प्रकार का खिलवाड़ नहीं किया जा सकता। वाल्मीकि, व्यास, होमर, दांते, मिल्टन, शेक्सपियर, कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी आदि मानव-संस्कृति के महान् उन्नायकों की महती जीवन-कल्पना, मानव-स्वभाव-दर्शन और अनुभूतियों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह कहना व्यर्थ है कि ये पूँजीवादी युग के कवि थे। रहे हों ये किसी युग के कवि, पर देखना यह है कि मानव-चरित्र और मानव-भावना का कितना व्यापक, समुन्नत और प्रभावशाली निर्देश इन महाकवियों ने किया है। जो सिद्धान्त इन्हें पूँजीवादी युग का कवि कह कर टालता है, वह स्वतः अपनी असाहित्यिकता का इजहार करता है और अपनी अयोग्यता का प्रमाण देता है।

कुछ मार्क्सवादी साहित्य-विवेचक इतने असाहित्यिक न होने के कारण अपने सिद्धान्त का प्रयोग एक दूसरे रूप में करते हैं। वे कवि, कलाकार अथवा साहित्यिक की व्यक्तिगत स्थिति और मनोभावना का आधार लेकर यह देखना चाहते हैं कि कौन-सा कवि आर्थिक दृष्टि से संपन्न था, उच्च वर्ग का था, और कौन-सा कवि विपन्न और दरिद्र था। जो कवि दरिद्र और निम्न वर्ग का रहा हो, वही प्रगतिशील और समुन्नत कवि माना जायगा। यह कसौटी भी अनोखी है। इसमें यह पहले से ही मान लिया जाता है कि गरीब लेखक ही क्रान्तिकारी हो सकता है। यह निर्णय मानव-स्वभाव और चरित्र की कितनी भोंड़ी और निःसार रूपरेखा प्रस्तुत करता है, यह समझने की बात है। कोई संपन्न और उच्च कुलशील कवि समाज के दीन-दुःखी अंग के प्रति अपनी कल्पना दौड़ा ही नहीं सकता—न उनके प्रति मानसिक सहानुभूति रख सकता है! दूसरी बात यह है कि क्रान्तिकारी और प्रगतिशील होने के लिए दरिद्रता और समाज के नैतिक और सांस्कृतिक आदर्शों के प्रति अनास्था और विद्रोह अनिवार्य गुण हैं! और जिनमें ये गुण हैं, वे ही सच्चे और श्रेष्ठ साहित्यकार हैं, चाहे उनकी रचनाएँ कितनी ही साधारण या सामान्य क्यों न हों।

इन दोनों प्रवादों की मूलभूत असाहित्यिकता इतनी स्पष्ट है कि इनका समर्थन करने के लिए मार्क्सवादियों में भी अधिक उत्साह नहीं दिखाई देता। इनके बदले वे एक तीसरे सिद्धान्त की आड़ लेने लगे हैं। वर्गवाद के आधार पर सामाजिक विकास का विवरण देते हुए वे युग-विशेष की वर्गीय स्थिति का निरूपण करते हैं और उसी स्थिति-विशेष की भूमिका पर उस युग-विशेष के कवियों और साहित्यिकों की कृतियों का मूल्य निर्धारण करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में समय-विशेष की वर्गीय स्थिति ही वास्तविकता है, और उस वास्तविकता की नींव पर ही उस युग की कला-कृतियों और साहित्यिक सृष्टियों का भवन बना करता है। वर्ग-संघर्ष के ऐतिहासिक विकास-क्रम में वे किसी कवि को ले लेते हैं और उसके काव्य का विवेचन करते हुए यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि वर्ग-संघर्ष की तत्कालीन स्थिति की ही उपज उस कवि की कविता है। किसी युग-विशेष की एक नपी-तुली वर्गीय स्थिति का निरूपण करना स्वतः एक संदिग्ध कार्य है, फिर उस नपी-तुली स्थिति के अंतर्गत किसी कवि की भावना-कल्पना और उसकी काव्य-शक्ति की नाप-जोख करना

कितना विवादास्पद कार्य होगा, यह आसानी से समझा जा सकता है। इस कठिनाई को समझकर और इसकी मूलवर्तिनी त्रुटियों की जानकारी रखने के कारण ये मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षक इस संबंध में कई प्रकार के हथकंडे काम में लाते हैं। वे कहते तो यह हैं कि युगविशेष की वर्ग-संघर्ष-संबंधी स्थिति की वास्तविक भूमि पर ही उस युग के कवि का कल्पना-भवन खड़ा होता है, पर अनुशीलन करते हुए वे पहले कवि की साहित्यिक विशेषताओं को ज्यों-का-त्यों मान लेते हैं और तब उन विशेषताओं का उस तथाकथित युग-स्थिति से कार्य-कारण संबंध स्थापित करने का प्रयास करते हैं। स्पष्ट ही यह एक उल्टा और तर्कहीन क्रम है। प्रायः इस प्रकार के समीक्षक किसी कविविशेष के संबंध में स्थापित साहित्यिक मान्यताओं को—उसके साहित्यिक उत्कर्ष को—मान कर आगे बढ़ते हैं, जिसमें उनके सिद्धान्त पर लोगों की आस्था बनी रहे ! पर यह उपक्रम भी कितना छिछला और सारहीन है। यह तो काव्य-संबंधी साहित्यिक मानदंड को प्रकारान्तर से स्वीकार करने का 'मार्क्स-वादी तरीका' ही हो जाता है। समय-विशेष की वर्गस्थिति को 'सत्य' मानकर उस समय के काव्य को उस 'सत्य' के आसपास बुना हुआ कल्पना-जाल मानना, और फिर उन दोनों के अनिवार्य संबंध को सिद्ध करने के लिए उक्त काव्य की मनमानी व्याख्या करना—और साथ ही साहित्य-क्षेत्र में फैली हुई उस कवि के संबंध की साहित्यिक धारणाओं को अपनाते रहना, ये सब स्पष्टतः मार्क्स-वादी साहित्य-निर्देश की ऐसी खामियां हैं जिनको समझने के लिए थोड़ी-सी समझदारी भी पर्याप्त है।

यही कारण है कि मार्क्सवाद की यह साहित्यिक मान्यता अब तक प्रौढ़ और परिपुष्ट रूप में साहित्यिक समाज के संमुख नहीं रक्खी जा सकी। इस आधार को लेकर चलने वाले समीक्षकों में परस्पर इतनी अधिक मतभिन्नता रहती है—किसी भी कवि की वर्गभावना या वर्गीय प्रतिक्रिया का आकलन करने में इतने भिन्न मत हुआ करते हैं—कि केवल इस बात से ही सिद्धान्त का कच्चापन स्पष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह है कि यह सिद्धान्त अपने पैरों पर खड़ा होने में असमर्थ है और बिना साहित्यिक विवेचकों के निर्णयों का पीछा पकड़े यह चल ही नहीं पाता। कल्पना की भूमि में रमने वाले स्वतंत्र कवियों और साहित्यिकों

को वर्गवाद की खूंटी में बांधने का प्रयत्न करना बुद्धिमानी की बात नहीं है। इसीलिए इस सिद्धान्त के हिमायतियों को पग-पग पर दूसरे मतों के साथ समझौता करना पड़ता है जिससे कि उनकी स्थिति सदैव अस्पष्ट और अनिर्णीत बनी रहती है।

वर्गवाद के इस सामाजिक या वर्गीय 'सत्य' से नितान्त भिन्न और उसकी प्रतिक्रिया में फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषण-वेत्ताओं का एक नया मत भी चल पड़ा है, जिसके आधार पर साहित्यिक समीक्षा-संबंधी नई चर्चा होने लगी है। मार्क्सवादी वर्ग-सत्य या सामूहिक सत्य के स्थान पर ये मनोविश्लेषक व्यक्ति की निजी चेतना को—चेतना क्यों अंतश्चेतना को—उसके व्यक्तित्व का चरम सत्य मानते हैं और काव्य-साहित्य में उस अंतश्चेतना की अभिव्यक्ति को ही प्रमुख तत्व ठहराते हैं। व्यक्ति की चेतना वा अंतश्चेतना के निर्माण में सामाजिक अथवा सामूहिक स्थितियाँ योग देती हैं, परंतु कवि की अंतश्चेतना ही अंततः वह स्वतंत्र और मौलिक सत्ता है जो उसके काव्य-निर्माण के लिए उत्तरदायी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां एक ओर मार्क्सवादी सामाजिक स्थिति (वह भी वर्गीय स्थिति) को सत्य मानकर कविकल्पना को उसकी छाया या प्रतिबिंब मानते हैं, वहां दूसरी ओर मनोविश्लेषण-वादी सामाजिक गति-विधि या स्थिति से काव्य का संबंध न मानकर व्यक्ति की ऐकान्तिक अन्तश्चेतना को काव्य का प्रेरक और विधायक ठहराते हैं। स्पष्ट है कि दोनों मत अपने मूल दृष्टिकोण में एक दूसरे के विपरीत और विरोधी हैं।

अन्तश्चेतना-वादी मत यह है कि काव्य की सत्ता अत्यंत ऐकान्तिक और मनोमयी है। व्यक्ति की चेतना पर पड़ने वाले सामाजिक प्रभाव और संस्कार काव्य के लिए उपादेय नहीं होते—सामाजिक परिस्थितियाँ, समस्याएँ और प्रश्न तो काव्य के लिए और भी दूरवर्ती वस्तुएँ हैं। काव्य और कलाओं को उद्भावना कवि के अन्तरंग व्यक्तित्व या अन्तश्चेतना से होती है—ठीक वैसे ही जैसे स्वप्नों का सृजन व्यक्ति की जागरूक चेतना नहीं करती, उसकी अन्तवर्ती सत्ता स्वप्नों का सृजन करती है। काव्य भी एक स्वप्न ही है। कल्पना-व्यापार भी स्वप्न-प्रक्रिया ही है। जिस प्रकार स्वप्न में अनेक प्रतीक और मूर्त स्वरूप अन्तश्चेतना की सृष्टि बनकर विचरण करते हैं, उसी प्रकार काव्य की कल्प-

नाएं और प्रतीक-विधान भी अन्तश्चेतना की ही उपज होते हैं। यदि उनका निर्माण कवि की अन्तवर्ती चेतना नहीं करती, तो वे कल्पनाएँ और वे अप्रस्तुत मूर्तविधान सच्चे काव्य के उपादान न हो कर कृत्रिम कविता की सृष्टि करेंगे। इस प्रकार मनोविश्लेषण-वादी साहित्यिक मत अन्तश्चेतना के द्वारा उद्भूत प्रतीकों और कल्पना-रूपों को ही वास्तविक काव्य का आधार मानता है।

हमारी चिरदिन से चली आती हुई साहित्यिक धारणा और साहित्यिक विधियों के अनुसार ये दोनों ही—मार्क्सवादी और अन्तश्चेतनावादी—दृष्टिकोण और मत एकांगी हैं। अधिक से अधिक ये साहित्य की दो धाराओं का—उद्देश्य-प्रधान सामाजिक धारा और व्यक्तिमूलक ऐकान्तिक धारा—के प्रेरणा-सूत्रों का आभास देते हैं। परंतु ये साहित्य की प्रशस्त उद्भावना और विकास-भूमि का परिचय नहीं देते और साहित्यिक वैशिष्ट्य के आधारों का आकलन नहीं करतीं। मार्क्सवादी मत को मान लेने पर कवि-कल्पना और काव्य की प्रसार-सीमा वर्ग-संघर्ष की स्थिति-विशेष से ही संबद्ध और उसीसे परिचालित माननी पड़ेगी और दूसरी ओर मनोविश्लेषक मत के अनुसार काव्य को केवल स्वप्न का स्वरूप मानना पड़ेगा। ये दोनों मत परस्पर विरोधी तो हैं ही, स्पष्टत: अतिवादी भी हैं। कुछ विशेष प्रकार के काव्य ही इन निर्देशों की सीमा में आ सकेंगे। अधिकांश काव्य—और श्रेष्ठ काव्य इन प्रतिबंधों और निर्देशों से बाहर ही रह जायगा। आज तक जिसे हम सांस्कृतिक और भावात्मक दृष्टियों से श्रेष्ठ काव्य मानते आए हैं, उसमें सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही दृष्टियों का समाहार होता रहा है—और फिर भी वह सामाजिक और वैयक्तिक सीमाओं से परे मानव की सम्पूर्ण अन्तर्बाह्य सत्ता से सम्बद्ध और उसकी उच्चतम भाव-भूमिका की पूर्ति और समाधान करने वाला सिद्ध हुआ है। साहित्य और कला के इस व्यापक और क्रमागत स्वरूप को हम किसी नवीन मतवाद के आग्रह से सहसा छोड़ नहीं देंगे। परन्तु इन दोनों मतों का उपयोग और उनकी सहायता हम अपनी काव्य धारणाओं के निर्माण में अवश्य लेना चाहेंगे। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि ये दोनों ही काव्य-वाद साहित्य के प्रेरणा-सूत्रों और उनके स्वरूप का ही इंगित करते हैं, वे काव्य और कलाओं के वैशिष्ट्य और उनकी तुलनात्मक विशेषताओं का निरूपण नहीं करते। उसके लिए तो हमें अपने साहित्यिक

मानदंडों और परम्पराओं का ही आश्रित रहना पड़ेगा। नए मतों और सिद्धान्तों की चकाचौंध में पड़ कर हम साहित्य की परम्परा में गृहीत विवेचन-पद्धति और साहित्य की मूल्यांकन-संबंधी साहित्यिक विधियों को छोड़ दें, यह उचित नहीं। नए मत और सिद्धान्त साहित्य-समीक्षा को किस सीमा तक और किस विशेष दिशा में नया प्रकाश प्रदान करते हैं, यह विना समझे, इन नए वादों को साहित्य-समीक्षा का एकमात्र आधार और उपादान मान लेना ऐसा भ्रामक निर्णय है जिसे किसी भी सभ्यताभिमानी देश की साहित्यिक परंपरा स्वीकार नहीं कर सकती।

खंड ६

साहित्य-धाराएँ

छायावाद

छायावाद काव्य-प्रवाह हिन्दी में अब अपनी सुनिश्चित धारा बना चुका है। अब वह केवल विरोध की वस्तु नहीं है, और न केवल वाचिक अभ्यर्थना का विषय रह गया है। अब तो उसकी सम्यक् समीक्षा और परीक्षा भी की जा सकती है। आरंभ से ही अपनी छायात्मक निगूढ़ अभिव्यक्तियों के कारण छायावाद आध्यात्मिक काव्य कहा जा रहा था। पूर्ववर्त्ती भक्ति-काव्य की साकार वर्णनाओं के विपरीत इसकी निराकार पद्धति थी, किन्तु इसका यथार्थ स्वरूप अब तक स्पष्ट नहीं किया गया। छायावाद की पद्धति कबीर आदि की निर्गुण निराकार व्यंजनाओं से भिन्न तो है ही, सूफियों की पद्धति से भी पृथक् है। उक्त दोनों परंपराएँ प्रमुखतः आध्यात्मिक कही जा सकती हैं, यद्यपि सूफी कवियों ने लौकिक संस्कृति के निर्माण में भी कम सहायता नहीं दी। आधिभौतिक पक्ष में देखा जाय तो एक ओर उमर खैयाम और दूसरी ओर शेखसादी तथा भारत के जायसी आदि कवियों में बहुत बड़ा दृष्टिभेद है। इन सभी कवियों ने सामयिक संस्कृति और देश-काल की विचार-धाराओं को भिन्न-भिन्न स्वरूपों में व्यक्त किया है। उदाहरण के लिए उमर खैयाम की काव्य-धारा अदृष्ट, भाग्य या नियति के कठोर-चक्र से भयभीत होकर उससे तटस्थ हो जाने का मानो आमंत्रण करती है। उनका काव्य ईरान और फारस की एकांत वाटिकाओं और उपवनों में दो प्राणियों की प्रेम-परिचर्या का ही सरल आदर्श लेकर उपस्थित हुआ। सादी आदि की रचनाएँ उनसे भिन्न वातावरण और विचार-क्रम का द्योतन करती हैं। जायसी आदि भारतीय सूफियों की कविता न तो उमर खैयाम का सा भाग्यवाद प्रवर्तित करती है और न दो प्राणियों के एकान्त जीवन और औपवनिक परिस्थितियों का प्रदर्शन करती है; न वह अरबी सूफियों की तरह इस्लाम की छत्र-छाया में ही विकसित हुई है। व्यापक भारतीय जीवन और सौन्दर्य के अनेकानेक दृश्यों के बीच से होकर यह काव्य-धारा प्रवाहित हुई है। इस प्रकार देश, काल और विचार-क्रम में भेद होते हुए भी सूफी काव्य मुख्यतः

आध्यात्मिक कहा जाता है; क्योंकि उसका लक्ष्य, निराकार प्रेम की अनुभूति, सब में समान रूप से पाया जाता है। उसके लौकिक, देश-काल सापेक्ष्य और सांस्कृतिक पहलू प्रधान स्थान नहीं पा सके हैं, काव्य के प्राण प्रेम—अलौकिक प्रेम—में ही अटके हैं।

कबीर आदि ज्ञानमार्गियों की आध्यात्मिकता तो एकदम स्पष्ट है। रहस्यमय सत्ता की अभिव्यक्ति और मिथ्या संसार की सुदृढ़ धारणा उनके अध्यात्म के अविचल स्तम्भ हैं। आध्यात्मिक काव्य के लिए एक अखंड सत्ता का स्वीकार—वह प्रेममय हो, ज्ञानमय या आनन्दमय—जितना आवश्यक था, सांसारिक सत्ता या व्यावहारिक जीवन का अस्वीकार भी उतना ही अनिवार्य हो गया था। आध्यात्मिक या अध्यात्मवादी काव्य की यही विशेषता थी। साकारोपासक भक्तों ने भी राम-कृष्ण आदि के चरित्रों को अखंड अव्यय लीला, दिव्य और अलौकिक कहकर उसी कसौटी को स्वीकार किया है। संसार की प्राकृतिक किसी सत्ता की आत्यंतिक स्वीकृति सिद्धांततः वे भी नहीं करते। यह अवश्य मानना होगा कि साकारोपासक कवियों ने सांस्कृतिक, नैतिक और जीवन के व्यावहारिक पक्षों का विस्तृत दिग्दर्शन कराया है, किन्तु उनकी दृष्टि अलौकिक 'आदर्श' पर ही रही है। संसार को दृश्यमान वास्तविकता और तज्जन्य प्रगतियों से वे प्रायः दूर ही रहे हैं। तथापि इन कवियों ने जीवन के बहुविध पक्षों का सौन्दर्य दिखाया और तत्कालीन संस्कृति के निर्माण में योग दिया। आदर्श और अलौकिक की भूमि पर वे व्यवहार और प्रत्यक्ष की इतनी चर्चा भी कर गए, यह कम नहीं। कबीर आदि निर्गुणियों ने भी आत्मा की व्यापक सत्ता घट-घट में दिखाई और उसे पहचानने का आग्रह किया। साधन रूप में उन्होंने सरल और त्यागमय जीवन की शिक्षा दी तथा जाति-पांति के भेदों का निषेध किया। किन्तु उनका लौकिक क्षेत्र साकारोपासकों की अपेक्षा भी सीमित था, क्योंकि उनका अध्यात्म लोक से परे की वस्तु थी, जिसकी साधना तटस्थ और ऐकांतिक ही हो सकती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन अधिकांश काव्य, वह किसी वाद या संप्रदाय से संबद्ध क्यों न हो, अलौकिक वातावरण और आध्यात्मिकता का ही दावा करता रहा। सिद्धांततः सूर, तुलसी और मीरा तथा कबीर, दादू आदि सगुण और निर्गुण उपासना के कवि एक-सी ही

आध्यात्मिक भूमिका का आग्रह करते हैं । सूर के काव्य में कृष्ण-गोपियों की शृंगारिक लीला, तुलसी के काव्य में राम और सीता का मर्यादावादी चरित्र, कबीर की तत्त्वनिरूपक साखियां और अन्योक्तियाँ—विषय, भाव-व्यंजना, काव्यशैली तथा साहित्यिक विशेषताओं में एक दूसरे से दूर दीख पड़ती हैं, परन्तु तत्त्वतः वे सभी अध्यात्मवादी काव्य की शाखा-प्रशाखाएं कही जा सकती हैं ।

यहां प्रसंगवश हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि इस संपूर्ण अध्यात्मवादी काव्य की, जो अनेक शताब्दियों तक प्रस्तुत किया जाता रहा, एक-सी प्रेरणा-भूमि नहीं है । भिन्न-भिन्न कवियों ने अपने-अपने मानसिक धरातल से जो काव्यसृष्टि की है, उसे एक ही 'अध्यात्मवादी' तुला पर तौलना ठीक न होगा । ऐसा करने पर रचनाकारों की वास्तविक जीवन-दृष्टि, उनकी मनःस्थिति तथा काव्यात्मक क्षमता का आकलन न हो सकेगा । अतएव इन मध्यकालीन कवियों का वास्तविक साहित्यिक मूल्य आंकने के लिए आवश्यक है कि इनमें प्रत्येक के 'अध्यात्मवाद' की उनके दार्शनिक और सामाजिक निरूपणों के प्रकाश में परीक्षा की जाय, उनके द्वारा चित्रित चरित्रों और व्यंजित भावनाओं की मनोवैज्ञानिक पद्धति पर आलोचना की जाय और उनकी काव्य-शैली तथा साहित्यिक निर्माण की विशेषताओं को स्वतंत्र भूमि पर रख कर देखा जाय । 'अध्यात्मवादी' होने के कारण ही किसी कवि को काव्य-गौरव नहीं प्राप्त हो जाता, न केवल सांप्रदायिक या साधनाविषयक शब्दावली का प्रचुर प्रयोग ही उसे साहित्यिक उत्कर्ष दे सकता है । आवश्यकता यह समझने की है कि कवि की काव्यानुभूति और उसकी रचना साहित्यिक समीक्षा में स्वतंत्र सत्ता रखती है, किसी वाद के घेरे में वह घेरी नहीं जा सकती ।

अस्तु, यह एक प्रासंगिक बात हुई । नई छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है, परंतु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है । उसे हम बीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं । भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक दर्शन की नवप्रतिष्ठा का वर्तमान अनिश्चित परिस्थितियों में यह एक सक्रिय प्रयत्न है । इसकी एक नवीन और स्वतंत्र काव्य-शैली बन चुकी है । आधुनिक परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था और विचार-जगत् में छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की, नवीन परिस्थिति के अनुरूप,

स्थापना करता है। जिस प्रकार मध्ययुग का जीवन भक्तिकाव्य में व्यक्त हुआ, उसी प्रकार आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति इस काव्य में हो रही है। अन्तर है तो इतना ही कि जहां पूर्ववर्ती भक्तिकाव्य में जीवन के लौकिक और व्यावहारिक पहलुओं को गौण स्थान देकर उनकी उपेक्षा की गई थी, वहां छायावादी काव्य प्राकृतिक सौन्दर्य और सामयिक जीवन-परिस्थितियों से ही मुख्यतः अनुप्राणित है। इस दृष्टि से वह पूर्ववर्ती भक्तिकाव्य की प्रकृति-निरपेक्षता और संसार-मिथ्या की सैद्धांतिक प्रक्रियाओं का विरोधी भी है। छायावाद मानवजीवन-सौन्दर्य और प्रकृति को आत्मा का अभिन्न स्वरूप मानता है; उसे अव्यय की वेदी पर बलिदान नहीं कर देता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन काव्य की सीमा में मानव-चरित्र और दृश्य जगत्, अपने प्रकृत रूप में उपेक्षित ही रहे; जब कि नवीन काव्य में समस्त मानव-अनुभूतियों की व्यापकता पूरा स्थान पा सकी। अध्यात्मवाद की भूमि पर प्रतिष्ठित होते हुए भी मध्यकालीन भक्ति-काव्य और आधुनिक छायावादी काव्य में कितना बड़ा दृष्टिभेद है, यह अनुमान किया जा सकता है। इस दृष्टिभेद के कारण दोनों युगों की काव्य-सृष्टियों में जो महत्त्वपूर्ण अन्तर आ गया है, वह साहित्य के विद्यार्थी के अनुशीलन की वस्तु है।

मध्यकालीन अधिकांश काव्य जो किसी धार्मिक या साधनात्मक प्रणाली के अन्तर्गत रचा गया, एक विशेष अर्थ में सांप्रदायिक काव्य कहा जा सकता है। तुलसी की विनय-पत्रिका, सूरदास के विनय के पद, कबीर की साखियाँ, मीरा के भाव-गीत वास्तव में किसी सगुण या निर्गुण उपास्य के प्रति किए गए आत्मनिवेदन, स्तुतियाँ या ऋचाएं हैं। राम और सीता संबंधी चरित्रकाव्य में अथवा राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में स्थिति कुछ भिन्न अवश्य है, क्योंकि वहां काव्य अपनी प्रकृत भाव-भूमि पर है और मनोवेगों का निरूपण नैसर्गिक पद्धति पर किया गया है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये प्रसंग सर्वथा स्वाधीन हैं और इनका काव्य-सौन्दर्य चरित्र-काव्य या प्रगीत की सामान्य भूमि पर रखकर परखा जा सकता है। समस्या यह हो जाती है कि भक्ति, उपासना या रहस्य-साधना के सांप्रदायिक आग्रह प्रमुख बन बैठते हैं, और काव्य-भावना की वास्तविक परख नहीं हो पाती। आवश्यकता इस बात की है कि काव्येतर समस्त तत्व, वाद और साधना-क्रम स्वतंत्र अध्ययन के विषय अवश्य रहें, परंतु काव्य-विवे-

चन के अवसर पर उन सब का पर्यवसान रचयिता की मनःस्थिति और जीवन-दृष्टि तथा काव्य की भाव-पीठिका के अन्तर्गत हो जाना चाहिए। ऐसा न होने पर काव्य का वास्तविक आकलन अधूरा ही रह जायगा।

दूसरे शब्दों में हमारा निवेदन यह है कि मध्यकालीन काव्य की समस्त सांप्रदायिक और साधनात्मक प्रेरणाओं को नवीत मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक प्रतिमानों में परिणत करना होगा। ऐसा करने पर ही उक्त काव्य की वास्तविक सीमा-रेखाएं निर्धारित हो सकेंगी। नवीन मनोविज्ञान की सहायता से यह कार्य अधिक सुगमतापूर्वक हो सकेगा; क्योंकि सांप्रदायिक साधना-सरणियों का काव्य के अन्तर्गत प्रयोग करने में कवियों की व्यक्तिगत मानसिक स्थिति का आवश्यक और महत्वपूर्ण हाथ मानना ही पड़ेगा। 'सूर के श्याम' और 'मीरा के प्रभु', 'विद्यापति की राधा' और 'सूर की राधा' चरित के रूप में तो भिन्न हैं ही, उनके निर्माण की मानसिक प्रेरणा भी एक नहीं हैं। इसी प्रकार कबीर की रहस्य-भावना उसी मानसिक स्तर पर नहीं है जिस पर दूसरे निर्गुणियों की है। अतएव इस साहित्यिक निर्माण का कवियों की मानसिक स्थिति से संबंध स्थापित करना आवश्यक है।

इतना होने पर ही उन कवियों के काव्य की उपयुक्त भूमिका का निर्माण हो सकेगा और उस भूमिका पर रख कर उनका काव्य-सौष्ठव परखा जा सकेगा। वर्तमान स्थिति में यह कार्य प्रायः भ्रामक पद्धति पर किया जाता है। पाठकों के धार्मिक विश्वासों का अनुचित उपयोग कर कुछ समीक्षक कृष्ण-काव्य को अब भी कला और भाव-समीक्षा का वास्तविक विषय नहीं बनने देते, और उनकी अनेकविध सांप्रदायिक व्याख्याएँ करते रहते हैं। कुछ समीक्षक रहस्यवाद की काव्यभूमि को ही स्वीकार नहीं करते, और कुछ इसके विपरीत, रहस्य-काव्य के दार्शनिक विवेचन में ही सारा पांडित्य खर्च कर देते हैं। ये सभी समीक्षा-प्रकार साहित्यिक आकलन की दृष्टि से एकांगी और अधूरे हैं और साहित्यिक या कलात्मक विवेचन में बाधा उपस्थित करते हैं।

जब तक इस नई पद्धति पर काव्य-विवेचन की प्रतिष्ठा नहीं होती तब तक मध्यकालीन काव्य का कलात्मक और सांस्कृतिक स्थान निर्धारित करना संभव नहीं होगा। साथ ही मध्ययुग की सामाजिक परिस्थिति में उक्त काव्य की कितनी और किस प्रकार पैठ हुई तथा उससे सामाजिक

कला-अभिरुचि किस सीमा तक जागृत हुई, और सांस्कारिकता कहाँ तक बढ़ी और विकसित हुई, इन प्रासंगिक प्रश्नों को भी इतिहास के आलोक में हल करना होगा। सारांश यह कि इतिहास और सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि पर उन कवियों की सांप्रदायिक साधनाविधियों और दार्शनिक निरूपणों का उनकी जीवनी और मानसिक गतिविधि से संबंध स्थापित करते हुए काव्य की नवीन व्याख्या करनी होगी और इस प्रकार उन मध्यकालीन कवियों की काव्यपीठिका का निर्माण करना होगा। इस पीठिका पर रख कर ही हम उनको रचनाओं की साहित्यिक विशेषताओं को आंक सकेंगे। तभी हमारा साहित्यिक इतिहास वास्तविक साहित्यिक भूमि पर स्थापित होगा और हम भिन्न-भिन्न साहित्यिक निर्माणों का यथार्थ स्वरूप समझ सकेंगे।

छायावाद काव्य मध्ययुग की काव्यधारा से प्रमुखतः इस अर्थ में भिन्न है कि वह किसी क्रमागत सांप्रदायिकता या साधना-परिपाटी का अनुगमन नहीं करता। अध्यात्मवादी काव्य का अधिष्ठान देशकालातीत परम पवित्र सत्ता हुआ करती है। व्ययशील सांसारिक आदर्शों और स्थितियों आदि से उनका मुख्य संबंध नहीं होता। वह विकास जो समय का आश्रित है, वह विज्ञान जो व्यक्त द्रव्य तथा उसकी परिणतियों पर अधिष्ठित है, मध्यकालीन आध्यात्मिक काव्य के विषय नहीं हैं। प्रत्यक्ष वस्तु का मानवजीवन के सुख-दुःख, विकास-ह्रास आदि की अवस्थाओं से जो संबंध है, वह काव्य उसकी उपेक्षा कर गया है। किन्तु आधुनिक छायावादी काव्य उसकी उपेक्षा नहीं करता। अध्यात्मवादी परंपरा दृश्यमात्र को विनाशी कह कर चुप हो रहती है, अथवा उसे व्यावहारिक बता कर मुंह मोड़ लेती है। छायावादी काव्य में यह परंपरा स्वीकृत नहीं है। दैन्य से पीड़ित और प्रताड़ित तथा भोगैश्वर्य से प्रसक्त और परिवेष्टित व्यक्ति, समुदाय, देश, राष्ट्र या सृष्टिचक्र के विभेदों में अध्यात्मवाद नहीं जा सका। समय और समाज को आन्दोलित करनेवाली शक्तियों का आकलन उसमें कम ही है। वह तो उस शाश्वत सत्ता से ही सर्वथा संपृक्त है जिसमें परिवर्तन का नाम नहीं। उस सत्ता का स्वरूप सगुण है या निर्गुण, विश्वमय है या विश्वातीत, ये प्रश्न ही उस अध्यात्म में आते हैं। छायावाद की काव्यसरणी इन अध्यात्मवादी सीमा-निर्देशों से आबद्ध नहीं है, वह भावना के क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रतिबंध स्वीकार नहीं करती।

आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत अध्यात्म-पद्धति को लेकर नहीं चलता। नवीन जीवन-प्रगति में ही उसने आत्मसौन्दर्य की झलक देखी है। परंपरित अध्यात्म प्रायः पुरुष से प्रकृति की ओर प्रवर्तित होता है—एक चेतन केन्द्र से नाना चेतना-केन्द्रों की सृष्टि करता है। किन्तु छायावादी काव्य प्रकृति की चेतन-सत्ता से अनुप्राणित होकर पुरुष या आत्मा के अधिष्ठान में परिणत होता है। उसकी गति प्रकृति से पुरुष की ओर—दृश्य से भाव की ओर होती है। और इस दार्शनिक अनुभूति के अनुरूप काव्य-वस्तु का चयन करने में छायावादी कवियों ने प्रकृति के अपार क्षेत्र से यथेच्छ सामग्री ग्रहण की है।

प्रसादजी, जो छायावाद काव्य के प्रवर्तक माने जाते हैं, अपनी आरम्भिक रचनाओं में प्रकृति की रमणीयता से आकृष्ट होकर उसके सौन्दर्य-प्रभावों को व्यक्त करते हैं। उनका आरम्भिक काव्य प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य की भूमि पर अधिष्ठित है। इस व्यक्त सौन्दर्य-वस्तु का प्रभाव कवि के काव्य में एक हलकी रहस्यभावना की सृष्टि करता है। 'झरना' और 'आंसू' में यह सौन्दर्य-सत्ता क्रमशः विकसित होकर कवि की भावना में और भी गहराई लाती है और कवि प्रेम-तत्त्व के निरूपण में संलग्न दिखाई देता है। 'लहर' के गीतों में मानवजीवन के विविध पहलुओं के साथ जीवन-तत्त्व के समन्वय का प्रयत्न है। 'कामायनी' काव्य में जीवन की अनुभूतियाँ अपनी व्यापकता में प्रदर्शित हैं और उन सबका समाहार कवि के जीवन-दर्शन, आनन्दवाद में किया गया है। प्रसादजी के काव्य के अभिनव भाव-विस्तार को देखते हुए मध्ययुग का धार्मिक और सांप्रदायिक अध्यात्म-काव्य बहुत कुछ सीमित और परतंत्र प्रतीत होता है।

केवल एक प्रासंगिक उदाहरण लेकर देखना ही हमारे लिए पर्याप्त होगा। सूरदास का राधा-कृष्ण-संबंधी श्रृंगारिक काव्य अपनी स्वाभाविक भावभूमि पर भी अत्यधिक विशद और आकर्षक है। वृन्दावन के प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच गोपियों के प्रेम का विकास एक आध्यात्मिक समारोह ही कहा जा सकता है। परन्तु एक सीमा तक ही यह सुन्दर पद्धति देखने को मिलती है। आगे चलकर गोपियों की मानलीला और कृष्ण-द्वारा मान-मोचन के प्रयत्नों का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह अपनी प्रकृत भूमि पर वैसा भावनामय नहीं हो पाया। प्रत्येक गोपी

के घर बारी-बारी से जाकर उसको अभिलाषा-पूर्ति का प्रयत्न जैसा वह सूरदास के काव्य में चित्रित है, आध्यात्मिक रूढ़ि के अनुकूल भले ही हो, काव्य की उदात्त भाव-व्यंजना में सहायक नहीं है। संभव है तत्कालीन काव्य-पद्धति में वैसे चित्रण अपवाद न माने जाते हों, पर आज वे चित्रण—संभोग शृंगार के वे दृश्य—सुरुचिपूर्ण नहीं कहे जा सकते। फिर भी मध्यकालीन धार्मिक काव्य की परिधि में उनका निर्माण हुआ है और बहुत-से भक्त उन्हें गाकर आज भी अलौकिक आनन्द उपलब्ध करते हैं! उनका यह आनन्द उक्त प्रसंग की रहस्यवादी धारणा के कारण है, या उन दृश्यों के यथातथ्य चित्रण में ही उनकी भावना रमती है—यह तो वे ही बता सकते हैं। यहाँ हमें केवल इतना ही कहना है कि नवीन छायावादी काव्य-शैली में ऐसे चित्रणों के लिए, चाहे वे किसी वाद के अंतर्गत हों, स्थान नहीं है।

सारांश यह कि हमारा नया काव्य अपनी स्वतंत्र दार्शनिकता के साथ ही अपनी भाव-भूमि और अनुभूति-क्षेत्र में भी पूर्ववर्ती काव्य से पृथक् सत्ता रखता है, जिसका यथार्थ परिचय हमें साहित्यिक विवेचन की उस स्वतंत्र परिपाटी का अभ्यास करने पर ही प्राप्त हो सकता है, जिसका संकेत ऊपर किया गया है। साहित्य-शैलियों का स्वतंत्र और कलात्मक अनुशीलन आज की साहित्य-मीमांसा के लिए आवश्यक है। आज छायावादी काव्य-शैली को स्थानान्तरित करती हुई नई शैलियाँ भी हिन्दी के क्षेत्र में अवतरित हो रही हैं। नए वादों का आगमन हो रहा है, नई भाषा-शैली प्रतिष्ठित हो चली है। इस समस्त परिवर्तन का साहित्यिक आकलन अपेक्षित है।

छायावाद की साहित्य-शैली में एक नई दिशा का आभास महादेवी जी के काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करने पर प्राप्त हुआ। उनका काव्य पूर्णतः रहस्योन्मुखी और ऐकान्तिक है। छायावाद की सामान्य काव्य-शैली से उनकी पृथकता स्वीकार करनी होगी। इसके पश्चात् बच्चन जी का नया काव्य-वाद हिन्दी के क्षेत्र में आया। इसी समय छायावादी काव्यशैली के कतिपय अनुयायिओं ने 'यथार्थवादी' काव्य-प्रयोग आरम्भ किए, जिनमें पंत जी भी एक प्रमुख प्रयोक्ता थे। चित्रण-शैली और प्रेरणा-भूमि दोनों में पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा इनमें पर्याप्त अंतर दिखाई दिया।

नया काव्य-प्रवर्तन आरम्भ हो चुका है; परन्तु शैली के रूप में

उसकी नूतन प्रतिष्ठा होने में कुछ समय लगेगा । इस नवीन प्रवर्तन के मूल में नई विचारणा, नई चिन्तन-पद्धति और नवीन जीवन-दृष्टि ही नहीं है, नई कला-शैली की भी सत्ता है । स्वभावतः यह नवीन निर्माण कल्पना-प्रधान छायावादी काव्य-निर्माण की अपेक्षा अधिक 'यथार्थ' चित्रण-शैली का उपयोग कर रहा है, पर शैली का यह 'यथार्थ' अपने अंतर्गत कितनी विभिन्न और दूरवर्ती भावना-सरणियों को आत्मसात कर सकेगा, यह तो नवीन सांस्कृतिक विकास और भविष्य की सामाजिक प्रगति पर ही अवलंबित है । अभी इसके संबंध में कोई निश्चयात्मक मत व्यक्त नहीं किया जा सकता ।

प्रगतिशील साहित्य

आज हमारे साहित्य में एक नया प्रगतिशील आन्दोलन आरम्भ हो चुका है। साहित्य के सभी नए आन्दोलन एक अर्थ में प्रगतिशील कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे किसी-न-किसी नई सामाजिक या सांस्कृतिक प्रगति से उत्पन्न होते और किसी-न-किसी नवीन विचारधारा के सहचर हुआ करते हैं। इस दृष्टि से हमारा साहित्य पिछले तीस वर्षों में तीन प्रगतिशील आन्दोलनों का सृजन सञ्चालन कर चुका है। यहाँ मैं उस चौथे की चर्चा नहीं करूँगा जो इन तीनों से पहले का, हिन्दी के नवयुग का, प्रथम आन्दोलन था और जिसके पुरस्कर्त्ता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। मैं कहना यह चाहता हूँ कि इन तीन-चार प्रगतिशील आन्दोलनों के रहते हुए अपने अति नवीन आन्दोलन का नाम 'प्रगतिशील' रखना विशेष उपयुक्त नहीं हुआ। इस नामकरण से भ्रम होता है कि हमारे पहले के आन्दोलन प्रगतिशील नहीं थे। प्रगतिशील ही नहीं, वे प्रचलित सामाजिक स्थितियों और साहित्य-सरणियों के विरुद्ध विद्रोहात्मक भी थे! ऐसी अवस्था में केवल इस अन्तिम आन्दोलन का नाम 'प्रगतिशील' रखना कुछ ऐसा भ्रम है, जैसे पुत्र अपना नाम पिता के नाम पर रख ले।

फिर, मेरे विचार से किसी साहित्यिक आन्दोलन का प्रगतिशील होना ही काफी नहीं है। प्रगति तो प्राकृतिक गति है। वह परिवर्तनशील वस्तु-व्यापार का आवश्यक परिणाम है। तो क्या परिवर्तन का प्रतिबिम्ब होना ही साहित्य का एकमात्र स्वरूप या लक्ष्य है? मेरे विचार से नहीं। प्रथम तो परिवर्तन की सारी दिशाओं का परिज्ञान होना चाहिए। विकास-मूलक शक्तियों और दिशाओं की पहचान होनी चाहिए। तभी हम कृत्रिम साधनों से (जिसके अन्तर्गत मानसिक रूढ़ियाँ, संस्कार और बाहरी सामाजिक अथवा राजनीतिक शक्तियाँ भी शामिल हैं) रोके हुए आवश्यक परिवर्तन को साहित्य द्वारा उद्घाटित कर सकेंगे और साथ ही कृत्रिम साधनों से बढ़ाये हुए अनावश्यक परिवर्तन या विच्छेद (Fissiparous Tendencies) को रोक भी सकेंगे।

यहाँ आप पूछेंगे कि साहित्यिक को इस प्रकार के बुद्धिव्यवसाय या

विवाद में पड़ने की आवश्यकता ही क्या है? वह तो भावजगत् का प्राणी है। यदि वह अपने भावों को सौन्दर्यपूर्ण साहित्यशैली से प्रकाशित कर देता है तो उसके लिए इतना ही पर्याप्त होना चाहिए। किन्तु मेरी समझ में साहित्य केवल व्यक्तिगत भावों के प्रदर्शन की भूमि नहीं हो सकता। व्यक्तिगत भाव भी आखिर क्या हैं? उस व्यक्तिविशेष पर पड़े हुए विभिन्न ज्ञात-अज्ञात उपकरणों का प्रभाव ही तो। वे उपकरण उसे कहां से मिले? अपने समय के समाज, और सामाजिक चेष्टाओं से। तब प्रश्न यह है कि वह उस समाज और उन चेष्टाओं को आँख मूंद कर क्यों ले? आँखें खुली क्यों न रक्खे, और क्यों न अपने सामूहिक उत्तरदायित्व को समझे? यह केवल एक उत्तरदायित्व ही नहीं है, व्यक्तित्व का उन्नायक साधन भी है। फिर यह ऊपर से लादा हुआ कोई बोझ नहीं है, यह तो मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने की स्वाभाविक सूचना है।

व्यक्ति या समाज के बीच चलने वाले स्वाभाविक आदान-प्रदान को सचेत होकर ग्रहण करना काव्य-साहित्य को प्रगतिशील ही नहीं, उत्थान-मूलक भी बनाने में उपयोगी सिद्ध होगा। यदि हमने अनुकृति के आधार पर, अथवा प्रतिरोध करने की क्षमता के अभाव के कारण कुछ विश्वासों, प्रभावों या अनुभवों को धारण कर रक्खा है, तो स्पष्ट है कि हममें साहित्यिक उत्कर्ष की सम्भावना बहुत थोड़ी है। यह असंभव नहीं कि इन व्यक्तिगत प्रभावों के आधार पर हम ऐसे साहित्य का निर्माण करें (बशर्ते कि हममें कुछ काव्यशक्ति है) जो कुछ दिनों तक बहुत काफी लोकप्रिय हो जाय, पर देश और जाति के स्थायी साहित्य में यह 'निरीह निर्माण' क्या स्थान पा सकेगा!

आप यह न समझें कि मैं साहित्य के लिए किसी रूढ़िबद्ध ऊँची नीति अथवा आदर्शवाद की सिफारिश कर रहा हूँ। ऐसा करना बिल्कुल ही मेरा लक्ष्य नहीं। किसी बँधी-बँधाई लीक अथवा नपे-जुखे आदर्शों के आधार पर साहित्य की प्रगति और उसका उन्नयन नहीं हो सकता। बदलते हुए समय के साथ प्रगति का मार्ग भी बदलेगा। हमारे आदर्शों में भी परिवर्तन और उलट-फेर होंगे। मेरा आग्रह केवल इतना है कि हम आंख मूंद कर किसी वस्तु को न लें। न हम आए हुए प्रभावों अथवा नवीनता के झोंके में बह जायँ और न विगत आदर्शों का स्वप्न देखते रहें। निराशा

के लिए निराशा की फुलझड़ियाँ बरसाना हम साहित्य में बन्द कर दें और साथ ही आकाशकुसुमों की आशा भी छोड़ दें।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि साहित्य से करुण रस को अथवा ऊँची आदर्शात्मक कल्पनाओं को उठा देना होगा। उठाना या बैठाना हमें किसी को नहीं। साहित्य में आशा और निराशा, करुण और वीर, सबके लिए समान स्थान है और रहेगा; किन्तु उनकी नियोजना प्रगतिमूलक और उद्देश्ययुक्त करनी होगी, निरुद्देश्य और अस्तव्यस्त नहीं। शेक्सपियर के दुःखान्त नाटक अथवा भवभूति का उत्तर रामचरित करुणा से भरे हुए हैं, किन्तु क्या वे शक्तिहीनता और निर्बलता उत्पन्न करते हैं? नहीं, वे हमारी भावना का इस प्रकार स्पर्श करते हैं कि उनसे जीवन के सुन्दर लक्ष्यों के प्रति आस्था बढ़ती है। इसी उन्नतिनी परिपाटी की रक्षा हमें करनी होगी और यह तब होगा जब हम साहित्य की प्रगति को जीवन के साथ संबद्ध किए रहेंगे।

साहित्य के साथ जीवन को संबद्ध किए रखने का आशय इतना ही है कि जीवन संबंधिनी आधारभूत चेतना साहित्य से लुप्त न हो जाय, हम मृत्यु के अथवा अगति के उपासक न बन जायँ, निराशा और आत्मपीड़न को अर्घ्य न देने लगें। इसका यह आशय नहीं कि साहित्य में निराशामूलक प्रवृत्तियों का चित्रण ही न किया जाय। किया वह अवश्य जाय, पर आदर्श बना कर नहीं। रचनाकार स्वयं उनमें अभिभूत होकर जीवन का लक्ष्य न छोड़ दे। जीवन का लक्ष्य है जीना। जीना जितना व्यापक और समुन्नत स्वरूप धारण कर सके, उतनी ही साहित्यकार की कृतकार्यता होगी। यहाँ मैं फिर कहूँगा कि जीने का व्यापक और समुन्नत स्वरूप कोई रूढ़िबद्ध वस्तु नहीं है, किन्तु वह सतत और सर्वतोमुखी विकास है।

प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि जब सारा समाज निराशा के गर्त में गिरा हुआ हो, तब वह आशा के गीत कैसे गाए? मैं आशा के गीतों का आग्रह नहीं करता। मेरा आग्रह केवल इतना ही है कि हम आत्मविस्मृत न हों, यह जाने रहें कि हम संप्रति निराशा के गर्त में गिरे हुए हैं। किन्तु यह स्थायी गिरना नहीं।

क्या इस सूत्र को मैं बुद्धिवाद या बुद्धिसूत्र कहूँ? बहुत व्यापक अर्थ में इसे यह नाम दे सकूंगा। आप पूछेंगे व्यापक अर्थ से मेरा आशय क्या है? आशय यह है कि वाद के रूप में बुद्धिवाद कुछ मोटी रेखाओं के

भीतर घिरा है। साहित्यिक और सांस्कृतिक इतिहास में ऐसे युग आये हैं और आ सकते हैं जिनमें यह मोटी रेखाओं वाला बुद्धिवाद सहायक नहीं हुआ या न हो; किन्तु प्रगतिशील चेतना के रूप में बुद्धि सदैव विकास के साथ रही है।

यदि इस सूत्र के कुछ मनोवैज्ञानिक निदर्शन या दृष्टान्त आप चाहें, तो मोटे तौर पर मैं नीचे के निदर्शन दूँगा— १. अति शृंगारोन्मुख प्रवृत्तियाँ (Morbidity) प्रगति के विरुद्ध हैं। २. अति उदासीन प्रवृत्तियाँ प्रगतिमूलक नहीं। ३. केवल कौतूहल प्रगति की बड़ी वस्तु नहीं। ४. केवल मनोरंजन प्रगति के लिए पर्याप्त नहीं। ५. वाह्य संघर्ष की अपेक्षा बौद्धिक और मानसिक संघर्ष प्रगतिशील साहित्य में अधिक महत्त्व रखते हैं। ये दृष्टान्त मैं साहित्यिक इतिहास के आधार पर दे रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि ये वैज्ञानिक भी हैं।

यह तो हुआ प्रगतिशील साहित्य का प्रथम सूत्र। इसे मैं आत्मचेतना अथवा जीवनचेतना के नाम से पुकारूँगा। इसके अभाव में साहित्य सच पूछिए तो साहित्य पद का अधिकारी नहीं होता। वह क्षयशील कला भी क्या कला कहा सकती है, जो मृत्यु, आत्मपीड़न अथवा जीवनशोषण की ओर प्रगतिशील हो? इसके उत्तर में सम्भव है कुछ लोग कहें कि जीर्ण जीवन की अनिवार्य समाप्ति मृत्यु में ही होगी और नवीन जीवन का उद्भव उसके पश्चात् ही होगा। जीर्ण जीवन का अन्त मृत्यु ठीक है, किन्तु क्या वह मृत्यु हमारा आदर्श हो सकती है? आदर्श तो हमारा जीवन ही होगा। क्षय के लिए क्षय और मृत्यु के लिए मृत्यु की वरेण्यता हम किसी प्रकार प्रतिपादित नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में हम ह्रासोन्मुखी या जीवन-विघातिनी कला को कला कह कर प्रशंसा नहीं कर सकते।

प्रगतिशील साहित्य का दूसरा सूत्र है परिवर्तन के क्रम को समझना, नवीन समस्याओं के संपर्क में आना और नवीन ज्ञान का उपयोग करना। यह भी जागरूक और दृष्टिसंपन्न साहित्यिकों के ही वश का काम है। जो कवि सामयिक जीवन की जितनी ही महान् हलचलों के बीच से गुजरेगा और साथ ही जितना ही अनुभवप्रवण होगा, उसकी साहित्यिक सम्भावनाएँ उतनी ही विशाल होंगी। अपनी प्रशस्त कल्पना के द्वारा जो वर्तमान हलचलों का यथार्थ स्वरूप और आगम की झलक जितनी स्पष्टता से देख सकेगा, वह उतना ही बड़ा साहित्यकार होगा। रवीन्द्रनाथ और

बंकिमचन्द्र की प्रशंसा भारतीय साहित्य में इतनी अधिक क्यों है? केवल इसलिए नहीं कि उनमें बड़े ऊँचे दर्जे की काव्य-प्रतिभा है या थी, वरं इसलिए भी कि वे परिवर्तनशील समय और उसकी आवश्यकताओं का निरूपण साहित्य में औरों से पहले कर सकें। सामने आई हुई और आगे आने वाली समस्याओं को पहचानने और उनका हल ढूंढ़ने में वे औरों से पहले समर्थ हुए। न उन्होंने कृत्रिम समस्याओं या आवश्यक आशंकाओं का सृजन किया और न आये हुए प्रश्नों से मुंह मोड़ा। उन समस्याओं और प्रश्नों का उन्होंने सुन्दर साहित्यिक निरूपण किया और उनका सही हल बतलाया।

यह प्रगतिशीलता समय-सापेक्ष्य है। आज की हमारी समस्याएँ वे ही नहीं हैं जो पच्चीस साल पहले थीं। कुछ चीजों का नाम लेना भी उस समय सम्भव न था जिनका आज खुले-आम व्यवहार होता है। लिबरल राजनीति अपने समय की प्रगतिशील राजनीति थी, किन्तु क्या आज भी उसे प्रगतिशील कहा जा सकता है? किसी समय में वह व्यावहारिक वस्तु थी, आज वह पिछडी हुई समझी जाती है। किन्तु इस कारण उसका ऐतिहासिक मूल्य नष्ट नहीं होता। जिस समय राजनीतिक चेतना उच्च-मध्य वर्गों तक सीमित थी, उस समय लिबरल राजनीति क्रियाशील वस्तु थी, आज वह निष्क्रिय जान पड़ती है। राजनीतिक चेतना का विकास हो रहा है, वह क्रमश: प्रसरित होकर निम्नतम वर्गों में भी पहुँच जायगी। उस समय की राजनीति हमारे आज के प्रयासों को क्या कहेगी, इसकी हम केवल कल्पना कर सकते हैं। व्यवहार में तो हमें आज की अवस्था देखनी होगी। हमारा झुकाव किस ओर है, यही हमारे लिए निर्णायक वस्तु है। हम किस दिशा में क्रियाशील हैं और किन प्रश्नों को कितनी सफाई के साथ और कितने प्रभावशाली रूप में सामने रख रहे हैं, इतना ही समझ लेना पर्याप्त है। इसके साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि किस प्रश्न पर हमारी नजर कब पड़ी है, हमारे पूर्व औरों ने इस प्रश्न को उठाया है या नहीं, उठाया तो क्या समाधान किया है और हम इस विषय में अपनी कौन-सी विशेषता रख रहे हैं।

यदि साहित्यकार की दृष्टि अपने समय की प्रमुख समस्याओं पर पूरे तौर से पड़ी है और उसने अपने साहित्य में उनका मार्मिक चित्रण किया है, तो यह बात विशेष महत्त्व की नहीं है कि वह उनका क्या हल

हमारे सामने रखता है। रचयिता की बौद्धिक तीव्रता और ग्राहिका शक्ति का आभास हमें इतने से भी मिल सकता है कि उसने अपने समय की विभिन्न सामाजिक प्रगतियों और मार्ग में आने वाली दिक्कतों को देखा है या नहीं। वह कोई उड़ंछू आदमी तो नहीं है। वर्षों पूर्व मैथिलीशरणजी के अथवा प्रेमचंदजी के सामने जो प्रश्न थे और उनपर जिस प्रकार की प्रतिक्रिया उनकी थी, वही या उतनी ही आज भी हमारी हो, यह आवश्यक नहीं। न यह आवश्यक है कि आज हम उन्हें समय से पिछड़ा हुआ सिद्ध करने में अपने समय और शक्ति का अपव्यय करें। हम उन्हें आज का नेता नहीं मानते, इतना ही हमारे लिए बस होना चाहिए। साहित्य के इतिहास में उनका जो स्थान है, उसे उनसे कोई नहीं छीन सकता।

यहाँ अब यदि हमें इस सूत्र से निकले हुए कतिपय निष्कर्ष स्थूल रूप से आपके सामने रखने हों तो मैं इस प्रकार रक्खूंगा:—१. परिवर्तन के अन्तर्गत प्रगतिशील शक्तियों को पहचानना, २. परिवर्तन से उत्पन्न हुई विचारधारा के शब्द-संकेतों का मनोयोग के साथ अध्ययन और प्राचीन प्रगतिशील विचारधारा की शब्दावली और उसके उद्देश्यों की नवीन उद्देश्यों से तुलना, ३. नवीन समस्याओं का प्रगतिशील हल, ४. प्राचीनता के मोह का परित्याग, ५. नवीन समस्याओं के सम्बन्ध में साहित्यिक प्रेरणा उत्पन्न करना, ६. रूढ़ियों के प्रति शंका उत्पन्न करना और ७. ह्रासोन्मुखी और अस्तंगत होते हुए जीवन के यथार्थ (ह्रासोन्मुख) स्वरूप का कलात्मक उद्घाटन।

एक युग में रहकर भी एक समस्या पर कई दृष्टियों से आक्रमण किया जा सकता है। यह तो युग की चेतनात्मक जागृति का सूचक है कि लोग अनेक प्रकार से किसी प्रश्न पर विचार करते हैं। स संबंध में किसी प्रकार की हठधर्मी का मैं पक्षपाती नहीं हूं। मैं इस वैविध्य को प्रोत्साहन देना चाहता हूं। इस विषय में मुझे अपने दो मित्रों की अक्सर याद आती है। श्री जैनेन्द्रकुमार और श्री नरोत्तम प्रसाद नागर। दोनों के दृष्टिकोण परस्पर विरोधी हैं। एक दक्षिणी ध्रुव, दूसरा उत्तरी ध्रुव। एक अर्हत प्रेमी और दूसरे फ्रायड के परम भक्त। 'सुनीता' जैनेन्द्र का एक सामाजिक उपन्यास है। उसमें चित्रण है एक ऐसे परिवार का जिसमें एक युवती पत्नी और उसके पतिदेव हैं। पति-

देव के मित्र एक नवयुवक का बाहर से आगमन होता है । इस नवयुवक में आकर्षण की सृष्टि होती है उसे एक गुप्त क्रांतिकारी आंदोलन से संबद्ध करके । अब यह क्रांतिकारी पुरुष है और वह युवती स्त्री । परदा नहीं है । पतिदेव उपन्यास की समस्या को सामने लाने के लिए कुछ दिनों को घर से बाहर कहीं काम से चले जाते हैं । समस्या बिल्कुल प्रत्यक्ष है, परदा-रहित परिवार में पर पुरुष के प्रवेश की समस्या । किन्तु इसका समाधान ? इसका समाधान जैनेन्द्रजी करते हैं एक रात नग्न रूप में उस स्त्री को दिखाकर और क्रांतिकारी पुरुष के मन में तात्कालिक विरक्ति या मानसिक आघात उत्पन्न करके । किन्तु क्या यह कोई वास्तविक समाधान है ? मैं इसे वास्तविक समाधान नहीं मानता, किन्तु नरोत्तम प्रसाद इसके एक कदम आगे बढ़ते हैं । उनका आक्रमण जैनेन्द्र की सम्पूर्ण मनोभूमि पर है । मैं इस समाधान को उपन्यास का कोई आवश्यक अंग भी नहीं मानता । किन्तु नरोत्तम इतने से ही उसका पल्ला छोड़ने वाले नहीं । वे 'शुतुरमुर्ग' पुराण लिखकर यह दिखाते हैं कि दमित इच्छाओं का विस्फोट ऐसी ही कृत्रिम प्रणालियों से होता है जिन्हें लोग रहस्यात्मक रूप देकर छिपाना चाहते हैं ।

इसी प्रकार हमारे साहित्य में विचार-धाराओं का प्रवाह बड़े वेग से फैल रहा है जिसे मैं व्यक्तिगत रूप से शुभ लक्षण मानता हूँ । आज हमारे यहाँ आध्यात्मिक और वैज्ञानिक वादों को लेकर जो बौद्धिक चर्चा उठी हुई है, उसका परिणाम अच्छा ही देखने में आता है । आवश्यकता केवल इस बात की है कि आक्रमण के साथ-साथ एक दूसरे को समझने की चेष्टा भी उतनी ही मात्रा में की जाय । साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि कला अथवा साहित्य में नियोजित होने पर कोई भी वस्तु-योजना स्वतंत्र रूप से नहीं परखी जा सकेगी । उसकी परीक्षा उक्त कला या साहित्य-वस्तु के प्रभाव के अन्तर्गत करनी होगी ।

यहीं हम प्रगतिशील साहित्य के तीसरे सूत्र को पकड़ते हैं जिसे हम कला-निर्माण का सूत्र कहेंगे । ऊपर श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री प्रेमचंद का हवाला आ चुका है । वहाँ मैंने यह संकेत किया है कि ये दोनों अपने समय के प्रगतिशील साहित्यकार थे, किन्तु ये आज के हमारे नेता नहीं हैं । उनका स्थान इतिहास में हो गया है । यह एक पक्ष की बात है । उनका एक दूसरा पक्ष है कला-निर्माण का, क्योंकि वे

कोरे विचारक नहीं हैं, कवि और कलाकार भी हैं। इस दृष्टि से उनकी रचनाएँ सब समयों में पढ़ी जायँगी और समधिक आनन्द प्रदान करेंगी। जिन क्षणों में हम किसी विचारात्मक दृष्टि से अनुशासित नहीं होते, केवल काव्य का अध्ययन करना चाहते हैं, उन क्षणों में कवियों के कला-निर्माण का प्रश्न प्रमुख होकर हमारे सामने आता है। तब हम यह नहीं सोचते कि उसने क्या कहा है और किस वर्ग के लिए कहा है, बल्कि यह जानना चाहते हैं कि उसने मानवजीवन के किन पहलुओं पर प्रकाश डाला है, जीवन का समष्टि स्वरूप कैसा खड़ा किया है; किस दिशा में वह हमें प्रभावित कर सका है और किस अथवा किन कला-परिपाटियों का अनुसरण किया है। अक्सर ऐसा भी देखा जाता है कि रचयिता चाहे किसी प्रशस्त विचार-धारा का स्वामी न हो, किन्तु मानव-जीवन के विविध अंशों, और अवसरों के चित्रण में उसे बड़ी दक्षता प्राप्त हुई है। जीवन के जिन सूत्रों को उसने उठाया है, उनका यथोचित समाहार वह कर सका है या नहीं; उसका नक्शा कितना बड़ा है, उसकी कला-योजना और भाषा-शैली कैसी है इस प्रकार के प्रश्न इस अध्ययन में आते हैं। प्रभाव की गहराई, जीवन के व्यापक स्वरूपों का उद्घाटन और उन्हें सत्य के कलात्मक आभास से भरना, अन्तर्निहित विचार-प्रवाह का प्राणमय संघटन, सारी कृति का समाहित और अटूट ऐक्य आदि ऊँची कल्पना और काव्यशक्ति के परिचायक हैं और इन गुणों से ही कलाकार के महत्त्व का निर्धारण होता है।

कलाकार द्वारा अंकित चरित्र-विशेष या चित्र-विशेष की आज कोई व्यावहारिक उपयोगिता चाहे न हो, पर कलात्मक उपयोगिता सब समयों में रहेगी; जैसे डिकेन्स के उपन्यास। कभी सामाजिक प्रगति के अवरुद्ध द्वारों का उद्घाटन करने के लिए बुद्धि-विशिष्ट कला की सृष्टि होती है, जैसे इब्सन के नाटक। इस कला के अनेक भेदोपभेद हो जाते हैं और इतिहास में अलग-अलग शैलियों का विन्यास हो जाता है। महान् कलाकारों ने सैकड़ों वर्षों के साहित्यिक इतिहास पर अपनी शैलियों की छाप छोड़ी है। दूर-दूर देशों और दूर-दूर समयों में, जिनके बीच सामाजिक स्थितियों और समस्याओं का कोई एका नहीं—य शैलियाँ बर्ती जाती हैं। शेक्सपियर की शैली डी० एल० राय में और होमर अथवा मिल्टन का अनुसरण माइकेल मधुसूदन दत्त में दिखाई देता है। क्लैसिक

और रोमैंटिक नाम की दो काव्य-शैलियाँ विकसित हुईं जिनके भीतर समस्त साहित्य का आकलन किया जाता है। इसी प्रकार 'रियलिज्म' या वस्तुवाद साहित्यिक और कलात्मक अभिव्यक्ति का एक क्रम है जिसे आज के साहित्यिक नाना प्रकार के प्रयोगों में ला रहे हैं और भविष्य में भी लाते रहेंगे।

कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल में अंगूठी खो जाने के संयोग से नाटक में अमित आकर्षण की सृष्टि हुई है। इसी प्रकार शेक्सपियर अपने नाटकों में आकस्मिक संयोगों की नियोजना से कथा-धारा को तीव्र और आकर्षणमय बना देता है। आज हम एक बुद्धिवादी युग में निवास करते हैं, इसलिए ऐसे संयोग-नियोजन को हल्की कला का उपादान मानते हैं। हम अधिक विश्वसनीय और सुसंगत आधार नवीन कला का चाहते हैं। उसे हम पा सके हैं या नहीं, यह दूसरा प्रश्न है। यह तो मैंने एक उदाहरण-मात्र दिया। हमारा उद्योग कला-निर्माण की दिशा में भी अनेकमुखी प्रगतिशील विकास का है। यह साहित्य और कला के लिए शुभ लक्षण है।

कला-निर्माण का पक्ष साहित्य का प्रधान पक्ष है। इसके अन्तर्गत परीक्षित होने पर उन समस्त अनधिकारियों की पोल खुल जाती है जो साहित्य के बाहर बड़े विचारक, जीवन-समस्या को सुलझाने वाले, दार्शनिक और अग्रगामी बना करते हैं। निश्चय ही वे अपने क्षेत्र में अग्रगामी होंगे, किन्तु साहित्य में आने पर तो उनकी जाँच हमारी साहित्यिक कसौटी पर होगी। सम्भव है उन्होंने बहुत बड़ा नक्शा बनाने की (महाकाव्य या बड़ा उपन्यास तैयार करने की) हिमाकत की हो, पर नक्शे का बड़ा होना ही उनके असफल हो जाने का कारण बन सकता है! बड़े नक्शे को सजाना, सजीव करना, रूपों-रंगों, कथाओं-अन्तर्कथाओं को यथास्थान नियोजित करना, सारे नक्शे में रचयिता के अन्तर्निहित प्राण-प्रवाह का प्रवेश करना, चरित्र की प्रत्येक रेखा को सप्रयोजन, सुसंबद्ध और गुम्फित स्वरूप देना साधारण कलाकार का कार्य नहीं। यह साधारण कलाकार––चरित्रों के नामों की सृष्टि कर सकता है, उनमें अन्तर्व्याप्त स्पन्दन और जीवन की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता। प्रेमचन्द के उपन्यासों की अपेक्षा उनकी छोटी आख्यायिकाएँ क्यों श्रेष्ठ कला मानी जाती है? क्योंकि छोटे दायरे में प्रेमचन्दजी अधिक सफल काम कर सके हैं। और जब प्रेमचन्दजी की यह बात है, तब उनकी क्या चर्चा जिनका

कला की सीमा में प्रवेश ही नहीं, किन्तु जो अव्यवस्थित समय का लाभ उठाकर अपने को प्रगतिशील साहित्यिक विज्ञापित करते हैं। प्रगतिशील साहित्यिक के लिए आवश्यकता यही नहीं कि वह नई विचारणा को लेकर साहित्य के बगीचे में उसे इस प्रकार लगा दे कि वह चार ही दिन में सूख जाय। आवश्यकता यह भी है कि वह अपनी विचार-लता को कला के सञ्जीवन-रस से सिंचित करे और उसे उपवन के अन्य सुन्दर वृक्षों और बेलियों के साथ लहलहाने योग्य बनाए।

ये ही तीन प्रधान सूत्र, मेरे विचार से, प्रगतिशील साहित्य के हैं—१. जीवन-आस्था, २ परिवर्तन की पहचान और उपचार तथा ३ कलात्मक स्वरूप का नियोजन। इनमें पहला सूत्र, जीवन-आस्था, प्रकृति की अपनी तजवीज है, इसलिए वह ऐसी रचनाओं का आप से आप लोप करती चलती है जो उसकी तजवीज के विरुद्ध हैं। किन्तु मुद्रण-कला की अभिवृद्धि के साथ पुस्तकों की ऐसी बाढ़ आ गई है कि प्रकृति का यह काम पिछड़ गया है। इस संबंध में हमारा कर्त्तव्य स्पष्ट ही है कि हम प्राकृतिक कार्य में सहायक होकर उसे शीघ्र कारगर होने दें। दूसरा सूत्र हमें मानवसुलभ आलस्य और गतानुगतिकता के विरुद्ध उठ खड़ा होने की चुनौती देता है। नवीन ज्ञान का प्रकाश ग्रहण करने को आमंत्रित करता है। परिवर्तन की एक व्यावहारिक सीमा के अन्तर्गत सुव्यवस्थित जीवन-योजना का निर्माण करने का रास्ता सुझाता है। सभी समयों की अपनी-अपनी समस्याएँ होती ह। उन-उन समयों के साहित्यकार उनका कैसा नक्शा उतारते हैं और कैसे प्रभावशाली तथा निर्णयात्मक रूप में उन्हें हल कर पाते हैं—यह साहित्यकार के महत्त्व का एक अचूक मापदंड है। विविध विचारधाराओं का प्रसार, मैं कह चुका हूँ, मेरी दृष्टि में, एक उपादेय वस्तु है, साहित्यक्षेत्र के सजीव, सक्रिय और उर्वर होने का सूचक है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम विकारग्रस्त मानसिक अवस्था और तज्जन्य साहित्यिक रचना का भी नवीन विचारधारा और अनुपम कलाकृति कहकर स्वागत करें।

तीसरा और सबसे मपत्त्वपूर्ण सूत्र है कला के अपने विकास का। भ्रमवश लोग यह समझ लेते हैं कि किसी विशेष वाद की, जिसके वे हिमायती हैं, काव्य में स्थापना हो जाना ही काव्य के लिए महत्त्वप्रद है। कुछ लोग बड़े ऊँचे आदर्शों का, यहां तक कि कुछ लोग राम के नाम का ही

काव्य में आ जाना काव्य का चरम लाभ मान लेते हैं। ऐसे ही लोग रहस्यवाद अथवा किसी आध्यात्मिक भावधारा के प्रवेशमात्र से कला के प्रति श्रद्धास्पद धारणा बना लेते हैं और ठीक इसी के विपरीत कुछ अन्य लोग इसी कारण उसे कोसना आरंभ कर देते हैं! दोनों ही बहुत ऊपरी दृष्टियाँ हैं। ऐसी स्थिति में पहले तो हमें यह देखना होगा कि उस वाद-विशेष का किस प्रकार के मानसिक माध्यम में पर्यवसान हो रहा है (कोई भी वाद या विचारधारा जब कलारूप में आवेगी तो मानसिक माध्यम से होकर ही)। यदि मानसिक माध्यम स्वतः समुन्नत नहीं तो कोई भी वाद श्रेष्ठ कला के निर्माण में सहायक नहीं हो सकता और यदि मानसिक माध्यम सुसम्पन्न है तो हमें यह देखना होगा कि उस माध्यम में मानस-साक्षात्कार कराने की, कलात्मक अभिव्यक्ति की शक्ति कितनी है। इसलिए मुख्य प्रश्न यह नहीं कि वाद कौन-सा है, बल्कि मुख्य प्रश्न यह है कि वह वाद रचनाकार की मनःस्थिति को किस दिशा में परिचालित करता है और कैसे काव्य की सृष्टि में संलग्न करता है। किसी वादविशेष को रचयिता ने किस रूप में ग्रहण किया है, और उसमें काव्यशक्ति कितनी है। अपने मानसिक चित्रपट को काव्य के रूप में अंकित कर देने, फोटोग्राफी की भाषा में 'नेगेटिव' को चित्र का रूप देने में उसकी योग्यता कितनी है। बहुत कुछ रचयिता के अपने व्यक्तित्व और प्रतिभा पर अवलम्बित है। इसी व्यक्तित्व का काव्य-कला में विकासक्रम नौटंकी से लेकर प्रशस्त जीवनचित्रों की विशाल मानसिक योजना तक देखा जा सकता है।

किन्तु एक बात मैं यहाँ अवश्य कहूँगा। जिन मानसिक उद्वेलनों और विचार-चक्रों का सृजन हमारे युग में हो रहा है, वे ही उत्कृष्ट काव्य के रूप में परिणत होने के अधिक योग्य हैं। हम यहाँ तक कह सकेंगे कि जिस युग में जितने ही बलशाली उद्वेलन जिस दिशा में उठेंगे, उन उद्वेलनों को लेकर उतने ही महान् साहित्यकार के जन्म लेने की सम्भावना उस दिशा में होगी। रूसी और फ्रान्सीसी क्रान्तियुगों के साहित्यिक इतिहास से यह कथन परिपुष्ट हो जाता है। कोई भी विराट् उथल-पुथल का युग एक असाधारण मानसिक क्रियाशीलता लेकर आता ही है। आवश्यकता केवल एक ऐसे संयोग की होती है कि कोई रचनाशील मस्तिष्क उस महान् उथलपुथल को साकार कर दे, उस क्रिया-शीलता की विस्तृत छाप छोड़ जाय—अर्थात् उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिक

रचनाएँ दे जाए। किन्तु इस बात का आग्रह फिर भी नहीं किया जा सकता कि वे रचनाएँ वाह्यरूप से किसी परिपाटी-विशेष अथवा किसी वाद-विशेष के अनकूल हों। इसलिए जो लोग काव्य में किन्हीं वादों को रखने का हठ करते हैं, जैसा कि कतिपय 'प्रगतिशील साहित्यिक' आज कर रहे हैं, तथा उन वादों को काव्योत्कर्ष की माप भी मानते हैं, उनकी बात मेरी समझ में नहीं आती। सामयिक जीवन का प्रभाव रचनाकार पर पड़ता ही है, उसे किसी प्रकार की अभि-व्यक्ति-विशेष के लिए बाध्य क्यों किया जाय?

आज हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्य के सृजन के कौन-से क्षेत्र हैं? निश्चय ही समाजवादी विचारों के क्षेत्र। क्यों? क्योंकि उन्हीं क्षेत्रों ने इस समय नवीन प्रतिभा को आर्कषित कर रक्खा है। क्यों नहीं आज प्रचलित धार्मिक क्षेत्रों में श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाएँ और सुन्दर कलानिर्माण हो रहा है? क्यों आज वे पुरानी अनुकृति से ही अथवा दूसरे नवीन क्षेत्रों की प्रगतिशील शैलियों को अपनाकर ही संतोष कर रहे हैं? स्वतः नई भूमि क्यों नहीं तैयार करते? स्पष्ट ही इसलिए कि वहाँ जीवन और उद्‌भावना का अभाव तथा पिष्टपेषण का प्राधान्य है। किन्तु क्या इसी कारण इस प्रगतिशील साहित्य के लिए नियम बना देना होगा कि वह किसी एक प्रणाली से ही व्यक्त किया जाय अथवा किसी विशेष मतवाद का समय-असमय राग ही अलापा करे। ऐसा करना तो प्रगति को कुण्ठित कर देना और रचनात्मक शक्तियों को प्रचार की दिशा में मोड़ देना होगा। निश्चय ही प्रचार-कला का कोई लक्ष्य नहीं, कला का लक्ष्य तो है सृष्टि। नई प्राणप्रतिष्ठा, नए तौर-तरीके (टेकनीक), नूतन छन्द, नवीन भाषा, नई भावाभिव्यक्ति ये कला की अपनी प्रगतियाँ हैं।

फिर प्रश्न यह भी है कि केवल समाजवाद ही क्यों? क्या यह जीवन के सब विभागों को पूरा कर लेता है? क्या मनुष्य-समाज के सामने और कोई सवाल नहीं रहा, विकास की कोई दिशा नहीं रही? क्या समाज-वाद से ही मनुष्यता अपने आदर्शविकास पर पहुँच जायगी, और उसके प्रतिष्ठित होने पर प्रगति का मार्ग बन्द हो जायगा? ऐसा दावा कोई नहीं कर सकता। मानव-विकास की अनेक समस्याएँ उसके पहले हैं और उसके पीछे भी रहेंगी। अनेक नवीन प्रश्न उठेंगे। सतत विकास ही प्रगति का ध्येय है। ऐसी अवस्था में कलाकार का रचना-स्वातंत्र्य छीना नहीं जा सकता।

किन्तु हमारी दृष्टि आज बौद्धिक वादों और उनके साहित्यिक निरूपणों की ओर इतनी अग्रसर है कि हम मुख्य कला-विवेचन को छोड़ ही बैठे हैं। यही कारण है कि हम वाद-विशेष का नाम लेकर रचना करने वालों के प्रति एक धारणा कायम कर लेते हैं और फिर किसी प्रकार उसे छोड़ने को तैयार नहीं होते। हमारी निष्पक्ष कला-दृष्टि संकुचित हो जाती है। इसी कारण बहुत-से रचनाकारों को अनुचित लांछना मिली है। (जैसे 'प्रसाद'जी के काव्य को आए दिन कुछ क्षेत्रों में मिल रही है) और बहुतों को अनुचित प्रशंसा भी हासिल हुई है (जैसे प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की कलात्मक निःशक्तता की ओर ध्यान न देकर कुछ लोग उन्हें आसमानी उँचाइयों पर पहुँचा रहे हैं अथवा श्री सुमित्रानन्दन पन्त की कुछ नवीन रचनाओं की, केवल कम्यूनिस्ट छाप के कारण, सराहना की जा रही है। उपदेशात्मकता में वे तीस साल पूर्व की कविताओं की ओर बढ़ रही हैं और शृंगारिकता में विहारीलाल से होड़ करती हैं!)।

ऊपर मैंने जिन तीन प्रगतिशील सूत्रों का उल्लेख किया, वे साहित्य और कलाओं में एक दूसरे से मिले-जुले रहते हैं। यही नहीं, वे एक दूसरे को वेष्टित करते और सुदृढ़ बनाते हैं। वे सूत्र जब साहित्य में एक साथ ग्रथित हैं, तब उनका पृथक्-पृथक् निरूपण करने में न केवल कुछ कठिनाई होती है, बल्कि यह शंका भी उत्पन्न होती है कि क्या वे एक दूसरे से पृथक् किये भी जा सकते हैं? यहां मैंने उनका अलग-अलग निर्देश इसलिए किया है कि उनको मैं तीन स्वतंत्र प्रवृत्तियाँ मानता हूँ जो संयुक्त होकर भी अपने-अपने विशिष्ट प्रकार से साहित्य अथवा कला का उन्नयन करती हैं।

अब मैं आपका अधिक समय नहीं लूँगा, किन्तु अपना यह वक्तव्य समाप्त करने के पूर्व आप लोगों के समक्ष, जो अधिकांश हिन्दी प्रान्त के निवासी नहीं हैं, अपने साहित्य के उन तीन नवीन उत्थानों के विशिष्ट रचनाकारों के नामों का संक्षेप में उल्लेख करूँगा जिन उत्थानों का जिक्र मैंने अपने वक्तव्य के आरम्भ में किया है। यहाँ इन उन्नायकों की विशेषताओं का प्रदर्शन नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि उसके लिए समय और स्थान पर्याप्त नहीं। किन्तु नामावली स्वतः अपना उपयोग रखती है। आप चाहें तो इनमें से एक या अनेक का रचना-सौष्ठव देखने के लिए इनका अध्ययन करें और अपने-अपने प्रान्तीय साहित्यकारों की तुलना में इन्हें रख कर

देखें। ये नाम मैंने अपनी रुचि से छाँटे हैं। इसलिए इनकी जिम्मेदारी स्वभावतः मुझ पर ही है। अतः मैं सब से पहले उन महानुभावों से क्षमा लूँगा जिनके नाम इस छोटे पैमाने में नहीं आ सके हैं।

मैं कह चुका हूँ कि हमारा साहित्य पिछले तीस वर्षों में तीन प्रगतिशील आन्दोलनों का सृजन-संचालन कर चुका है। एक तो प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व का साहित्यिक आन्दोलन जिसके विधाता गद्य में श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी और काव्य में श्री मैथिलीशरण गुप्त माने जा सकते हैं। इसके अन्य उन्नायकों में श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय और श्री श्रीधर पाठक जैसे काव्य-रसिक भी गिने जायँगे। महायुद्ध के पश्चात् भी यह आन्दोलन चलता रहा जब कि इसकी आखिरी बहार में दो सर्व-सुन्दर पुष्प खिले, श्री रामचन्द्र शुक्ल और श्री प्रेमचन्द। दूसरा साहित्यिक आन्दोलन यद्यपि शिलान्यास की दृष्टि से उक्त प्रथम महायुद्ध का समसामयिक है, किन्तु उसने जड़ पकड़ी श्री जयशंकर 'प्रसाद' के 'आँसू' काव्य के प्रकाशन के पश्चात्। यह साहित्य में रोमैण्टिक या कल्पनात्मक विद्रोह का आन्दोलन कहा जा सकता है जिसने विभिन्न रचनाकारों की प्रवृत्ति के अनुसार बहुमुखी रूप धारण किए हैं। 'पंत' और 'निराला' इसके प्रमुख काव्य-उन्नायकों में हैं। कल्पना, कला, शब्दशक्ति और व्यक्तित्व उसे इन दोनों ने दिया। फिर एक ओर यह महादेवी की करुण आध्यात्मिक रागिनी में परिणत हो गया और दूसरी ओर भगवतीचरण वर्मा की उन्मादयुक्त खुमारी तक पहुँच गया। सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्र-कुमार और रामनाथ सुमन की ऐकान्तिकता और आदर्शवादिता से लेकर भगवती प्रसाद की अतृपतिमूलक कथाओं तक इसकी अनेकानेक भावभंगियाँ दिशाविभाग और 'शेड्स' दिखाई देते हैं। इसकी एक अनोखी दीप्ति श्री 'उग्र' की रचनाओ में दीखी थी, किन्तु प्रतिकूल झंझावात ने वह सुन्दर दीपक बुझा दिया। हाल की कहानियों में उसकी किमाकार (कुरूप) लौ ही रह गई है, जिसके प्रशंसक हैं उसकी उगती प्रतिभा पर कुठाराघात करने वाले कुछ महानुभाव! 'नवीन' और माखनलाल इस व्यापक आन्दोलन के राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रहरी हैं। 'दिनकर' उनके वीर बालक हैं। सुभद्रा-कुमारी उनकी सहकारिणी। श्री इलाचन्द्र जोशी, रामकुमार वर्मा, गोविन्द-वल्लभ पन्त और वृन्दावनलाल के नाम भी इस युग के उन्नायकों में आते हैं। इस विराट् आन्दोलन के प्रधान प्रतिनिधि जिनकी रचना में ऊपर उल्लेख किए गए प्रायः सभी 'शेड्स' या दिशा-विभाग मिलते हैं, श्री

जयशंकर 'प्रसाद' हैं। प्रतिभा, कल्पना, अध्ययन और बौद्धिक अन्तर्दृष्टि में वे अपने साहित्ययुग के अन्यतम व्यक्ति थे। साहित्यनिर्माण में उनका सा बहुमुखी, विस्तृत और प्रतिनिधिमूलक कार्य किसी ने नहीं किया।

इस कल्पनाप्रधान विद्रोही युग की सामयिक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई राजनिति में समाजवादी विचारों के आगमन और अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतिशील संघ की हिन्दी में स्थापना के पश्चात्। इस संघ की सदस्यता हिन्दी में मुंहमाँगे मिल रही थी, इसलिए बहुत-से अयाचित और अनाकांक्षित व्यक्ति इसमें आरम्भ से ही सम्मिलित हो गए। जिन्हें साहित्य के राजद्वार से मार्ग नहीं मिला, वे इस रास्ते घुस आए। फिर सम्भवतः इस संघ को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से इसमें श्री सुमित्रानन्दन पन्त जैसे भिन्न रुचि व्यक्ति को प्रवेश कराया गया और उन्हें प्रगति का सूत्र सौंपा गया। यह सारी चेष्टा ऊपर ही ऊपर चल रही थी। काव्यक्षेत्र में इसके पनपने के लिए जमीन तैयार नहीं की गई।

जमीन आगे चलकर तैयार हुई, पर स्वतंत्र उद्योगों से। उसका अधिनायकत्व पन्त को नहीं मिल पाया, वह मिला 'बच्चन' और 'अञ्चल' को जिन्होंने काव्यक्षेत्र में नई भाषा चलाई, नई भावधारा प्रवाहित की। कथा-साहित्य में उसके उन्नायक 'अज्ञेय' और यशपाल आदि हैं। नाटकों में नवीन कार्य लक्ष्मीनारायण मिश्र ने आरम्भ किया और अब भुवनेश्वर प्रसाद आदि चला रहे हैं। विचारों के क्षेत्र में इस नई हलचल के प्रतिनिधि डाक्टर हेमचन्द्र जोशी, और श्री शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा आदि हैं। मेरा विश्वास है कि अब भी यह आन्दोलन अपनी गहरी नींव नहीं जमा सका है और इसका स्वाभाविक कारण यही है कि रचनात्मक कार्य की अपेक्षा, प्रचार और प्रदर्शन की ओर इसको अधिक अभिरुचि है। दूसरी बात यह है कि अपने ही द्वारा लादे गए वाद के बोझ से यह अब तक छुटकारा नहीं पा सका है।

किसी भी साहित्यिक आन्दोलन की सही-सही विशेषताओं का निरूपण और परख मेरे विचार से उस आन्दोलन के पुरस्कर्त्ता उतनी निष्पक्ष दृष्टि से नहीं कर सकते। इसके लिए आवश्यकता है तटस्थ समीक्षा की, जिसका अधिकांश भार विश्वविद्यालयों के अध्यापकों और विशेषज्ञों को उठाना चाहिए। मुझे यह कहते खेद होता है कि हमारे विश्वविद्यालयों के अध्यापक अपने इस कर्त्तव्य की ओर उचित रूप से तत्पर नहीं हैं।

इसके लिए यह भी आवश्यक है कि सामयिक पत्रिकाएँ और पत्र इस विषय में दिलचस्पी लें और सम्यक् रूप से सामयिक साहित्य के अनेकानेक पहलुओं पर प्रकाश डालें। खेद है कि यह क्षेत्र और भी अविकसित है और इस समय बहुत थोड़े योग्य व्यक्ति सामयिक पत्र-पत्रिकाओं का परिचालन कर रहे हैं। बड़ी और पुरानी पत्रिकाओं की यह अधोगति देखकर ही हाल में कुछ छोटी-छोटी विचारात्मक पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी हैं। मैं इन उद्योगों की सफलता चाहता हूँ। साप्ताहिक और दैनिक पत्र भी साहित्य-संबंधी चर्चा के लिए अपना द्वार प्रायः बन्द किए हुए हैं। वे लोकरुचि की दुहाई देते हैं और कहते हैं कोई पढ़ता नहीं इन लेखों को! किन्तु क्या इतनी ही सफाई काफी है? मेरे विचार से कुछ दिनों तक निरुद्देश्य भी विचारपूर्ण साहित्यिक लेखों को (जहाँ तक हो सके सरल भाषा में) छापते रहना रुचि-संस्कार-कारक होगा। हमारे पत्र-सम्पादक क्या इस कर्तव्य की ओर ध्यान देंगे? आज हिन्दी में निम्नकोटि की कहानियों और तत्संबंधी पत्रिकाओं का बाजार गर्म है। कई प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ साहित्य की दृष्टि से एकदम निरुद्देश्य निकल रही हैं। यह स्थिति बहुत ही चिन्ताजनक है। मैं तो इसके सुधार की अपील भर कर सकता हूँ।*

---

*अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-संमेलन के पूना अधिवेशन (सन् '४०) की साहित्य-परिषद् में अध्यक्ष-पद से दिया गया भाषण।

छायावाद प्रगतिवाद

(एक तुलना)

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय हिन्दी के एक अभ्युदयशील आलोचक हैं। इनकी तीन-चार आलोचना-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। श्री पाण्डेय केवल काव्य के आलोचक ही नहीं हैं, वे कवि भी हैं और उनकी कविता-पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। पाण्डेयजी की गणना ऐसे आलोचकों में की जाती है जिनमें विश्लेषण और व्याख्या की अपेक्षा अनुभूति और भावग्रहण की नैसर्गिक शक्ति होती है। कहा जाता है कि हंस में नीर-क्षीर का विवेक होता है और वह एक को दूसरे से पृथक् कर देने की योग्यता रखता है। पर कोयल तो वसंत आने पर ही बोलती है और बाकी ऋतुओं में मौन रहती है। वसंत की नैसर्गिक पहचान उसे है, दूसरी ऋतुओं में उसके दर्शन नहीं होते। हंस को हम विवेकी पक्षी कहते हैं पर क्या कोयल में विवेक नहीं है ? विवेक न होता तो वह वसंत को पहचानती कैसे ? यह बात दूसरी है कि वह अपनी इस पहचान का प्रमाण न दे सके, पर वह बोलती वसंत में ही है। यह तो प्रत्यक्ष सत्य है। यह भी संभव है कि वह वसंत को अपने से अलग करके देख भी न सके। पर इतने से ही उसकी गुणग्राहकता असिद्ध नहीं होती। उसकी वाणी में वसंत की बहार है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है ? वह स्वयं वसंत की वाणी है, यह भी कहें तो अनुचित न होगा।

छायावाद युग भी हिन्दी में वसंत की तरह आया और उपवन में कितने ही प्रशस्ति-गायक कोकिल-कोकिलाएँ कूज उठीं। श्री गंगाप्रसाद भी इसी ऋतु की देन हैं। उनमें सुरुचि है और मुख्यत: इसी सुरुचि के आधार पर उन्होंने अपनी आलोचनाएँ लिखी हैं। मैं यह नहीं कह सकता कि उनके द्वारा लिखी गई समीक्षायें और उनके निरूपित सिद्धांत अकाट्य हैं और तार्किकों के सामने वे ठहर सकेंगे (तार्किकों ने आज तक कौन-सी चीज ठहरने दी है)। पर मैं उस रुचि की प्रशंसा करूँगा जो उनकी तह में है। तर्क का सबसे अच्छा उत्तर तर्क नहीं है, बल्कि वह रचनात्मक कार्य है जिससे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। वह व्यक्तित्व ही सब तर्कों का उत्तर है।

जिन लोगों ने छायावाद काव्य को कोरी सौन्दर्यवादिता या स्वप्न के संसार की चीज बताया है, अथवा जिन्होंने उसे विवशकारी सामाजिक अथवा राजनीतिक स्थिति की 'न्यूरोटिक' प्रतिक्रिया कहा है, वे भी छायावादी कवियों के व्यक्तित्व और प्रतिभा के प्रशंसक हैं। मेरा अपना विचार यह है कि छायावाद काव्य के मूल में स्थित आध्यात्मिक दर्शन के ही कारण नए भौतिक-विज्ञानवादी इसमें दोष ही दोष देखते हैं। वे दोनों दर्शन एक दूसरे से भिन्न मान्यताओं पर स्थित हैं और इससे भी बड़ी बात यह है कि इन दोनों की प्रेरणा से बनी काव्य-शैलियों में कोई मेल नहीं है। इसलिए दोनों एक दूसरे के प्रति तटस्थ दृष्टि नहीं रख पाते और बड़ी हद तक जो दोनों की समानता है उसकी अवहेलना करते हैं। छायावादी काव्य में विद्रोह और स्वातंत्र्य का, निष्ठा और सजगता का भी स्वर है, इसे विरोध करने वाले नहीं समझना चाहते।

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने इसे समझाया है, और छायावादी कवियों के काव्यगत गुणों के उद्धरण देकर प्रशंसा की है। जो युग छंदों में, भावों में और रचना के अंग-प्रत्यंग में सौंदर्य का ऐसा संचय कर सकता है, उसे कोई स्वप्नों का युग किस साहस पर कहेगा? यदि वह फिर भी स्वप्नों का युग कहा जाय तो वह स्वप्न भी जागृति से क्या बुरा है! पाण्डेयजी ने अपनी पुस्तक में छायावाद और रहस्यवाद काव्य की व्याख्या केवल उसकी काव्यगत सुन्दरता के उद्धरण देकर ही नहीं की है, उन्होंने उसका समर्थन करते हुए भारतीय आध्यात्मिक दर्शन की भी सहायता ली है, और कबीर जैसे प्राचीन कवियों के विद्रोह का भी प्रमाण उपस्थित किया है।

यद्यपि पाण्डेयजी दूसरी काव्य-धाराओं के विरोधी नहीं हैं, पर अपने भावों के प्रवाह में उन्होंने उन अन्यों के प्रति अपनी आस्था का परिचय नहीं दिया है। मैं कह चुका हूँ कि छायावाद काव्य-युग की वसंत-श्री पर वे मुग्ध हैं, उसके सुन्दर संस्कारों से अनुप्रेरित हैं और उनकी आलोचनाओं में उन्हीं संस्कारों की छाप है। इसलिए मैं उन्हें इस विषय में पुस्तक लिखने का अधिकारी मानता हूँ। यदि और किसी लिए नहीं तो कम-से-कम विरोध करने को सामग्री पाने के लिए ही उनकी पुस्तक पढ़ी जायगी। पर मैं चाहता हूँ कि इस पुस्तक का

अध्ययन छायावाद काव्य की प्रवृत्तियों और उसकी सुन्दर अभिव्यक्तियों का आस्वाद लेने के लिए किया जाय, केवल सैद्धान्तिक विरोध ढूँढ़ने के लिए नहीं।

श्री पाण्डेय ने इस पुस्तक में छायावाद या रहस्यवाद काव्य के प्रेरक सामाजिक उपकरणों का विशद रूप से परिचय नहीं कराया है। पर इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह काव्य समाज-निरपेक्ष है। यह एक प्रधान आरोप इस काव्य पर किया जाता है। पर छायावादी कवियों ने भी करीब-करीब उन्हीं सामाजिक परिस्थितियों में काम किया है और उन्हीं प्रेरणाओं से परिचालित हुए हैं जिनसे कोई भी नव्यतर साहित्यिक। जहाँ तक साहित्य के भावों और कल्पनाओं का प्रश्न है, उनमें ऐसी ताजगी है और ऐसी परिष्कृति है जैसी ऊँचे काव्य में ही पाई जा सकती है। मैं कह चुका हूँ कि सैद्धान्तिक मतभेद और शैली-संबंधी भिन्नता के कारण ही इन दोनों काव्य-धाराओं (छायावाद और प्रगतिवाद) के परस्पर विरोधी शिविर बन गए हैं।

छायावाद काव्य इस देश की दार्शनिक बुनियाद को स्वीकार करके चला है, और उसमें उसी के अनुरूप शब्दों का संचय है। इस हद तक हम उसे इस देश की प्रकृति के अधिक अनुकूल कहेंगे। उसमें हमारी अपनी जलवायु का असर है। अब आप चाहें तो इस दार्शनिक बुनियाद के विभिन्न पहलुओं और उनके उद्देश्यों तथा सामाजिक जीवन के निर्माण करने में उसकी उपयोगिता का अध्ययन करें, तुलना द्वारा यह जानने का प्रयत्न करें कि इसमें और नवीन भौतिकवादी विज्ञान में साम्य के कुछ अंश हैं या नहीं। मेरी अपनी धारणा यह है कि शब्दों का अंतर रहते हुए भी इन दोनों में बहुत कुछ समानता है। इतने थोड़े समय के भीतर दो नितांत विरोधी दृष्टियाँ या दर्शन संभव नहीं हैं। यह एकदम अप्राकृतिक और अस्वाभाविक बात होगी कि एक ही देश के, एक ही समय के, और एक ही समुदाय के व्यक्तियों में साम्य का कोई सूत्र ही न हो।

'जग बदलेगा किन्तु न जीवन' कवि 'बच्चन' की इस पंक्ति को लेकर छायावाद के विरोधियों ने उस पर अनेक आक्रमण किए हैं। हम कह सकते हैं कि इस पंक्ति को लेकर जो बहुत-से विवाद हुए हैं, उनमें बात के आग्रह को समझने की चेष्टा उतनी नहीं की गई है, जितना उसे एक

फिक्रा बनाकर रखने का उद्योग किया गया है। मैं देखता हूँ कि इस फिक्रे को लेकर दो विरोधी शिविर बन गए हैं। जो मनोवृत्ति इस फिक्रे के संबंध में देखी जाती है, वही व्यापक रूप में समस्त छायावाद काव्य के संबंध में फैली हुई है।

'जग बदलेगा किन्तु न जीवन' में 'जग' शब्द से तात्पर्य है संसार के बाहरी साँचे से। उसकी संस्थाओं, व्यवस्थाओं और रीतियों, नीतियों से, और जीवन शब्द से मतलब है उस संपूर्ण साँचे में—उस सारी संस्थाओं-व्यवस्थाओं के मूल में रहने वाले अक्षय जीवन-तत्त्व से। आज कोई भी वैज्ञानिक विकासवादी या प्रगति का हिमायती यह नहीं कह सकता कि वह विकास या प्रगति की अक्षयता का विरोध करता है। पर यही बात जब 'जग बदलेगा किन्तु न जीवन' पंक्ति में कही जाती है, तब वे ही लोग इसे असहनीय प्रतिक्रिया के रूप में ग्रहण करते हैं!

मैं इसे अधिकतर शाब्दिक द्वंद्वमात्र मानता हूं। जो अवास्तविकता यहां दिखाई देती है, वही सामान्य रूप से संपूर्ण छायावाद काव्य का विरोध करने में प्रकट हुई है। केवल साहित्यक्षेत्र में ही नहीं, हमारे राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी यह शाब्दिक युद्ध खूब चल रहा है। इसे लोग 'आइडियालाजी,' उसूलों या सिद्धान्तों का युद्ध कहते हैं, पर इसमें मैं सिद्धान्तों और उनकी तफसीलों की चर्चा कम पाता हूं। मुख्य रूप से यह विभेदकारी मनोवृत्ति का परिणाम है और दलबंदियाँ बढ़ाने में सहायक हो रहा है।

'जग बदलेगा किन्तु न जीवन' इस पंक्ति में जिस अक्षय प्रगति का संकेत किया गया है, वही संकेत छायावाद काव्य में 'असीम', 'अनंत' आदि पुनः-पुनः आनेवाले शब्दों में भी किया गया है। आप चाहें तो इस 'असीम', 'अनन्त' को अखंड विकास तत्त्व के रूप में लें या केवल एक अनिश्चयात्मकता या पलायन का ही भाव लेकर इसे जी भर कोसना प्रारंभ कर दें। उचित यह है कि हम इस 'असीम' या 'अनंत' में पाए जाने वाले तत्त्व (Content) की परीक्षा करें। केवल विरोध के लिए विरोध करने पर न उतर आएँ।

छायावादी प्रायः नैतिक और आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग करते हैं। वे व्यक्तिगत और सामूहिक चारित्र्य पर जोर देते हैं। साधना पर विश्वास रखते हैं। इन शब्दों की हँसी उड़ाना तो आसान काम है, पर इनके आग्रहों और उद्देश्यों को समझना उतना आसान नहीं। किसी देश

या राष्ट्र की नैतिक शक्ति ही उसकी उन्नति का मापदंड है। कोई भी बाहरी कार्यक्रम, वह चाहे रचनात्मक हो अथवा क्रांति का ही क्यों न हो, विना नैतिक शक्ति के कोरा स्वप्न है और स्वप्न रहेगा। हमारा साहित्य और हमारा राष्ट्र विद्रोह की ओर भले ही बढ़े, वह अराजकता का प्रचार कितना ही क्यों न करें, पर उस विद्रोह और उस अराजकता का असफल होना निश्चित है, यदि हममें बुद्धि, विवेक और उनसे उत्पन्न होने वाला नैतिक और आचार का गुण नहीं है।

हम अपनी पारिवारिक और सामाजिक संस्था में जो कुछ परिवर्तन चाहते हैं, उसे अधिक ऊँचा उठाने के लिए ही चाहते हैं। यही हमारी प्रगति का नैतिक आधार है जिसे कोई भी राष्ट्र छोड़ दे तो खतरा ही उठावेगा।

अब यहां यह प्रश्न जरूर उठता है कि क्या छायावादी काव्य केवल नैतिक या आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग ही करता है अथवा उसमें कुछ ऊँची नैतिकता है भी? छायावादी और विशेषकर रहस्यवाद में मानवमात्र की एकता का जो संदेश सुनाया गया है, उसे हमारे नवीन विचारक आज के लिए दिमागी कसरत या दिवा-स्वप्न जैसी चीज समझते हैं। इसमें उन्हें सच्ची नैतिकता का अभाव दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि राष्ट्रों और वर्गों का संगठन और संघर्ष ही उनका मुख्य लक्ष्य है। पर यह संगठन किस लिए है? मैं मानता हूं कि इसका अन्तिम और उच्चतम लक्ष्य राष्ट्रों की समानता और एकता स्थापित करना और वर्गों का अस्तित्व मिटा देना ही है। सभी प्रसिद्ध विचारक इस लक्ष्य को सामने रख रहे हैं। फिर हम अपने काव्य में अभिव्यक्त हुए इस भावना को असामयिक क्यों कहें।

अक्सर कहा जाता है कि यह नैतिकता वास्तव में अकर्मण्यता का दूसरा नाम है और देश की वर्तमान स्थिति में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन इसके आधार पर नहीं हो सकता। इसका कोई उत्तर हम नहीं देना चाहते; क्योंकि यह तो व्यक्तिगत राय की बात है। इतना हम अपने अनुभव के आधार पर अवश्य कहेंगे कि कोई भी प्रमुख छायावादी कवि अपने देश की वर्तमान व्यवस्था से संतुष्ट नहीं है और वह परिवर्तन चाहता है। यदि वह आर्थिक व्यवस्था-सम्बंधी परिवर्तन को ही एकमात्र परिवर्तन नहीं मानता, तो हम उसके प्रति इतने बेरहम न हो जायँ कि उसे प्रतिक्रियावादी, शोषक वर्ग का गुर्गा आदि शब्दों से तिरस्कृत करें।

विचारों का स्वातंत्र्य और आपस की समझदारी हममें होनी चाहिए। यदि मानसिक भूमिका की बात कही जाय तो वर्गगत संस्कारों से न छायावादी छूट पाए हैं और न हमारे नए विचारक ही।

विषाद, असफलता और किंकर्त्तव्यता का असर यदि एक में है, तो दूसरे में भी उससे कम नहीं। इस संबंध में श्री गंगाप्रसाद पांडेय के वाक्य ये हैं—'कला को (आज) स्थूलता और अश्लीलता की ओर घसीटा जा रहा है। लोक-प्रियता की झक में काव्य के उपादान भी स्थूल माने जाने लगे हैं; किन्तु मेरा विचार है कि इस विषय में जनसाधारण में व्यर्थ की गलतफहमियाँ फैलाई जाती हैं और कुछ नए व्यक्ति अपने को प्रगतिशील साहित्यिकों की श्रेणी में रखकर सस्ती ख्याति भी कमा रहे हैं।.....प्रगति किसी श्रमिक, अथवा कृषक या वेश्या तथा किसी अन्य दलित व्यक्ति का नग्न चित्र उपस्थित करने में ही समाप्त नहीं हो जाती।......लोगों को आश्चर्य म डालने वाले नग्न, अनैतिक आदर्शों की घोषणा भी प्रगति का पथ नहीं है।......मैं तो देखता हूं कि यदि इस नए साहित्यकार की पार्थिव भूख तथा वासना को निकाल दिया जाय, तो बहुत कम शेष रह जायगा। तब तो इसे उद्दाम वासनाओं के नग्न नृत्य का उपादान ही कहना पड़ेगा।'

इस आरोप में भी नैतिक शब्दावली की ही प्रधानता है। वास्तव में यह आक्षेप नए काव्य की उन्हीं ह्रासोन्मुख और समाजविरोधी प्रवृत्तियों के विरोध में किया गया है जिसकी शिकायत नए लोग छायावादियों से करते हैं।

इसके विरोध में फिर कहा जा सकता है कि लेखक सामाजिक परिवर्तन के अवश्यंभावी परिणामों और नवीन कर्त्तव्यों से मुंह मोड़ रहा है और एक रूढ़िबद्ध नैतिक आधार की कल्पना करता है जो वास्तविक परिस्थिति को देखते हुए प्रतिक्रियात्मक है। नीतिवादी प्रायः पुरानी व्यवस्था के ही पृष्ठपोषक और अधिकारप्राप्त वर्गों के पिछलगे हुआ करते हैं।

यह भी एक व्यक्तिगत आक्षेप है और अपनी राय की बात है, इसलिए मैं इसका भी कोई उत्तर न दूंगा। मैं कह चुका हूं कि इसका उत्तर उन लेखकों और कवियों का व्यक्तित्त्व ही दे सकता है जो इन विरोधियों के सामने हैं। तो भी ऊपर दिए हुए पांडेयजी के उद्धरण में किसी रूढ़ नीति का पक्षपात नहीं दिखाई देता; बल्कि साहित्य का मनोवैज्ञानिक आधार शुद्ध करने का सुझाव है। और यह मनोवैज्ञानिक आधार तब सुधरेगा,

जब हम समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में सचेत, बुद्धिवादी और सच्चे अर्थ में प्रगतिशील दृष्टि रक्खेंगे।

छायावादी कवि सामाजिक परिवर्तन के क्रम से अपरिचित हैं, उन्हें इस परिवर्तन के बीच अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है और छायावाद काव्य मुख्यत: दुनिया से अलग किसी रहस्यमयी सत्ता में विश्राम लेता है, वह जीवन का सामना नहीं करना चाहता, और उसका संपूर्ण जीवनदर्शन ही काल्पनिक और ऐकान्तिक है, इस तरह के आक्षेपों से एक नवोन्मेषपूर्ण साहित्य को टरकाया नहीं जा सकता। छायावादी कवि सामाजिक परिवर्तन-सम्बन्धी मार्क्सवादी निर्देशों से पूरे तौर पर भले ही सहमत न हों, पर वे अपने चारों ओर की परिस्थिति से अनुप्रेरित अवश्य हैं। जिस हवा में वे सांस ले रहे हैं, उसकी उपेक्षा वे कर ही कैसे सकते हैं ?

हमारा लक्ष्य काव्य-विवेचन में कृत्रिम विभेद बढ़ाना नहीं, तथ्य का अनुशीलन करना होना चाहिए। मैं मानता हूँ कि मार्क्सवादी दर्शन में कोई ऐसी बात नहीं है जो हमारी नैतिक उन्नति नें रुकावट डाले और न हमारे आध्यात्मिक दर्शन में ही कोई ऐसी बात है जो नवीन समाजवादी व्यवस्था के लिए घातक हो। अवश्य इन दोनों का आग्रह कुछ-न-कुछ अन्तर लिए हुए है। हमारा कर्त्तव्य यह है कि अपनी समझदारी का दायरा बढ़ावें और यह उसी हालत में सम्भव है जब हम सहानुभूति और साहित्यिक उदारता से काम लें।

दुनिया, देश, राष्ट्र और समाज के विकास का रास्ता हमेशा आगे बढ़ता रहता है और इस विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुरूप मनुष्य अपनी रीति-नीति और व्यवहार बदलता रहता है। साहित्य भी नित्य-नवीन सामाजिक व्यवहारों और समस्याओं के अनुरूप नए मार्ग ग्रहण करता है। इस नियम के अनुसार छायावाद भी अपने आगे आने वाली काव्य-धारा के लिए मार्ग बना रहा है। पर इन परिवर्तनों के बावजूद मानव-संस्कृति अथवा प्रगतिशील चेतना अपनी अखंडता का त्याग नहीं करती। वह युगों में विभाजित नहीं हो सकती। हमारा साहित्य नई विचार-धाराओं और नई परिस्थितियों से प्रभावित होकर नए कला-स्वरूपों में प्रकट होता और नई शैलियों में ढला करता है। उसके क्रम-विकास में विरोध के स्थान पर समन्वय का तत्त्व प्रमुख रहता है। विवादी स्वरों की अपेक्षा संवादी स्वरों की प्रधानता रहती है।

खंड ७

मत और सिद्धान्त

भारतीय काव्य-मत

भारतीय-साहित्य-शास्त्र का समय-निरूपण करना सहज कार्य नहीं है। भारतीय विद्वानों ने अपने संबंध में इतनी थोड़ी चर्चा की है कि उसके आधार पर उनकी जीवनी पर कुछ भी प्रकाश डालना कठिन हो जाता है। उन विद्वानों के लिखे हुए ग्रंथ आज अपने मूल-रूप में प्राप्त नहीं हैं, उनमें बाद के लोगों ने काफी प्रक्षिप्त अंश जोड़ दिए हैं। यही कारण है कि जब हम वर्तमान रूप में किसी ग्रंथ के समय पर विचार करने लगते हैं, तब हमें प्रक्षिप्त अंश के कारण वह ग्रंथ काफी बाद का लिखा हुआ ज्ञात होता है। किसी ग्रंथ के कौन-से अंश अधिक प्राचीन हैं और कौन-से कम, यह निर्णय करना आसान नहीं होता। हमारे देश में ऐसी प्रथा भी रही है जिससे ग्रंथों का मूल-स्वरूप सुरक्षित नहीं रह पाया। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का भी पूरा-पूरा शोध नहीं हो पाया है, और बहुत-से ग्रंथ नष्ट भी हो गए हैं। ऐसी अवस्था में भारतीय साहित्य-शास्त्र का पूरा विकास-क्रम उपस्थित करना अत्यंत दुःसाध्य कार्य है। ग्रंथों तथा उनके लेखकों का समय-निरूपण करना भी कठिन है। विद्वानों ने अपनी शोधों द्वारा अभी तक जो सामग्री प्रस्तुत की है, हम उसी का उपयोग कर सकते हैं और जब तक नवीन शोध द्वारा नई सामग्री प्रस्तुत नहीं की जाती, तब तक हमें उसी से काम चलाना होगा।

भारतीय काव्य-शास्त्र का प्रारंभिक युग प्रायः उन्हीं शताब्दियों में रहा होगा जिन शताब्दियों में काव्यात्मक रचनाओं का आरंभ हुआ था। भारत के सर्वप्रथम ग्रंथ वेदों में काव्य की बड़ी ही सजीव एवं सुन्दर सृष्टियाँ प्राप्त होती हैं। वेदों के पश्चात् दो अन्यतम महाकवियों द्वारा लिखे दो महाकाव्यों—रामायण और महाभारत—का समय आता है। वेदों के रचनाकाल के संबंध में विद्वान् एकमत नहीं हैं; किन्तु इस बात से सभी सहमत हैं कि वे ईसापूर्व एक हजार वर्ष के पीछे की रचना नहीं हैं। रामायण और महाभारत की तिथियाँ भी ईसापूर्व छठी और चौथी शताब्दी प्रायः स्वीकार की गई हैं। यदि इन ग्रंथों का यह

लेखन-काल हम सही मान लें तो संदेह नहीं कि इसी समय के लगभग साहित्य-संबंधी विवेचना का कार्य भी आरंभ हो गया होगा। हमारे महाकाव्यों में काव्य के सभी अंगों की ऐसी सुन्दर परंपरा पाई जाती है कि साहित्य-शास्त्रकारों द्वारा इस परंपरा का उपयोग न किया जाना बड़े आश्चर्य की बात होगी। पाणिनि के व्याकरण से इस बात का आभास मिलता है कि उस समय तक उपमा आदि अलंकारों का नामकरण हो चुका था तथा काव्य के विभिन्न स्वरूपों पर चर्चाएं चल रही थीं। इसके पश्चात् ही हमें भरत मुनि-प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रंथ मिलता है जो अन्य सामग्री के अभाव में साहित्य-विवेचना का पहला ग्रंथ भी माना जा सकता है। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में जिन नाट्यसमीक्षकों का उल्लेख किया है, उनकी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। इसमें संदेह नहीं कि भरत मुनि के समय तक काव्य इतना विकसित हो चुका था कि उसकी समीक्षा के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत थी।

भरत मुनि के समय के संबंध में अभी तक कोई मत स्थिर नहीं हो पाया है। भारतीय विद्वान् उनके नाट्यशास्त्र को ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी का ग्रंथ मानते हैं, यद्यपि ग्रंथ के कुछ भाग बहुत पीछे के भी हैं। वर्तमान रूप में नाट्यशास्त्र अनेक शैलियों में (सूत्र, कारिका तथा भाष्य के रूप में) प्राप्त होता है। श्लोकों के साथ कहीं-कहीं गद्य अंश भी जुड़े हुए हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान रूप में प्रस्तुत ग्रंथ का कुछ अंश भले ही ईसापूर्व दूसरी शताब्दी का हो, किन्तु मूल रचना इससे भी पहिले की रही होगी। भरत मुनि को देवताओं का नाट्याचार्य कहा जाना हमारे इस कथन की पुष्टि करता है। संभव है कि उनकी मूलकृति के आधार पर वर्तमान नाट्यशास्त्र का निर्माण किया गया हो।

यद्यपि भरत मुनि ने मुख्यतः नाटक के अंगों-उपांगों आदि की ही चर्चा की है, किन्तु उनके नाट्यशास्त्र में कुछ प्रकरण ऐसे भी हैं जिनमें साहित्यिक सिद्धांतों का विवेचन है। विशेषतः नाट्यशास्त्र के छठे और सातवें प्रकरणों में रस और उसके अवयवों का विवेचन किया गया है, और सोलहवें प्रकरण में अलंकारों की चर्चा की गई है। अठारवें प्रकरण में रूपकों के दस-विभाग और बीसवें प्रकरण में नाटकीय वृत्तियों का उल्लेख है। उपर्युक्त प्रकरण सैद्धांतिक विवेचना की दृष्टि से अधिक

उपयोगी हैं। इनमें भी छठा, सातवाँ एवं सोलहवाँ प्रकरण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

रस के विवेचन में भरत का प्रसिद्ध वाक्य 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगात् रस निष्पत्तिः' बड़े महत्त्व का है। अलंकारों की परिगणना करते हुए भरत मुनि ने उपमा, रूपक, यमक और दीपक को ही अलंकार माना है। इससे यही प्रतीत होता है कि उस समय तक अलंकारों का निरूपण प्रारंभिक अवस्था में हीं था।

नाट्य-शास्त्र के उपर्युक्त अध्यायों को यदि भरत मुनि की मौलिक कृति माना जाय, तो यह स्पष्ट है कि सिद्धान्त रूप में रस का निरूपण ईसा की कम-से-कम दो शताब्दी पूर्व हो चुका था तथा साहित्य के अन्य अंगों पर भी चर्चा आरंभ हो चुकी थी।

भरत मुनि के पश्चात् कई शताब्दियों तक किसी प्रसिद्ध साहित्य-समीक्षक द्वारा प्रणीत कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता। बाद के कुछ लेखकों द्वारा यत्र-तत्र कुछ नामों का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु ग्रंथों के अभाव में केवल कुछ नामों के ही आधार पर इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता कि इन शताब्दियों में साहित्यिक विवेचना किस क्रम से आगे बढ़ी। भरत मुनि के बहुत बाद ईसा की पांचवीं-छठी शताब्दी में पहुँचने पर ही हमें भामह, दण्डी आदि के नाम सुनने को मिलते हैं।

अलंकार मत :—दंडो और भामह दोनों ही अलंकार मत के अनुयायी थे। रस के स्वरूप और उपयोग से वे भली भांति परिचित थे, किन्तु संभवतः वे रस को काव्य की आत्मा मानने को तैयार न थे। महाकाव्य के लक्षण निरूपित करते हुए भामह ने यह अवश्य निर्देश किया है कि महाकाव्य में विभिन्न रसों का प्रयोग किया जाना चाहिए, परंतु रसों का इससे अधिक महत्त्व कदाचित् उन्हें मान्य न था। काव्य की आत्मा वे अलंकार या रचना कल्पना-सौन्दर्य को ही मानते थे। उन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग काव्य-सौन्दर्य के अर्थ में किया है। स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति शब्दों द्वारा उन्होंने काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनका मत था कि अलंकार के मूल में वक्रोक्ति रहा करती है। वक्रोक्ति से उनका तात्पर्य काव्यात्मक अभिव्यंजना से था। अतएव यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इन आचार्यों ने काव्य में अभिव्यंजना के सौन्दर्य को ही प्रमुखता

दी थी। उनके मतानुसार काव्य का सौन्दर्य इतिवृत्त या साधारण वस्तु-कथन में नहीं होता। दण्डी का मत है कि वक्रोक्ति ही किसी रचना को काव्य के गुणों से अलंकृत करने में समर्थ है। केवल साधारण कथन (स्वभावोक्ति) तथा विवरण ही काव्य नहीं है। इन आचार्यों ने अलंकार की सीमा के अन्तर्गत रसों को भी सन्निहित करने का प्रयत्न किया है। दोनों आचार्यों ने कुछ अलंकारों की उद्‌भावना की जिनके अन्तर्गत रस की सत्ता भी संनिहित हो गई। रसवत एवं प्रेयस अलंकारों की उद्‌भावना रस को अलंकार के अन्तर्गत लाने के लिए ही की गई जान पड़ती है।

अलंकार शब्द का दूसरा अर्थ कल्पना द्वारा समाहित रूप या अर्थ-संबंधी चमत्कार है। भामह के मतानुसार ऐसे अलंकारों की संख्या छियालीस थी। इन स्फुट अलंकारों का वर्गीकरण किसी स्पष्ट प्रणाली से नहीं किया गया है। समयानुक्रम से इनकी संख्या किस प्रकार बढ़ती गई, इसका कुछ आभास हमें भामह के विवरणों से प्राप्त होता है। परंतु अलंकारों के विभाजन का कोई वैज्ञानिक प्रयास इन आचार्यों ने नहीं किया। इसका कारण कदाचित् यह था कि वे कल्पना-व्यापार से समुत्पन्न रूप-सृष्टि को ही अलंकार मानते थे।

'काव्यालंकार' नामक काव्य-शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ में भामह ने अलंकार को काव्य की आत्मा कहा है। उनके अनुसार अलंकार वह है जिससे काव्य में सौन्दर्य की सत्ता प्रतिष्ठित होती है। 'सौन्दर्यमलंकारः' द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि भामह ने अलंकार शब्द का प्रयोग काव्य-सौन्दर्य के व्यापक अर्थ में किया है। उस समय तक गुण और अलंकार का भेद प्रस्फुटित नहीं हुआ था और भामह के अनुसार गुणों का समावेश भी अलंकारों के ही अन्तर्गत होता था। आगे आनेवाले आचार्यों ने गुण और अलंकारों का पृथक्करण किया और उनकी विभाजक रेखा इस प्रकार प्रस्थापित की कि गुण काव्य को काव्यत्व प्रदान करते हैं और अलंकार काव्यत्त्व की शोभा-वृद्धि के साधन हैं। दूसरे शब्दों में गुण को उन्होंने काव्य का अंतरंग उपादान एवं अलंकार को बहिरंग उपादान माना। परंतु भामह ने इस प्रकार का कोई भेद नहीं किया। उसकी अलंकार-व्याख्या के अन्तर्गत काव्यत्व के प्रतिष्ठापक तथा शोभावर्द्धक दोनों ही उपकरण अलंकार के अन्तर्गत आ जाते हैं। 'सौन्दर्यमलंकारः' की पूरी व्यापकता उनके निर्देशों में पाई जाती है।

भामह ने काव्य को अभिव्यक्ति की प्रणाली भी माना है। उसकी दृष्टि में समस्त अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति या विलक्षणता का तत्त्व रहता है। काव्य में अलंकार को सौन्दर्य-स्थानिक मानना अलंकारों का निर्माण करने वाली कल्पना की सत्ता की ही प्रतिष्ठा करना कहा जायगा। यह काव्य का अंतरंग या निर्माणपक्ष है। उसका बहिरंग स्वरूप भामह के वक्रोक्ति-निरूपण में दिखाई देता है। वक्रोक्ति में ही काव्यत्व है और वक्रोक्ति ही अलंकार के मूल में है, भामह का यह विचार था। वक्रोक्ति से भिन्न काव्यशैली को स्वभावोक्ति कहा गया है, किन्तु भामह ने स्वभावोक्ति में काव्यत्व नहीं माना। आगे चलकर समयानुसार वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति-संबंधी विचारों में परिवर्तन हुए और वक्रोक्ति एक अलंकार-मात्र रह गया। उसकी व्यापकता समाप्त हो गई। स्वभावोक्ति भी एक अलंकार के अतिरिक्त कुछ नहीं रहा। अलंकार संप्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य भामह ने कथन की प्रणाली अथवा अभि-व्यंजना प्रकार का वक्रोक्ति नामकरण कर एवं समस्त अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति का निर्देश कर काव्य के वाह्यांग की विशेषता पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। आचार्य दण्डी ने भी उसका कई रूपों में अनुमोदन किया है। भामह के विपरीत दण्डी अतिशयोक्ति को समस्त अंलकारों का मूल मानते थे; किन्तु इस संबंध में दोनों आचार्यों के सिद्धान्त अधिक भिन्न नहीं हैं। गुण संप्रदाय की पृथकता आगे चलकर आचार्य वामन ने निरूपित की। इस दृष्टि से गुण के आधार पर प्रतिष्ठित रीति-संप्रदाय भी अलंकार संप्रदाय का ही एक अंग माना जा सकता है।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रारंभिक आचार्यों ने अलंकार की व्यापक व्याख्या की थी और उसके अन्तर्गत वक्रोक्ति, रीति और गुण नामक तत्त्वों को समाहित कर लिया था। यही नहीं, आचार्य भामह ने रस को भी पृथक् तत्त्व न मान कर उसे अलंकार के अन्तर्गत ग्रहण किया था। रसवत प्रेयस एवं उर्जस्वित अलंकारों के अन्तर्गत सभी प्रमुख रस सन्निविष्ट हो गए थे। आचार्य दण्डी ने कांति नामक गुण को सभी रसों की समाहित सत्ता का स्वरूप दे दिया था और स्वयं गुण की सत्ता अलंकारों से अभिन्न होने के कारण आचार्य दण्डी का यह उपक्रम अलंकार संप्रदाय को विशद बनाने में ही सहायक हुआ।

यदि अलंकारमत का विकास और परिपोषण भामह द्वारा स्थिर प्रणाली पर होता रहता, तो यह असंभव न था कि अलंकार सिद्धान्त की गणना एक

स्वतंत्र सिद्धांत के रूप में होती। किन्तु संस्कृत साहित्य के सैद्धान्तिक विकास का क्रम इसके विपरीत मार्ग पर चला। समय के परिवर्तन के साथ गुण की सत्ता अलंकार से पृथक् कर दी गई एवं रीति का भी एक स्वतंत्र संप्रदाय बना। वक्रोक्ति की स्थिति भी अपने मौलिक रूप में स्थिर न बनी रह सका। कहीं तो वह केवलमात्र अलंकार ही बना रहा और कहीं 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' कह कर उसे काव्य की आत्मा के पद पर प्रस्थापित किया गया। रस भी बहुत समय तक अलंकार की शाखा बन कर न रह सका। एक स्थिति ऐसी आई जब उसे काव्य की आत्मा का गौरवशाली पद प्राप्त हुआ। ध्वनि संप्रदाय के आविर्भाव से रस के प्रसार को पूरी सहायता मिली। अलंकार संप्रदाय का उत्कर्ष स्थिर न रह सका और उसके समस्त उपकरण उसके अंतर्गत बने न रह सके, जिसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि स्वतः अलंकार सम्प्रदाय अपनी स्वतंत्रता एवं आत्मनिर्भरता को छोड़कर कभी रीति, कभी रस और कभी वक्रोक्ति संप्रदाय का अंगमात्र बन गया।

'रीति'मत—रीति-संप्रदाय का सर्वप्रथम विज्ञापन करनेवाले वामन नामक आचार्य हुए जिन्होंने "रीतिरात्मा काव्यस्य" की उद्घोषणा की। रीति से वामन का अभिप्राय पद-रचना की विशेषता से था। उन्होंने गौड़ी, पांचाली और वैदर्भी—इन तीन रीतियों को प्रतिष्ठित किया। इन नामों के विशेष प्रांत-सूचक होने पर भी उनका स्वरूप स्वतंत्र रीति से निर्धारित किया गया है, जिनमें प्रांतों का कोई महत्त्व नहीं है। संभव है उक्त प्रान्तों की सामान्य प्रकृति इन रीतियों के अनुसार काव्य-रचना करने की हो, परंतु साहित्यिक मत के रूप में ये रीतियां प्रांतीय सीमा में बद्ध नहीं हैं।

गौड़ी रीति से वामन का प्रयोजन ऐसी समास-बहुला पदावली से है जिसमें ओज गुण की व्यंजना स्वभावतः होती है। ऐसी पदावली में स्वभावतः कृत्रिमता रहेगी एवं उसमें शब्दालंकारों का बाहुल्य होगा। फिर भी काव्य की एक स्वतंत्र परिपाटी के रूप में गौड़ी रीति का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

वैदर्भी रीति में गौड़ी रीति की भांति लंबी-लंबी सामासिक पदावली नहीं रहती, फिर भी समासों का नितांत अभाव नहीं होता है। प्रसाद गुण की इसमें प्रधानता रहती है। कालिदास की रचना वैदर्भी रीति का सुन्दर उदाहरण है।

क्रमशः रीतियों की संख्या भी बढ़ती गई और परवर्त्ती लेखकों ने दस रीतियों तक का नामोल्लेख किया है। किन्तु आचार्य मम्मट के प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्य-प्रकाश' में, जिसका निर्माण दसवीं शताब्दी के आसपास हुआ था, उपर्युक्त तीन ही रीतियों का उल्लेख है। ऐसा ज्ञात होता है कि रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले आचार्य वामन ने संस्कृत काव्य-साहित्य की शैलियों को नए-नए नामों से अभिहित करना चाहा होगा। यही कारण है कि रीतियों की संख्या बढ़ने लगी। पर पीछे के आचार्यों ने रीति का संबंध गुण नामक तत्त्व से जोड़कर रीति की संख्या कम करने का उद्योग किया और रीति तथा गुणों को संयुक्त कर दिया।

रीति का प्रारंभिक अर्थ था पद-रचना। इसी पद-रचना के गुणों पर रीति-संप्रदाय का विवेचन अवलंबित है। आगे चलकर काव्य-गुणों का पर्यवसान रीति-संप्रदाय के अन्तर्गत किया जाने लगा और काव्य-दोष-संबंधी संप्रदाय का भी रीति-संप्रदाय में ही पर्यवसान हो गया। आरंभ में दोष के अभाव को ही गुण मानने की प्रवृत्ति थी, परंतु क्रमशः गुणों की स्वतंत्र सत्ता स्थिर हो गई। केवल दोषों का अभाव ही गुण नहीं है, वरन् गुण काव्य-रचना का आधारभूत तत्त्व है, यह नवीन प्रतिष्ठा रीति-संप्रदाय के अन्तर्गत हुई। इस संप्रदाय के आचार्यों ने गुण और दोषों के तत्त्वों का विशद विवेचन किया। गुणों की संख्या प्रारंभ में दस थी, क्रमशः बढ़कर वह बीस हो गई; किन्तु आगे चलकर गुणों की यह संख्या स्थिर न रह सकी। आचार्यों ने माधुर्य, ओज और प्रसाद ये ही तीन गुण स्वीकार किए। इसी प्रकार दोषों की संख्या भी भिन्न-भिन्न पंडितों द्वारा भिन्न-भिन्न निर्धारित की गई। इस समय तक रस-संप्रदाय का भी प्रर्याप्त प्रचलन हो चुका था, अतएव रीति-सिद्धांत के संस्थापकों ने रस को भी गुणों के अन्तर्गत स्थान दे दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि अलंकार और रीति-संप्रदाय के बीच किसी समय बड़ी स्पर्द्धा रही होगी। यही कारण है कि कुछ आचार्यों ने अलंकारों के अंतर्गत गुणों को सन्निविष्ट करने का प्रयत्न किया। गुण और अलंकार के पारस्परिक महत्त्व पर उस समय काफी विवाद हो रहे थे। यह कहा जा सकता है कि ईस्वी सन् ६०० से ७०० तक १०० वर्षों के अंतर्गत रीति-संप्रदाय भारतीय-साहित्य-समीक्षा का प्रमुख आधार बना हुआ था। गुण और दोष की व्यापक प्रतिष्ठा हो जाने से रीति-

संप्रदाय को बड़ा बल मिला और गुणसहित तथा दोषरहित रचना की आदर्श पदावली ही रीतिमत के अनुसार काव्य की आत्मा बन गई। किंतु रीति की यह सत्ता अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। कालान्तर में काव्य-समीक्षकों को यह अनुभव होने लगा कि रीति या पद-रचना अंततः काव्य का बहिरंग ही है और केवल इसे ही कसौटी बना लेने से काव्यात्मा की पूरी परख नहीं हो सकेगी। क्रमशः गुण, दोष और अलंकारों की विवेचना रीति से स्वतंत्र आधार पर होने लगी जिसका परिणाम यह हुआ कि रीति-संप्रदाय की व्यापकता घट चली और अंत में उसे रस-सिद्धांत की एक शाखा के रूप में परिणत होना पड़ा। केवल रीति-मत की ही यह अंतिम-परिणति नहीं हुई, वरन् अन्य साहित्यिक मत भी रस-सिद्धांत के अंतर्गत विलीन होने लगे। आचार्य मम्मट के समय में रस-सिद्धांत की मान्यता सर्वव्याप्त हो गई। आचार्य मम्मट ने रस और ध्वनि का ऐसा सुन्दर पुटपाक तैयार किया कि वह बाद के समस्त काव्य-समीक्षकों को मान्य सिद्ध हुआ। ध्वनि और रस-संप्रदाय के संबंध-विकास को समझने के लिए हमें आनंदवर्द्धन से लेकर अभिनवगुप्त और मम्मट तक के काव्य-चिन्तन का अनुशीलन करना होगा।

'गुण' मत—रीति-संप्रदाय से ही संबद्ध गुण-संप्रदाय का आविर्भाव भी संस्कृत साहित्य समीक्षा में हुआ था। प्रत्येक रीति कुछ गुणों से संयुक्त हुआ करती है। भिन्न आचार्यों ने रीति तथा गुण का पृथक्-पृथक् ढंग से उल्लेख किया है। किन्तु गुण का काव्य-रीति से संबंध सभी ने स्वीकार किया है।

आगे चलकर इस धारणा में भी परिवर्तन हुआ और गुण का संबंध रीति से न रहकर काव्य की आत्मा रस से जोड़ा गया। मम्मट ने इस बात का उल्लेख किया है कि गुण काव्य की आत्मा रस से संबंध रखते हैं और उसी के सहायक व परिपोषक होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आरंभ में गुण सम्प्रदाय रीति-सम्प्रदाय से आविर्भूत हुआ था। रीति-को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्यों ने ही रीति और गुणों का सबंध निर्धारित किया था, परंतु क्रमशः रीति की प्रमुखता कम होने से गुणों का संबंध रीति से छूटकर रसों से जुड़ गया, और इस अवस्था में गुणों के साथ ही काव्यदोषों का भी निरूपण किया गया। इस प्रकार गुण व दोष एक पृथक् संप्रदाय बनकर रस संप्रदाय के अंग रूप में प्रतिष्ठित हुआ। गुणों तथा दोषों के पारस्परिक संबंध में भी क्रमशः परिवर्तन

होते गये । दोषों का क्षेत्र पद, वाक्य, अर्थ, अलंकार और रस तक व्यापक हो गया । पददोष, अर्थदोष, रसदोष आदि की चर्चा साहित्यिक ग्रंथों में विस्तार के साथ की जाने लगी।

गुणों की संख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मानी है। ओज, माधुर्य और प्रसाद तीन मुख्य गुण हैं । ओज गुण गौड़ी के साथ, माधुर्य पांचाली के साथ और प्रसाद वैदर्भी रीति के साथ संयुक्त किया गया । कतिपय आचार्यों ने गुणों की संख्या दस भी मानी है।

गुण सम्प्रदाय की आरंभिक अवस्था में गुण और अलंकार का अन्तर भी स्पष्ट नहीं हो पाया था और इन दोनों की सत्ता एक दूसरे से मिली हुई थी । आचार्य वामन ने सर्वप्रथम गुण और अलंकारों का पृथक्करण किया, और उन दोनों का स्वरूप निर्धारित किया । जिस प्रकार आरंभ में गुणों के अभाव को ही दोष मानने की प्रवृत्ति थी, उसी प्रकार दोष के अभाव में गुण मानने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है । समय व्यतीत होने पर गुण व दोष स्वतंत्र रूप में प्रतिष्ठित हुए।

काव्य-साहित्य का अध्ययन करनेवाले आचार्यों की एक श्रेणी काव्यगुण व काव्यदोषों को लेकर प्रतिष्ठित हुई । संभवतः इस संप्रदाय के मूल में कोई सैद्धांतिक प्रक्रिया उतनी नहीं थीं, जितनी वास्तविक काव्य के अनुशीलन की प्रक्रिया थी । भिन्न रचनाकारों के ग्रंथों को लक्ष्य बनाकर गुण व दोषों का निरूपण किया जाता था । जैसा कहा जा चुका है, आरंभ में ओज, प्रसाद, माधुर्य केवल तीन ही गुण थे । किन्तु क्रमशः उनकी संख्या दस हो गई । आरंभ में गुणों के अभाव को ही दोष मानने की प्रवृत्ति थी, परंतु क्रमशः दोष-दर्शन एक स्वतंत्र साहित्यिक मत बन गया। दोषों की संख्या बढ़ते-बढ़ते सैकड़ों तक पहुंच गई । कतिपय आचार्यों ने गुण व दोष को ही काव्य का मूल तत्व मान लिया। इन आचार्यों की यह मान्यता एकदम निर्बल नहीं है, क्योंकि वास्तविक रचना का अनुशीलन करते हुए जिन गुणों व दोषों का अनुभव पंडितों ने किया और उस अनुभव के आधार पर ही जिन गुणों और दोषों का निरूपण किया गया, उन्हें आधार-रहित कैसे कहा जा सकता है ! गुण व दोष मत का रीति तथा अलंकार संप्रदायों से कब कैसा संपर्क स्थापित हुआ और पारस्परिक आदान-प्रदान के सिद्धांत के अनुसार ये विभिन्न संप्रदाय किस क्रम से समन्वित होते गए यह भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास का एक शोधनीय विषय है।

वक्रोक्ति मत:

वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा या मुख्य स्वरूप मानने का उपक्रम कई पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी किया था, किन्तु पृथक् संप्रदाय के रूप में उसका उदय दसवीं शताब्दी के पश्चात् हुआ। इसके उद्भावक कुन्तक नामक आचार्य थे जिनका ग्रंथ 'वक्रोक्ति जीवित' है। प्रत्येक अलंकार के मूल में वक्रोक्ति रहा करती है। यह वक्रोक्ति की व्यापक व्याख्या थी, परंतु आचार्य कुन्तक ने इससे भी आगे बढ़कर निर्देश किया कि वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है—वक्रोक्ति की परिभाषा उन्होंने 'वैदग्ध्यभंगी भंणिति अर्थात् चतुर अथवा चमत्कारपूर्ण रचना कहकर की है। विदग्धता में रमणीयता का भाव निहित रहता है। इस प्रकार रमणीय उक्ति अथवा वक्रोक्ति को काव्य की संज्ञा देने के पश्चात् आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति का विस्तार काव्य के समस्त स्वरूप का स्पर्श करते हुए किया है। वर्ण-विन्यास वक्रता से लेकर रस-वक्रता और महाकाव्य-वक्रता तक वक्रोक्ति की सीमा उन्होंने निर्धारित की। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिव्यंजना की रोचकता को ही कुन्तक ने वक्रोक्ति की संज्ञा दी है और रस को भी वक्रोक्ति का ही एक स्वरूप माना है। उन्होंने वक्रोक्ति के क्रमश: चार भेद किए—वर्ण-विन्यास, पद, वाक्य और प्रकरण अथवा प्रबंध-वक्रता। इनके अन्तर्गत अलंकार तथा रस-वक्रता भी सम्मिलित हैं।

ध्वनिमत

भारतीय साहित्य-समीक्षा में ध्वनि-सम्प्रदाय का विशेष महत्त्व है। नाटकों में रस का तत्व तो स्वीकार कर लिया गया था, पर काव्य के अन्य अंगों के लिए रस की स्वीकृति नहीं हो पाई थी। यह कार्य व्यंजना अथवा ध्वनि-संप्रदाय द्वारा सम्पन्न हुआ। ध्वनि के सिद्धान्तानुसार काव्य में जो कुछ शाब्दिक रूप से उल्लेख किया जाता है, वही उसका अंतिम प्रयोजन नहीं है, वरं काव्य का ध्वन्यार्थ अथवा व्यंजित अर्थ ही काव्य का मुख्य प्रयोजन होता है। केवल शब्दार्थ द्वारा विषय का ज्ञान कराना काव्य का इष्ट नहीं है। काव्य का लक्ष्य है, भावों और रसों की व्यंजना करना।

ध्वनि के अन्तर्गत वस्तु, अलंकार और रस तीन ध्वनियां होती हैं। इनमें रस ध्वनि ही काव्य का जीवन है। इस प्रकार रस और ध्वनि का समन्वय स्थापित करके ध्वनिवादियों ने अपने सिद्धान्त को परिपुष्ट किया। काव्य की आत्मा रस ही स्वीकार किया गया, किन्तु रस को ध्वनि

या व्यंजना द्वारा ही अनुभूति का विषय बनाने की बात कही गई। काव्य के शब्द-प्रतीकों द्वारा ध्वनि के विशेष व्यापक तत्त्व का उद्‌भव होता है और तभी काव्य के पाठक रस की अनुभूति कर सकते हैं ।

ध्वनि-संप्रदाय ने रस-सिद्धांत का आधार लेकर अपनी प्रतिष्ठा कर ली थी, तथापि ध्वनि और रस में अन्तर स्थापित करने वाले मतों की कमी नहीं थी। इनमें से अधिकांश समीक्षक रस-सिद्धांत के विरोधी नहीं थे, किन्तु ध्वनिमत के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि काव्य के लिए ध्वनि नाम के तत्व को स्वीकार करना आवश्यक नहीं । काव्य की आत्मा रस है, ध्वनि नहीं । ये समीक्षक न्याय अथवा तर्कशास्त्र का आधार लेकर चले थे, इस कारण ये नैयायिक संप्रदाय के कहलाए। इनका मुख्य प्रयोजन ध्वनिवाद का खंडन करना था। इनके सम्मुख कोई रचनात्मक कार्यक्रम न था, इस कारण इस मत के अनुयायी साहित्य-समीक्षा में विशेष महत्व न प्राप्त कर सके।

उपर्युक्त सिद्धांतों और मतों के अतिरिक्त कुछ फुटकल मत और सम्प्रदाय भी भारतीय साहित्य मीमांसा में दिखाई देतें हैं। किन्तु उनमें इतनी मौलिकता नहीं थी कि वे स्वतंत्र काव्य-सिद्धांत का पद ग्रहण कर सकते । फलत: उनकी चर्चा कुछ आचार्यों और उनकी पुस्तकों तक ही सीमित रही। इन्हीं में से कुछ मत ऐसे भी हैं जो रस, अलंकार आदि प्रमुख सिद्धांतों का विरोध न करते हुए भी उनमें समन्वय लाने की चेष्टा करते हैं। ऐसे मतों को स्वतंत्र मत को पदवी नहीं दी जा सकती। उदाहरण के लिए, क्षेमेंद्र का औचित्य नामक मत जिसमें विभिन्न काव्य तत्वों के समन्वय की योजना है । इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने रस के कतिपय अंगों को ही लेकर पुस्तकें लिखनी आरंभ कर दीं। विभाव के अन्तर्गत नायक और नायिका का पक्ष आता है, बस उन आचार्यों ने विभाव का विवरण देते हुए नायिका-भेद के बड़े-बड़े ग्रंथ लिख डाले। उसी प्रकार उद्दीपन के अन्तर्गत प्राकृतिक दृश्य और वस्तुएं आती हैं; बस कुछ लेखकों ने ऋतुवर्णन में ही अपनी संपूर्ण प्रतिभा व्यय कर दी। नायिका के अंग-प्रत्यंग का वर्णन करते हुए नख-शिख ग्रंथ लिखे गए, किन्तु ऐसी रचनाओं को काव्य-समीक्षा की स्वतंत्र कृति किसी अर्थ में नहीं कहा जा सकता ।

ध्वनि और रस

(नवीन दृष्टिपात)

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में रस के संबंध में कहा है—"विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः"। इसका अर्थ है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस वाक्य में आए हुए 'संयोग' और 'निष्पत्ति' का अर्थ समझाने के लिए चार आचार्यों ने अपने-अपने मत उपास्थित किए।

१.—भट्ट लोल्लट का मत है कि भरत ने 'निष्पत्ति' से उत्पत्ति और 'संयोग' से संबंध का अर्थ लिया है। इस मत को उत्पत्तिवाद का नाम दिया गया। इस मत के अनुसार विभाव-अनुभाव आदि कारण हैं और रस कार्य है। इन्होंने रस की स्थिति नायक आदि पात्रों में मानी है। वेश-भूषा आदि द्वारा नट जो अभिनय करता है, उससे चमत्कृत हो श्रोताओं को भी रस की प्रतीति होती है।

परंतु यह मत सर्वमान्य न हुआ। इसके विरोध में कहा गया कि नट नायक के भावों का अनुकरण कैसे कर सकता है! वह विभाव-अनुभाव आदि के प्रदर्शन से भावों की सूचना दे सकता है। अनुभूतिजन्य अनुकरण नहीं कर सकता। जब दर्शकों को वास्तविक भाव का अनुभव न होगा, तब वे उसका आनन्द कैसे प्राप्त कर सकेंगे।

साथ ही कार्य की स्थिति कारण के विना संभाव्य है, परंतु हम देखते हैं कि विभाव-अनुभाव के प्रत्यक्ष होने के साथ ही रस उत्पन्न होता है और उनके न रहने से रस का भी लोप हो जाता है। कारण को कार्य में परिणत होने में कुछ-न-कुछ समय लगेगा, चाहे वह कितना ही कम समय क्यों न हो। परंतु विभाव-अनुभाव के हो साथ रस उत्पन्न होता है और उनके अदृश्य होते ही रस भो अदृश्य हो जाता है। अतएव विभाव, अनुभाव और रस में कार्य-कारण संबंध नहीं हो सकता।

२.—शंकुक ने इसे दूसरी तरह समझाया। उन्होंने भरत की 'निष्पत्ति' को अनुमिति माना। उनके मतानुसार विभाव आदि अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य। रस की स्थिति नायक में होती है और नट उन्हें हाव-भाव

द्वारा प्रदर्शित करता है। यद्यपि नट में रस की स्थिति नहीं होती, फिर भी उसमें यह अनुमान कर ली जाती है। नट के कुशल अभिनय को देख कर प्रेक्षक भ्रम में पड़कर नट में नायक का अनुमान कर लेता है। इस सुखद भ्रम में पड़कर प्रेक्षक को जो आनन्द प्राप्त होता है, वही रस है।

इस सिद्धान्त का भी विरोध हुआ। सर्वप्रथम इसमें प्रत्यक्षानुभव की अपक्षा अनुमान की स्थिति में रस का उत्पन्न होना माना गया है। उत्पत्तिवाद और अनुमितिवाद दोनों में रस की सत्ता प्रेक्षक में नहीं मानी गई।

भट्टनायक ने इस पर आक्षेप करते हुए कहा कि विभाव-अनुभाव आदि को देखकर प्रेक्षकों के हृदय में रस स्थिति मानते नहीं बनती, क्योंकि वे विभावादि नायक के स्थायी भावों के संबन्ध में हैं, प्रेक्षक के नहीं। परंतु कुछ विद्वानों का कथन है कि नायक के विभावादि से प्रेक्षकों को भी स्थायी भाव की प्रतीति होती है। सहृदयगण सुन्दर अभिनय देखकर अपने आप को भूल जाते हैं और नायक के भावों को अपना समझकर रस लेने लगते हैं। इसी भाव-भ्रम को 'संयोग' कहते हैं। नायक के भावों का अनुभव प्रेक्षक करता है जिसके विषय में न हम यह कह सकते हैं कि वह सत्य है, क्योंकि नायक और प्रेक्षक एक नहीं हैं और न हम यही कह सकते हैं कि वह मिथ्या है, क्योंकि प्रेक्षक को उसकी अनुभूति तो होती ही है।

परंतु आलंबन के प्रति जो नायक के भाव हैं, वे ही दर्शकों में उत्पन्न हों, ऐसा भी कहते नहीं बनता; क्योंकि राम और सीता का अभिनय देखकर सीता के प्रति जगन्माता की भावना रहेगी, न कि स्त्री की। नायक के अद्भुत पराक्रमयुक्त कार्य को देखकर जिन्हें श्रोता करने में असमर्थ है, उस (श्रोता) के मन में नायक का-सा वीर भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि नायक के भावानुरूप भावों की उत्पत्ति मान लें, तो रस को आनन्द स्वरूप नहीं कह सकते; क्योंकि नायक के लिये दुःखद प्रसंग आने पर प्रेक्षक को दुःख ही होना चाहिए। परंतु ऐसा नहीं होता। यदि ऐसा होता, तो भवभूति के करुण नाटकों को कौन पढ़ता, वे सर्वप्रिय कैसे होते! यह स्पष्ट है कि उनकी कृतियों से आनन्दात्मक अनुभूति होती है।

३.—अतएव आचार्य भट्टनायक ने कहा कि रस की स्थिति प्रेक्षक के ही हृदय में होती है। स्थायी भाव से लेकर रस की उत्पत्ति तक काव्य की तीन शक्तियाँ रहती हैं—(१) अभिधा, (२) भावकत्व और (३) भोजकत्व।

अभिधा के द्वारा काव्यगत अलंकारादि का ज्ञान होता है तथा उसके अर्थ की अभिज्ञता होती है। भावकत्व द्वारा प्रेक्षक का हृदय वैयक्तिक संबन्धों को छोड़कर साधारण मनुष्य की भाव-भूमि पर आ जाता है। वैयक्तिक विशेषताओं और संबन्धों से परे पहुँचकर विक्षेपरहित मन नाटक में प्रदर्शित भाव का आस्वाद लेता है। वह दुष्यंत को पुरुष-सामान्य और शकुन्तला को स्त्री-सामान्य समझता है। इस प्रकार स्थायी भाव सहृदय मात्र के द्वारा उपभोग्य हो जाता है। इस साधारण भावित स्थिति को ही संयोग कहते हैं। जिस क्रिया के द्वारा साधारणीकृत स्थायी भाव का रस रूप में भोग होता है, उसे भोजकत्व कहते हैं। यह भोग ही निष्पत्ति है। रजस् और तमस्-विहीन सात्विक मन ही काव्य रस का भोग करता है। इस स्थिति में सांसारिक दृश्य और संवेदनाएँ तिरोहित हो जाती हैं और शुद्ध साहित्यिक (कल्पनाजन्य) आनन्द उपलब्ध होता है। यह आनन्द इसीलिये ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाता है।

४.—**अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद**—इस मत पर यह शंका हुई कि इन तीन काव्य-शक्तियों को मानने के लिये कोई आधारभूत प्रमाण नहीं है। अभिनवगुप्त के मतानुसार भावकत्व और भोजकत्व इन दोनों का काम व्यंजना या ध्वनि से चल जाता है। भावकत्व (भावना करने का सामर्थ्य) भाव का अपना गुण है। भरत मुनि ने कहा ही है कि जो काव्यार्थों को भावना का विषय बनावे, वही भाव है। काव्यार्थ रस का भावक है, क्योंकि उसी से रस व्यंजित होता है। रस का भोग उसका आस्वाद ही है। रस में भोग का भाव रहता है, क्योंकि रस वही है जिसका भोग हो सके। अतएव भोजकत्व को अलग मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह ध्वनि के द्वारा संपन्न हो जाता है। इसलिए 'संयोग' का अर्थ है ध्वनित या व्यंजित होना, और 'निष्पत्ति' का अर्थ है आनन्द रूप में प्रकाशित होना।*

रस की निष्पत्ति किस प्रकार होती है, इसका निर्देश ऊपर के चार सिद्धान्तों द्वारा किया गया है। आचार्य भट्ट लोल्लट ने उत्पत्तिवाद का

---

* यहाँ इन चारों मतों को आचार्य श्यामसुन्दरदास जी के 'साहित्यालोचन' ग्रंथ में की गई व्याख्या के आधार पर रक्खा गया है। इसकी अन्य व्याख्याएँ भी हैं, किन्तु इन व्याख्याओं में प्रायः समानता पाई जाती है।

सिद्धान्त उपस्थित किया और बताया कि विभाव-अनुभाव आदि कारण हैं और रस कार्य है। आचार्य शंकुक ने प्रतिपादित किया कि विभाव-अनुभाव आदि अनुमापक हैं और रस अनुमाप्य है अर्थात् विभाव अनुभाव आदि के द्वारा रस का अनुमान किया जाता है। तीसरा सिद्धान्त भट्टनायक का है जिनके अनुसार रस आस्वाद्य है, उसका आस्वादन सर्वप्रथम अभिधा-व्यापार द्वारा काव्यार्थ को जान लेने के पश्चात् भावना-व्यापार द्वारा काव्यार्थ का साधारणीकरण हो जाने पर होती है। आचार्य लोल्लट ने रस की सत्ता नायक में मानी। नट उसका अभिनय करके नायक के रस को आत्मसात करता है और उसकी चमत्कारयुक्त प्रतीति दर्शक या प्रेक्षक को होती है। शंकुक के मतानुसार रस की सत्ता नायक में है, किन्तु उसका अनुमान नटों में कर लिया जाता है जो नायक के कार्यों का सुन्दर अभिनय करते हैं। भट्टनायक के मतानुसार रस की सता प्रेक्षक में है। काव्यार्थ का बोध और उसका साधारणीकरण हो जाने पर प्रेक्षक रस का आस्वाद करता है।

ऊपर के तीनों सिद्धान्त उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद और भुक्तिवाद रस की प्रक्रिया को समझाने के लिए उपयुक्त नहीं माने गये। इनमें कितने ही प्रकार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोषों का आरोप किया गया और अंत में आचार्य अभिनवगुप्त ने रस की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए अपने अभिव्यक्ति सिद्धान्त को उपस्थित किया, जिसे व्यंजना या ध्वनि-सिद्धान्त भी कहते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार भाव की सत्ता सहृदय पाठक में रहा करती है। संस्कार रूप से सहृदय के हृदयांतर्गत भावों की सत्ता रहती है। काव्य या नाटक के अनुशीलन द्वारा वह भाव-सत्ता अनुकूल प्रेरणा प्राप्त कर उपद्रुत हो उठती है और सहृदय को काव्य से रसानुभूति होने लगती है। रस आनंदात्मक अनुभूति है और वह साधारण भौतिक संवेदनाजन्य सुख दुःख से भिन्न है।

इस प्रकार रस को तथा उसके आस्वादन की प्रक्रिया को समझाने के लिए ध्वनिमत का आविष्कार हुआ। आचार्य अभिनवगुप्त का ध्वनिमत उनका अपना निर्माण किया हुआ है अथवा उनके पहले भी इस मत का प्रचार था, इस संबंध में विद्वानों ने बताया है कि अभिनवगुप्त के कुछ पूर्व आचार्य आनंदवर्धन द्वारा ध्वन्यालोक नामक ग्रंथ की रचना हो चुकी थी जिसमें ध्वनि सिद्धांत का निरूपण किया गया था। यह भी कहा जाता है कि वक्रोक्ति

और अनुमान आदि के साहित्य-सिद्धान्तों के विरोध में ध्वनि सिद्धान्त की सृष्टि हुई थी। किन्तु अभिनवगुप्त ने उक्त ध्वनि सिद्धान्त को रस सिद्धान्त के साथ संयुक्त कर उसके जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा की, वह आगे चलकर सर्वमान्य बन गया और रस के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के निमित्त ध्वनि की उपयोगिता सर्वशास्त्र-सम्मत हो गई।

परन्तु ध्वनि और रस का यह तारतम्य यहीं तक सीमित नहीं रहा। ध्वनिवादियों ने उसे और आगे बढ़ाने की चेष्टा की और क्रमशः उसे स्वतंत्र सिद्धान्त के रूप में स्थापित करना चाहा। आरंभ में ध्वनि द्वारा रसानुभूति को समझने का प्रयत्न किया गया था, परंतु आगे चलकर रस ध्वनि का एक भेद-मात्र रह गया और रस-ध्वनि के अतिरिक्त अलंकारध्वनि तथा वस्तुध्वनि नामक दो अन्य ध्वनि प्रकारों का निरूपण किया गया। इस निरूपण का यही अर्थ निकला कि काव्य रस तक ही सीमित नहीं है। रसध्वनि से भिन्न ध्वनियां भी काव्य हो सकती हैं, अर्थात् काव्य में रस की अपेक्षा ध्वनि की व्याप्ति अधिक है।

ध्वनिमतानुयायियों ने इस प्रकार ध्वनि को ही काव्य की आत्मा ठहराने का प्रयत्न किया। ध्वनिरहित काव्य चित्र-काव्य के नाम से अभिहित किया गया और वह निकृष्ट काव्य माना गया। इसी प्रकार ध्वनि को गौणता का आधार लेकर बने हुए काव्य को गुणीभूत व्यंग्य कहा गया और उसे द्वितीय श्रेणी के काव्य की प्रतिष्ठा दी गई। इस वर्गीकरण में हम कहीं भी रस का नाम नहीं पाते। स्पष्ट है कि इनमें ध्वनि की प्रमुखता हो गई है। आश्चर्य यह है कि आचार्य मम्मट जिनका 'काव्यप्रकाश' ग्रंथ संस्कृत साहित्य-समीक्षा की सर्वाधिक मान्य कृति है, स्वयं ध्वनि-सिद्धांत को अत्यधिक प्रतिष्ठा देते हैं। हमें कहना पड़ता है कि संस्कृत साहित्य-समीक्षा में पांडित्य और चमत्कार की अभिवृद्धि के साथ-साथ ध्वनि-सिद्धान्त का भी आवश्यकता से अधिक प्रसार हुआ और उसी मात्रा और अनुपात में काव्य के आत्मा रस की उपेक्षा हुई। रस को काव्य की आत्मा माननेवाले भरत मुनि तथा ध्वनि को रस से भी अधिक व्यापकता देनेवाले इन परवर्ती आचार्यों में कितना दृष्टिभेद है, यह स्वतंत्र विवेचन का विषय है। फिर भी इतना कहा जा सकता है, कि रसात्मक वाक्य को श्रेष्ठ

काव्य माननेवाले सहृदय मात्र ध्वनि के इस अनाकांक्षित विस्तार को उचित नहीं समझते। वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। उनको दृष्टि में ध्वनि रस के स्वरूप और उसके आस्वादन की प्रक्रिया को स्पष्ट करने का साधन-मात्र है।

× × × ×

रस-संबंधी ऊपर के चारों निर्देशों को आधुनिक मनोवैज्ञानिक या सौन्दर्य शास्त्र-संबंधी दृष्टि से देखने की भी आवश्यकता है। यद्यपि परंपरागत धारणा के अनुसार प्रथम तीन मत अतात्विक हैं और चौथा मत ही सिद्धान्त रूप से मान्य है, परन्तु जिस तार्किक क्रम से ये मत उपस्थित किये गये हैं और मूल पांडुलिपियों के अभाव में भी जिस तत्परता से इन्हें सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है, उनसे यह सूचित होता है कि इन मतों के मूल में शास्त्रकारों को मौलिकता और तात्विकता का अनुभव अवश्य हुआ था, भले ही किसी दूसरे सिद्धान्त की तुलना में उन्हें ये मत सापेक्ष्य दृष्टि से उतने प्रामाणिक न प्रतीत हुए हों। क्रमागत परंपरा द्वारा ये मत क्रमशः मीमांसा, न्याय और सांख्य मतों के साहित्यिक प्रतिरूप माने गये हैं। जिस प्रकार वेदान्त मत के रहते हुए भी अपने-अपने स्थान पर मीमांसा, न्याय और सांख्य मतों की भी पूर्ण प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त के ध्वनि मत का निरूपण हो जाने पर भी पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों की उपपत्तियाँ निरी निरर्थक नहीं हो जातीं।

इस विषय के विस्तृत विवेचन में न जाकर (क्योंकि इसके लिये स्वतंत्र निबन्ध की आवश्यकता होगी) हम यहां इतना निर्देश कर सकते हैं कि आचार्य लोल्लट का मत (जिसे उत्पत्तिवाद कहते हैं) काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया से संबंध रखता है। उक्त मत के अनुसार रस की सत्ता नायक में रहती है। वहां से वह अभिनय के माध्यम से होकर प्रेक्षक तक पहुँचती है और उसे चमत्कृत करती है। इस मत के खंडन-मंडन के प्रश्न को थोड़ी देर के लिये अलग रखकर यदि हम कवि द्वारा काव्य-निर्माण की प्रक्रिया पर अपना ध्यान केन्द्रित करें, तो लोल्लट के विचारों में पर्याप्त सार्थकता प्रतीत होगी। कवि मानवजीवन और जगत के वास्तविक स्वरूपों, दृश्यों और घटनाओं को काव्य के माध्यम में उपस्थित कर जिस सृजनात्मिका शक्ति का परिचय देता है, क्या उसके मूल में कवि की सौन्दर्य-भावना या रस की सत्ता नहीं है? किसी ऐतिहासिक या वास्तविक

व्यक्ति या पात्र को कल्पना के माध्यम द्वारा किसी विशेष भाव-व्यंजना के लक्ष्य से काव्य के नायक रूप में उपस्थित करने की चेष्टा ही तो काव्य है। फिर ऐसे काव्य में—काव्य के नायक नायिकागत-व्यवहारों में—ही तो वह विशेषता निहित है जो काव्यगत आनन्द या रस कहलाती है। ऐसी अवस्था में उक्त नायक-नायिका में काव्यात्मक सौन्दर्य या रस की सत्ता मानना अनुचित या असंगत कैसे है ? प्रश्न यह है कि क्या किसी प्रकार उक्त काव्यात्मक सृष्टि के—उक्त कविनिर्मित नायक-नायिका और उनके कवि वर्णित व्यवहारों के—अभाव में भी काव्य-रस संभव है ? इस प्रश्न का उत्तर केवल स्पष्ट नकार में ही दिया जा सकता है। यदि यह बात है तो आचार्य भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद में निहित इस सत्य की अवहेलना कैसे की जा सकती है कि काव्य रस का मूल आधार कवि-कल्पित नायक और नायिका ही हैं।

भट्ट लोल्लट के इस उत्पत्तिवाद से एक कदम आगे बढ़ने पर हम आचार्य शंकुक द्वारा प्रतिपादित अनुमिति-मत पर पहुँचते हैं। यदि हम यह मान लें कि इस अनुमिति-मत की सार्थकता इस बात में है कि वह नायक-नायिका के निर्माण में निहित कवि की सौन्दर्य-साधना को सार्वजनिक बनाने (सहृदयों तक पहुँचाने) की दिशा में अपनी व्याख्या उपस्थित करता है, तो हम इस मत की सार्थकता को स्पष्ट रूप में समझ सकेंगे। काव्य या नाटक में चित्रित नायक-नायिका को साकार करने का प्रयत्न ही तो नट करता है, अतएव यदि नट में (अभिनेता आज का अधिक प्रचलित शब्द है) हम एक ओर उक्त नायक-नायिका और दूसरी ओर सहृदय समाज की मध्यवर्ती स्थिति या मध्यस्थता का अनुभव करें तो इसमें असंगति क्या है ? यह प्रश्न दूसरा है कि कवि-कल्पित नायक-नायिका में और उसकी अनुकृति करनेवाले नट या अभिनेता के क्रिया-कलाप में कितना तात्विक साम्य या वैषम्य है (यह प्रश्न काव्य-कला से अधिक अभिनय-कला से संबन्धित है), परंतु इतना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती कि नट या अभिनेता काव्य में वर्णित घटनाओं और दृश्यों को साकार रूप देने का—उन्हें नाट्य दर्शकों के सम्मुख प्रत्यक्ष और हृदयंगम बना देने का—प्रयत्न तो करता ही है। यही उसकी उपयोगिता है, यही उसका अभीष्ट है। तो फिर यह मानने में क्या आपत्ति हो सकती है कि आचार्य शंकुक का रस प्रक्रिया को अभिनय

योजना द्वारा समझाने का प्रयत्न नितान्त असाहित्यिक नहीं है। वह लोल्लट के उत्पत्ति-सिद्धान्त के एक श्रेणी आगे की वस्तु है और किसी भी अवस्था में उतना अनर्गल नहीं जितना उसे समझा जाता है।

तीसरा सिद्धान्त भट्टनायक का है और मेरी दृष्टि में वह शंकुक के अनुमिति-सिद्धान्त से ठीक उसी प्रकार एक श्रेणी आगे है जिस प्रकार स्वयं शंकुक का सिद्धान्त आचार्य लोल्लट के सिद्धान्त से आगे है (यहाँ आगे और पीछे से हमारा आशय निर्दिष्ट विषय की ओर आगे बढ़ने या पीछे हटने से है। अपने-अपने स्थान पर तो ये सभी मत एक-से ही उपादेय हैं)। शंकुक का अनुमिति-सिद्धान्त नाटक और उसके अभिनय के आधार पर खड़ा है। वह व्यापक रूप से ऐसी काव्य-रचनाओं पर लागू नहीं होता जिनका संबंध अभिनय से नहीं है। अभिनेता या नट को देखकर नाट्यदर्शक नायक का अनुमान कर लेता है और एक सुखद भ्रम में पड़कर दोनों के अंतर को भूल जाता है। अभिनय-संबंधी इसी तथ्य का अधिक व्यापक और शास्त्रीय स्वरूप भट्टनायक की साधारणीकरण या भावन-व्यापार की व्याख्या में देखा जाता है। नट को नायक मान लेने और काव्य में वर्णित नायक-नायिका को निर्विशेष पुरुष-स्त्री मान लेने में तथ्य-संबंधी कोई अंतर नहीं है। 'अनुमान' के स्थान पर 'भावन' शब्द का प्रयोग अधिक साहित्यिक और अर्थपूर्ण अवश्य है। इसके साथ ही नायक और नायिका के निर्विशेषत्व या सामान्यीकरण का अर्थ एक ओर काव्य में वर्णित उन प्रतीकों का सहृदय मात्र की अनुभूति में आ सकने का सामर्थ्य है और दूसरी ओर सहृदय का वह सामर्थ्य भी है जिसके द्वारा वह कवि-कल्पित नायक-नायिका के व्यवहारों को अपनी अनुभूति का विषय बनाकर रस ग्रहण करता है। जहाँ शंकुक का अनुमिति-सिद्धांत अभिनय-कला की विशेषता के निरूपण द्वारा काव्यवस्तु को प्रेक्षक की अनुभूति का विषय बनाता है, वहाँ आचार्य भट्टनायक का साधारणीकरण सिद्धान्त केवल काव्य के सामर्थ्य का लेखा न लगाकर दर्शक के सामर्थ्य का भी व्याख्यान करता है। इस प्रकार काव्य और सहृदय के संबंध को स्पष्ट करने की दिशा में—काव्य में निहित प्रेषणीयता के तत्व को उद्‌घाटित करने की दिशा में—भट्टनायक का भुक्ति-सिद्धान्त शंकुक के अनुमिति-सिद्धान्त की अपेक्षा एक कदम आगे है।

साधारणीकरण के साहित्यिक सिद्धान्त के साथ कुछ असाहित्यिक दलीलें भी लाकर जोड़ दी गई हैं। उदाहरण के लिये यह कहा जाता है कि देवताओं और पूज्य व्यक्तियों के रति-भाव का साधारणीकरण प्रेक्षक को नहीं हो सकता। पर प्रश्न यह है कि रचयिता वा कवि के लिये भी तो वे देवता या पूज्य चरित्र उतने ही पूज्य हैं जितने दर्शक या श्रोता के लिये। ऐसी अवस्था में कवि द्वारा वर्णित देवताओं का रतिभाव दर्शकों को उसी प्रकार प्रभावित करेगा—उसी भाव की सृष्टि करेगा जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वतः की है। उससे भिन्न भाव की सृष्टि हो ही नहीं सकती; क्योंकि कवि की रचना में उससे भिन्न भाव की स्थिति ही नहीं है। साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता (कवि और दर्शक) के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र-विशेष का नहीं। इस तथ्य को न समझने के कारण ही साधारणीकरण के प्रश्न पर अनेक निरर्थक विवाद होते रहे हैं।

भट्टनायक द्वारा विवेचित रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट और तात्विक स्वरूप प्रदान करने के निमित्त अभिनवगुप्त के ध्वनि-सिद्धान्त की अवतारणा हुई। इस सिद्धान्त की विशेषता यह है कि यह काव्य-रचना और उसकी सहृदयगत प्रतीति के बीच किसी व्यवधान या अंतर्वर्ती स्थिति को स्वीकार नहीं करता। जिस काव्य में ध्वन्यात्मक शक्ति नहीं, सहृदय को रस-प्रतीति कराने का सामर्थ्य नहीं, उसके काव्यत्व में ही कमी है। ऐसी त्रुटिपूर्ण रचना गुणीभूत व्यंग्य और चित्र-काव्य की श्रेणी में परिगणित होगी। ध्वनिमत की दूसरी विषेशता यह है कि वह सहृदय द्वारा किये जानेवाले रसास्वाद के मनोवैज्ञानिक आधार की भी विवृति करता है। संस्कार रूप से भावों की सत्ता प्रत्येक सहृदय में निहित रहती है। वही काव्य में प्रदर्शित विभाव-अनुभाव आदि के संयोग (साक्षात्कार) से जागृत हो उठती है और काव्य-रसास्वाद का आधार बनती है। सहृदय के मन में संस्कार रूप से स्थित इस भाव-सत्ता के विना काव्यगत विभावानुभाव की स्थायी भाव के रूप में परिणति और रस-रूप में आस्वाद असंभव ही होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये चारों मत क्रमशः काव्य की प्रेषणीयता

और काव्य-रस के आस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं और उनमें से प्रत्येक मत समस्या के एक-एक पहलू को लेकर आगे बढ़ता है। कवि-कल्पित नायक से लेकर अभिनेता के नाट्य-प्रदर्शन, सहृदय के भावन और काव्य को ध्वन्यात्मकता के पक्षों की व्याख्या करनेवाले ये मत, हमारी दृष्टि में काव्य की एक अत्यंत आवश्यक समस्या के उद्घाटन की एक क्रमबद्ध योजना के रूप में उपस्थित किये गये हैं—यह बात दूसरी है कि खंडन-मंडन के वाग्जाल में पड़ जाने से उनका मूलवर्ती आशय या प्रयोजन भुला दिया गया हो। परंपरा सुरक्षित है, किन्तु उसका स्वरूप विकृत हो गया है।

पश्चिमी काव्यमत

(अनुकृति-वाद)

प्राचीन ग्रीस में काव्य-संबंधी जिज्ञासा प्लेटो (ई० पू० ५वीं शताब्दी) के कुछ पूर्व ही आरंभ हो चुकी थी । होमर ने अपने महाकाव्य 'इलियड' में एक स्थान पर एक सैनिक के कवच का उल्लेख किया है जो स्वर्ण-निर्मित था तथा जिसमें कुछ चित्र खुदे हुए थे। उनमें से एक चित्र हल से खुदी हुई भूमि का था । सोने के कवच में हल से खुदी हुई काली भूमि का आभास—कलाकार की इस विशेषता का होमर ने संकेत किया था। परंतु होमर द्वारा प्रसंगात् सूचित किए गए इस कला तथ्य का विवेचन बहुत दिनों तक नहीं हो पाया । होमर के पश्चात् कितने ही कवि और नाटककार हुए और प्लेटो तक आते-आते ग्रीक-कला का पर्याप्त विकास हो गया । प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' ग्रंथ में आदर्श राज्य का निरूपण किया और उस आदर्श राज्य में कविता तथा कलाओं का क्या स्थान होगा, इस पर विचार किया । यद्यपि वह काव्य तथा कलाओं का बड़ा प्रेमी था, किन्तु अपने आदर्श राज्य की कल्पना में उसने उनका तिरस्कार ही किया। उसने आपत्ति की कि काव्य हमारी बुद्धि को प्रभावित नहीं करता, वरन् भावनाओं को उत्तेजित करता है। वह बुद्धिसंमत न होकर भावनाप्रधान और पाशविक वस्तु है । कवि अपनी साधारण बोधावस्था में कविता नहीं करते, वरन् जब वे भावनाओं में तन्मय हो जाते हैं, तथा बुद्धि का नियंत्रण खो देते हैं, तभी काव्यरचना कर पाते हैं ।अतएव उनकी यह काव्यसृष्टि, बुद्धिमूलक न होने के कारण, आदर्श राज्य के लिए हितकारक नहीं। इसके अतिरिक्त काव्य तथा कला में आदर्श चरित्रों का उल्लेख नहीं होता, वरन् निम्नकोटि के चरित्र और पात्र भी चित्रित किए जाते हैं । महाकाव्य तथा नाटकों में भी अत्यंत साधारण प्रकार के चरित्रों का चित्रण किया जाता है, यह वांछनीय नहीं। प्लेटो के आदर्श राज्य में केवल धार्मिक ऋचाएं अथवा ईश्वर-संबंधी धार्मिक गीत ही स्थान पा सकते थे ।

उसने काव्य तथा कलाओं के सत्य पर भी आक्रमण किया । कलाओं

की स्थिति उसे वास्तविक सत्य से दूर प्रतीत हुई। सत्य एक आदर्श सत्ता है। संसार तथा उसके भिन्न-भिन्न पदार्थ उस मूल सत्य की छाया मात्र हैं। काव्य तथा कला इन सांसारिक वस्तुओं की भी अनुकृति या छाया हैं, अनुकृति की भी अनुकृति है। प्लेटो ने उदाहरण देकर बताया कि एक बढ़ई, जो खाट बनाता है, वह (आदर्श या ईश्वरीय) खाट की अनुकृति है, उसमें पूर्णता नहीं आ सकती। एक कवि या चित्रकार जिस खाट का वर्णन या निर्माण करता है, वह तो बढ़ई की खाट से भी निम्न श्रेणी की है, क्योंकि वह वास्तव में खाट नहीं, खाट का आभास-मात्र है। इस प्रकार संपूर्ण कलाओं को वास्तविक सत्य से दूर और छाया-रूप ठहराकर प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य से उनका बहिष्कार करना चाहा।

ऊपर, होमर के काव्य में, जिस कवच का उल्लेख किया गया है, जिसमें उसने हल से जुती हुई काली भूमि का आभास देनेवाले चित्र का संकेत किया है, उस चित्र की रचना-प्रक्रिया और स्वरूप को समझने का प्रयत्न प्लेटो ने किया होता, तो वह कलाओं को सत्य से दूर ठहराने की गलती न करता। कला की प्रवृत्ति सदा सत्य या तथ्य को अंकित करने की ही रहती है और अनुकृति के भिन्न-भिन्न माध्यमों द्वारा भी कवि तथा कलाकार अपनी रचना में उसी तथ्य को लाने का पूरा प्रयत्न करता है। जिस रचना में जितना अधिक वास्तविक वस्तु का सच्चा आभास होगा, वह रचना उतनी ही अधिक सुन्दर मानी जायगी। प्लेटो का यह कहना कि कला में सत्य नहीं होता, सत्य की छाया की भी छाया होती है—उसके निर्णय की स्पष्ट त्रुटि है। काव्य तथा दर्शन में संबंध स्थापित करने में प्लेटो ने दर्शन का पक्षपात किया और काव्य के प्रति ज्ञात या अज्ञात रूप से अन्याय किया। उसके अंकित किए सिद्धांत का इतना ही महत्व है कि उसे मूल विचार मानकर उसपर अनेक संशोधन होते रहे हैं। उसके सिद्धान्तों ने उस आधारशिला का कार्य किया जिस पर पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा की भित्ति खड़ी है।

प्लेटो के कार्य का सैद्धान्तिक महत्व भी है। उसने सारी कलाओं को अनुकृति पर आधारित माना है। यद्यपि उसका कथन है कि वह अनुकृति वास्तविकता की छाया, अथवा छाया की भी छाया है, फिर भी उसने कलाओं के अनुकृतिमूलक स्वरूप को पहचाना। उसने

कलाओं द्वारा प्राप्त होनेवाले आनन्द पर भी प्रकाश डाला। उसका विचार था कि यद्यपि वे हमें वास्तविक आनन्द नहीं देतीं, वरन् एक भ्रमात्मक आनन्द देती हैं। फिर भी उसने कलाओं की आनन्दात्मक सत्ता को स्वीकार किया। प्लेटो ने काव्य-कला, मूर्तिकला, चित्रकला, तथा संगीतकला आदि की समरूपता को पहचानकर उनका वर्गीकरण एक ही (कला) श्रेणी के अन्तर्गत किया।

अरिस्टोट्ल—प्लेटो की अपेक्षा साहित्य तथा कला के विवेचन में अरस्तू या अरिस्टोट्ल और भी आगे बढ़ा। प्लेटो की भाँति वह काव्य को सत्य से दूर या निकट ठहराने की झंझट में नहीं पड़ा। उसने कलाओं को पूर्णतः सौंदर्य की वस्तु माना और उससे प्राप्त होनेवाले आनन्द का उल्लेख किया। प्लेटो के समक्ष सौंदर्य तथा सत्य का द्वंद्व था, परंतु अरिस्टोट्ल इस द्वंद्व का अतिक्रमण कर उससे ऊपर उठ सका।

सौंदर्य के मानसिक स्वरूप तथा उसकी परिभाषा आदि पर अरिस्टोट्ल ने अधिक विचार नहीं किया। परंतु उसके वाह्य अंग—नाटक की वस्तु का समुचित विभाजन और विन्यास, उसके संपूर्ण अंगों के संतुलित प्रभाव आदि पर उसने पूरा जोर दिया। उसके समय में केवल ग्रीक कला का ही अस्तित्व था, अतएव उसने वहीं से अपने उदाहरण चुने। कला की ऊपरी रूपरेखा पर अरिस्टोट्ल का अधिक आग्रह देखकर कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि उसका अनुकृति-सिद्धान्त अधिक तात्विक नहीं है। 'अनुकृति' शब्द से उस वास्तविक कला-सत्य का बोध नहीं होता जिसमें कवि-कल्पना एक स्वतंत्र भाव-जगत का निर्माण करती है। 'अनुकृति' और 'निर्माण' में अन्तर है। अतएव समीक्षकों के एक वर्ग का कहना है कि अरिस्टोट्ल का अनुकृति-सिद्धांत बहुत कुछ सीमित है और वह काव्यात्मक निर्माण की यथार्थता का स्पर्श नहीं करता। अरिस्टोट्ल ने अनुकृति के लिए 'मिमिसिज' (नकल) शब्द का प्रयोग किया है, और सभी कलाओं को उसीका परिणाम माना है। परंतु अरिस्टोट्ल के समर्थन में कहा जा सकता है कि अनुकृति केवल किसी स्थूल या व्यक्त वस्तु की ही नहीं होती। कवि किसी काल्पनिक या भावात्मक तथ्य की भी अनुकृति कर सकता है। संगीत-कला में अनुकरणीय वस्तु निराकार और अव्यक्त—केवल भावना-मात्र होती है। किन्तु अरिस्टोट्ल उसे भी अनुकृति ही मानता है

एक स्थान पर अरिस्टोट्ल ने कहा है कि दुःखान्त नाटक साधारण से उच्चतर पात्रों का अनुकरण करते हैं, और सुखांत नाटक साधारण से निम्नतर पात्रों की अनुकृति करते हैं। साथ ही उसने यह भी कहा है कि दुःखांत नाटकों के लिए कुछ चुने हुए परिवारों की घटनाएं ही उपयोग में लाई जा सकती हैं। इन उल्लेखों के आधार पर भी यह समझा जाता है कि अरिस्टोटल काव्य एवं कलाओं को एक स्थूल सीमा में बांध रखता है। वह कला का नैतिक मानदंड स्वीकार करता है, क्योंकि उसके मतानुसार दुःखांत नाटक (जो नाटकों के श्रेष्ठ स्वरूप हैं) साधारण से उच्च पात्रों को ही ग्रहण करते हैं। दूसरे शब्दों में श्रेष्ठ नाटक के लिए श्रेष्ठ गुण-सम्पन्न चरित्र का चित्रण अनिवार्य है। यह कला का नैतिक आदर्श ही हुआ। किन्तु कतिपय समीक्षकों ने यह भी कहा है कि अरिस्टोट्ल का 'श्रेष्ठ पात्र' से तात्पर्य नैतिक गुणवाले पात्र से नहीं है। उसका तात्पर्य यह है कि पात्र चाहे जैसा भी हो, परंतु उसका चित्रण इस प्रकार किया गया हो कि वह अपने व्यक्तित्व व परिस्थिति द्वारा गंभीर चरित्र के रूप में गृहीत हो सके। यहां अरिस्टोट्ल का प्रयोजन नैतिक आदर्श से नहीं है। उसका लक्ष्य कला की भूमि पर असाधारण चमत्कार और प्रभाव द्वारा आकृष्ट करनेवाले चरित्र-निरूपण से है। अरिस्टोट्ल उनमें से एक को (गंभीर चित्रण को) दुःखांत तथा दूसरे को (विनोद प्रधान चित्रण को) सुखांत नाटक के लिए उपयोगी मानता है। यह वर्गीकरण कला की प्रभावजन्य विशेषता के आधार पर किया गया है, अतएव अरिस्टोट्ल के कथन में कोई त्रुटि या दोष नहीं है। अनुकृति के संबंध में अरिस्टोट्ल का एक अन्य निरूपण यह है कि अनुकृति में (नाटक तथा अन्य कलाओं में) चरित्र की अपेक्षा वस्तु की प्रधानता होती है। वस्तु अथवा कथानक ऊपरी दृष्टि से घटनाओं का एक निर्जीव क्रम मात्र जान पड़ता है, किन्तु अरिस्टोट्ल की दृष्टि में वस्तु या कथानक में ही वास्तविक जीवन-मर्म रहा करता है। वस्तु को प्रधानता देने से अरिस्टोट्ल का अर्थ निर्जीव घटनाओं को मुख्य मानने से नहीं है। वस्तु से तात्पर्य उन सार्थक जीवन-परिस्थितियों से है, जो मानव-चरित्र पर अधिकार रखती हैं और उसे अनेक दिशाओं में मोड़ती रहती हैं। अरिस्टोट्ल के मत में वस्तु की सत्ता इसीलिए प्रधान है कि उसके द्वारा ही चारित्रिक विशेषताओं का निर्माण होता है। बिना इस विशेष अर्थ को समझे जो लोग कहते हैं कि अरिस्टोट्ल

के अनुकृति-सिद्धान्त में वस्तु की प्रधानता का अर्थ निर्जीव घटना की अनुकृति को महत्व देना है, उनकी धारणा प्रामाणिक नहीं कही जा सकती। अरिस्टोट्ल के अनुकृति-सिद्धांत में आज की दृष्टि से अनेक सैद्धांतिक त्रुटियां दिखाई दे सकती हैं। परंतु इसमें संदेह नहीं कि साहित्य और कलाओं की स्वतंत्र सत्ता और उसके स्वरूप को समझने में अरिस्टोट्ल ने अपनी महान अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है।

पाश्चात्य समीक्षा में सबसे अधिक महत्त्व अरिस्टोट्ल के 'पोएटिक्स' ग्रंथ को दिया जाता है। वह केवल इतिहास की दृष्टि से ही सर्वप्रथम ग्रंथ नहीं, जिसमें साहित्य-समीक्षा के विषयों का उल्लेख हुआ है, वरं परवर्ती समय के अनेक साहित्य-समीक्षकों ने इस ग्रंथ का उपयोग आधार-ग्रंथ के रूप में किया है। अरिस्टोट्ल के अनुसार केवल काव्य ही नहीं, किन्तु संपूर्ण कलाएँ—संगीत, चित्रकला, वास्तु-कला, मूर्तिकला आदि अनुकृति पर आधारित हैं। मानवसमाज में अनुकृति अथवा अनुकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। यही प्रेरणा काव्य आदि कलाओं की जननी है। अरिस्टोर्टिल के मतानुसार अनुकृति द्वारा प्रस्तुत की गई कला-वस्तु में आनन्द का तत्व भी सन्निहित रहता है। मूलवस्तु यदि दुःखकारक अथवा भयानक भी हो, तो भी उसकी अनुकृति आनंदमूलक होती है। उसके अनुसार इस सुख अथवा आनंद का आधार हमारी वह वृत्ति है, जिसके द्वारा हमें वस्तु के स्वरूप ज्ञान से प्रसन्नता होती है। किसी पशु या मनुष्य की आकृति अंकित देखकर हमें उसके स्वरूप का आभास मिलता है, इसीसे हमें सुख मिलता है। काव्य और कलाओं से मिलनेवाले आनंद के संबंध में अरिस्टोट्ल की यह धारणा विशेष समृद्ध नहीं कही जा सकती, फिर भी कलाओं के आनन्दात्मक प्रभाव को पहचानना और मूल वस्तु की संवेदना से कलात्मक संवेदना की भिन्नता का निर्देश करना स्वतः एक महत्त्वपूर्ण उद्भावना है। आगे चलकर इसका बहुत कुछ संस्कार परिष्कार भी हुआ।

काव्य में अनुकृति का माध्यम भाषा होती है, जो विविध छंदों के आच्छद से व्यक्त होती है। संगीत में राग-लय द्वारा वस्तु की अनुकृति की जाती है। नृत्य में केवल लय ही माध्यम होता है। संगीत-कला को भी अनुकृति बताकर (संगीत में भाव-विशेष की अनुकृति होती है) अपने अनुकृति-सिद्धांत को अरिस्टोटल ने अत्यंत सक्ष्म और तात्विक

स्थिति पर पहुँचा दिया। साधारणतः किसी बाह्य वस्तु का अनुकरण अथवा उसकी नकल ही अनुकृति नहीं है, वरं सूक्ष्म मानसिक व्यापारों एवं भावों का कल्पना द्वारा निर्माण भी अनुकृति है। ऊपर कहा जा चुका है कि अरिस्टॉटल के अनुसार अनुकरणीय वस्तु दो प्रकार की होती है——साधारण से उच्च श्रेणी के मानव और साधारण से निम्न कोटि के मानव। कभी-कभी एक तीसरे प्रकार की अनुकृति भी देखने को मिलती है। वह है मानव-व्यापार का ज्यों-का-त्यों अनुकरण। अरिस्टॉटल का यह कथन है कि इन तीनों प्रकार की वस्तु-अनुकृति में साधारण से उच्च वस्तु की अनुकृति ही कला को श्रेष्ठता प्रदान करती है। इस अनुकृति-भेद को लेकर काव्य-भेद भी कर दिए गए हैं। महाकाव्य और दुःखांत नाटकों में साधारण से उच्च मानव-चरित्र की अनुकृति होने के कारण वह काव्य अथवा कला का उत्कृष्ट रूप है। यहाँ उत्कृष्ट और निकृष्ट रूप तथा साधारण और असाधारण मानवचरित्र से अरिस्टॉटल का वास्तविक प्रयोजन क्या था, इस संबंध में ऊपर तथ्य-निर्देश करने की चेष्टा की गई है। विद्वानों का एक वर्ग यह कहता है कि इस निर्देश द्वारा अरिस्टॉटल ने कला को नैतिक आदर्श या नीतिवाद का अनुयायी और आश्रित बना दिया है। कला-संबंधी उसकी यह दृष्टि सीमित, संकीर्ण और अवास्तविक कही जाती है। किन्तु साथ ही विद्वानों का दूसरा वर्ग उच्च और नीच चरित्र को नैतिक भूमि पर न परखकर प्रभाव की दृष्टि से उच्चता और नीचता की व्याख्या करता है। वास्तव में अरिस्टॉटल का वास्तविक अभिप्राय इन दोनों में से कौन था, इसका निर्णय विवादग्रस्त ही रहेगा।

अनुकृति की शैलियों के संबंध में अरिस्टॉटल ने तीन मुख्य शैलियाँ स्वीकार की हैं। वर्णनात्मक शैली में वस्तुओं और चरित्रों का वर्णन किया जाता है। इसमें कवि अपने आपको दूसरे पात्रों में अंतर्निहित कर देता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी कवि अपनी ओर से भी उद्गार प्रकट करता है, जो भावात्मक या गीतात्मक शैली कहाती है। शैली के तीसरे स्वरूप में जीवित पात्र रंगमंच पर दृश्य रूप में उपस्थित होकर काव्य के स्वरूप का निर्माण करते हैं। इसे दृश्य काव्य की संज्ञा दी जाती है।

अभिव्यंजनावाद

सत्रहवीं शताब्दी के योरप में पुरानी ग्रीक-कला का आकर्षण और प्रभाव अधिक था। साहित्य-समीक्षा में भी उक्त ग्रीक-कला का आधार लेकर नए सिद्धांतों का निर्माण हो रहा था। ग्रीक-कला अपने समय में चाहे जितनी समृद्ध रही हो, परंतु १७वीं शताब्दी के समीक्षकों के लिए वह जीवन के बाहर की ही वस्तु रही होगी। तत्कालीन जीवन से संपर्क न रहने के कारण, उस प्राचीन ग्रीक-कला की जो व्याख्या इन समीक्षकों ने की, वह युग के साहित्यिक विकास में पूरी तरह सहायक न हो सकी। क्रमशः समीक्षकों का ध्यान ग्रीक-कला की ओर से हटने लगा और वे सामयिक जीवन की प्रेरणा से उत्पन्न हुई कविता तथा कला के रहस्यों को जानने की ओर झुके। यहीं से साहित्य समीक्षा पर 'रोमेन्टिसिज्म (कल्पना या स्वच्छंदतावाद) का प्रभाव बढ़ने लगा। जर्मनी में लेसिंग, विंकेलमैन, कान्ट और गेटे जैसे कला-समीक्षक और दार्शनिक इस नए साहित्यिक आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे। इंगलैंड में शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ जैसे कवि तथा कोलरिज जैसे समीक्षक नई धारा का उन्नयन कर रहे थे। फ्रांस में नई राज्यक्रांति द्वारा नवीन प्रजातंत्र का उदय हुआ था जिससे समस्त योरपीय साहित्य में स्वच्छंदता की भावना फैल गई थी। प्राचीन समाज के स्थान पर नए समाज की प्रतिष्ठा हो रही थी। पुराने बंधन और रूढ़ियाँ सामाजिक जीवन से हट रही थीं और साहित्य तथा कलाओं पर भी इसका प्रभाव पड़ रहा था।

लेसिंग और विंकेलमैन प्राचीन ग्रीक-कला का नया विश्लेषण करने वाले प्रमुख आचार्य थे, परंतु इन दोनों का झुकाव नए युग की विकासधारा की ओर भी था। लेसिंग ने सर्वप्रथम प्राचीन ग्रीक-कला की नए युग की पृष्ठभूमि पर नई व्याख्या की। विंकेलमैन उससे एक कदम और आगे बढ़ा तथा उसने ग्रीक-कला को साधन बनाकर नई युगचेतना का प्रभाव स्पष्ट किया। लेसिंग का सिद्धांत प्रायः सौंदर्य-सिद्धांत कहा जाता है। उसके अनुसार काव्य और कलाएँ आत्मा के सौंदर्य को अभिव्यक्त करती हैं। आत्मसौंदर्य से सम्पन्न अभिव्यंजना ही काव्य है, यह उनका मत था।

विशेषकर उन्होंने मूर्तिकला को अपने सिद्धांतों के समर्थन के लिए चुना और लेकून (Laocoon) नामक प्राचीन ग्रीक-मूर्तियों की व्याख्या की। लेकून-वर्ग की मूर्तियों में एक पौराणिक घटना का आधार ग्रहण किया गया है। भीषण सर्प लेकून के परिवार को निगल जाते हैं और स्वयं लेकून को चारों ओर से लपेटकर अपने विषपूर्ण फणों से दंशन करते हैं। इस भीषण परिस्थिति में लेकून की मनोदशा का चित्रण करनेवाली मूर्ति अंकित की गई है। ग्रीक कलाकार ने इस मूर्ति में लेकून का चीखना, कराहना अंकित नहीं किया है। केवल विषादपूर्ण उच्छ्वास की मुद्रा उसके मुख पर अंकित की है। लेसिंग ने इसकी व्याख्या करते हुए बताया है कि मूर्तिकला के क्षेत्र में यही उचित भी था, क्योंकि यदि मूर्तिकार ने सर्प से वेष्टित लेकून को रोता और चीखता हुआ दिखाया होता तो मूर्ति में असुंदरता आ जाती, और उसका दर्शकों पर अच्छा प्रभाव न पड़ता। इन विचारों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि भावाभिव्यंजना को लेसिंग कला का उद्देश्य मानता था, परंतु साथ ही साथ कलागत सौंदर्य को भी वह अनिवार्य मानता था। मूर्ति की असुंदरता उसे सह्य न थी, भले ही वह वास्तविक भाव की अभिव्यंजना न कर रही हो। सौंदर्य और अभिव्यंजना के तत्त्वों का संयोग इस सिद्धांत में है। अभिव्यंजना काव्य तथा कला का लक्ष्य है, पर सौंदर्य भी उसका अनिवार्य गुण है। वह अभिव्यंजना जो सौंदर्य से हीन है, श्रेष्ठ अभिव्यंजना नहीं है—यह आचार्य लेसिंग का मत था।

विंकेलमैन ने इस सिद्धांत को और आगे बढ़ाया तथा कला में अभिव्यंजना के तत्व को और स्पष्ट किया। उसने प्राचीन ग्रीक मूर्तियों का अध्ययन कर तथा प्राचीन ग्रीक-काव्य का अनुशीलन कर उसके कई विभाग निर्धारित किए। आदिम ग्रीक-कला के प्रथम प्रतिनिधि होमर थे। विंकेलमैन की दृष्टि में उनकी कला बहिरंग में रूक्ष या ऊबड़-खाबड़ थी, परंतु उसका अंतरंग अत्यधिक बलिष्ठ और संपन्न था। परवर्ती ग्रीक-कला में बाह्य अंगों की शोभा अधिक बढ़ चली और अंतरंग की सामग्री क्षीण पड़ने लगी। इस प्रकार विंकेलमैन ने कला में अभिव्यंजना के तत्व को मुख्य मानकर उसके विविध भेदों को उद्घाटित किया। लेसिंग के सौंदर्य-सिद्धांत की अपेक्षा विंकेलमैन का यह अभिव्यंजनावाद अधिक तात्विक भूमि पर स्थित है। क्रमशः कान्ट जैसे दार्शनिक व गेटे जैसे कवि ने साहित्यिक

और कलात्मक प्रेरणा के वास्तविक रूप को और अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त किया। कान्ट के मत में कलाओं का स्थान मध्यवर्ती स्थान है, उसके एक ओर विशुद्ध ज्ञान (Pure reason) की भूमि है तथा दूसरी ओर व्यावहारिक ज्ञान (Practical reason) का प्रदेश है। इन दोनों के मध्य में कला की भूमि है जिसे वह अनुभूति (Judgement) नामक तत्व का क्षेत्र मानता है। कान्ट ने अपने तीन ग्रंथों में क्रमशः इन्हीं तीन तत्वों की विस्तृत व्याख्या की है। 'क्रिटिक आफ प्यूर रीजन' में उसने विशुद्ध ज्ञान अथवा आध्यात्मिक तत्व का निर्देश किया है। 'क्रिटिक आफ प्रेक्टिकल रीजन, में उसने व्यावहारिक क्षेत्र में व्यक्त होनेवाले ज्ञान की व्याख्या की है। 'क्रिटिक आफ जजमेंट' में सौंदर्य-क्षेत्र में आनेवाली काव्य तथा कला आदि वस्तुओं का उल्लेख किया है। इस प्रकार कान्ट ने संभवतः सर्व प्रथम कला-क्षेत्र की स्वतंत्रता का निरूपण किया। आगे चलकर कला-समीक्षकों ने काव्य-कला की इस स्वतंत्र भूमि का और भी विशद स्पष्टीकरण किया।

इस विवेचना के फलस्वरूप फैलनेवाले नवीन साहित्यिक आंदोलन को सामान्यरूप से रोमेन्टिसिज्म (Romanticism) की संज्ञा दी जाती है। इसकी समीक्षा का मुख्य आधार बाहरी नियमों और आंगिक सौंदर्य की उपेक्षा करके रचना-संबंधी आंतरिक प्रक्रिया और अंतरंग नियमों को जानने के प्रयास में देखा जाता है। रोमेंटिसिज्म की पहली निष्पत्ति यही थी कि कवि किसी वाह्य प्रक्रिया या नियम से वाधित नहीं। आगे चलकर काव्य-रचना के प्रेरक कारणों और निर्माण के साधनों के अनुशीलन की ओर समीक्षकों की दृष्टि गई। कोलरिज ने साहित्य की परिभाषा इन शब्दों में की "It is the excitement of emotion for the purpose of immediate pleasure through the medium of beauty." (अर्थात् सौंदर्य के माध्यम से भावों का वह उन्मेष जो तात्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करता है, काव्य है)। इस व्याख्या में आए हुए, 'भावों का उन्मेष', 'तात्कालिक सुखानुभूति' तथा 'सौंदर्य का माध्यम' विशेष ध्यान देने योग्य वाक्यांश हैं। कवि के मन में भावों का उठना ही पर्याप्त नहीं है, श्रोताओं या पाठकों को भी उसकी प्रतीति होनी आवश्यक है। 'भावोन्मेष' से यही तात्पर्य है। 'तात्कालिक सुखानुभूति' का अर्थ यह है कि सुखानुभूति का सीधा संबंध उस रचना से ही है। दूसरे प्रकार

की सुखात्मक अनुभूतियाँ भी हो सकती हैं, जिनका काव्यानुभूति से कोई संबंध न हो। तात्कालिक सुख से यह स्पष्ट है कि कला का आमोद वस्तु से अभिन्न होता है। जब तक वह वस्तु हमारे संमुख है, तभी तक उसके आनन्द की अनुभूति होती है। 'सौंदर्य माध्यम' से कोलरिज का तात्पर्य कला के वाह्य या आंगिक सौंदर्य से नहीं था। वह यहां कवि की कल्पना द्वारा सृजन किए गए सौंदर्य (अभिव्यंजना के सौन्दर्य) की ओर संकेत कर रहा है। यह सौंदर्य मानसिक सत्ता रखता है। कोलरिज की इस व्याख्या में कला-संबंधी नवीन दृष्टिकोण का पूरा स्थान दिखाई पड़ता है। उसने दार्शनिक दृष्टि से भी यह निरूपण किया है कि कवि के मन तथा वाह्य जगत के सम्मिलन में ही कला की सत्ता है। दूसरे शब्दों में वह वाह्य जगत को कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं मानता। मानसिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही वाह्य जगत का स्थान है। अतएव इस दार्शनिक आधार पर वस्तुजगत और मन का अन्तर दूर हो जाता है तथा कवि की मानसिक चेष्टा ही कलानिर्माण का एकमात्र आधार बन जाती है। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि तथा काव्य और कलाओं की नवीन व्याख्याओं से योरोप का समस्त कलात्मक विवेचन अन्तर्मुखी होता जा रहा था और काव्य तथा कला की व्याख्या किन्हीं बाहरी नियमों पर आश्रित न होकर कवि की रचनात्मक विशेषताओं के विवेचन से ही सम्बद्ध होने लगी थी। कला का मानसिक और आध्यात्मिक आधार स्पष्ट होने लगा था। कान्ट ने इस प्रगति को और भी सुदृढ़ दार्शनिक भूमि पर ला रखा। उसके मत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कान्ट के निरूपण से एक तो कला की मानसिक सत्ता की प्रधानता सिद्ध हुई और दूसरे मानसिक व्यापारों के तीन स्वरूपों का परिचय मिला। दार्शनिक ज्ञान से तथा व्यावहारिक या नैतिक तथ्य से कलावस्तु की भिन्नता का भी पूरा अभास मिला।

यह स्वभाविक है कि आत्मानुभूति-प्रधान इस साहित्यिक युग में कल्पना-तत्व की प्रधानता स्वीकार की जाय और उसे जीवन की सर्वोत्कृष्ट विभूति माना जाय। कल्पना कवि की अपनी प्रतिभा का परिणाम होता है। अतएव वह अपने मूल स्वरूप में व्यक्तिगत है। परंतु कवि द्वारा सृजन किया गया कल्पना का जगत ऐसा नहीं होता कि दूसरे उसका अनुभव न कर सकें। कवि-कल्पना की यह सार्वजनिकता कवि के काव्य को व्यक्तिगत परिधि से बाहर ले जाकर सब के लिए सुखकारक बना देती है।

गेटे ने काव्य के इस उभय स्वरूप (व्यक्तिमुखी और सार्वजनिक) को अच्छी तरह अभिव्यक्त किया। काव्य यद्यपि कवि की अपनी कल्पना का परिणाम है, परंतु उसका उत्कर्ष सार्वजनिक बन जाने में ही प्रकट होता है। 'रोमेंटिसिज्म' के आरम्भिक युग में व्यक्तिवाद की प्रमुखता हो रही थी और काव्य के भाव-जगत को सार्वजनिक वस्तु स्वीकार करने में कठिनाई थी। परंतु गेटे और कोलरिज जैसे कवि और समीक्षकों की चेष्टा से काव्यगत अभिव्यंजना को व्यक्तिगत भूमि से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भूमि पर ले जाने में सहायता मिली। इस प्रकार अनेकमुखी उद्योगों द्वारा साहित्य में अभिव्यंजना-सिद्धांत की प्रतिष्ठा हुई जिसे आगे चलकर एक शास्त्रीय रूप भी प्राप्त हुआ। यों तो दार्शनिक क्षेत्र में कान्ट ने काव्य को स्वतंत्र सत्ता प्रदान की थी, परंतु काव्यगत अभिव्यंजना सिद्धांत को शास्त्रीय रूप में उपस्थित करने का श्रेय प्रसिद्ध इटेलियन काव्य-मीमांसक क्रोचे को है। क्रोचे ने सर्वप्रथम एक वाद के रूप में इस सिद्धांत को पल्लवित किया और इसे काव्य-कला का एकमात्र सिद्धांत या सत्य घोषित किया।

क्रोचे के मत में काव्य तथा कलाएं एक स्वतंत्र और निरपेक्ष आध्यात्मिक व्यापार का परिणाम हैं। क्रोचे के मत में ज्ञान के दो स्वरूप हैं—१. तार्किक ज्ञान जो निर्णयात्मक होता है, और २. कलात्मक ज्ञान जो मूर्तियों के माध्यम से प्रत्यक्ष होता है। तार्किक ज्ञान वस्तुओं के परस्पर संबंध को सूचित करता है तथा कलात्मक ज्ञान एक-एक वस्तु का स्वतंत्र होता है।

क्रोचे का कथन है कि कवि के मन पर दृश्य-जगत की नाना वस्तुओं की जो छाया पड़ती है, उन्हीं को नया बिंब प्रदान कर अभिव्यंजित करना काव्य है।

क्रोचे के मत में दृश्य-जगत की कोई सत्ता नहीं है। मन की ही एक प्रक्रिया दृश्य-जगत को स्वरूप देती है और उसी को एक दूसरी प्रक्रिया उसका कलात्मक आकलन करती है। इस प्रकार समस्त काव्य-व्यापार मनोमय व्यापार ही है। मन में आई हुई दृश्यवस्तुओं की अनुभूति कई रूपों में हो सकती है। कभी-कभी तो ये दृश्य पदार्थ केवल इंद्रिय-संवेदना या 'सेन्सेशन' बनकर रह जाते हैं, और कभी इनके आधार पर कुछ बौद्धिक निर्णय और नियम आदि बनने लगते हैं। ये दोनों ही

व्यापार काव्य-व्यापार नहीं है। दृश्य-वस्तुओं का इंद्रिय-संवेदन के रूप में प्रतिबिंबित होना मन की निष्क्रियता का द्योतक है। ऐसा निष्क्रिय मन काव्य सृष्टि नहीं कर सकता। इसी प्रकार दृश्य-व्यापारों के आधार पर बौद्धिक निर्णय करना एक दूसरे प्रकार की प्रक्रिया है जिससे काव्य-प्रक्रिया नितांत भिन्न है। मन की अत्यंत सक्रिय अवस्था में वस्तु-जगत का जो प्रभाव उस पर प्रतिबिंब रूप में पड़ता है, उसी की अभिव्यंजना कविता और कलाओं में होती है।

काव्य तथा कलाएं विशुद्ध मानसिक व्यापार हैं। क्रोचे के मत में यह आवश्यक नहीं कि उक्त मानसिक व्यापार को शब्दों या रेखाओं में बांधा ही जाय। काव्यगत अभिव्यंजना वहीं पूर्ण हो जाती है, जहां सृजनात्मक सक्रिय मन उनकी अनुभूति कर लेता है। Intuition ही Expression है, अर्थात अनुभूति ही अभिव्यंजना है। शब्द और रेखाएं आदि उनके स्थूल संकेत-मात्र हैं। अतएव क्रोचे की सम्मति में काव्य का शब्दबद्ध होना तथा चित्रकला का रेखाओं में बंधकर उपस्थित किया जाना आवश्यक नहीं है। यह बाह्य व्यक्तीकरण का कार्य वास्तविक कवि-कर्म से स्वतंत्र है।

क्रोचे के मत में काव्य तथा कलाओं का व्यापार एक अखंड व्यापार है। उसके भेदोपभेद नहीं किए जा सकते। समस्त कला एक ही अखंड अभिव्यंजना है। इस दृष्टि से खंडकाव्य, प्रगीत, महाकाव्य तथा चित्रकला और अन्य कलाओं आदि के विभाजन ऊपरी ही सिद्ध होते हैं; वे मौलिक विभाग नहीं हैं। वह मानसिक प्रक्रिया जो कलाओं की सृष्टि करती है, सर्वत्र और सब काल में एक है। कलाएं या तो विशुद्ध और परिपूर्ण होंगी या वे कला की संज्ञा के अयोग्य होंगी। दोनों की मध्यवर्ती कोई स्थिति नहीं है।

क्रोचे के इस निरूपण पर अनेक आक्षेप और आरोप किए गये हैं। सबसे पहला आक्षेप यह है कि क्रोचे काव्य को कवि की जिस आध्यात्मिक प्रक्रिया का परिणाम मानता है, उसका संबंध काव्य के श्रोताओं तथा पाठकों आदि से बिलकुल नहीं रखा गया। क्रोचे के मत में तो काव्य का शब्द-रूप में व्यक्त होना भी आवश्यक नहीं, ऐसी स्थिति में काव्य के सार्वजनिक वस्तु होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका उत्तर यह है कि काव्य तथा कलाएं यद्यपि मानसिक सृष्टियाँ हैं, परंतु कवि जिस

मानसिक क्रिया से कलाओं की सृष्टि करता है, वह मानसिक क्रिया व्यक्तिगत नहीं है, उसका आस्वादन मानव-मात्र कर सकते हैं। रही यह बात कि जब तक काव्य शब्द रूप में उपस्थित नहीं होता, तब तक उसका आस्वादन कैसे किया जाय? इसके उत्तर में क्रोचे का कथन है कि हमें कवियों का अनुगृहीत होना चाहिए कि वे अपनी मानसिक कला-सृष्टि को शब्दों में बांधने का प्रयत्न भी करते आए हैं। इस दृष्टि से कला-व्यापार को सार्वजनिक उपयोग की वस्तु भी बनाया है। परंतु तत्वतः कवि इस कार्य के लिए बाध्य नहीं।

दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि कविता यदि मन की सक्रिय अवस्था में अनुभूतियों के प्रकाशन का व्यापार है, तो उक्त व्यापार के सुन्दर या असुन्दर होने का, कला के श्रेणी-विभाग का, प्रश्न कैसे उठ सकता है? कोई काव्य समाज की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है या नहीं, इसका भी निर्णय कैसे होगा? इस आक्षेप के उत्तर में कहा जा सकता है कि क्रोचे के मत में कला की श्रेणियां नहीं हैं। सुन्दर और असुन्दर का प्रश्न वहां आता ही नहीं, क्योंकि कलामात्र सौंदर्य की ही वस्तु है। क्रोचे के मत में कला ही सौंदर्य है, सौंदर्य के अभाव में कला का अस्तित्व ही नहीं। नैतिकता के प्रश्न पर क्रोचे का कथन है कि कला से नीतिवाद का कोई संबंध नहीं। दोनों ही दो पृथक् वस्तु-समुच्चय हैं। यह बात दूसरी है कि कलाओं तथा काव्य से लोककल्याण का कार्य भी सिद्ध होता आया है और उनसे समाज में नैतिक आदर्शों को भी बल मिला है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि काव्य तथा कलाएं नैतिक मापदंड से नापी जा सकती हैं।

क्रोचे के सिद्धांत के संबंध में अन्तिम आक्षेप यह है कि उसने काव्य-व्यापार का निरूपण करते हुए जीवन और जगत से उनका संबंध स्थापित नहीं किया। मन की सक्रिय आध्यात्मिक चेष्टा ही काव्य का सृजन करती है—इस कथन में वाह्य जगत और उसके अनेक संबंधों का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि क्रोचे वाह्य जगत और जीवन की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं मानता। उसके मत में जगत भी मानसिक वृत्ति का ही प्रतिबिंब है। दूसरे शब्दों में क्रोचे मन को सर्व समर्थ और एकमात्र व्यापक सत्ता मानता है। जीवन और जगत के समस्त स्वरूप मन में ही समाहित हैं।

क्रोचे की दृष्टि में जीवन-संबंधी और काव्य-संबंधी अनुभूति दो पृथक् वस्तुएं नहीं हैं। जीवन की अनुभूतियाँ ही काव्य-अनुभूति का स्वरूप धारण करती हैं। जिस कवि की जीवनानुभूति जितनी विशद और तीव्र होगी, उसकी काव्यरचना भी उतनी ही प्रशस्त और मार्मिक होने की संभावना रक्खेगी। अतएव यह कहना संगत नहीं कि क्रोचे के मत में काव्य और जीवन का घनिष्ठ संबंध प्रदर्शित नहीं है।

स्वच्छंदता और परंपरा

स्वच्छंदता (रोमेंटिसिज्म) और परंपरा (क्लेसीसिज्म) संबंधी दो काव्यशैलियाँ पश्चिमी साहित्य में पाई जाती हैं। वास्तव में क्लेसीसिज्म वह साहित्यिक परंपरा है जिसका आरंभ प्राचीन ग्रीस के कवियों और नाटककारों द्वारा हुआ था। पश्चिमी सभ्यता के उस आरंभिक स्वर्णयुग में ग्रीस के कवियों तथा कलाकारों ने जिस सुन्दर स्वरूप में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं, वे पीछे के कवियों के लिए आदर्श बन गईं और उनका अनुकरण किया जाने लगा। अनुकरण के भी दो स्वरूप हुआ करते हैं। एक तो किसी वस्तु के वाह्य रूप का अनुकरण तथा दूसरा उसकी मूल प्रेरणा का अनुकरण। इनमें से पहले का संबंध काव्य के वाह्यांग से है और दूसरे का उसके अंतरंग से। कुछ समीक्षकों ने ग्रीक कला के वाह्य स्वरूप को और उसके ऊपरी विवरणों को इतनी प्रधानता दे दी कि उनका अनुकरण अत्यंत कृत्रिम और निर्जीव हो गया। योरोप के मध्य युग में प्रायः यही परिस्थिति रही। आत्मा की अवहेलना कर केवल शरीर को अनुकृति की जाती रही। ऐसी अनुकृतिमूलक कला में न तो मूल वस्तु का सौंदर्य आ सकता था और न वह मूल वस्तु की सी प्रभावशालिनी हो सकती थी। अतएव ऐसी कला के प्रति समाज का विराग हो जाना स्वाभाविक ही था। क्रमशः इस परिपाटीबद्ध कला के विरुद्ध नए आंदोलन खड़े हुए। १५वीं से १८वीं शताब्दी तक योरोप में प्राचीन ग्रीक कला की बाहरी रूप-रेखा का त्याग कर उसकी आत्मा या मूल प्रेरणा को ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। इस नवीन कला-आंदोलन को निओ-क्लैसीसिज्म के नाम से पुकारा जाता है। वह प्राचीन ग्रीक-कला के पुनरुत्थान का युग था।

यह संभव नहीं था कि बदलते हुए समय का प्रभाव नवीन काव्य और कला स्वरूप पर न पड़ता। इसलिए यद्यपि एक ओर निओ-क्लेसिक वर्ग के लेखकों और कवियों द्वारा ग्रीक-कला की उदात्त भावना का अनुकरण किया जा रहा था, किन्तु वहीं दूसरी ओर नवीन समय के अनुकूल नई और स्वच्छंद काव्य-प्रेरणाएँ भी काम करने लगी थीं। १८वीं

शताब्दी के अंत में फ्रांस देश में जो राज्यक्रांति हुई, उसने यूरोप की पुरानी संस्कृति को बिल्कुल बदल दिया। एक नवीन दृष्टिकोण का उदय हुआ। प्राचीन धर्म, राज्यव्यवस्था और परंपरागत सामाजिक संस्कार समाप्त हो गए तथा एक नवीन जीवन का निर्माण हुआ। उस महान परिवर्तन की प्रेरणा से एक अभिनव कला-परिपाटी का जन्म हुआ जिसे स्वच्छंद कला (रोमैंटिसिज्म) के नाम से पुकारते हैं। इस काव्य-परिपाटी में सामयिक परिवर्तनों का प्रभाव प्रमुख रूप से व्याप्त था। कवियों की कल्पना सारी पूर्व-परंपरा का अतिक्रमण कर अत्यंत नवीन रूप में व्यक्त हुई। ग्रीक कला के बाहरी सौंदर्य प्रसाधनों के प्रति उसका संपूर्ण विद्रोह दिखाई पड़ा। ग्रीक-कला में जब कि बाह्य अंगों की संगति थी, भावनाओं का संयम था, चरित्रों का मर्यादापूर्ण आलेख था ; वहाँ रोमांटिक काव्य-पद्धति की विद्रोहात्मक और अराजकतापूर्ण विशेषताएँ इंगलैंड के शेली कीट्स आदि कवियों में, फ्रांस के रूसो जैसे लेखकों में और जर्मनी के गेटे जैसे कलाकारों की कृतियों में दिखाई पड़ीं।

स्वच्छंदता और परंपरावादी शैलियों के स्वरूप में भेद है। आधुनिक युग की काव्यधारा का आधार रोमैंटिक शैली है। पूर्वयुग की काव्यधारा का आधार क्लैसीसिज्म था (यद्यपि इसके अपवाद भी मिलते हैं और आधुनिक युग में भी क्लैसिक शैली का अनुसरण करने वाले कलाकार पाए जाते हैं।)। इतिहास की दृष्टि से जब कि समाज नियमों से शासित था, धर्म से नियंत्रित था और राजसत्ता द्वारा जकड़ा हुआ था, नियमों का अनुवर्तन करने वाली क्लैसिक शैली का प्राधान्य था। इन नियमों को तोड़ने वाली, परंपरा का तिरस्कार करने वाली, व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रतीक, आधुनिक काव्य धारा रोमैंटिक (या लालसा स्वच्छंद) कही जाती है। १७८९ की तिथि इन दोनों धाराओं की भेदक है। रूसो रोमैंटिक धारा का प्रथम प्रतिनिधि था। स्वातंत्र्य की लालसा और बंधनों का त्याग रोमैंटिक धारा के मूल में व्याप्त है।

समीक्षकों का कहना है कि वास्तविक स्वतंत्रता का युग १७८९ के पश्चात् ही आया। इसके पहले जनसमाज पर अनेक प्रकार के बंधन थे। भौगोलिक दृष्टि से कुछ राष्ट्र या जातियाँ रोमैंटिसिज्म की काव्य-शैली को अपनाती हैं और कुछ क्लैसिक शैली को। मेडीटरेनियन राष्ट्र

क्लैसिक परंपरा के अनुयायी हैं और स्कैंडीनेविया, इंगलैंड आदि रोमैंटिक धारा के। परंतु शैलियों का यह भौगोलिक विभाजन उन राष्ट्रों की प्रमुख प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर ही किया गया है।

वास्तव में साहित्यिक दृष्टि से इन दोनों धाराओं का विभेद क्लैसिसिज्म की ऊपर कही हुई दोनों प्रकार का (वास्तविक और कृत्रिम) अभिव्यक्तियों के साथ रोमैंटिसिज्य का दोनों प्रकार की (संयत और असंयत) रचनाओं का तुलना करने पर स्पष्ट होता है।

वह काव्य-धारा जो काव्य और कला के व्यक्त सौंदर्य-प्रसाधनों, सुन्दर शब्दों और आकृतियों आदि का आग्रह करके चलती है, क्लैसिसिज्म की प्रतिनिधि कही जाती है। इसकी अतिवादी स्थिति तब आती है, जब वह निर्माण-संबंधी नियमों में बँध जाती है और स्वतंत्रतापूर्वक हाथ-पैर भी नहीं हिला सकती। इसी प्रकार जो काव्य-धारा अत्यंत अनियमित पद्धति, संयमरहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है, वह रोमैंटिक गति की सूचक है। काव्य में भावना के अतिरेक से जो असंयम आता है, नियमों की जो अवहेलना होती है, रोमैंटिसिज्म की अति की परिचायक है। एक में (क्लैसिक अतिवाद में) काव्य के शरीर-पक्ष का आग्रह सीमा को पार कर जाता है और दूसरे में (रोमैंटिक अति में) शरीर-पक्ष या आकृति की पूर्ण उपेक्षा होने लगती है।

भावना की अराजकता रोमैंटिक काव्य का अतिवाद है और वाह्य रूप की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पाबंदी क्लैसिक काव्य का अतिवादी रूप है। एक में काव्यगत भाव की उपेक्षा है, दूसरे में भावना की अत्यंत अराजक स्थिति है।

परंतु ये दोनों अतिवाद ही यह सूचित करते हैं कि दोनों में समीपता और समन्वय की भी संभावना है। वास्तव में "आकृति का सौंदर्य आत्मा का ही सौंदर्य है"—यह ग्रीकों की धारणा थी। इस धारणा को लेकर चलने के कारण आत्मिक सौंदर्य को सुंदर आकृतियों में बांधने की चेष्टा उन्होंने की थी। छंदों की जो सुन्दर गति, चरित्रों का जो संयत स्वरूप उन्होंने रचा, वह वास्तव में आत्मिक सौंदर्य की ही प्रेरणा थी। इससे सौंदर्य की जो प्रसाधना उन्होंने काव्य के वस्तु-विधान में की, उसकी वास्तविक प्रेरणा उन्हें आत्मा के सौंदर्य को कला-रूप में बांधने के प्रयास में मिली थी। ग्रीक जाति वास्तव में साकार देवताओं की

उपासिका थी। ग्रीक अपने देवताओं की उपासना सुंदरतम मूर्तियों के रूप में करते थे। इसलिए उनकी मूर्तियों का सौंदर्य उपास्य के प्रति उनके हृदय का ही सौंदर्य था। इसीलिए ग्रीक आचार्यों ने आकृति के सौंदर्य को इतनी प्रधानता दी थी।

इसी तरह रोमैंटिसिज्म के मूल में भी स्वातंत्र्य की जो भावना थी, वह नवीन मानव-समाज के आत्मिक सौंदर्य का ही परिणाम थी। स्वतंत्रता का उल्लास आत्मविकास की भावना से दीप्त था। सच्चा रोमांटिक कवि आत्म-प्रेरणा से ही संचालित होता है। फिर भी इन दोनों में अंतर यह है कि क्लैसिसिस्ट को रूप का प्रेमी कह सकते हैं और रोमैंटिक कवि को अज्ञात परिपूर्णता का अभिलाषी। क्लैसिक कवि परिपूर्णता की कल्पना साकार मूर्ति के सौन्दर्य में करता है। रोमैंटिक अरूप और अनंत की भावना में रमता है।

ग्रीक कला का पुनरुत्थान करने वाले समीक्षकों के प्रयत्न से १६, १७, १८ वीं शताब्दी में क्लैसिसिज्म की नवीन प्रतिष्ठा हुई। प्राचीन कला का नवीन अध्ययन और उसके सौंदर्य निरूपण की नई चेष्टा सबसे अधिक जर्मनी में की गई। वहाँ यह समझा गया कि उन्हें ग्रीक कला को नहीं, किन्तु ग्रीक कला की आत्मा को अपनाना है। प्राचीन जीवन या पुरानी कला-पद्धति की अनुकृति नहीं की जा सकती, परंतु प्राचीन कला-प्रेरणा को आदर्श मान कर नवीन युग के अनुरूप नई परिस्थिति में उसे प्रयुक्त करें और ग्रीक कला के समकक्ष श्रेष्ठ कलाकृतियों का निर्माण करने के प्राचीन ग्रीक कला के आदर्शों को समझने की प्रेरणा हुई। यह भावना क्लैसिसिज्म की ऊपरी अनुकृति से ध्यान हटा कर उसके मूलभूत स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ हुई।

इस दृष्टि से क्लैसिसिज्म की तीन श्रेणियां हो जाती हैं। प्रथम वह जो केवल नियमों का आंख मूंद कर पालन करना ही सब कुछ समझती है। द्वितीय वह जो ग्रीक कला के अंतः-स्वरूप से प्रेरणा ग्रहण करती है। तृतीय श्रेणी वह है, जो नवीन जीवन और नवीन प्रेरणाओं को पूरी तरह आत्मसात करती हुई प्राचीन ग्रीक-कला का आदर्श अपने सामने रखती है। इस श्रेणी के विधायकों का कहना था कि आधुनिक कविता के लिए ग्रीक काव्य और ग्रीक कला अनुकरण का आधार नहीं, वह नवीन कवियों के लिए एक

उपयोगी दिशा-इंगित या आलोक-स्तम्भ का काम कर सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अंतिम दृष्टि ही श्रेष्ठ ग्रीक-कला या क्लैसिसिज्म का सच्चा उपयोग कर सकी।

इन दोनों कला-स्वरूपों का सैद्धान्तिक आधार अठारहवीं शताब्दी के दो महान् साहित्याचार्यों—लेसिंग और विंकेलमैन—के विवेचनों में देखा जाता है। लेसिंग को क्लैसिक-पद्धति का महान प्रवक्ता कहा जा सकता है। उसने प्राचीन ग्रीक के प्रसिद्ध लेकून वर्ग की मूर्तियों का अध्ययन कर यह प्रतिपादित किया कि उन मूर्तियों की विशेषता उनकी आकृति में है। उसने बताया कि उन मूर्तियों में वेदना की अभिव्यक्ति उनके आकृति-सौंदर्य की रक्षा करते हुए की गई है। अर्थात् उन मूर्तियों में भावाभिव्यंजना के साथ आकृति-सौंदर्य का तत्त्व भी मौजूद है। यह व्याख्या स्पष्टतः क्लैसिक आदर्श के अनुरूप है। लेसिंग ने यह भी कहा कि कवि वर्जिल ने भी अपने काव्य में लेकून की इसी स्थिति का चित्रण किया है और उसे रोते और चिल्लाते हुए दिखाया है। मूर्ति में कराहते हुए लेकून को चित्रित करने में एक विकृति आ जाती, उसमें सौंदर्य न रहता। कला में भावाभिव्यंजना का सत्य, रचना के आकृति-सौंदर्य का विरोधी हो सकता है, यह प्रश्न लेसिंग के सामने था। लेसिंग ने सत्य के साथ सौंदर्य-तत्त्व की अनिवार्यता का समर्थन किया। मूर्तिकला का वास्तविक प्रभाव आकृति के सुन्दर निर्माण पर ही अवलंबित है। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भाव-पक्ष के साथ शरीर या आकृति के सौंदर्य का यह आग्रह ही वास्तव में क्लैसिकल कला-दृष्टि है। सौंदर्याभिव्यक्ति के साधन भिन्न-भिन्न कलाओं में कौन-कौन से हैं; किस अंग-विशेष की सज्जा से कला में सुन्दरता की प्रतिष्ठा होती है, इस पर लेसिंग ने विशेष प्रकाश डाला। वह क्लैसिसिज्म का अन्यतम विवेचक कहा जा सकता है। इससे भिन्न, विंकेलमैन का कार्य स्वच्छंदतावादी साहित्यिक दृष्टि के अधिक अनुकूल पड़ता है। प्राचीन ग्रीक काव्य और नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन कर उसने प्राचीन ग्रीक साहित्य के तीन काल-विभाग किए। ग्रीक नाटकों का प्रथम युग एसचीलस, नाटककार का था। सर्वप्रथम नाटककार होने के कारण यद्यपि उसके नाटक आकृति में सुव्यवस्थित नहीं हैं, फिर भी उनकी भाव-सत्ता अत्यंत पुष्ट और गंभीर है।

दूसरा युग सोफोक्लीज का है। इस युग में अंग-विन्यास और

भावोत्कर्ष के बीच सुन्दर संतुलन स्थापित हो गया था। यह ग्रीक कलाओं के गौरव का मध्यवर्ती युग था।

तीसरा युग यूरीपाइडीज नाटककार का था। यद्यपि उसकी कला में भावों का गांभीर्य उतना अधिक नहीं, फिर भी उसकी अभिव्यक्ति में चरम सीमा की सुकुमारता और सौंदर्य हैं। अतएव विंकेलमैन ने सुझाया कि केवल सौंदर्य ही कला है, यह कहना पर्याप्त नहीं। उसके मत में कला का सौंदर्य—समस्त निर्माण को लेकर जिसमें भावाभिव्यंजना और आकृति का भेद मिट जाता है—आंका जाना चाहिए। उसने कहा कि यद्यपि आकृति की दृष्टि से एसचीलस की अपेक्षा सोफोक्लीज श्रेष्ठ है, पर सर्वांगीण कला-उत्कर्ष के विचार से सोफोक्लीज की अपेक्षा एसचीलस श्रेष्ठ नाटककार है। इसके साथ ही उसने अभिव्यंजना के अनेक भेदों और प्रकारों का उल्लेख किया। उसके विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आकृति का सौंदर्य कला की श्रेष्ठता की माप-रेखा नहीं है। रोमेंटिसिज्म का आधारभूत सिद्धान्त यही है।

विंकेलमैन एक संयोजक रेखा है जो क्लैसिसिज्म और रोमेंटिसिज्म को एक में मिलाती है। लेसिंग में सौंदर्य-सिद्धांत का अधिक आग्रह है। अतएव वह क्लैसिसिस्ट है। विंकेलमैन कला में अभिव्यंजना का हिमायती है, वह रोमेंटिसिज्म के अधिक समीप है।

इतिहास के पृष्ठ इन दोनों काव्य-पद्धतियों में जो अंतर निर्देश कर गए हैं, उनका सर्वथा लोप हो जाना असंभव है। क्लैसिसिज्म में प्रमुख विशेषता साधारण से ऊँचे पात्रों का चित्रण करने की देखी जाती है। उसकी चित्रण-शैली में भी असाधारणता रहा करती है। साधारण भाषा की अपेक्षा ऊँची व परिष्कृत पदावली का प्रयोग भी उसकी एक प्रवृति है। इस वर्ग के लेखक भाव तथा उसके व्यक्त करने की शैली को दो पृथक् वस्तुएँ मानते हैं और दोनों के अलग-अलग सौंदर्य का निर्देश करते हैं। रोमेंटिसिज्म में वस्तु का उदात्त होना आवश्यक नहीं। साधारण से साधारण वस्तु में भी काव्यात्मक चित्रण बनने की क्षमता है, यह स्वच्छंदतावादी मत है। रोमेंटिक काव्य-पद्धति में चित्रण के योग्य वस्तुओं की कोई सीमा निर्धारित नहीं। सारांश यह कि इस शैली में अधिक व्यापक और भावात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। इस काव्य-पद्धति के अनुसार काव्य में प्रयुक्त होने वाली भाषा का भी कोई बंधन नहीं

माना गया है। स्थिति और भाव के अनुरूप भाषा भी विविध स्वरूप ग्रहण कर सकती है। रोमैंटिक कवि भाषा के आभिजात्य का दावा नहीं करते। कला की दृष्टि से इस काव्य-परिपाटी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वस्तु तथा शैली में यह कोई तात्विक भेद नहीं मानती। दोनों को कवि की भावव्यंजना का अभिन्न आधार समझती है।

रोमैंटिक वर्ग के कवि और समीक्षक भावना को काव्य की मुख्य वस्तु मानते हैं। वे अन्य सभी उपादानों को उसीके अंतर्गत संनिविष्ट कर लेते हैं, जब कि क्लैसिक वर्ग के कवियों और समीक्षकों के लिए वस्तु और शैली दो पृथक् सत्ताएं हैं, दोनों का अलग-अलग सौंदर्य है और दोनों की ऐसी सीमाएँ हैं जिनका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता।

आदर्श और यथार्थ

संक्षेप में आदर्शवाद अनेकता में एकता देखने का प्रयत्न करता है, वह विशृंखलता में शृंखला, निराशा में आशा, दुःख में सुख-समाधान की प्रतिष्ठा करने का उद्देश्य रखता है। इसके विपरीत यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक्-पृथक् सत्ता का समर्थक है। वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है। यथार्थवाद का संबंध प्रत्यक्ष वस्तु-जगत से है। यथार्थवाद अपने को वैज्ञानिक दृष्टि-सम्पन्न बताता है। वह सत्य का खोजी हुआ करता है और उसका सत्य वही है जिसे वह अपनी इन्द्रियों की सहायता से जान पाता है। वास्तव में आदर्शवाद मानवीय जीवन की उच्च संभावनाओं पर आश्रित है जब कि यथार्थवाद किसी लक्ष्य-विशेष को महत्व न देकर जो कुछ अनुभव में आता है और बुद्धि से सिद्ध होता है, उसी का हामी है।

इस दर्शन-भेद के कारण साहित्य में भी आदर्शवाद और यथार्थवाद की पृथक्-पृथक् धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। यदि हम प्राचीन ग्रीक साहित्य को देखें तो साधारण से श्रेष्ठतर पात्रों का चित्रण करने वाली दुःखान्त कृतियाँ जीवन के उच्च आदर्शों पर प्रतिष्ठित प्रतीत होंगी। उनका आधार आदर्शवाद ही है। इसके विपरीत सामान्य पात्रों के आधार पर निर्मित होने वाले प्रहसन यथार्थवादी दृष्टि पर आधारित हैं। वे मनुष्य की सामान्य वृत्तियों का स्वरूप उपस्थित करते हैं। ग्रीक साहित्य के पश्चात् योरप में धार्मिक प्रभाव के अंतर्गत ईसाई साहित्य का निर्माण हुआ, जो पूरा का पूरा ईसाई धर्म पर आश्रित है। उस साहित्य में मनुष्य की सामान्य वृत्तियों के लिए अधिक अवकाश नहीं है। ईश्वर और जीव के संबंध को लेकर त्याग और संयम की शिक्षा देने वाला वह साहित्य निवृत्तिमुखी साहित्य है। उसमें आदर्श और शिक्षा की भावना इतनी प्रचुर मात्रा में मिली हुई है और सामान्य मानव व्यवहारों से उसकी इतनी स्पष्ट पृथक्ता है कि वह साहित्य केवल पादरियों और धार्मिकों के लिए रह गया। मध्यकालीन रहस्यवाद के नाम पर इसी धार्मिक साहित्य का प्रचलन रहा। इस साहित्य का आधार आदर्शवाद है। परंतु ईसाई

धर्म के अंतर्गत मानवीय आदर्शों की सीमा बहुत कुछ संकुचित हो गई थी, वह निवृत्ति के घेरे में घिर गई थी। जीवन की व्यापक प्रवृत्तियों और व्यवहारों के आधार पर आदर्शों का निर्माण नहीं हो रहा था। केवल खीष्ट की शिक्षा ही एक मात्र आदर्श थी। इस आदर्शवाद को हम ईसाई आदर्शवाद कह सकते हैं।

जन-समाज के अंतर्गत कला की स्वाभाविक प्रेरणा से इस धार्मिकता-प्रधान युग में भी जनता के साहित्य का निर्माण होता ही रहा। वह लोक-गीतों और लोक-नाट्यों का साहित्य जन समाज की सरल स्वाभाविक प्रवृत्तियों का परिचायक है। उसकी मुख्य धारा यथार्थवादी ही कही जायगी। जब कि आदर्शवादी अपने काव्य के लिए एक अप्रचलित और क्लिष्ट भाषा का आधार लिए हुए थे, तब यथार्थवादी जन-साहित्य ने लोक-भाषा को अपनाकर सुगम और लोक-प्रचलित साहित्य की सृष्टि की। मध्ययुग का प्रमुख कवि दाँते प्रारंभिक ईसाई आदर्शवाद से दूर हटकर व्यापक रूप से जीवन आदर्शों को लेकर रचना कर रहा था; उसके साहित्य में आदर्शवाद है, धार्मिकता है; परंतु वे आदर्श साधारणतः अधिक व्यापक और लोक आदर्शों के निकट हैं।

एक क्रांति जो मध्यकालीन साहित्य के विरुद्ध नवीन युग के आरम्भ में हुई, धार्मिक आदर्शवाद के विरुद्ध मानवता की प्रतिष्ठा का लक्ष्य लिए हुई थी। शेक्सपियर जो इस नवीन धारा का प्रतिनिधि है, प्राचीन आदर्शवाद के विरुद्ध नई धारा का प्रवर्तक कहा जा सकता है। इसी समय काव्य और नाटकों के स्थान पर उपन्यासों का भी अभ्युदय हुआ जो नवीन यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति के परिचायक हैं। गद्य और उपन्यास काव्य और नाटक की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी साहित्य-स्वरूप हैं। यद्यपि काव्य के अन्तर्गत आदर्शवाद और यथार्थवाद की धाराएँ मिलती हैं, परंतु साहित्य-स्वरूपों के विकास में काव्य और नाटकों की अपेक्षा उपन्यास यथार्थवादी साहित्यिक विकास का प्रतिनिधि है।

रोमेन्टिसिज्म के नाम से प्रचलित होने वाली नई साहित्यिक धारा भी कल्पना का आधार लेने के कारण मुख्यतः आदर्शवादी ही थी। यद्यपि नवीन जीवन की प्रवृत्तियों की छाप इस नए साहित्य में मिल रही थी, परंतु इसके लेखक और कवि अधिकतर आदर्श से प्रेरित थे। रोमेन्टिसिज्म की यह धारा उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक चलती रही। बीच-बीच में

वर्ड्सवर्थ सरीखे कवि और लेखक भी सामान्य मानवीय वस्तुओं को लेकर सुन्दर रचनाएँ करते रहे, उन्होंने प्रकृति के निकट सम्पर्क में आकर जीवन और जगत से तटस्थ रहने के आदर्शवाद को तिलांजलि दे दी और भाषा के क्षेत्र में भी सामान्य गद्य भाषा को काव्य में प्रयोग करने का सिद्धान्त रक्खा। फिर भी मूलतः वर्ड्सवर्थ आदर्शवादी दार्शनिक कवि था। इंगलैंड के इन रोमेन्टिक कवियों में कीट्स को यथार्थवादी कवि कहा जाता है; वह इस अर्थ में कि उसके चित्रणों में वस्तुओं के यथार्थ और सूक्ष्म विशेषताओं का निरूपण हुआ है। प्राचीन दृश्यों और घटनाओं का यथातथ्य चित्र उपस्थित करने में कीट्स अत्यंत सफल रहा है। अतएव चित्रण-शैली की दृष्टि से उसे यथार्थवादी कहा जा सकता है, यद्यपि जिस रोमेन्टिक धारा का वह कवि था, वह कल्पनावादी या आदर्शोन्मुख धारा ही थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में विशेषकर फ्रांस के कलाकारों ने रोमेन्टिसिज्म की कल्पनाशीलता के विरुद्ध यथार्थ और वास्तविक की पुकार उठाई और कथा-साहित्य के अंतर्गत यथार्थवाद, यथातथ्यवाद और प्रकृतिवाद का प्रवेश कराया। इन निर्माताओं का कथन था कि विक्टर ह्यूगो जैसा कल्पनावादी लेखक मिट्टी की भीत पर मूल्यवान चित्र बनाने का मूढ़ प्रयत्न कर रहा है। चित्र कितने ही सुन्दर हों, परंतु जब भित्ति ही कमजोर और अस्थायी है, तब उस चित्रण का मूल्य ही क्या! आदर्शवादियों के लिए उनका प्रसिद्ध वाक्य था 'They are riding on horseback over vacuum.' यह समय और समाज की भूमि पर दोनों मतों का द्वंद्व था।

परंतु यथार्थवाद और प्रकृतिवाद के नाम पर जिस नवीन वाद या साहित्यशैली का विकास हुआ, उसमें भी क्रमशः जीवन के स्वस्थ उपकरणों का अभाव दिखाई पड़ने लगा। सत्य और यथार्थ के नाम पर जो रचनाएं प्रस्तुत की गईं, उनमें प्रायः विकृत और असंतुलित चरित्रों की जीवन-गाथा रहा करती थी। इस पर आदर्शवादियों ने उनके संबंध में कहा—They promised to give us a world, instead they gave a hospital (उन्होंने हमें नया संसार देने को कहा था, पर हमें उनसे मिला एक नया अस्पताल)। इस अस्वास्थ्यकर वातावरण में ऐसे पाठकों की ही अभिरुचि हो सकती थी जो स्वयं अस्वस्थ प्रकृति के हों। इस प्रकार आदर्शवाद और यथार्थवाद की विरोधी साहित्य-धाराओं में एक द्वंद्व चल

रहा था और चलता रहा है। यह मनोवैज्ञानिक आधार पर यथार्थ और आदर्श का द्वंद्व है।

वर्तमान समय में विभिन्न वादों के अंतर्गत जिस साहित्य की सृष्टि हो रही है, उस सब को यथार्थवादी साहित्य का ही अंग कहा जाता है। वर्तमान युग में मार्क्स और लेनिन के साहित्य-संबन्धी और समाज-संबन्धी विचार यथार्थवादी विचार कहलाते हैं। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक भौतिक यथार्थवाद कहा जाता है और मार्क्सवादी साहित्यिक इस बात का आग्रह करते हैं कि उनके साहित्य का संबंध कल्पना और आदर्श से नहीं है, ठोस और व्यावहारिक सत्य से है। उनका सिद्धांत है कि काव्य और साहित्य वास्तव में वर्ग-संघर्ष के ऐतिहासिक विकासक्रम में आए हुए विभिन्न युगों के अधिकारी वर्गों की प्रवृत्तियों के परिचायक हैं; उन्हीं की संस्कृति के प्रतिबिंब हैं। ऐसी अवस्था में साहित्य का सम्बन्ध ऐतिहासिक विकास से है जो एक यथार्थ वस्तु है। कल्पना और आदर्श का कितना भी योग साहित्य को वर्ग संघर्ष की भूमिका से अलग नहीं रख सकता। अतएव साहित्य के समीक्षक और विचारक ही नहीं, साहित्य के विधायक और स्रष्टा भी मार्क्सवाद की प्रेरणा से यथार्थवादी जीवन-दृष्टि और यथार्थवादी रचना-शैली को ही अपना रहे हैं।

मार्क्सवाद के भौतिक सिद्धान्त के नितांत विरोधी और विपरीत शिविर में रहने वाले अंतश्चेतनावादी लेखक और कवि भी अपने को यथार्थवादी ही कहते हैं। उनका यथार्थवाद अन्तःश्चेतना का यथार्थवाद है। इस मत के अनुगामी भी यही कहते हैं कि काव्य हमारी अन्तश्चेतना में पड़े हुए संस्कारों और भावों का यथार्थ उन्मेष है। अन्तश्चेतना की यथार्थता साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है। मार्क्सवाद जहाँ सामाजिक विकास को आधार बनाकर चलता है, अन्तश्चेतनावाद व्यक्ति के अन्तर्मुखी यथार्थ को साहित्य का प्रेरक ठहराता है। दोनों धाराओं में दार्शनिक और विचार-सम्बन्धी विरोध होते हुए भी दोनों ही यथार्थवाद का आधार लिए हुए हैं।

इस युग के प्रमुख आदर्शवादी लेखक टाल्सटाय हैं जिन्होंने अपनी पिछली कृतियों में क्रिश्चियन धर्म के प्रेम और अहिंसा-सिद्धांत को प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा की है। टाल्सटाय के संपूर्ण साहित्य में मानव की महत्ता और उसके भविष्य उत्कर्ष के सम्बन्ध में अडिग आस्था प्रकट हुई है, परंतु इस युग के अधिकांश लेखक विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थनीति आदि

आधारों को लेकर यथार्थवादी साहित्य का सृजन कर रहे हैं। यह है पश्चिमी साहित्य में यथार्थवाद और आदर्शवाद का धारावाहिक विकासक्रम।

आदर्शवाद और यथार्थवाद सबसे पहले एक जीवन-दृष्टि है, उसका प्रभाव साहित्य के विकास पर पड़ता रहा है। दूसरी बात यह है कि आदर्शवादी धारा की भूमि भी बदलती रही है, कभी ईसाई धर्म के आदर्श ने उसपर अधिकार किया, कभी कैथोलिक धर्म वालों ने। आदर्शवाद की अति के अवसरों पर साहित्य उपदेशात्मक और संकीर्ण हो गया है और कभी-कभी स्पष्टरूप से रचयिता की ऐकान्तिक अव्यावहारिक और अस्वस्थ मनोभावना का परिचायक बन गया है। वह साहित्य के लोकसामान्य स्वरूप से दूर जा पड़ा है। काव्य-विषय और काव्य-भावना के अतिरिक्त काव्य-शैलियों पर भी इन दोनों वादों का प्रभाव पड़ता रहा है। कविता के अन्तर्गत भावना की प्रमुखता रहती आई है, इसलिए उपन्यास-कहानी आदि की अपेक्षा कविता आदर्शवाद का उपयुक्त माध्यम है। यद्यपि कविता में भी आदर्श और यथार्थ के अलग-अलग प्रवाह मिलते हैं, फिर भी कहा जा सकता है कि कुछ साहित्य-प्रकार आदर्शवादी सृष्टि के प्रतिनिधि हैं और कुछ यथार्थवाद के। यथार्थवाद में सत्य और विज्ञान का नाम लेकर उच्छृंखल और अस्वास्थ्यकर रचनाएं भी की गई हैं। इस तरह की साहित्यिक सृष्टि से यथार्थवाद की बदनामी हुई है।

आज का साहित्य अपने को यथार्थवादी कहता है। भाषा के क्षेत्र में यथार्थवादी लोक-प्रचलित भाषा को अपनाते हैं और शब्दों का बड़ा मार्मिक और सूक्ष्म अर्थप्रकाशक चयन करते हैं। आदर्शवादियों की भाषा और शब्दों के प्रयोग में भावुकता तथा नाद-सौंदर्य अधिक रहता है, परन्तु अर्थ का सूक्ष्म चुनाव यथार्थवादी अधिक करते हैं। शैली की दृष्टि से यथार्थवाद मनोरंजक, विनोदात्मक, बौद्धिक, और तार्किक शैलियों को अपना कर चलता है और आदर्शवाद कल्पना-प्रधान और भावुकतापूर्ण शैलियों को अपनाता है। आदर्शवादी की रचनाओं में व्यंग्य या कर्कशता नहीं होती, वह प्रायः आशावादी होता है, जब कि यथार्थवादी अनावश्यक आशा को भावावेश-मात्र मानता है। इस तरह दोनों दृष्टिकोणों में अंतर है। अपने स्वस्थ रूप में दोनों वादों के अन्तर्गत साहित्य की अच्छी सृष्टि हुई। साहित्य के ऐतिहासिक विकास में दोनों ने अपना-अपना हाथ बंटाया। एक वाद ने दूसरे वाद की अति को रोकने का उपयोगी

प्रयत्न भी किया।

आज के अंतश्चेतनावादी साहित्य की सामाजिक उपयोगिता पर विश्वास नही करते, उनका यथार्थ एकदम वैयक्तिक है। उनका कहना है कि कवि सामाजिक प्रतिबन्धों के विरुद्ध अपनी दमित वृत्तियों का प्रकाशन करता है। वह प्रतीकों और उपमानों का प्रयोग करता है जो उसकी दमित चेतना द्वारा आविर्भूत होते हैं। इन यथार्थवादियों की दृष्टि में कविता कल्पना या भावना का व्यापार नहीं है, न उसका संबंध किसी सामाजिक स्थिति या आदर्श से है। वह तो कवि की चोट खाई हुई आत्मचेतना का उद्गार है।

अंतश्चेतनावादियों का कहना है कि कविता हमारे मन पर पड़े हुए सामाजिक प्रतिबंधों और तज्जन्य विकारों की प्रतिक्रिया है। उसमें किसी आदर्श की स्थिति नहीं होती। आज का लेखक 'रस' या आनंद के संचार का कोई लक्ष्य नहीं रखता। कविता कला नहीं है, वह तो व्यक्ति के अन्तरंग संघर्ष का विस्फोट है। पाठकों के लिए काव्य-भेंट उपस्थित करने का उसमें कोई लक्ष्य नहीं रहता। वे कहते हैं कि साहित्य अन्तश्चेतना का स्वाभाविक उन्मेष है, उसे कला के रूप में सामाजिक सुख या लालित्य की वस्तु बनाने के लिए आज का कलाकार बाध्य नहीं।

इन अन्तश्चेतनावादियों ने साहित्य की परिभाषा ही बदल दी है। वे साहित्य को रसात्मक या सामाजिक आह्लाद की वस्तु न मानकर उसे निरा वैयक्तिक और अंतर्मुख पदार्थ मानते हैं। उसमें कवि की अंतस्तलव्यापिनी चेतना का सत्य प्रकाशित होता है। यह चेतना जिन काव्य-प्रतीकों की सृष्टि द्वारा आत्मप्रकाशन करती है, वे काव्य में पाए जाने वाले सामान्य उपमान-उपमेयों में भिन्न होते हैं। वे अलंकार नहीं हैं, वह तो कवि के मानस से अनिवार्य रूप से उठा हुआ ज्वार है जिसकी वास्तविकता और आशय को परखने के लिए मानस-शास्त्र (मनोविश्लेषण) का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार कविता न केवल एक वैयक्तिक वस्तु होती है, उसका यथार्थ स्वरूप केवल मानस-विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं। स्पष्ट है कि यह नवीनतम यथार्थवाद काव्य की सार्वजनीनता का तिरस्कार कर उसे कुछ विशेषज्ञों की ही वस्तु बना देता है।

इसके विरुद्ध समाजवादी यथार्थवाद, जो वर्ग-संघर्ष की भूमि पर काव्य की ऐतिहासिक प्रगति का आकलन करता है, काव्य-सत्य को

एक• पृथक् वस्तु मानता है और कवि की कल्पना को उस सत्य का आवरण (भले ही वह रोचक आवरण हो) ठहराता है। वैज्ञानिक भौतिक-वाद के विकासक्रम में जिन-जिन समयों में वर्ग-संघर्ष की जो स्थिति रही है, उसी स्थिति की ज्ञापक उस•समय की कविता रही है। इससे बाहर कोई कवि या रचनाकार जा ही नहीं सकता। अधिक से अधिक वह अपनी कल्पना के प्रयोग द्वारा किसी सदभिलाषा या आदर्श को व्यक्त कर ले, पर उसके काव्य की मौलिक भूमि उस युग के वर्ग-संघर्ष की गतिविधि से ही आबद्ध होगी। यह भी यथार्थवादी दृष्टिकोण है, परंतु ऊपर कहे हुए अन्तश्चेतना-वादी यथार्थ से यह नितान्त भिन्न है। जब कि अंतश्चेतनावादी अपने उन मनोमय, और अंतर्मुख प्रतीकात्मक-उद्‌गारों को ही काव्य का श्रेष्ठ और एकमात्र स्वरूप कह कर उद्‌घोषित करते हैं, इन समाजवादी यथार्थ-वादियों की दृष्टि में यह वैयक्तिक कविता वर्ग-संघर्ष के क्रम में आए हुए सत्ताधारी वर्ग की अत्यंत ह्रासोन्मुख स्थिति की परिचायक है। यह कविता इतनी वैयक्तिक और आदर्शहीन तथा लक्ष्यहीन है—यह ऐसे रुग्ण व्यक्तियों की सृष्टि है—कि इसे स्वस्थ काव्य मानना ही एक बड़ा भ्रम है। वास्तव में ऐसी रचनाएं प्रतीकात्मक और दुर्बोध होती हैं तथा सर्वसामान्य के किसी काम नहीं आतीं। उनका महत्त्व इतना ही है कि वे एक युग-विशेष की ऐतिहासिक स्थिति और तथ्य की साक्षी हो जाती हैं। इससे अधिक उनका कोई मूल्य नहीं।

एक ही युग में चलने वाले यथार्थवाद के इन दो परस्परविरोधी मंतव्यों को सामने रख कर देखने पर यह स्पष्ट हुए बिना नहीं रहता कि यथार्थवाद के अन्तर्गत नितान्त भिन्न जीवन-दृष्टियों का प्रवेश हो गया है और काव्य के मूल्य और मान के संबंध में भी यथार्थवादियों में कहीं कोई समता या एकात्मता नहीं रह गई है। इसी के साथ यदि हम यथार्थवाद के नाम पर चलने वाली आज की प्रयोगवादी कविताओं को भी अपने विवेचन में ले लें, तब तो काव्य-संबंधी आज की अराजक स्थिति का पूरा प्रत्यय मिल जायगा। हिन्दी साहित्य में भी ये प्रयोग चल रहे हैं, जिनमें कहीं तो मनोविश्लेषण की किसी पाठ्य पुस्तक से लिया गया कोई मँजा-मँजाया काव्य-प्रतीक रक्खा मिलता है और कहीं किसी मार्क्स-वादी वक्तव्य का परिचायक कोई अधूरा या पूरा वाक्यांश जुड़ा दिखाई देता है। इस 'यथार्थवादी' कविता में वास्तविकता थोड़ी और प्रदर्शन अधिक है।

साहित्य और जीवन

हमारी हिन्दी में और अन्यत्र भी इन दिनों साहित्य और जीवन में घनिष्ठ संबंध स्थापित करने की जोरदार माँग बढ़ रही है। आज परिस्थिति ऐसी प्रवेगपूर्ण है कि इस माँग की खूब कद्र की जा रही है और खूब दाद दी जा रही है। स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थी बड़े उमंग के साथ इस विषय के व्याख्यान सुनते और ताली बजाते हैं। लेखकगण घर के बाहर स्वदेशी लिबास में रहने में प्रतिष्ठा पाते हैं और समालोचकगण उत्कर्षपूर्ण साहित्यकार की अपेक्षा जेल का चक्कर लगा आने वाले 'सैनिक' साहित्यिक के बड़े गुणगान करते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में जोशीले लेख छपते हैं जो जीवन और साहित्य को एकाकार करने के एक कदम और आगे बढ़कर लेखों को लेखकों के खून से शराबोर देखना चाहते हैं। एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न किया जाता है जो साहित्य-समीक्षा को जड़ से उखाड़ फेंकने का सरंजाम करेगा और जीवन को नितांत उग्र और, संभव है, पाषंडपूर्ण भी बना देगा। बंगाल में ऐसे ही विचार-प्रवाह के कारण महाकवि रवीन्द्रनाथ को कियत्काल के लिए ही सही, धक्का उठाना पड़ा है और आज हिन्दी में भी वही हवा चल रही है। हम जिस संकीर्ण वात्याचक्र में घिरे हुए साँस ले रहे हैं, उसमें यदि साहित्य को राजनीतिक प्रचार का साधन बनाया जाय तो यह स्वाभाविक ही है। ऐसा अन्य देशों में भी होता रहा है। पर इसे ही साहित्यिक समीक्षा की स्थिर कसौटी बनाने और इसी के अनुसार उपाधि-वितरण करने का हम समर्थन नहीं करेंगे। साहित्य और जीवन का संबंध देखने के लिए क्षणिक राष्ट्रीय आवश्यकताओं की परिधि से ऊपर उठने की आवश्यकता है। हम साहित्य के आकाश में क्षितिज के पास के रक्तिम वर्ण को ही न देखें, संपूर्ण सौरमण्डल और उसके अपार विस्तार, अगणित रंग-रूप के भी दर्शन करें। साहित्य की शब्दावली में हम क्षणिक यथार्थ को ग्रहण करने में लगकर वास्तविक यथार्थ का तिरस्कार न करें जो विविध आदर्शों से सुसज्जित है। हम साहित्य और जीवन का संबंध अत्यंत व्यापक अर्थ में मानें। देश और काल की सुविधा के ही मोह में न पड़ें।

साहित्य के साथ जीवन का संबंध स्थापित करने का आग्रह यूरोप में पिछली बार फ्रांसीसी राज्य-क्रांति के उपरांत किया गया और हमारे देश में, आधुनिक रूप में, यह अभी कल की वस्तु है। इँगलैण्ड में वर्ड्सवर्थ और फ्रांस में विक्टर ह्यूगो आदि साहित्यकार इस विचार-शैली का आविर्भाव करने वालों में से हैं। प्रारंभ में इसका रूप अत्यंत समीचीन था। यूरोप का मध्यकालीन जीवन अस्तंगत हो गया था। उसके स्थान पर नवीन जीवन का उदय हुआ था, जिसके मूल में बड़ी ही सरल और सात्त्विक भावनाएँ थीं। नवीन जीवन के उपयुक्त ही नवीन समाज का विकास हुआ और इसी विकास के अनुकूल साहित्य में भी प्रकृति-प्रेम, सरल-जीवन आदि की भावनाएँ दीख पड़ीं। यहाँ तक कृत्रिमता किंचित् नहीं थी। अंग्रेजी साहित्य में मैथ्यू अर्नाल्ड और वाल्टर पेटर जैसे दो समीक्षक—एक जीवन-पक्ष पर स्थिर होकर और दूसरा कला अथवा सौन्दर्य-पक्ष पर मुग्ध होकर—समान रीति से कवियों की प्रशंसा कर सकते थे; परंतु बहुत दिन ऐसे नहीं रह सके। शीघ्र ही यूरोप में राष्ट्रीयता और प्रादेशिक भावनाओं का विस्तार हुआ और रूस में समाज-संबंधी शक्तिशालिनी उत्क्रांति हुई। रूसी साहित्य को वहाँ के समाजवाद की सेवा में उपस्थित होना पड़ा, जिसके कारण उसकी स्वतंत्रता बनी न रह सकी। साहित्य अधिकांश में राष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक संघटन का प्रयोग-साधन बन गया। नवीन युग की नवीन वस्तु के रूप में उसको बाजार अच्छा मिला और आज उसका सिक्का यूरोप ही नहीं, भारत में भी, धड़ाके से चल रहा है। परंतु इतना तो स्पष्ट है कि इस रूप में साहित्य परतंत्र सामयिक जीवन की बँधी हुई लीक में चलने को बाध्य किया जाता है। साहित्य और जीवन का स्वभावसिद्ध संबंध सर्वथा मंगलमय है। पर क्या इस प्रकार का संबंध स्वभावसिद्ध कहा जा सकेगा? जीवन की स्वच्छंद धारा ही जहाँ बँधी हुई है, वहाँ साहित्य तो शिकंजे में जकड़ा ही रहेगा। आज साहित्य और जीवन का संबंध जोड़ने के बहाने साहित्य को मिथ्या यथार्थ की जिस अँधेरी गली में ले चलने का उपक्रम किया जाता है, हम उसकी निन्दा करते हैं।

साहित्य और जीवन का संबंध जोड़ने के सिलसिले में समीक्षकों ने साहित्यकार के व्यक्तिगत वाह्य जीवन से भी परिचित होने की परिपाटी निकाली। यातायात के सुलभ साधनों के रहते, सम्मिलन के सभी सुभीते थे। बस साहित्यकार को भी 'पब्लिकमैन' बना दिया गया। साहित्यालोचन

की जो पुस्तकें निकलीं, उनमें यह आग्रह किया गया कि साहित्यकार की व्यक्तिगत जीवनी का परिचय प्राप्त किए विना उसके मस्तिष्क और कला का विकास समझ में नहीं आ सकता। ऐतिहासिक अनुसंधानों के इस युग में यदि कवियों और लेखकों का अन्वेषण किया गया, तो कुछ अनुचित नहीं। इस प्रणाली से बहुत-से लाभ भी हुए। मस्तिष्क और कला के विकास का पता चला और बहुत-से पाषंडो प्रकाश में आए। परंतु जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी बहुमुखी हैं कि इस संबंध में अधिक-से-अधिक सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, नहीं तो एक कलकतिया संपादकजी की तरह 'सैनिक' और 'साहित्यिक' तथा 'आनंद-भवन' और 'शांतिनिकेतन' के बीच में ही अटक रहने का भय है। 'सैनिक' होने से ही कोई साहित्य-समीक्षक की सराहना का अधिकारी नहीं बन सकता; क्योंकि 'सैनिक' बनने का पुरस्कार उसे जनता के साधुवाद अथवा व्यवस्था-सभा के सभासद के रूप में प्राप्त हो चुका है। साहित्यिक दृष्टि से 'सैनिक' का स्वतः कोई महत्त्व नहीं। 'सैनिक' इस शब्द का जो भावार्थ है; साहित्य के भीतर से सैनिक की आत्मा का जो प्रकाश है, वह हमारी स्तुति का विषय बनना चाहिए। साहित्य और जीवन का यह संबंध है, जिसको हम साहित्य-समीक्षा की एक स्थायी कसौटी बना सकते हैं, पर हिन्दी में लोग ऐसा नहीं करते। अँग्रेजी साहित्य-समीक्षा में यह व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण की परिपाटी काफी समय तक चली, पर हाल में इसका प्रयोग कम पड़ रहा है और शायद इसका त्याग किया जा रहा है। जीवन की जटिल अज्ञेयता से परिचित हो जाने पर साधारण स्थूल-दृष्टि आलोचक इस मार्मिक प्रणाली का त्याग कर दें, यह अच्छा ही है, नहीं तो साहित्य में बड़ा विषम भाव और बड़ा विद्वेष फैलने की आशंका है।

साहित्यकार को जीवन के संबंध म स्वतंत्र विचार रखने और भिन्न-भिन्न साहित्य-सरणियों में चलने के अधिक से अधिक अधिकार मिलने चाहिएँ। उसके अध्ययन, उसकी परिस्थिति और उसके विकास को हम सामयिक आवश्यकताओं और उस संबंध की अपनी धारणाओं से ही नहीं परख सकते। हमें उसकी दृष्टि से देखना और उसकी अनुभूतियों से सहानुभूति रखना सीखना होगा। हम कवियों और लेखकों के नैतिक और चरित्र-संबंधी स्खलन ही न देखें; प्रचलित सामाजिक अथवा राजनीतिक कार्यक्रम से उनकी

तटस्थता की ही निंदा न करें, यदि वास्तव में उन्होंने अपनी साहित्य-सृष्टि द्वारा नवीन शैली, नवीन सौन्दर्य-कल्पना और भव्य भाव-जगत् की रचना की है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के महर्षित्व पर नवयुवक बंगालियों ने विकट-विकट आक्षेप किए हैं और वर्तमान राजनीति में सक्रिय भाग न लेने के कारण उनके विरुद्ध कठोर व्यंग्यों की झड़ी लगा दी है, पर क्या साहित्यिक समीक्षा की अब ये ही प्रणालियाँ रह जायँगी ! जिस देश के दर्शन-शास्त्र गोचर-क्रिया को विशेष महत्त्व नहीं देते, चेतनशक्ति पर विश्वास रखते हैं, उसमें महाकवि रवीन्द्रनाथ को इससे अच्छे पुरस्कार मिलने चाहिएँ। रवि बाबू स्वदेश-प्रेम को संपूर्ण मनुष्यता और विश्वप्रेम के धरातल पर उठाकर रखने में समर्थ हुए हैं, उन्होंने स्वदेश की प्रादेशिक सीमा के जड़त्व का नाश किया है—अपनी उदार अनुभूतियों और अपनी विराट् कल्पना की सहायता से। उहोंने संसार की शांति और साम्य के लिए एक व्यापक आदर्श की सृष्टि की है, जिसकी संभावनाएँ भविष्य में अपार हैं। इसके लिए यदि हम उनके कृतज्ञ नहीं होते, और यह जरूरी समझते हैं कि वे जनता के नेता का रूप धारण करें, तो यह हमारी ही संकीर्ण भावना है जो हमें प्रकृति की अनेकरूपता को समझने नहीं देती।

साहित्य और जीवन में घनिष्ठ-से-घनिष्ठ संबंध स्थापित होने पर भी दोनों में अन्तर रहेगा ही। जीवन तो एक धारा-प्रवाह है, साहित्य में उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूंदें एकत्र की जाती हैं। जीवन के अनंत आकाश में साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक वितरण करते हैं। सामयिक जीवन तो अनेक नियमित, अनियमित, ज्ञात-अज्ञात घटनावली का समष्टि रूप है। साहित्य में कुछ नियम भी अपेक्षित हैं। यह अवश्य है कि हम जिस हवा में साँस लेते हैं, प्रत्येक क्षण उसके परमाणु हम में प्रवेश पाते हैं, तथापि हमारा साहित्य केवल इन परमाणुओं का संग्रह होकर ही नहीं रह सकता। प्रत्येक सभ्य और प्रतिभाशाली मनुष्य वर्तमान में रहता हुआ अतीत और भविष्य में भी रहता है। साहित्यकार के लिए तो ऐसा और भी स्वाभाविक है। महान् कलाकार तो देश और काल की सीमा भंग करने में ही सुख मानते हैं और सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते हैं। सामयिक जीवन का उनके लिए उतना ही महत्त्व है जितना वह उनके विराट्, सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना में सहायक बन सकता है। निश्चय ही यह महान् कलाकारों की बात कही जा रही है।

साहित्य-कला की कुछ ऐसी सुष्ठु, प्रभावशाली और सुंदर विशेषताएं हैं जो जीवन के स्थूल यथार्थ से मेल नहीं खातीं। साहित्य में 'राम' और 'कृष्ण' चिर-सुंदर अंकित किए जाते हैं, कलाओं में उनके चित्र भी वैसे ही मिलते हैं; पर जीवन में तो वे वैसे नहीं रहे होंगे। साहित्य की अतिशयोक्तियाँ, इंद्रधनुष-सी, जीवन के स्थूल, अकाल्पनिक और रूखे अस्तित्व को मनोरम बना देती हैं। साहित्य में मनुष्य का जीवन ही नहीं, जीवन की वे कामनाएँ जो अनंत जीवन में भी पूरी नहीं हो सकतीं, निहित रहती हैं। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है, तो साहित्य में उस अभिव्यक्ति की आशा-उत्कंठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि संपूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है; तभी तो उसका नाम साहित्य है; तभी तो साहित्य जीवन से अधिक सारवान और परिपूर्ण है तथा जीवन का नियामक और मार्गद्रष्टा भी रहता आया है।

साहित्य और सामाजिक प्रगति

साहित्य और सामाजिक जीवन का क्या संबंध है, यह प्रश्न आज एक विशेष प्रयोजन से पूछा जाता है । वर्त्तमान भारतीय समाज एक ऐसी अवस्था पर पहुँच गया है जिसके आगे अज्ञात संभावनाएँ छिपी हुई हैं । विशेषतः हमारे शिक्षित नवयुवकों के लिए यह क्रान्ति की घड़ी है । सब ओर से हमारी दृष्टि खिच कर इसी प्रश्न की ओर आ लगी है । साम्राज्यशाही का बोझ असह्य हो गया है और आर्थिक वैषम्य का नग्न नृत्य देखा नहीं जाता । इसी आवेग में हम बार-बार पूछते हैं, साहित्य और समाज का क्या संबंध है ?

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्क्स ने हमारी स्थिति और भी स्पष्ट कर दी है । उसने हमारे लिए सोचने को कुछ रक्खा ही नहीं । मार्क्स ने अर्थ-योजना को लेकर जो सिद्धान्त उद्घाटित किया, उसका अलग-अलग क्षेत्रों में अनेकमुखी प्रसार हुआ । साहित्य-क्षेत्र भी आज मार्क्सवादी विचारों से पूर्णतः प्रभावित है । ऐसी अवस्था में साहित्य के सामाजिक आधार का प्रश्न पुनः-पुनः उठकर शंका उत्पन्न करता है कि हम साहित्य को किसी मतवाद के घेरे में तो नहीं डाल रहे ।

हम यह मानते हैं कि भारतवर्ष में आज का मुख्य प्रश्न राजनीतिक और आर्थिक है । हम यह भी मानते हैं कि मार्क्स के सिद्धान्त बड़ी हद तक वैज्ञानिक हैं और भारतीय स्थिति पर भी लागू होते हैं । हम यहाँ तक मानने को तैयार हैं कि आज के साहित्यिक का प्रधान कर्त्तव्य मार्क्स के सुझाये हुए वर्ग-संघर्ष में अपने पक्ष का ज्ञान और निर्णय कर लेना है । किन्तु यह सब होते हुए भी हम नहीं मान सकते कि साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह किसी सामाजिक मत-विशेष का अनुचर-मात्र है ।

यदि मार्क्स का सिद्धान्त अपनी पूरी कड़ाई के साथ साहित्य-क्षेत्र में स्वीकार कर लिया जाय, तो हमें मान लेना होगा कि हमारे पुराने साहित्य की अब कोई उपयोगिता नहीं रह गई । किन्तु यह बात न केवल असंगत है, एकदम असत्य भी है । इसका मुख्य कारण यह है

कि साहित्य परिवर्तनशील वस्तु-व्यापार में केन्द्रित विचार-धारा मात्र नहीं है, वह जीवन के मार्मिक और स्थायी स्वरूपों का जीता-जागता चित्र है। साहित्य सामाजिक इतिहास का अंग नहीं है, वह उसका स्मारक है। समाज और इतिहास के बदल जाने पर भी स्मारक नहीं बदला करता। फिर साहित्य समाज की श्रेष्ठतम संस्कृति का द्योतक है—मानवता की स्थायी निधि है। इन सबके अतिरिक्त वह एक स्वतंत्र कलावस्तु है। वाणी और मानव-भावना का साकार वैभव है।

यह ठीक है कि कवि भी एक सामाजिक प्राणी है, इतिहास की एकाई है। वह भी समय और उसकी सामूहिक प्रेरणा द्वारा संचालित होता है। कवि के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के संस्कार उसके काव्य पर भी पड़ते हैं, किन्तु कविता उन संस्कारों का संग्रहमात्र नहीं है। कविता समय और समाज के घेरे में बँधे हुए कवि की स्वतंत्र जीवन-कल्पना है। वह उसकी असाधारण अनुभूति है। साधारण जीवन-वस्तु से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। कवि जितना ही महान् होगा, उसकी कल्पना समय के स्थूल प्रभावों से उतनी ही निरपेक्ष होगी।

किसी भी युग के, किसी भी शैली के, संसार के किसी भी देश के किसी श्रेष्ठ कवि को उदाहरण स्वरूप ले लीजिए, उपर्युक्त तथ्य का प्रमाण मिल जायगा। किन्तु आज हमारे देखने में ऐसे समीक्षक और लेखक आ रहे हैं जो मार्क्सवाद की स्थूल दृष्टि से काव्य की समीक्षा करते हैं और काव्य की रचना भी। मार्क्सवाद हो या कोई वाद हो, वह काव्य की कसौटी नहीं बन सकता। वह काव्य की प्रेरक शक्तियों को, समय को और सामाजिक कर्त्तव्य को समझने में सहायक हो सकता है, किन्तु काव्य का नियामक नहीं बन सकता।

काव्य के अपने क्षेत्र पर समय-समय पर अनेक वादों के हमले हुए हैं। कभी धर्म ने उस पर आक्रमण किया, कभी दर्शन ने और कभी अध्यात्म ने। कभी किसी विज्ञान ने उस पर अधिकार प्राप्त करना चाहा, कभी किसी वाद की भरमार रही, कभी किसी की। सबने अपनी-अपनी ओर खींच कर काव्य के अपने स्वरूप को विकृत करना चाहा। उसके स्वच्छ स्वरूप पर कई प्रकार के धब्बे डाल दिए। आज मार्क्सवाद भी कुछ इसी प्रकार का उपक्रम कर रहा है। यह कोई नई बात नहीं।

काव्य की अपनी सत्ता पर चोट करनेवाले इन सभी वस्तु-व्यापारों

से हमें सावधान रहना होगा । किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि हम धर्म, दर्शन, अध्यात्म, विज्ञान अथवा किसी भी मानवविद्या का तिरस्कार करते हैं, और काव्य में उसका प्रवेश निषेध चाहते हैं । इन्हीं विद्याओं के आधार पर जीवनतत्त्व का निर्माण होता है । इनकी उपेक्षा कवि कर ही कैसे सकता है ! यदि वह इनकी उपेक्षा करेगा तो उसकी कविता में रह ही क्या जायगा—जीवन निरपेक्ष रस, कोरा अलंकार और शब्दाडम्बर ! कविता के लिए कविता और कला के लिए कला । इससे बढ़ कर भ्रामक वस्तु और क्या होगी !

तात्पर्य यह कि हम साहित्य से समाज का, सामाजिक जीवन का, सामाजिक विचार-धाराओं का—वादों का, संबंध मानते हैं, किन्तु अनुवर्त्ती रूप में । साहित्य की अपनी सत्ता के अन्तर्गत उसके निर्माण में इनका स्थान है । ये उसके उपादान और हेतु हुआ करते हैं, नियामक और अधिकारी नहीं । साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है, यद्यपि वह सत्ता जीवन सापेक्ष्य है । जीवन निरपेक्ष कला के लिए कला भ्रान्ति है, जीवन-सापेक्ष्य कला के लिए कला सिद्धांत है । संक्षेप में यही हमारी स्थिति है ।

काव्य या साहित्य के अनेक विभाग हैं । गद्य और पद्य, दृश्य और श्रव्य । उसके अनेक उपविभाग हैं—उपन्यास और आख्यायिका; निबंध और प्रबंध; महाकाव्य, खण्ड काव्य, आख्यानक और मुक्तक; नाटक और उसके अनेक भद । इन सबका अलग-अलग इतिहास है । देश-भेद से इनकी अलग-अलग प्रकृति है । समाजभेद से इनका नया-नया विकास है । किन्हीं दो व्यक्तियों की रचना एक-सी नहीं होती । इन असंख्य भेदों के रहते हुए भी कविता कविता है, साहित्य साहित्य है । वाह्य बहुरूपता में एक अन्तरव्यापिनी एकता है । इसी एकता की खोज साहित्य-तत्त्व की खोज है ।

कविता क्या है—यह प्रश्न अब यहाँ उपस्थित है । काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य-मात्र में स्वभावत: अनुरूप भावोच्छ्वास और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है । इसी सौन्दर्य-संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं, यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि 'रस' का हमारे यहाँ दुरुपयोग भी कम नहीं किया गया । ऊपर की व्याख्या से हम काव्य या साहित्य मात्र के संबंध में कतिपय निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं । प्रकृत मानव-अनुभूति एक सार्वजनिक वस्तु है, इसमें वे कृत्रिम अनुभूतियाँ सम्मिलित नहीं

हैं, जिनकी शिक्षा कुछ विशेष व्यक्तियों या वर्गों को दी जाती है ; जिससे साम्प्रदायिक काव्य का निर्माण होता है। इन अनुभूतियों का चित्रण जिस नैसर्गिक कल्पना के सहारे होता है, उसकी उद्भाविका कवि की प्रतिभा होती है। यह कल्पना जितनी ही नैसर्गिक और प्रशस्त होगी, उतने ही उन्नत काव्य का सृजन करेगी, उतनी ही चित्रण की सौन्दर्यमयता बढ़ जायगी और उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ उसका संवेदन होगा। सार्वजनीन होने के कारण ही यह सौन्दर्य-तत्त्व नित्य और शाश्वत है। एक ही कविता सैकड़ों-हजारों वर्ष के बाद भी वही सौन्दर्यचेतना उत्पन्न करती है जो उसने आरम्भ में उत्पन्न की थी।

अवश्य कविता सार्वजनीन और शाश्वत वस्तु है, किन्तु कवि के व्यक्तिगत विकास और संस्कार के अनुसार उसकी सौन्दर्यानुभूति की शक्ति-मात्रा और कीमतीपन में अन्तर हुआ करता है, और उन अनुभूतियों को व्यक्त करने का सामर्थ्य या योग्यता भी कम या अधिक हुआ करती है। इन सारी वस्तुओं का परिचय हमें कवि की उस रचना से ही प्राप्त होता है, इसलिए काव्य-विवेचन में रचना या अभिव्यक्ति ही सब कुछ है। वास्तव में काव्य के उत्कर्ष या अपकर्ष की परीक्षा इन्हीं विशेषताओं के आधार पर की जा सकती है। यों, व्यावहारिक विभाग के लिए हम महाकाव्य, गीतकाव्य, उपन्यास, आख्यायिका और नाटक आदि के विभाग करते हैं। उनके विभिन्न तत्वों का, इतिहास और सामाजिक विकासक्रम में उनके परिवर्तित स्वरूपों का, अध्ययन करते हैं। किन्तु काव्य-साहित्य का तात्त्विक मूल्य तो प्रथम वर्गीकरण में ही है।

अब यह पूछा जा सकता है कि कविता यदि शाश्वत वस्तु है तो उसपर देश-काल आदि बदलती हुई स्थितियों और विचार-धाराओं का क्या कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता ? यह पहेली ऊपर से जितनी संदिग्ध जान पड़ती है, वास्तव में वह उतनी है नहीं। देश, काल और वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति और समाज पर पड़ता है। कवि की दृष्टि तो और भी तीव्र और ग्राहिका शक्ति सजग रहती है। इसलिए सच्चे कवि और साहित्यकार प्रायः प्रगतिशील ही हुआ करते हैं। किन्तु कवि का कार्य प्रगतिशील होना ही नहीं है। प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरूपों और प्रवृत्तियों को शाश्वत सौन्दर्य-संवेदन का स्वरूप देना उसका कार्य है। आज का प्रगतिशील व्यक्ति कल पिछड़ सकता है, किन्तु हृदय

के चिरन्तन सौंदर्य-तारों को स्पर्श करनेवाला कवि कभी पिछड़ता नहीं। कालिदास और शेक्सपियर, होमर और मिल्टन, वाल्मीकि और व्यास, सूर, तुलसी और कबीर शताब्दियों पुराने हैं, किन्तु उनका काव्य उतना ही मनोरम आज है जितना वह अपने निर्माण के दिन रहा होगा।

पर आज हमें ऐसे समीक्षक भी मिलते हैं जो इन कवियों को अथवा इनमें से कुछ को आज के लिए प्रतिगामी, प्रतिक्रियाशील अथवा पिछड़ा हुआ बतलाते हैं। अवश्य इन समीक्षकों की दृष्टि काव्य पर नहीं है, बल्कि उस सामाजिक संघटन पर है जिसमें वह काव्य रचा गया था। वे समाज के नए रूपों और विचारों के साथ उन पुराने रूपों और विचारों का मेल किसी प्रकार नहीं मिला पाते। किन्तु तुलसी, सूर और कबीर की रचना—या किसी भी महान् कवि की कृति में—तत्कालीन सामाजिक संघटन का क्या महत्त्व है, और क्या उतने ही तक वह कविता सीमित है, यह आकलन भी इन समीक्षकों को करना चाहिए। ऐसा करने पर उन्हें ज्ञात होगा कि सामाजिक संघटन और विचारधारा का बखेड़ा छोड़ देने पर भी, उन कृतियों में जो बच रहता है, वह सम्मान की वस्तु है। सम्प्रति हमारे साहित्य में बौद्धिक विचार का प्राधान्य होने के कारण वादों को प्रमुखता मिल रही है; किन्तु आशा है यह ज्वार शान्त होने पर काव्य को उसकी नैसर्गिक प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।

ऊपर मैंने जो कुछ कहा उसका यह मंतव्य नहीं कि कवि और साहित्यकार बदलते हुए समय और बदलती हुई परिस्थिति के अनुरूप नए विचारों का स्वागत न करें। मैं कह चुका हूँ कि अपनी तीव्र संवेदनाओं के कारण वे ही नए युग के अग्रदूत और विधायक हुआ करते हैं। नई जीवन-स्थितियाँ उन पर अनिवार्य रूप से प्रभाव डालती हैं और नए ज्ञान को वे आदर के साथ अपनाते हैं। वर्तमान समय में हमारा पुराना सामाजिक और आर्थिक ढाँचा बदल रहा है और नई समस्याएँ सामने आ रही हैं। इनका असर सारी सामाजिक रीति-नीति और प्रथाओं पर पड़ रहा है। इन सबमें परिवर्तन अवश्यम्भावी है। कहना तो यह चाहिए कि तीव्र वेग से घटित होनेवाले परिवर्तन के फलस्वरूप ही पुरानी व्यवस्था उच्छिन्न हो रही है। नई जीवन-शक्तियों को न पहचानना और प्रगति का साथ न देना, न केवल अदूरदर्शिता होगी, आत्मघात भी कहा जायगा।

कहा जाता है कि इन परिवर्तनों के साथ-साथ समाज की नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादाएँ बदल जायँगी और काव्य की माप में भी अन्तर आ जायगा। ये दोनों ही बातें भ्रमपूर्ण हैं। जहाँ तक उन प्रथाओं का संबंध है जो प्रचलित विधि-निषेधों का द्योतन करती हैं, उनका बदल जाना स्वाभाविक है; किन्तु उनके कारण हमारी नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादा का—हमारे सांस्कृतिक मान का बदल जाना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह तो हमारी नसों में व्याप्त है। उल्टा उसकी परीक्षा ही इन परिवर्तनों में होगी। और, काव्य पर इन परिवर्तनों का क्या असर हो सकता है? वह तो अमिट सौंदर्य की सृष्टि है। आप पूछ सकते हैं कि बिना वैज्ञानिक दृष्टि से परिवर्तन के क्रमों का अध्ययन किए, बिना नवीन मनोविश्लेषण की जानकारी रखे संक्षेप में बिना नवीन वादों का आश्रय लिए, हमारा काव्य समय के साथ रह ही कैसे सकता है? इसका सीधा उत्तर यह है कि हम इन अध्ययनों से मुंह नहीं मोड़ना चाहते, किन्तु हम वादों से भी अधिक जीवन का—चारो ओर फैले हुए जीवन का—अध्ययन करना चाहते हैं और इस अध्ययन से प्राप्त सुष्ठुतम अनुभूतियों का काव्य-प्रणाली से अभिव्यंजन करना चाहते हैं। इन अनुभूतियों में जीवन का रस और इस अभिव्यंजन में स्वानुभूत सौंदर्य की आभा होगी, इतना ही हमारे लिए अलम् है।

अन्तिम प्रश्न काव्य में वादों की स्थिति का है। वाद तो वास्तव में जीवन-संबंधिनी धारणाओं और प्रवृत्तियों के बौद्धिक निरूपण हैं। प्रत्येक वाद की एक सीमारेखा होती है। प्रत्येक वाद के अन्तर्गत समय-समय पर ऐसी जीवन-दृष्टियां संघटित होती हैं, जिनसे सामाजिक उन्नति और ह्रास दोनों के संयोग इकट्ठे हो सकते हैं। प्रत्येक वाद में शक्तिमत्ता और दुर्बलता के परमाणु समयानुसार घटते-बढ़ते रहते हैं। किसी भी वाद के साथ न्याय करने के लिए उसकी पारिभाषिक शब्दावली का उसके अभिप्रेत अर्थ में, युग की ऐतिहासिक प्रगति को ध्यान में रखकर, अध्ययन करना आवश्यक है। बिना इसके वाद के साथ न्याय नहीं हो सकता।

वाद एक स्थूल और परिवर्त्तनशील जीवन-दृष्टि है। काव्य जीवन-व्यापी अनुभूति है। काव्य और वाद दोनों के स्वरूपों और प्रक्रियाओं में अन्तर है। सामाजिक जीवन से दोनों का निष्क्रमण होता है, काव्य

का भी और वाद का भी। किन्तु एक की प्रणाली हार्दिक और व्यक्ति-मुखी है, दूसरे की सैद्धांतिक और समूहमुखी। काव्य का कार्य है संवेदना की सृष्टि करना, वाद का कार्य है ज्ञानविस्तार करना। वाद का स्वरूप एकदेशीय है; काव्य का सार्वभौम। वाद की सार्थकता सामाजिक विकास के साथ अग्रसर होने में है, काव्य का सौंदर्य चिरनवीन रहने में है। काव्य का लक्ष्य मानव-स्वभाव और मानवीय भावना के मार्मिक और स्थायी रूपों का चित्रण है। वाद का लक्ष्य है तथ्य-विशेष की बौद्धिक व्याख्या करना। काव्य सूक्ष्म और असाधारण परिस्थितियों में मानव-चरित्र और आचरण की भावमयी झांकी दिखाता है; वाद साधारण और असाधारण समस्त परिस्थिति का सामूहिक आधार लेकर चलता है और उसी पर अपना नियम-निरूपण करता है। काव्य-कल्पना एक बार कवि की वाणी का आशय लेकर जो रूप-निर्माण करती है, उसकी अनुरूप अनुभूति प्रत्यक सहृदय को सभी देशों और सभी समयों में अनायास ही होगी; किन्तु वाद के द्वारा जिस सत्य का एक बार निरूपण होता है, वह नया ज्ञान उपलब्ध होने पर फीका पड़ जाता है—कभी-कभी अर्ध-सत्य या असत्य भी बन जाता है; और तब उस वाद को नए व्यक्तियों द्वारा नया जीवन देने की आवश्कता होती है; नए सिरे से समझाना होता है; नया संशोधन और नई उपपत्तियां रखनी पड़ती हैं। और इतना करने पर भी वह सदैव पुनरुज्जीवित नहीं हो पाता। अस्तु, हम कह सकते हैं कि काव्य और वाद मानवजीवन से संबद्ध होते हुए भी दोनों का क्षेत्र पृथक् है। सहकारी होते भी दोनों की कार्य-शैली भिन्न है। आशा है, इन दोनों का अंतर अब स्पष्ट हुआ होगा।

साहित्य का प्रयोजन—आत्मानुभूति

साहित्य का प्रयोजन आत्मानुभूति है, यहाँ 'प्रयोजन' और 'आत्मानुभूति' शब्दों पर पहले विचार कर लेना आवश्यक है। 'प्रयोजन' शब्द कभी निमित्त के अर्थ में आता है, और कभी उद्देश्य के अर्थ में व्यवहृत होता है। इससे कभी हेतु या कारण का अर्थ लिया जाता है, और कभी फल या कार्य का। विशेषकर हिन्दी में इसके प्रयोगों में बड़ी विभिन्नता है। यहाँ हम इसका प्रयोग हेतु या प्रेरक के अर्थ में ही कर रहे हैं। आत्मानुभूति साहित्य का प्रयोजन है, इसका अर्थ हम यह लेते हैं कि आत्मानुभूति की प्रेरणा से ही साहित्य की सृष्टि होती है।

'आत्मानुभूति' शब्द भी निश्चयार्थक नहीं है। इसके प्रयोग में भी बड़ा मतभेद है। यह दर्शन-शास्त्र का शब्द है, परन्तु कुछ दार्शनिक तो इस शब्द को ही स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि आत्मा के साथ अनुभूति का संबंध ही नहीं है, अतः ये दोनों शब्द एक साथ नहीं रह सकते। आत्मा निरपेक्ष तत्त्व है और अनुभूति सापेक्ष गुण है। निरपेक्ष तत्त्व का सापेक्ष वस्तु से कोई योग नहीं हो सकता। अखंड, अज, अव्यय, नित्य, अविकारी, आत्मा से सीमित, व्यक्तिगत अथवा समूहगत अनुभूति का संबंध संभव नहीं है। 'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः'। त्रिकाल में भी न उत्पन्न होनेवाली और न मरनेवाली आत्मा से देश-काल परिच्छिन्न अनुभूतियों की क्या संगति ?

जहाँ एक ओर यह धारणा या मत है, वहीं दूसरी ओर आत्मा और अनुभूति का परस्पर संबंध माननेवाले दार्शनिक और विचारक भी हैं। यदि पहला तत्त्वज्ञान उपनिषद् और गीता का है, तो दूसरे मत की प्रतिष्ठा भी उपनिषद् और गीता से ही की जाती है। भारतीय तत्त्व-चिंतन में पुरुष और प्रकृति के साथ-साथ आत्मा और अनुभूति का सापेक्ष संबंध स्थिर करनेवाले अनेक आचार्य हैं। विशेषकर द्वैतवादी दर्शनों में इस प्रकार की विचार-भूमिकाएँ मिलती हैं। शक्ति-सिद्धांत को माननेवाले संप्रदाय जो अपने मत-चिंतन को शक्ति-अद्वैत के नाम से घोषित करते हैं, आत्मा को शक्ति रूप ही स्वीकार करते हैं। उनके विचार में शक्ति ही आत्मा

है; अनुभूति शक्ति है, अतः अनुभूति ही आत्मा है।

इस प्रकार आत्मा और अनुभूति के संबंध की अनेकरूपता का आभास हमें भारत की विभिन्न चिंता-धाराओं से प्राप्त होता है। हम यहाँ किसी एक मत को स्वीकार करने या दूसरे मत का तिरस्कार करने की दृष्टि से इस दार्शनिक चर्चा में नहीं पड़े हैं। हमारा प्रयोजन केवल आत्मानुभूति शब्द और उसके अर्थ पर दृष्टिपात करना है, और हम देखते हैं कि इस शब्द को लेकर दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। मतैक्य तो दूर, आत्मा और अनुभूति के पारस्परिक संबंध को लेकर सभी संभव दृष्टियों के स्थापन की चेष्टाएँ की गई हैं, जिनमें साम्य या समन्वय ढूँढ़ने का प्रयास हम यहाँ नहीं कर सकेंगे। एक ओर निरपेक्ष और स्वाधीन आत्म-तत्त्व के साथ त्रिकाल में भी अनुभूति का कोई संबंध न माननेवाले अद्वैत दार्शनिक हैं, दूसरी ओर अनुभूति के विना आत्मा की सत्ता ही न स्वीकार करनेवाले शक्ति-तंत्र के संस्थापक आचार्य हैं; और इन दोनों के मध्य आत्मा और अनुभूति का बहुरूपी संबंध स्थिर करनेवाले सापेक्षवादी द्वैत चिंतक हैं। हम इस अंतहीन विचार-व्यूह में प्रवेश करने में अभिमन्यु की भाँति ही शंकित हैं, अतएव हम इससे विरत रहकर ही संतोष करेंगे।

सच तो यह है कि हमें इस दार्शनिक ऊहापोह में जाने की आवश्यकता ही नहीं है। हमारा प्रस्तुत विषय इसकी अपेक्षा नहीं करता। आत्मानुभूति के स्थान पर हमारा काम केवल अनुभूति से चल सकता है। अतः हम आत्मानुभूति के शब्द-प्रपंच में न पड़कर 'अनुभूति' से ही काम निकालेंगे।

काव्य की प्रेरणा अनुभूति से मिलती है, यह स्वतः एक अनुभूत तथ्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस का निर्माण करते समय लिखा था—'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंध मति मंजुल मातनोति'। यहाँ 'स्वांतः सुखाय' से उनका तात्पर्य आत्मानुभूति या अनुभूति से ही है। रस-सिद्धान्त का निरूपण करनेवाले शास्त्रज्ञों ने काव्य का उपादान विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि को बताया है। साहित्य-मात्र के मूल में अनुभूति या भावना कार्य करती है, यह रस-सिद्धान्त की प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है।

हम एक नाटक का अभिनय देखते हैं जिसमें अनेक पात्र भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में उपस्थित होकर परस्पर वार्तालाप करते हैं और अनेक

परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराते हुए नाटकीय व्यापार को आगे बढ़ाते हैं। इसमें हमें नाटककार की अनुभूति प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती, परंतु यह स्पष्ट है कि प्रत्येक पात्र की अनुभूति के रूप में रचयिता की अनुभूति काम करती रहती है। हम कोई उपन्यास पढ़ते हैं, जिसमें विविध व्यक्तियों की दैनिक घटनावली का चित्रण रहता है। पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि हम जीवन के वास्तविक रूप को ही देख रहे हैं और उन घटनाओं का परिचय पा रहे हैं जो वास्तव में घटित हुई हैं। हम इस ऊपरी जीवन-व्यापार में रचयिता की सत्ता को भूल जाते हैं, पर क्या उसकी अनुभूति के बिना वह रचना किसी प्रकार संभव है? क्या सृष्टा की अनुभूति से रहित काव्य-सृष्टि की कल्पना भी की जा सकती है?

काव्य में अनुभूति की इस व्यापकता का निर्देश करने में भारतीय साहित्य शास्त्र का ध्वनि-सिद्धान्त अत्यंत उपयोगी है। वह प्रमुख रूप से इसी तत्त्व पर प्रकाश डालता है कि काव्य और साहित्य की बाहरी रूपरेखा के मर्म में आत्मानुभूति या विभावन व्यापार ही काम करता है। काव्य की संपूर्ण विविधता के भीतर एकात्म्य स्थापित करने वाली यही शक्ति है। संपूर्ण काव्य किसी रस को अभिव्यक्त करता है, और वह रस किसी स्थायी भाव का आश्रित होता है और वह स्थायी भाव रचयिता की अनुभूति से उद्गम प्राप्त करता है।

यहाँ कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनकी ओर हमें आवश्यक रूप से ध्यान देना पड़ता है। काव्य-साहित्य में अनुभूति की व्यापकता को स्वीकार करते हुए भी क्या हम उसे सम-रस या सम-रूप कह सकते हैं? क्या समस्त कवियों और रचनाकारों की अनुभूति एकरूप या समान होती है? यदि नहीं तो क्या अनुभूति में स्वरूप-गत भेद होते हैं? इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह है कि साधारण अनुभूति और काव्यानुभूति एक ही हैं या उनमें भी अंतर है? अंतर है, तो किस प्रकार का? साधारणतः हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ अनुभूति होती है, परंतु प्रत्येक व्यक्ति में काव्य शक्ति नहीं होती। उसमें अपनी अनुभूतियों के प्रकाशन की क्षमता नहीं होती। तो क्या ये दोनों वस्तुएँ—अनुभूति और काव्यानुभूति—स्वरूपतः भिन्न हैं?

यहाँ सुविधा के लिए हम दूसरे प्रश्न को पहले लेंगे। यह संभव है कि प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं होता, उसमें अपनी अनुभूतियों के प्रकाशन-

की योग्यता नहीं होती। पर इतने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि साधारण अनुभूति और काव्यगत अनुभूति दो भिन्न वस्तुएँ हैं। इस संबंध में वर्तमान युग के प्रसिद्ध कलाशास्त्री बेनिडीटो क्रोचे का मत ध्यान देने योग्य है। क्रोचे का कथन है कि अनुभूति वही है जो काव्य या कलाओं के रूप में अभिव्यक्त होती है। जिस अनुभूति में यह अभिव्यक्ति क्षमता नहीं है, वह वास्तव में अनुभूति न होकर कोरी इन्द्रियता या मानसिक जमुहाई मात्र है। वह अनुभूति जो आत्मिक व्यापार का परिणाम है, सौंदर्य रूप में अभिव्यक्त हुए बिना रह ही नहीं सकती। उसे काव्य-स्वरूप ग्रहण करना ही पड़ेगा। क्रोचे के मत में अनुभूति अभिव्यक्ति ही है और अभिव्यक्ति ही काव्य है। यह तीनों अन्वर्थ या समानार्थी शब्द हैं, इनमें परस्पर पूर्ण तादात्म्य है।

यदि क्रोचे के इस निर्देश को हम स्वीकार कर लें, तो पहले प्रश्न का उत्तर भी हमें आप ही आप मिल जाता है। वह प्रश्न अनुभूति की समरूपता या समरसता का है। क्रोचे के निरूपण के अनुसार अनुभूति का समरस या समरूप होना अनिवार्य है। एक ही अखंड अनुभूति समस्त कवियों और रचनाकारों में होती है। काव्यमात्र में उसकी अखंडता स्वयंसिद्ध है। समस्त कवि एक हैं, उनमें परस्पर भेद नहीं। अनुभूती-शील मानवता ही सर्वत्र और सब काल में एक है। काव्य और कला की अजस्र धारा देश और काल का भेद नहीं जानती। भेद वास्तविक नहीं है, उसका यथार्थ रूप हमें समझना होगा।

काव्यगत अनुभूति के सबंध में यह क्रोचे की स्थापना है। भारतीय विचार भी इससे भिन्न नहीं हैं। अभी मैंने विभाव, अनुभाव आदि रस के प्रमुख उपादानों में भावना या अनुभूति की व्याप्ति का उल्लेख किया है। काव्य के आस्वादन के निमित्त 'सहृदय' की योग्यता बता कर और शब्दों पर उलझनेवाले न्यायशास्त्रियों तथा वैयाकरणों को काष्ठ-कुड्म की उपमा देकर हमारे विनोदप्रिय पूर्वजों ने काव्यगत अनुभूति की विशषता सिद्ध की थी। उन्होंने काव्य के विविध प्रकारों, शैलियों और पद्धतियों के बीच कोई ऐसी विभेदक रेखा नहीं खींची है जिससे उसके सर्वसामान्य स्वरूप पर किसी प्रकार का व्याघात या विक्षेप आए। समस्त काव्य-शैलियों और काव्य-स्वरूपों में अनुभूति की अखंड एकरूपता का अनवरत प्रवाह दिखाकर भारतीयों ने काव्य की सार्वजनीनता और सार्वभौमिकता सिद्ध की थी।

आत्माभिव्यंजक रचना से कभी-कभी उन कृतियों का अर्थ लिया जाता है जिसमें रचनाकार की व्यक्तिगत अनुभूति अधिक प्रत्यक्ष होकर आती है। परंतु इसी कारण दूसरी रचनाओं को अनुभूति-रहित नहीं कहा जा सकता। कुछ समीक्षकों ने 'सब्जेक्टिव' (व्यक्तिगत) और 'आब्जेक्टिव' (वस्तुगत) काव्य के दो भेद कर आत्मानुभूति की प्रधानता 'सब्जेक्टिव' काव्य में मानी है; परंतु इस भेद को हम वास्तविक नहीं कह सकते। यह तो केवल प्रकार-भेद है। 'व्यक्तिगत अनुभूति' से प्रेरित रचनाएँ कभी-कभी तो वास्तविक अनुभूति के स्तर पर पहुँचती ही नहीं, अतएव उन्हें तो काव्य की संज्ञा भी नहीं दी जा सकती। वास्तव में अनुभूति के व्यक्तिगत और वस्तुगत भेद किए ही नहीं जा सकते, उसकी तो अखंड सत्ता है। आत्मानुभूति तो काव्यमात्र की विशेषता है। किसी एक प्रकार की रचना को आत्माभिव्यंजक कह कर दूसरी काव्य-रचनाओं को आत्माभिव्यंजना से रहित मानना कोरी भ्रांति है।

इसी प्रकार हम कभी किसी रस-विशेष की रचना को दूसरे रसों की रचना से श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं और कभी महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रगीत आदि काव्य-भेदों की निरपेक्ष रूप मे तुलना करने लगते हैं। उदाहरण के लिए, प्रायः शृंगार रस को रसराज घोषित किया जाता है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि कोई भी शृंगारिक रचना किसी भी अन्य रस की रचना से स्वतः श्रेष्ठ है। सभी रसों में एक ही अनुभूति-धारा प्रवाहित रहा करती है, अतएव यह भेद कृत्रिम है। महाकाव्य इसलिए महाकाव्य नहीं है कि उसमें 'काव्य' की सत्ता किसी लघुगीत या प्रगीत की काव्य-सत्ता से प्रकृत्या भिन्न है, दोनों काव्यत्व की भूमि पर समान हैं। आकार-प्रकार और परिमाण आदि के अंतर भले ही हों।

किसी प्रचंड बुद्धिवादी समस्या-नाटक में और किसी अतितरल गीतिनाट्य में, सहस्रों पृष्ठों के समाहित उपन्यास में और चार या दस पंक्तियों के गद्य गीत में भी अनुभूति की समानता रहती है। इसी समता के बल पर वह समस्या-नाटक भी काव्य है, वह विशाल उपन्यास भी और वह अति-लघु गद्यगीत भी। यदि अनुभूति की सत्ता में अन्तर होता तो इनमें से किसी एक, दो या सब को काव्य की पदवी ही न मिलती। यदि ये सभी काव्य साहित्य के अंग हैं, तो इनमें अनुभूति की अजस्र एकरूपता है ही।

एक ओर सूर, तुलसी और मीरा आदि कवियों में और दूसरी ओर देव, बिहारी और मतिराम आदि रचनाकारों में क्या अंतर है? क्या यह कि वे भक्त और संत थे और उनकी रचनाओं से भक्ति और ईश्वर-प्राप्ति की शिक्षा मिली और ये संसारी और दरबारी व्यक्ति थे और इनकी कृतियों से लोक-कल्याण न हो सका? परंतु भक्ति और ईश्वर-प्राप्ति के संदेशवाहक सभी तो कवि नहीं हुए और न सभी संसारी और दरबारी व्यक्तियों ने कलम हाथ में ली। ऐसी अवस्था में तुलना की भूमि भक्ति, ईश्वरप्राप्ति या लोक-कल्याण नहीं हो सकता। तुलना का आधार होगा कवित्व या काव्यत्व जिससे ऊपर गिनाई वस्तुओं का कोई संबंध नहीं और जिसका एकमात्र मानदंड है अनुभूति। सम्भव है हम यह कहें कि देव-बिहारी आदि में अनुभूति थी ही नहीं, वे कवि ही नहीं थे। यह कहने का हमें अधिकार है, पर इस कारण हम यह कहने के अधिकारी नहीं हो जाते कि सूर और तुलसी पहुँचे हुए भक्त थे, अतएव वे श्रेष्ठ कवि भी थे। इस प्रकार का तर्क करनेवाले व्यक्ति ही भक्ति को स्वतंत्र काव्य-रस सिद्ध करना चाहते हैं, पर उनकी यह उपपत्ति सच्चे काव्य-प्रेमियों को मान्य नहीं हो सकती।

अनुभूति को काव्य का प्रयोजन माननेवालों के संमुख यह प्रश्न भी आता है कि अनुभूति के प्रकाशन का माध्यम क्या हो। कभी कागज और कूची की सहायता से, कभी स्वर-ताल-लय के योग से, कभी पत्थर को काँट-छाँट कर और कभी शब्दों की अर्थ-व्यंजक शक्ति का आश्रय लेकर अनुभूति प्रकाशित होती है। इन विभिन्न माध्यमों का उपयोग भिन्न-भिन्न कलाकार अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार करते हैं। इन माध्यमों में कौन अधिक उपयुक्त और कौन कम उपयुक्त होगा, यह तो रचयिता की योग्यता पर अवलंबित है। इस संबंध में नियम-निर्देश करना संभव नहीं। परन्तु एक ही माध्यम द्वारा प्रकाशित होनेवाली अनुभूति के संबंध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुभूति एक ही उत्कृष्ट अभिव्यक्ति पा सकती है। हम एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द अथवा एक छंद के स्थान पर दूसरा छंद रखकर 'आदर्श' अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। आदर्श अभिव्यक्ति सदैव एक ही होगी।

यदि प्राचीन वन्य कलाकार के सम्मुख आज के समृद्ध साधन नहीं थे तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी अनुभूति अपनी 'आदर्श' अभिव्यंजना

नहीं प्राप्त कर सकी। वन्य कलाकार की वही आदर्श अभिव्यंजना है जो उसने अपने मोटे साधनों से की है। महात्मा कबीर के पास शुद्ध परिष्कृत शब्द-राशि नहीं थी, किन्तु उन्होंने जिस किसी प्रकार से अपने भाव व्यक्त किए, वही उनका आदर्श प्रकार है। अनुभूति और अभिव्यक्ति में ऊपरी सापेक्षता रहते हुए दोनों की अंतरंग अनन्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

वह काव्य भी काव्य ही है जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की पूर्ण एकरूपता न स्थापित हो पाई हो, जिसमें कवि अपनी अनुभूति के प्रकाशन का उपयुक्त और आदर्श माध्यम प्राप्त करने में असफल रहा हो। पर वह रचना काव्य नहीं है जिसमें वास्तविक अनुभूति का ही अभाव हो। भारतीय समीक्षा के अनुसार ऐसी रचना ध्वन्यात्मक या रसात्मक काव्य के अन्तर्गत नहीं आती, उसे गुणीभूत व्यंग्य या चित्र-काव्य मात्र कहते हैं। अनुभूति की अस्पष्टता अथवा उसका अभाव ही इन दोनों प्रकार की रचनाओं के मूल में रहा करता है।

अनुभूति का स्वरूप और समस्त काव्य-साहित्य में उसकी व्यापकता दिखाने का जो प्रयत्न ऊपर किया गया, उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्यानुभूति स्वतः एक अखंड आत्मिक व्यापार है जिसे किसी भी दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक या साहित्यिक खंड-व्यापार या वाद से जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। समस्त साहित्य में इस अनुभूति या आत्मिक व्यापार का प्रसार रहता है। काव्य के अनंत भेद हो सकते हैं, उसके निर्माण में असंख्य सामाजिक या सांस्कृतिक परिस्थितियों का योग हो सकता है, परंतु उसका काव्यत्व तो उसकी सर्वसंवेद्य अनुभूति-प्रवणता में ही रहेगा। किसी महा-महिम उपदेशक की रचना भी काव्य-दृष्टि से निःसार हो सकती है और किसी क्षुद्रतम जीव की चार पंक्तियाँ भी काव्य का अनुपम श्रृंगार हो सकती हैं। वर्ग-संघर्ष की भावना किसी युग में काव्य-प्रेरणा का कारण हो सकती है, परन्तु वह भावना काव्यानुभूति का स्थान नहीं ले सकती जो काव्य साहित्य की मूल आत्मा है। काव्य का प्रयोजन मनोरंजन अथवा सामाजिक वैषम्य से दूर भागना अथवा पलायन भी नहीं हो सकता, क्योंकि वैसी अवस्था में आत्मानुभूति के प्रकाशन का पूरा अवसर रचयिता को नहीं मिल सकेगा, उसकी रचना अधूरी और अपंग रहेगी। इसी प्रकार स्थूल

इन्द्रियता पर आधारित अनुभूति भी श्रेष्ठ काव्यत्व में परिणत नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ आत्मानुभूति के प्रकाशन में विकारी कारण मौजूद रहेंगे। कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का उत्सर्जन करनेवाली आत्म-प्रेरणा ही काव्यानुभूति बनकर, उस कल्पना-व्यापार का संचालन करती है जिससे काव्य बनता है। काव्य और कला की मुखर वर्णमयता में समस्त वर्णभेद, वर्गभेद और वादभेद तिरोहित हो जाते हैं। मानवकल्पना का यह अनुभूति-लोक नित्य और शाश्वत है। चिरंतन विकास की सरिता इसे चिरकाल से सींचती आ रही है और चिरकाल तक सींचती जायगी।
